संस्करण : प्रथम,

मूल्य : सत्तर रुपये मात्र

प्रकाशक :
पंचशील प्रकाशन
फिल्म कॉलोनी, चौड़ा रास्ता,
जयपुर—302 003

शब्द-संयोजक :
गीतांजलि कम्प्यूटर्स,
टोंक फाटक, जयपुर

मुद्रक :
शीतल प्रिन्टर्स
फिल्म कॉलोनी, जयपुर

आमुख

विश्व के सांस्कृतिक नभ-मण्डल में भारतीय संस्कृति एक दैदीप्यमान नक्षत्र है। विश्व की सभी प्राचीन संस्कृतियों में केवल भारतीय संस्कृति को ही अमर और अनन्त कहा जा सकता है, क्योंकि विश्व की अधिकांश संस्कृतियाँ काल के कराल गाल में समा चुकी है, लेकिन भारतीय संस्कृति काल के क्रूर थपेड़ों को सहती हुई आज तक जीवित है। लेकिन कतिपय विद्वानों को छोड़कर भारतीय अपनी गौरवपूर्ण संस्कृति से लगभग अनभिज्ञ ही है। स्वतन्त्र भारत में अनेक लोग भारत के अध्यात्मवाद और संस्कृति से अवगत नहीं है। बहुत से भारतीयों को न तो भारत के अतीत की गौरव-गाथा ही ज्ञात है और न भारतीय संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्त। आज जब हम परमाणु युग में प्रवेश कर चुके हैं और विश्व के अनेक देश भारतीय संस्कृति के प्रति आकर्षित होकर उसके मूल तत्त्वों को समझने की चेष्टा कर रहे हैं, हमारा भारतीय संस्कृति के प्रति अनुराग उत्पन्न होना स्वाभाविक है। भारतीय संस्कृति के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए भारत के अनेक विश्वविद्यालयों ने अपने पाठ्यक्रम में भारतीय संस्कृति के अध्ययन का समावेश किया है।

यद्यपि हमने भारतीय संस्कृति के विकास पर, आठ वर्ष पूर्व एक पुस्तक का प्रणयन किया था, जो शैक्षिक जगत में काफी लोकप्रिय रही तथा उसके अनेक संस्करण भी प्रकाशित हुए, किन्तु विश्वविद्यालयों के बदलते हुए पाठ्यक्रम के कारण वह पुस्तक विद्यार्थियों के लिए उपयोगी नहीं रही। इसके अतिरिक्त भारत के सांस्कृतिक इतिहास में नई मान्यताओं के परिपेक्ष्य में भी वह पुरानी हो चुकी है। अतः प्रस्तुत पुस्तक न केवल विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम के अनुकूल है, बल्कि इसमें नई उपलब्ध सामग्री, पुरानी सामग्री का पुनःरीक्षण एवं पुनर्मूल्यांकन तथा नई सांस्कृतिक मान्यताओं का समावेश किया गया है। पुस्तक का प्रणयन करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि भारतीय संस्कृति की विवेचना इस प्रकार की जाय कि विद्यार्थियों को समझने में कठिनाई न हो तथा पुस्तक की भाषा सरल एवं सुबोध हो। आशा है विश्वविद्यालयों के छात्रों के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी तथा भारतीय संस्कृति के जिज्ञासु पाठक भी इसका लाभम उठा सकेंगे।

पुस्तक के प्रणयन में जिन विद्वानों के ग्रन्थों की सहायता ली गई है, उनके प्रति अपना आभार प्रकट करना हम अपना पुनीत कर्त्तव्य समझते हैं। हम पंचशील प्रकाशन के संचालक श्री मूलचन्द जी गुप्ता के प्रति भी आभारी हैं, जिन्होंने अथक परिश्रम और लगन से पुस्तक को पाठकों तक पहुँचाने का कार्य किया है। अन्त में छात्रों एवं विद्वान् शिक्षक-बन्धुओं से हमारा नम्र निवेदन है कि यदि पुस्तक में कोई त्रुटि या दोष दिखाई दे अथवा सुझाव देना चाहे तो निःसंकोच हमें सूचित करने का कष्ट करें, इसके लिए हम उनके आभारी रहेंगे।

— लेखकगण

SYLLABUS

Paper-II Foundation of Indian Culture :

UNIT-I

Main features of Indian culture; Indus religion; Vedic religion; Jainism and Buddism Main features of Puranic religion.

UNIT-II

Varna System; Ashrama System; Upanayana and Vivaha Sanakaras; Purusarthas, Main centres of Ancient Indian education.

UNIT-III

Ramayana, Mahabharata, Cultural importance of the Puranas, Development of science during the Gupta period Kalidas and Tulsidas.

UNIT-IV

Salient features of the Indus and Mauryan Art, Mathura Art, Gupta Temples, Mughal architecture, Schools of Rajput paintings.

UNIT-V

Bhakti Movement and sufism and their impact on Indian culture; Impact of western culture, socio-religious contrubution of Brahama Samaj and Arya Samaj, Social and cultural significance of the ideas of Tagore.

विषय-सूची

अध्याय

अध्याय-1

भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ

सांस्कृतिक दृष्टि से भारत अत्यन्त ही समृद्ध देश है। भारतीय संस्कृति अपनी अनेक अप्रतिम विशेषताओं के कारण अमर कही जा सकती है। अत: यह मानव समाज की अमूल्य निधि है। भारतीय संस्कृति की पावन धारा का प्रवाह, उस धूमिल अतीत से आरम्भ होता है, जिसकी सीमाओं के चिन्तन में हमारे अनुमान के पैर भी लड़खड़ा जाते हैं। विश्व की सभी प्राचीन संस्कृतियों में केवल भारतीय संस्कृति को ही अमर और अनन्त कहा जा सकता है। चीनी संस्कृति के अतिरिक्त विश्व की अन्य सभी—मेसोपोटामिया की सुमेरियन, असीरियन, बेबीलोनियन और खाल्दी प्रभृति, मिस्र, ईरान, यूनान और रोम की—प्राचीन संस्कृतियाँ काल के कराल गाल में समा चुकी हैं, केवल कुछ ध्वंसावशेष ही उनकी गौरव-गाथा गाने के लिए बचे हैं। किन्तु भारतीय संस्कृति कई हजार वर्ष तक काल के क्रूर थपेड़ों को सहती हुई आज तक जीवित है। राजनैतिक एकता के अभाव में भी भारतीयों ने सदैव सांस्कृतिक एकता का अनुभव किया है। भारतीय संस्कृति को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसने न केवल इस महाद्वीप—भारतवर्ष को सभ्यता का पाठ पढ़ाया, अपितु भारत के बाहर भी बहुत बड़े हिस्से की जंगली जातियों को सभ्य बनाया, साइबेरिया से सिंहल (श्रीलंका) तक और मेडागास्कर टापू, ईरान तथा अफगानिस्तान से प्रशान्त महासागर के बोर्नियो, बाली के द्वीपों तक के विशाल भूखण्ड पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा। आज भी विश्व की जनसंख्या का एक वृहत् भाग उसकी संजीवनी शक्ति के द्वारा अनुप्राणित है। भारतीय संस्कृति की सहिष्णुतापरक समन्वयात्मक प्रवृत्ति निःसन्देह आदर्श मानव-समाज की रचना का आधार प्रस्तुत करती है। सर्वांगीणता, विशालता, उदारता और सहिष्णुता की दृष्टि से अन्य संस्कृतियाँ उसकी समता नहीं कर सकतीं। भारतीय राष्ट्रवाद का स्वरूप देश की संस्कृति के आलोक में ही उद्भासित होता है। अतः आज उसी के दिव्य आलोक से भारतीय राष्ट्रीयता अपनी समस्त आभा और प्रतिभा प्राप्त कर उद्भासित हो रही है। यही नहीं, भारतीय संस्कृति का शान्ति, अहिंसा और विश्व-बन्धुत्व का सन्देश परमाणु युद्ध की विभीषिका से त्रस्त मानवता के लिए आज भी आशा संजोये हुए है।

भारतीय संस्कृति का अध्ययन पिछले सौ से अधिक वर्षों से हो रहा है। आज पूर्व और पश्चिम के देशों में इसका अध्ययन एवं अन्वेषण समान रूप से किया जा रहा है। इस अनुपम और विलक्षण संस्कृति के उत्तराधिकारी होने के नाते हमारा परम आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि हम अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के विकास की रूपरेखा से परिचित हो, ताकि वर्तमान समस्याओं, प्रयासों तथा लक्ष्यों की, राष्ट्र के पूर्वगामी अनुभवों, परम्पराओं और प्रयासों के प्रकाश में माप-तौल करके हम अपना मार्ग खोज सकें। इसलिए भारतीय संस्कृति

का ज्ञान हमारे लिए राष्ट्रीय अहंकार के पोषण करने का साधन नहीं है, बल्कि एक आवश्यक सामयिक प्रयास है। इसके अध्ययन से न केवल हमें उसके गुण-दोष ही ज्ञात होंगे, बल्कि यह भी ज्ञात होगा कि किन कारणों से उसका उत्कर्ष और अपकर्ष हुआ। निःसन्देह भारतीय संस्कृति का अतीत अत्यन्त उज्ज्वल था, लेकिन हमारा दायित्व है कि हम भविष्य को भूत से भी अधिक उज्ज्वल और गौरवपूर्ण बनाये। यह सांस्कृतिक विकास के अध्ययन से ही सम्भव है। इसलिए यह अति आवश्यक है कि प्रत्येक भारतीय नागरिक अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के विकास की रूपरेखा से परचित हो।

संस्कृति का अर्थ

'संस्कृति' शब्द 'सम' उपसर्ग-पूर्वक 'कृ' धातु से निष्पन्न होता है। यह परिष्कृत अथवा परिमार्जित करने के भाव का सूचक है। इसी प्रकार संस्कृत (शुद्ध किया हुआ) अथवा संस्कार (शुद्ध करने वाले कर्म) शब्द भी निष्पन्न हुए हैं। संस्कृत शब्द के समान 'संस्कृति' शब्द में भी परिमार्जन अथवा परिष्कार के अतिरिक्त शिष्टता एवं सौजन्य आदि अर्थों का भी अन्तर्भाव हो जाता है। 'संस्कृति' शब्द मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों, नैसर्गिक शक्तियों तथा उनके परिष्कार का द्योतक है। संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान तथा भावी जीवन का अपने में पूर्ण विकसित रूप है। विचार और कर्म के क्षेत्र में जो राष्ट्र का सृजन है, वही उसकी संस्कृति है। विद्वानों ने संस्कृति की अनेक परिभाषाएँ दी हैं, जो उसके स्वरूप को अभिव्यक्त करती हैं।

अमेरिका के प्रसिद्ध दार्शनिक और शिक्षा विशेषज्ञ **डॉ. व्हाइटहेड** के शब्दों में, संस्कृति की परिभाषा है, "मानसिक प्रयास, सौन्दर्य और मानवता की अनुभूति।" **टायलर** के अनुसार, "संस्कृति वह जटिल पूर्णता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कलाएँ, नैतिक आचरण, कानून, प्रथा तथा कोई भी अन्य क्षमताएँ व आदतें आती हैं, जिन्हें मनुष्य समाज का एक सदस्य होने के नाते अर्जित करता है।" **बील्स** तथा **हॉइजर** के अनुसार, "मानव समाज के सदस्य व्यवहार करने के जो निश्चित ढंग व तरीकों को अपनाते हैं, वे सम्पूर्ण रूप से संस्कृति का निर्माण करते हैं।" प्रसिद्ध समाजशास्त्री **गिलिन** के अनुसार, "प्रत्येक समूह तथा समाज में (आन्तरिक व बाह्य) व्यवहार के ऐसे प्रतिमान होते हैं जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं तथा बच्चों को सिखलाये जाते हैं, जिनमें निरन्तर परिवर्तन की सम्भावना रहती है।" इसी प्रकार **ग्रीन** ने लिखा है कि, "संस्कृति ज्ञान, व्यवहार, विश्वास की उन आदर्श पद्धतियों को तथा ज्ञान व व्यवहार से उत्पन्न हुए साधनों की व्यवस्था को, जो कि समय के साथ परिवर्तित होती है, कहते हैं, जो सामाजिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दी जाती है।" संस्कृति की इन विभिन्न परिभाषाओं से स्पष्ट है कि विभिन्न विद्वानों ने संस्कृति की अलग-अलग परिभाषा दी है। इन परिभाषाओं में असमानता का मुख्य कारण यह है कि इतिहासकार, साहित्यकार, समाजशास्त्री आदि संस्कृति को भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखते हैं। जैसे कि इतिहासकार संस्कृति को किसी समूह या देश के विशेष कलात्मक या बौद्धिक विकास के रूप में देखता है, जबकि साहित्यकार संस्कृति में जीवन की सरसता व कोमलता का परिचय प्राप्त करता है। अतः कतिपय विद्वानों ने संस्कृति को भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया है।

प्रत्येक सभ्यता के क्रमिक विकास में एक स्तर आता है, जब वह विशेष मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों का निर्माण कर लेता है। ये उसके सामाजिक जीवन में इस तरह घुलमिल जाते हैं कि समस्त समाज इन उदात्त और सूक्ष्म विशेषताओं में रंग जाता है। यही उस समाज की संस्कृति है। दूसरे शब्दों में सभ्यता के सूक्ष्म, शुद्ध और उदात्त तत्त्वों के रचनात्मक विकास और पल्लवन का नाम 'संस्कृति' है। संस्कृति किसी एक व्यक्ति के प्रयत्न का परिणाम नहीं होती, बल्कि वह समाज के अनगिनत व्यक्तियों के सामूहिक प्रयत्न का परिणाम होती है और यह प्रयत्न भी ऐसा, जिसे एक के बाद एक आने वाली मनुष्य की विभिन्न सन्ततियाँ निरन्तर करती रहती हैं। यही कारण है कि संस्कृति का विकास धीरे-धीरे होता है। वह किसी एक युग की कृति नहीं होती बल्कि विभिन्न युगों के विविध मनुष्यों के सामूहिक व अनवरत श्रम का परिणाम होती है। वस्तुतः चिन्तन द्वारा अपने जीवन को सरस, सुन्दर और कल्याणमय बनाने के लिये मनुष्य जो प्रयत्न करता है, उसका परिणाम 'संस्कृति' के रूप में प्राप्त होता है। व्यापक अर्थ में संस्कृति की परिभाषा इस प्रकार दी जाती है, "संस्कृति वह जीवन पद्धति है जिसकी स्थापना मानव व्यक्ति तथा समूह के रूप में करता है, वह उन आविष्कारों का संग्रह है जिनकी खोज मानव ने अपने जीवन को सफल बनाने के लिये की है। अपनी आत्मा और प्रकृति पर विजय प्राप्त करके ही व्यक्ति उन्नत हो सका है।" अतः संस्कृति मानव द्वारा प्रकृति पर प्राप्त विजय की क्रमबद्ध रोचक कहानी है। मनुष्य ने धर्म का जो विकास किया; दर्शनशास्त्र के रूप में जो चिन्तन किया; साहित्य, संगीत और कला का जो सृजन किया; सामूहिक जीवन को हितकर और सुखी बनाने के लिये जिन प्रथाओं व संस्थाओं को विकसित किया, उन सभी का समावेश हम 'संस्कृति' में कर सकते हैं।

संस्कृति का उद्भव

अनेक विद्वानों में इस बात को लेकर काफी मतभेद हैं कि भारतीय संस्कृति का उद्भव कैसे हुआ ? प्रसिद्ध पुरातत्त्वेत्ता व्हीलर की मान्यता है कि इसका उद्भव और विकास पश्चिमी एशिया की सुमेरियन संस्कृति के प्रभाव से हुआ। इसके विपरीत हेरास और चटर्जी की मान्यता है कि इसके निर्माण का श्रेय द्रविडों को है, जबकि फेयरसर्विस का विश्वास है कि यह हिन्दी-ईरानी क्षेत्र की अपनी उपज है। लेकिन इन विद्वानों की मान्यताओं को पूरी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि भारतीय संस्कृति की कुछ ऐसी बातें हैं जो विश्व में और कहीं नहीं मिलतीं। इसमें पीपल के वृक्ष की पूजा, बैल का महत्त्व, स्नान और ध्यान, खास किस्म की लिपि और कला-शैली आदि के धार्मिक आचार-विचार अब तक और कहीं दिखाई नहीं दिये हैं। सिन्धु संस्कृति में मिला सामान एक खास किस्म के रहन-सहन को प्रकट करता है, जिसकी मिसाल और कहीं नहीं है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सिन्धु-संस्कृति भारत की अपनी स्वयं की चीज़ है और यह सैकड़ों और हजारों साल पहिले से चले आ रहे रहन-सहन के विकास का परिणाम है। ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति को किसी और संस्कृति से जोड़ने का कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है। समय के साथ-साथ यहाँ का ग्रामीण जीवन शहरी रहन-सहन में बदल गया, सामाजिक व्यवस्था में विकास हुआ, लोगों के विचार में गहराई और पैनापन आया तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति और सम्पन्नता दिखाई देने लगी।

संस्कृति का स्वरूप

मानव एक ओर बाह्य विश्व का संस्कार करके अथवा प्रकृति पर विजय प्राप्त करके उसमें परिवर्तन करने के लिये प्रयत्नशील रहा है और दूसरी ओर वह अपनी आत्मा का संस्कार करके उसमें परिवर्तन उत्पन्न करने में संलग्न रहा है। मानव ने बेडौल पाषाण या संगमरमर को तराश कर सुन्दर मूर्तियों या अन्य वस्तुओं का निर्माण किया है। यह क्रिया बाह्य विश्व का संस्कार है, जिसे संस्कृति का भौतिक स्वरूप कहा जाता है। किन्तु मानव निर्मित पाषाण या संगमरमर की मूर्ति या अन्य वस्तुओं में जो सौन्दर्य और कला की श्रेष्ठ भावनाएँ तथा हस्तकौशल अभिव्यक्त होता है, वह संस्कृति का आध्यात्मिक अंग है। मनुष्य के जिन क्रियाकलापों में बाह्य विश्व के संस्कार एवं परिवर्तन की प्रधानता होती है उसे भौतिक संस्कृति भी कहा जा सकता है। कृषि, पशुपालन, भवन-निर्माण, यन्त्र-निर्माण, विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन आदि भौतिक संस्कृति है। इसमें बाह्य विश्व की भौतिक प्रगति की प्रधानता है। आध्यात्मिक संस्कृति में मानव की प्रकृति और आत्मा का संस्कार एवं सुधार की प्रधानता होती है। संस्कृति के इस आध्यात्मिक अंश में धर्म, नीति, विधि-विधान, विद्याएँ, कला-कौशल, साहित्य, मानव के समस्त सद्गुण और शिष्टाचार निहित हैं। संस्कृति के भौतिक तथा आध्यात्मिक अंग, एक ही अखण्ड वस्तु के स्वरूप हैं। भौतिक व्यवहार, संस्कृति की नींव है तथा मानसिक और आध्यात्मिक व्यवहार उस नींव पर खड़ा हुआ भव्य भवन है। संस्कृति के भौतिक एवं आध्यात्मिक स्वरूप एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं।

सभ्यता और संस्कृति में भेद

प्रकृति द्वारा प्रदत्त पदार्थों, तत्त्वों और शक्तियों का उपयोग कर मनुष्य ने भौतिक क्षेत्र में जो उन्नति की है, उसी को हम सभ्यता कहते हैं। सभ्यता से मनुष्य के भौतिक क्षेत्र की और संस्कृति से मानसिक क्षेत्र की प्रगति सूचित होती है। जीव-मात्र के तीन मुख्य ऐहिक ध्येय हैं—अशन, वसन और निवसन। जब से मनुष्य से मानवी बाना पहना है, तभी से वह इन तीन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन जुटाने में लगा हुआ है। इस हेतु वह विविध सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं और आर्थिक यन्त्रों और साधनों का अन्वेषण करता रहा है। इनका क्रम सुदूर अतीत से, जब उसने पत्थर से हथियार और औजार बनाना जाना, आज तक आधुनिक हवाई जहाज, रेल, तार, लोहे और कपड़े के विशाल कारखाने आदि के रूप में अनवरत रूप से चला आ रहा है। उसकी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं का भी मुख्यतया यही उद्देश्य रहा है कि मनुष्य-जीवन की इन तीनों आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति सरलता, सुगमता और विश्वसनीय रूप से हो सके। इन समस्त रचनाओं, संस्थाओं और साधनों की सम्बद्ध और संस्था-रूप व्यवस्था का ही नाम 'सभ्यता' है।

मनुष्य स्वभाव से प्रगतिशील प्राणी है। ऐसी प्रत्येक जीवन-पद्धति, रीति-नीति, रहन-सहन, आचार-विचार, नवीन अनुसन्धान और आविष्कार जिससे मनुष्य पशुओं और जंगलियों के स्तर से ऊपर उठता है, सभ्यता का अंग है। सभ्यता से मनुष्य के भौतिक क्षेत्र की और संस्कृति से मानसिक क्षेत्र की प्रगति सूचित होती है। प्रारम्भ में मनुष्य आँधी-पानी, सर्दी-गर्मी सब कुछ सहन करता हुआ जंगल में रहता था। धीरे-धीरे उसने प्राकृतिक विपदाओं से अपनी रक्षा करने के लिये पहले गुफाओं और फिर क्रमशः लकड़ी, ईंट या पत्थर के मकानों का निर्माण किया, अब वह लोहे और सीमेन्ट की गगनचुम्बी अट्टालिकाओं

का निर्माण करने में लगा है। प्राचीनकाल में यातायात का साधन केवल दो पैर थे, फिर उसने घोड़े, ऊँट, हाथी, रथ आदि का सहारा लिया, अब वह मोटर और रेलगाड़ी के द्वारा थोड़े समय में अधिक दूरी तय करने लगा हैं, हवाई जहाज लेकर आकाश में उड़ने लगा है, अन्तरिक्ष-यानों के द्वारा चन्द्रमा पर पहुँच गया तथा मंगल व शुक्र ग्रह पर पहुँचने के प्रयत्न में लगा हुआ है। पहले मनुष्य जंगल के कन्द, मूल और फल तथा आखेट से अपना जीवन निर्वाह करता था। बाद में उसने पशुपालन और कृषि के आविष्कार द्वारा अपने आजीविका के साधनों में उन्नति की। पहले वह अपने सभी कार्यों को शारीरिक शक्ति से करता था, फिर उसने पशुओं को पालतू बनाकर उनकी शक्ति का हल व गाड़ी आदि में प्रयोग करना सीखा; आज उसने हवा, पानी, वाष्प, बिजली आदि भौतिक शक्तियों को तथा आणविक शक्ति को वश में करके ऐसी मशीनें बनाई हैं जिससे उसके भौतिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ चुका है। मनुष्य की यह सारी प्रगति 'सभ्यता' कहलाती है।

मनुष्य केवल भौतिक सुख-सुविधाओं से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, क्योंकि भौतिक प्रगति से शरीर की भूख मिट सकती है, लेकिन मन और आत्मा अतृप्त रहते हैं। इन्हें तृप्त करने के लिये मनुष्य जो अपना विकास करता है, उसे संस्कृति कहते हैं। मनुष्य की जिज्ञासा का परिणाम धर्म और दर्शन होते हैं। सौन्दर्य की खोज करते हुए वह संगीत, साहित्य, मूर्ति, चित्र और वास्तु आदि अनेक कलाओं को उन्नत करता है। सुखपूर्वक निवास के लिये सामाजिक और राजनीतिक संगठनों का निर्माण करता है। इस प्रकार मानसिक क्षेत्र में उन्नति की सूचक उसकी प्रत्येक 'सम्यक-कृति' संस्कृति का अंग बनती है। इनमें प्रधान रूप से धर्म, दर्शन, सभी ज्ञान-विज्ञानों और कलाओं, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं और प्रथाओं का समावेश होता है।

इस प्रकार 'सभ्यता' मानव की भौतिक विचारधारा को सूचित करती है, जबकि संस्कृति, आध्यात्मिक एवं मानसिक क्षेत्र के विकास को सूचित करती है। **मैथ्यू आर्नल्ड** ने सभ्यता के सम्बन्ध में लिखा है कि, "मनुष्य का समाज में मानवीकरण ही सभ्यता है।" इसी प्रकार **डॉ. जॉनसन** ने लिखा है कि, "सभ्यता बर्बरता के विरुद्ध जीवित रहने की दशा है।" **डॉ. बैजनाथपुरी** ने सभ्यता तथा संस्कृति के अन्तर को इस प्रकार व्यक्त किया है, "संस्कृति अभ्यांतर है, सभ्यता केवल बाह्य है। संस्कृति के अपनाने में देर लगती है, पर सभ्यता का अनुकरण सरलता से किया जा सकता है। संस्कृति का सम्बन्ध धार्मिक विश्वास से भी है। सभ्यता सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों से बँधी हुई है।" संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सभ्यता मनुष्य को प्रगतिवाद की ओर ले जाने का संकेत करती है लेकिन मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है, उसे संस्कृति कहते हैं। मनुष्य ने धर्म का जो विकास किया, दर्शनशास्त्र के रूप में जो चिन्तन किया, साहित्य, संगीत तथा कला की जो सृष्टि की, सामूहिक जीवन को हितकर तथा सुखी बनाने के लिये जिन पदार्थों एवं संस्थाओं का विकास किया, उन सभी का समावेश 'संस्कृति' में होता है।

भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषताएँ

भारतीय इतिहास को प्रारम्भ हुए हजारों वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारतीय संस्कृति का उद्भव और विकास हो चुका था। किन्तु भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्त्वों को आज भी देखा जा सकता है। अतः कुछ गौण परिवर्तनों के बावजूद भारतीय

संस्कृति का मूलभूत ढाँचा वही है। भारतीय संस्कृति की विशेषताओं द्वारा भारतीय संस्कृति के ढाँचे का चित्र खड़ा किया जा सकता है अर्थात् भारतीय संस्कृति का ढाँचा वही है, जो उसकी विशेषताओं में निहित है। अतः भारतीय संस्कृति के मूलभूत ढाँचे का विवेचन करने के लिये उसकी विशेषताओं का विवेचन करना समीचीन होगा।

(1) प्राचीनता—भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में मानी जाती है। इसका दीर्घकालीन स्थायित्व आज भी देखा जा सकता है। प्राचीन विश्व की अनेक सभ्यताएँ इस समय नष्ट हो चुकी हैं। मिस्र, असीरिया, बेवीलोनिया, क्रीट, यूनानी आदि संस्कृतियाँ उच्च स्तरों को प्राप्त कर कालान्तर में समाप्त हो गईं। आज प्राचीन यूनानी व रोमन धर्मों का अनुयायी कोई नहीं है। चीनी और भारतीय संस्कृति को छोड़कर, अन्य किसी भी प्राचीन संस्कृति का नामलेवा नहीं बचा है। परन्तु भारत की प्राचीन संस्कृति हजारों वर्ष बीत जाने पर भी अब तक कायम है। भारत का धर्म अब भी वैदिक है, इस देश के पुरोहित व ब्राह्मण आज भी वेद-मन्त्रों द्वारा यज्ञ-कुण्ड में आहुति देकर देवी-देवताओं को तृप्त करते हैं। उपनिषदों और गीता ने ज्ञान की जो धारा प्रवाहित की थी, वह आज भी निर्बाध रूप से इस देश में बह रही है। महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी ने अहिंसा और शान्ति का जो उपदेश दिया था, वह आज भी इस देश में जीवित और जागृत है। यहाँ की स्त्रियों का आदर्श आज भी सीता, सावित्री और पार्वती है। भारतीय संस्कृति की यह प्राचीनता और स्थिरता भारतीय जीवन के प्रति उसकी अनुकूलता और उपयोगिता स्पष्ट प्रकट करती है। यह सत्य है कि कालान्तर में उसमें अनेक मिलावटें आ गईं, फिर भी मूल रूप से भारतीय संस्कृति के अनेक अंग, भारत के लिये ही नहीं, वरन् विश्व के लिये मूल्यवान और आवश्यक बताये जाते हैं।

अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान विल ड्यूरेण्ट ने भारतीय संस्कृति की प्राचीनता का उल्लेख करते हुए लिखा है, "यहाँ ईसा से 2900 वर्ष पहले या इससे भी पहले मोहनजोदड़ों से महात्मा गाँधी, रमण और टैगोर तक उन्नति और सभ्यता का शानदार सिलसिला जारी रहा है। ईसा से आठ शताब्दी पहले उपनिषदों से आरम्भ होकर ईसा के आठ सौ वर्ष बाद शंकर तक ईश्वरवाद के हजारों रूप प्रतिपादित करने वाले दार्शनिक यहाँ हुए हैं। यहाँ के वैज्ञानिकों ने तीन हजार वर्ष पहले ज्योतिष का आविष्कार किया और इस जमाने में भी नोबल पुरस्कार जीते हैं। कोई भी लेखक मिस्र, बेबीलोनिया और असीरिया के इतिहास की भाँति भारत के इतिहास को समाप्त नहीं कर सकता, क्योंकि भारत में अभी तक इतिहास का निर्माण हो रहा है, उसकी सभ्यता अब भी क्रियाशील है।" कवि इकबाल के शब्दों में, "यूनान, मिस्र, रोमाँ सब मिट गये जहाँ से, कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।"

(2) आध्यात्मिकता—किसी भी देश की संस्कृति अपने को धर्म, दार्शनिक विचार, कविता, साहित्य और कला आदि के रूप में अभिव्यक्त करती है। भारतीय संस्कृति ने अपने को जिस रूप में अभिव्यक्त किया, वह है— अध्यात्म की भावना। भारत में यह विचार सदा से चला आ रहा है कि, "आँखों से दिखाई देने वाले इस स्थूल संसार से परे भी कोई सत्ता है, जिससे जीवन व शक्ति प्राप्त करके यह प्रकृति फल-फूल रही है।" भारत में यह विचारधारा भी प्रचलित रही कि, "जो अपने को सब में और सबको अपने में देखता है, वही असल में देवता है।" इसी विचारधारा के कारण देश में धार्मिक या साम्प्रदायिक द्वेष बहुत

नहीं हुआ। यद्यपि महात्मा बुद्ध व महावीर स्वामी ने प्राचीन वैदिक धर्म को चुनौती दी, लेकिन इसका कोई विशेष परिणाम नहीं निकला, बल्कि यहाँ के सनातन वैदिक धर्म ने ही उन्हें अपने में ही लीन कर लिया। 'सब में अपने को देखने' की भावना का वही यह परिणाम था। यवन, शक, कुषाण आदि जातियों को भी इसी भावना द्वारा भारतीय समाज का अंग बनाया गया। यद्यपि हिन्दू धर्म में अनेक मत एवं सम्प्रदाय रहे, किन्तु सभी सम्प्रदायों की मूल प्रेरक शक्ति अध्यात्म भावना रही है। भारतीय विचारकों ने तो इस्लाम के साथ भी अपने धर्म के समन्वय का प्रयत्न किया और इसलिये 'अल्लोपनिषद्' की रचना हुई। मुसलमानों का सूफी सम्प्रदाय भारत के अध्यात्मवाद, योग-साधन और रहस्यवाद का मुस्लिम संस्करण है। भारतीय धर्मग्रन्थों में मानव की आधिभौतिक प्रगति के साथ-साथ उसकी आध्यामित्क प्रगति पर भी बल दिया गया है। मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य आध्यात्मिक पद्धतियों पर चलते हुए ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना या अन्य साधनों से सांसारिक जीवन से मोक्ष प्राप्त करना माना गया है। आज भी भारतीयों का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है।

(3) **सहिष्णुता**—विविध सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णुता और सम्मान का भाव भारतीय संस्कृति का प्रधान अंग रहा है। सम्राट अशोक ने इस भाव को कितने सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है, "लोग केवल अपने ही सम्प्रदाय का आदर और बिना कारण दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा न करें। जो व्यक्ति ऐसा करता है, वह अपने सम्प्रदाय को भी क्षति पहुँचाता है और दूसरे सम्प्रदाय का भी अपकार करता है। लोक एक-दूसरे के धर्म को ध्यान से सुनें और उसकी सेवा करें क्योंकि सभी सम्प्रदाय वाले बहुत से विद्वान् कल्याण का कार्य करते हैं।" अशोक द्वारा प्रतिपादित यह भावना भारत के सम्पूर्ण इतिहास में ओत-प्रोत रही है। इसीलिये यहाँ राजाओं ने धार्मिक दृष्टि से अत्याचार नहीं किये और न साम्प्रदायिक युद्ध ही हुए। जो एक-दो उदाहरण इस प्रकार के अत्याचारों व साम्प्रदायिक संघर्ष के यहाँ मिलते हैं, वे अपवादस्वरूप हैं और वे भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा को सूचित नहीं करते। किन्तु यूरोप में धर्म की दृष्टि से न केवल एक धर्म ने दूसरे धर्म पर, परन्तु अपने ही धर्म में विभिन्न मत रखने वालों पर जो भीषण अत्याचार किये, उनसे यूरोपियन इतिहास के अनेक पृष्ठ रक्तरंजित हैं। प्राचीन इतिहास में भारत ही एकमात्र ऐसा देश था, जहाँ हिंसा और धर्मान्धता का प्राधान्य नहीं रहा। ऋग्वेद में कहा गया है—एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति (एक ही भगवान का ज्ञानी नाना रूप से वर्णन करते हैं)। गीता में इसी विचार को पराकाष्ठा तक पहुँचाया गया। भगवान कृष्ण ने तो यहाँ तक कहा है कि, अन्य देवताओं की श्रद्धापूर्वक उपासना करने वाले भी मेरा ही भजन करते हैं। भारतीयों का यह विश्वास था कि भगवान एक अचिन्तय, अव्यक्त, सर्वशक्तिमान सत्ता है, विविध प्रकार की उपासनाएँ उस तक पहुँचने के मार्ग हैं। जब लक्ष्य एक है तो मार्गों के बारे में झगड़ा क्यों किया जाय। इसी विचार को 19वीं शताब्दी में स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने अधिक पुष्ट किया। उनका कहना था कि, "ईश्वर एक है लेकिन उसके विभिन्न स्वरूप हैं। जैसे एक घर का मालिक, एक के लिये पिता, दूसरे के लिये भाई और तीसरे के लिये पति है और विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न नामों से पुकारा जाता है, उसी प्रकार ईश्वर भी विभिन्न कालों व देशों में भिन्न-भिन्न नामों से व भावों से पूजा जाता है। इसीलिये धर्मों की अनेकता देखने को मिलती है।"

उपर्युक्त धार्मिक विचारधारा का ही परिणाम था कि यहाँ सभी पन्थ और सम्प्रदाय प्रीतिपूर्वक रहते रहे। इसी सहिष्णुता से आर्यों ने अपने से भिन्न अनार्यों और विधर्मियों की

उपासना विधियाँ स्वीकार करलीं। भारत ने विदेशों से धार्मिक अत्याचारों द्वारा पीड़ित होकर आने वाले पारसियों, यहूदियों और सीरियन ईसाइयों को अपने यहाँ उदारतापूर्वक शरण दी। इसी से आर्य विविध आचार-विचार और धार्मिक विश्वासों वाली भारत की विभिन्न जातियों में एकता उत्पन्न कर सके। इसी साम्प्रदायिक एकता का प्रतिपादन हमारे संविधान में भी हुआ है।

(4) आनुकूल्यता--भारतीय संस्कृति में आनुकूल्यता प्राचीन युग से लेकर आज के युग तक पाई जाती है। आनुकूल्य का अभिप्राय है—अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बनाते रहना। जीव-शास्त्र का यह नियम है कि वही प्राणी दीर्घजीवी होता है जो परिस्थितियों के अनुकूल अपने को ढालता रहे। पृथ्वी पर पहले हाथियों से भी कई गुना बड़े भीमकाय जानवर रहते थे, वे जीवन-संघर्ष की प्रतियोगिता में समाप्त हो गये, क्योंकि नई परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर वे अपने को उनके अनुकूल नहीं ढाल सके। संस्कृतियों पर भी यह नियम लागू होता है। चूँकि मिस्र, मेक्सिको और ईरान की संस्कृतियाँ विदेशी आक्रमणों में अपने को नहीं संभाल सकीं, इसलिये उनका अन्त हो गया। किन्तु भारतीय संस्कृति अपने इस गुण के कारण सभी विषम परिस्थितियों में उपयुक्त परिवर्तन करती हुई जीवित रही। परिस्थितियाँ निरन्तर परिवर्तित होती रहीं और हमारे धर्म, समाज, आचार-विचार आदि में निरन्तर परिवर्तन आता चला गया, किन्तु यह परिवर्तन इतना शनैःशनैः और सूक्ष्मता से हुआ कि हमें उसका बिल्कुल पता ही नहीं चला। वैदिक युग से वर्तमान युग तक हम काफी बदल चुके हैं, जैसे उस समय हमारा धर्म यज्ञ-प्रधान था, जबकि आज भक्ति-प्रधान है। विभिन्न आक्रान्ताओं के भारत में प्रवेश करने से नवीन और चुनौतीपूर्ण परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं, उसमें भी इसी अनुकूलता की प्रवृत्ति ने भारतीय संस्कृति को बचाये रखा। ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि गुप्त काल से लेकर आज तक भारत के मौलिक आदर्शों में कोई अन्तर नहीं आया है। मुसलमानों और अंग्रेजों के शासनकाल में शिक्षित वर्ग द्वारा विजेताओं का रहन-सहन, भाषा और वेशभूषा अपना लेने पर भी भारत ने अपना परम्परागत धर्म और सामाजिक आदर्शों का परित्याग नहीं किया।

(5) सर्वांगीणता—व्यक्ति का सर्वांगीण विकास भारतीय संस्कृति का आधारभूत विचार है। सर्वांगीण विकास का लक्ष्य ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की उन्नति करना है। भारतीय संस्कृति में शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार की शक्तियों के विकास पर समान बल दिया गया है। पाश्चात्य जगत् में विज्ञान के भिन्न-भिन्न आविष्कार करके भूतल की प्रत्येक वस्तु को समझने का प्रयत्न किया है, किन्तु उसने यदि किसी विज्ञान का विकास नहीं किया है तो वह है आत्म-विज्ञान। भारत में प्राचीनकाल से शरीर, मन और आत्मा के सामंजस्यपूर्ण विकास को जीवन का लक्ष्य माना गया था। शास्त्रकारों के अनुसार मनुष्य को चार पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। इनमें पहला और अन्तिम आत्मिक विकास के लिये था और दूसरा तथा तीसरा शरीर व मन की उन्नति के लिये। इनकी प्राप्ति के लिये आश्रम व्यवस्था की स्थापना की गई। ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम पहले तीन पुरुषार्थो को प्राप्त करने के लिये थे तथा वानप्रस्थ व संन्यास आश्रम में मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता था। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक और भौतिक दोनों तत्त्वों पर समान रूप से बल दिया गया है। चारों पुरुषार्थो का प्रयत्न समान रूप से करना चाहिये, ताकि व्यक्ति का सर्वांगीण विकास हो सके। व्यक्ति को न तो धर्म की

उपेक्षा करनी चाहिये और न अर्थ और काम की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये। धर्म का अनुसरण कर अर्थ की उपलब्धि करने, धर्मानुसार 'काम' का सेवन करने और मोक्ष को अन्तिम लक्ष्य बनाकर ही मनुष्य अपना सर्वांगीण विकास कर सकता है।

(6) ग्रहणशीलता—सहिष्णुता से भारतीय संस्कृति में ग्रहणशीलता की प्रवत्ति उत्पन्न हुई। ग्रहणशीलता से अभिप्राय: यह है कि भारत में जो नये तत्त्व आते गये, भारतीय उन्हें पचाकर अपना अंग बनाते रहे। ऊपरी दृष्टि से भारतीय संस्कृति सबसे अधिक निषेधात्मक और पृथकत्वप्रिय संस्कृति दिखाई पड़ती है। परन्तु अनेकानेक प्रजातीय प्रलय समान आक्रमणों को झेलते हुए यदि इसमें ग्रहणशीलता नहीं होती तो कदाचित् वह बहुत पहले अन्य संस्कृतियों की तरह विलुप्त हो गई होती। सुसंस्कृत ईरान, यूनान, अरब और आधुनिक युग में, पश्चिमी यूरोप के निवासी भारत में आये और न्यूनाधिक समय तक शासन करते रहे। उनमें से कुछ स्थायी रूप से भारत में ही बस गये। अर्धसभ्य शक, हूण, मंगोल और तुर्क भी यहाँ बहुत समय तक लूट-खसोट और मार-काट करते रहे और अधिकांश भारतीयों में घुलमिल गये। इनमें से अधिकांश का अब भारतीय जनसंख्या में पृथक् अस्तित्व नहीं रहा है। उन्होंने हमारी भाषा, धर्म, नीति-विधान अपना लिया। आधुनिक पारसी गुजराती बोलते हैं, उनके शादी-ब्याह की रीति-नीति और नीति-विधान भारतीय है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति ने विदेशी तत्त्वों को पूरी तरह आत्मसात् कर लिया। अन्य जातियों को पचाने के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति ने दूसरी संस्कृतियों के सुन्दर तत्त्व ग्रहण करने में कभी संकोच नहीं किया। भारतीय ज्योतिष और कला, यूनानी और इस्लामी प्रभाव से ही समृद्ध हुई है।

इसी ग्रहणशीलता के कारण यहाँ जो कुछ आया उसे हमने रख लिया और सहिष्णुता के कारण उसे नष्ट नहीं किया। यही कारण है कि हमारे यहाँ सभी प्रकार के धार्मिक विश्वास और रहन-सहन के ढंग मिलते हैं। मानवजाति को विभिन्न हिस्सों में बाँटने वाले सब पन्थ यहाँ पाये जाते हैं। सभी प्रकार की पूजा-पद्धतियाँ यहाँ प्रचलित हैं। प्राचीनकाल के वेद, कपिल और चार्वाक से आधुनिक युग के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तक सभी विचारधाराएँ और दर्शन यहाँ मिलते हैं। सभी प्रकार के वैयक्तिक कानून यहाँ प्रचलित हैं। विवाह पवित्र संस्कार भी है और इच्छा से तोड़ा जाने वाला सम्बन्ध-मात्र भी। बहुपत्नीत्व भी है और बहुपतित्व भी। भारतीय संस्कृति में ग्रहण और संरक्षण को तो स्थान है, लेकिन विनाश और विध्वंस को नहीं। यहाँ का मुख्य सिद्धान्त 'जियो और जीने दो' का है। यही कारण है कि आज आर्य, द्रविड़, दस्यु, किराट, यवन, शक, हूण, मंगोल आदि लोगों का पृथक् रूप से भारत में मिलना कठिन है। जाति सारणियों या कौटुम्बिक वंशावलियों में तो यह नाम मिल सकते हैं, परन्तु इतिहास और भारतीय माताओं की कोखों में इन सबका ऐसा सम्मिश्रण हो गया है कि समस्त भारतीय जन-समुदाय एकरस हो गया है। वस्तुत: भारत ने तलवार के जोर से अन्य लोगों को अपने में कभी नहीं मिलाया, बल्कि उनकी संस्कृतियों को अपनी छत्रछाया में पल्लवित होने का अवसर दिया।

(7) भारत की आधारभूत एकता—अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों की मान्यता है कि भारत एक राष्ट्र नहीं है और न कभी रहा है। इसलिये हमारे लिये यह विचार कर लेना आवश्यक हो जाता है कि भारत एक देश और एक राष्ट्र है अथवा नहीं।

भारत एक विशाल देश है और यह आश्चर्यजनक विभिन्नताओं से परिपूर्ण है। एक ओर हिमालय पर्वत पर अनन्त हिमराशि के फलस्वरूप भयंकर शीत है तथा दूसरी ओर कोंकण व कोरोमण्डल क्षेत्र में असह्य गर्मी पड़ती है। चेरापूंजी (असम) में यदि प्रतिवर्ष 400 इंच वर्षा होती है तो कुछ रेगिस्तानी क्षेत्रों में पाँच इंच या इससे भी कम। जलवायु की विभिन्नता के कारण वनस्पति एवं पशु-पक्षियों में भी असीमित विभिन्नता देखी जा सकती है। इस देश में विभिन्न जातियाँ निवास करती हैं यथा-ब्राह्मण, राजपूत, महाजन, मुस्लिम, मंगोल, कोल-भील, संथाल आदि। विभिन्न जातियों के साथ-साथ यहाँ हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिख, इस्लाम, ईसाई, पारसी आदि धर्मावलम्बी भी विद्यमान हैं। देश में विभिन्न भाषा और बोलियाँ बोलने वाले लोग हैं। सामाजिक रूढ़ियों, रीति-रिवाजों और विधि-विधानों में भी अन्तर है तथा प्रदेशों में परस्पर सांस्कृतिक विभिन्नता है। इसीलिये विदेशियों ने भारत को जातियों, भाषाओं, मतमतान्तरों, संस्कृतियों और रीति-रिवाजों का अजायबघर और संग्रहालय कहकर पुकारा है। ऊपरी दृष्टि से तो यह कथन सत्य ही प्रतीत होता है। परन्तु इन विभिन्नताओं के पीछे जो आधारभूत एकता है, वह कुछ अधिक गम्भीर चिन्तन करने पर ही दिखाई देती है, जिसके आधार पर निम्नलिखित हैं—

(i) **भौगोलिक एकता**—यद्यपि भारत में अनेक प्रकार के भूखण्ड, जलवायु, जीव-जन्तु एवं वनस्पतियाँ हैं, तथापि प्रकृति ने इसे एकीकृत देश बनाया है। इसके उत्तर में दुर्गम हिमालय तथा दक्षिण में समुद्र की जल सीमा ने इसे घेर रखा है। प्रकृति ने इसे एक भौगोलिक इकाई बनाया है, जो देश के आन्तरिक विभाजन को ढक देती है। अतः जो भौगोलिक अनेकरूपता हमें दिखाई देती है, उसमें एक ऐसी मौलिक एकता है जिसने हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक भारतीय जीवन को एकसूत्र में बाँध रखा है। स्मिथ जैसे आलोचक इतिहासकार ने भी यह माना है कि, "भारत निःसन्देह एक स्वतन्त्र भौगोलिक इकाई है, जिसका एक नाम होना सर्वथा ठीक ही है।" सभी भूगोल विशारद यह मानते हैं कि अनेकानेक भौगोलिक विषमताओं के होते हुए भी अनेक लक्षण भारत को अन्य समीपवर्ती देशों से स्पष्टतया विभक्त कर देते हैं। भारतीयों को प्राचीनकाल से ही इस भौगोलिक एकता का ज्ञान है। जिस समय से आर्य सभ्यता सारे देश में फैल गई, तब से इस भौगोलिक एकता के ज्ञान के चिन्ह हमारे धार्मिक और लौकिक साहित्य में मिलते हैं। कात्यायन से आरम्भ होकर कोई ऐसा प्रसिद्ध कवि, आचार्य, नीतिकार और राजनीतिज्ञ नहीं हुआ जो भारत के किसी भाग को विदेश समझता हो या उसे भारत के राजनीतिक क्षेत्र का भाग न समझता हो। हमारे प्राचीन महाकाव्यों में सम्पूर्ण देश का नामकरण 'भारतवर्ष' ही किया गया है। विष्णुपुराण में तो स्पष्ट रूप से बताया गया है कि समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण का सारा प्रदेश 'भारत' है और उसके निवासी भारत की सन्तान हैं। अतः तीसरी-चौथी शताब्दी से तो निःसन्देह भारत के मनीषी देश की भौगोलिक एकता से पूर्ण रूप से अवगत थे। इसके प्रमाण-स्वरूप, सभी देशी और विदेशी लोग इसे एक ही नाम देते रहे हैं।

(ii) **राजनीतिक एकता**—कुछ विद्वानों का कथन है कि यह देश केवल अंग्रेजी [redacted]। यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से सही नहीं है। यद्यपि प्राचीनकाल [redacted] की विशालता [redacted]र यातायात के सुगम साधनों के अभाव में पूर्ण राजनीतिक एकता स्थापित नहीं हो सकी, परन्तु प्राचीन भारतवासी देश में

राजनीतिक एकता और केन्द्रीयकरण के आदर्श एवं संस्थाओं से भलीभाँति परिचित थे। राजाओं की मनोकामना दिग्विजय कर चक्रवर्ती सम्राट बनने की होती थी। महत्त्वाकांक्षी नरेश अपने साम्राज्य का विस्तार करके अपनी सार्वभौमिक प्रतिष्ठा के लिये राजसूय, अश्वमेघ, वाजपेय आदि यज्ञ भी करते थे। मगध के अजातशत्रु, मौर्य, आन्ध्र और गुप्त सम्राटों ने राजनीतिक एकता की परम्पराएँ बनाये रखीं। मध्य युग में अलाउद्दीन खिलजी, अकबर और औरंगजेब तथा मराठों के पेशवाओं ने भी भारत को राजनीतिक दृष्टि से एक किया। उन्होंने सारे साम्राज्य का शासन संचालन केन्द्र से किया। मुगलों के समय में एक-सी शासन-व्यवस्था, एक-से कानून और एक राजभाषा थी। आधुनिक युग में ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत यह राजनीतिक एकता अधिक दृढ़ हो गयी। इसी एकता और राष्ट्रीय भावना के आधार पर विभिन्न प्रान्तों के निवासियों ने संगठित होकर देश के राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय भाग लिया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद तो, एक-सी शासन-व्यवस्था, कानून और संविधान के द्वारा यह राजनीतिक एकता और भी अधिक सुदृढ़ कर दी गई है।

(iii) **सांस्कृतिक एकता**—विभिन्न धर्मावलम्बियों व जातियों के होने पर भी भारत की सांस्कृतिक एकता प्राचीनकाल से रही है। भारतीय संस्कृति विविध सम्प्रदायों तथा जातियों के आचार-विचार, विश्वास और आध्यात्मिक साधना का समन्वय है। यह संस्कृति वैदिक, बौद्ध, जैन, हिन्दू, मुस्लिम और आधुनिक संस्कृतियों के सम्मिश्रण से बनी है। भारत तथा पाकिस्तान व बांगलादेश का मुसलमान अपने विचारों और रीति-रिवाजों की दृष्टि से तुर्की तथा अरब देशों के मुसलमानों से भिन्न है और अपेक्षाकृत भारतीय हिन्दुओं के निकट है। भारत के अनेक धार्मिक सम्प्रदायों के दार्शनिक और नैतिक सिद्धान्तों में मलूभूत एकता है। एकेश्वरवाद, आत्मा का अमरत्व, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष, निर्वाण, भक्ति, योग, बोधिसत्व और तीर्थङ्कर आदि प्रायः सभी धर्मों की निधि है। धार्मिक कर्मकाण्ड और संस्कारों में भी कुछ समानता है। यम, नियम, शील, तप और सदाचार पर सभी सम्प्रदाय जोर देते हैं। ऋषि-मुनियों, सन्त-महात्माओं और महापुरुषों का सम्मान बिना किसी क्षेत्रीय भेदभाव के सर्वत्र होता है। सभी सम्प्रदायों के तीर्थस्थान, पवित्र नदियाँ और पर्वत सम्पूर्ण भारत में फैले हुए हैं। यही सांस्कृतिक एकता एवं अखण्डता का सबल प्रमाण है।

भारतीय साहित्य एवं कला का उद्गम सभी प्रान्तों में एक ही रहा है, यथा-धार्मिक भावना, नैतिक भावना, रहस्यानुभूति तथा प्रतीकात्मकता आदि। साहित्य एवं कला के आधार—कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, अलंकार, रस आदि सभी जगह समान हैं। वेद, उपनिषद, गीता, रामायण, महाभारत, पुराण, स्मृति, बौद्ध एवं जैन साहित्य समस्त भारत में समान रूप से प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। कला के स्मारकों में प्रान्तीय विशेषता होते हुए भी स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत और रंगमंच आदि में भारतीयता की ही झलक दिखाई देती है। अजन्ता, एलोरा, विदिशा उदयगिरी, बाघ आदि के चैत्य एवं विहार तथा सारनाथ, साँची, भरहुत, अमरावती, मथुरा, गया आदि स्थानों के विहार तथा स्तूप यह प्रमाणित करते हैं कि किस प्रकार एक ही धार्मिक भावना ने देश को एकसूत्र में बाँध दिया था।

भारत के लगभग सभी सम्प्रदायों ने प्राचीनकाल से संस्कृत भाषा को अपनाया था। भारत में सांस्कृतिक विचारों का आदान-प्रदान संस्कृत भाषा के माध्यम से ही हुआ। यद्यपि प्रारम्भिक जैन व बौद्ध मतावलम्बियों ने प्राकृत और पालि भाषा को अपने उपदेशों का मुख्य

माध्यम बनाया था, लेकिन संस्कार एवं प्रसार की दृष्टि से उन्हें भी बाद में संस्कृत भाषा को अपनाना पड़ा। राजनैतिक अध्ययन एवं शासन-तंत्र में भी संस्कृत भाषा का प्रयोग होता था। अतः यह अन्तर-प्रान्तीय उपयोग की भाषा थी। मध्य युग तक इसका खूब प्रचार रहा तथा अनेक मूल ग्रन्थ संस्कृत में ही लिखे गये। देश की विविध भाषाओं हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला, पंजाबी आदि का मूल स्रोत संस्कृत रहा है। इनकी शब्दावली मुख्यतया संस्कृत से ली गई है। दक्षिण की तमिल, तेलगू, मलयालम और कन्नड़ भाषाओं पर भी संस्कृत का अधिक प्रभाव है। इन सभी भाषाओं के साहित्य में भी समानता है, क्योंकि उनके प्रेरणा के मूल स्रोत रामायण, महाभारत एवं पुराणों की कथाएँ, उनके नायकों के जीवन-चरित्र, देवी-देवताओं के वृत्तान्त ही रहे हैं। इस प्रकार संस्कृत ने प्रान्त, जाति, सम्प्रदाय और बोली आदि का अतिक्रमण कर भारतीयों को एक सांस्कृतिक सूत्र में बाँधने में महान् योगदान दिया। प्रत्येक भाषा के साहित्य पर आध्यात्मवाद की छाप है और विषय-निरूपण एक समान है।

यद्यपि भारत में अनेक जातियाँ—आर्य, द्रविड़, सीरियन, हूण, तुर्क, पठान, मंगोल आदि का प्रवेश हुआ, किन्तु उनमें से अधिकांश हिन्दू समाज में इतनी घुलमिल गई हैं कि उनका अपना अस्तित्व ही नहीं रहा। जो एक-दो अहिन्दू जातियाँ हैं उनमें अधिकांश लोग हिन्दुओं की ही सन्तान हैं तथा वे हिन्दू वातावरण से पूर्णतः अप्रभावित नहीं हैं। विभिन्न क्षेत्रों में विवाह, खान-पान, शिष्टाचार, मनोरंजन, आमोद-प्रमोद, पर्व, उत्सव, मेले आदि में भी देश में काफी कुछ समानता दिखाई देती है। आधुनिक राष्ट्रीयता की नवीन विचारधारा के फलस्वरूप देश की एक ही शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत सभी नागरिकों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त हैं। इससे अब जातीय भेद समाप्त हो रहा है।

अतः भारतीय जीवन की ऊपर से दिखाई देने वाली विविधता भारतीय संस्कृति की मौलिक एकता है तथा संस्कृति की समृद्धि की सूचक है। विस्तार में महान् तथा रीति-रिवाजों में विभिन्नता होते हुए भी भारत में एक मौलिक एकता रही है। भारत के भिन्न-भिन्न भागों के निवासियों ने एक मौलिक शृंखला के चारों ओर भाषा, साहित्य, कला-कौशल, आध्यात्मिक चिन्तन, सामाजिक व्यवस्था के नाना प्रकार के फूल सँवारे हैं। आज भी गायन और नृत्य की अनेक शैलियाँ भारत में उन्नत दशा में हैं। भारतीय संस्कृति की यह बहुरूपता उसकी सांस्कृतिक सम्पन्नता और सर्वांगीणता की सूचक है। प्राचीन भारत का इतिहास लिखते हुए, जहाँ हम उस धर्म, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य और सामाजिक संगठन के विकास का विवेचन करते हैं, जो सारे भारत में समान रूप से विकसित हुए, वहाँ साथ ही हम उस प्रयत्न का भी प्रदर्शन करते है, जो इस देश में राजनीतिक एकता की स्थापना के लिये निरन्तर जारी रहा। यही कारण है कि हम भारत का एकीकृत इतिहास लिखने में समर्थ होते हैं।

संस्कृति का निर्माण

किसी देश की संस्कृति उसकी सम्पूर्ण मानसिक निधि को सूचित करती है। यह व्यक्तिनिष्ठ न होकर अनेक व्यक्तियों द्वारा किया गया एक बौद्धिक प्रयास है अर्थात् यह किसी एक व्यक्ति के पुरुषार्थ का फल न होकर असंख्य ज्ञात तथा अज्ञात व्यक्तियों के भागीरथ प्रयत्न का परिणाम होती है। सभी व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और योग्यतानुसार संस्कृति के निर्माण में सहयोग देते हैं। संस्कृति की तुलना आस्ट्रेलिया के निकट समुद्र में पाई जाने

वाली मूँगे की भीमकाय चट्टानों से की जा सकती है। मूँगे के असंख्य कीड़े अपने छोटे-छोटे घर बनाते-बनाते समाप्त हो जाते हैं। हजारों वर्षों तक मूँगे के कीड़ों की पीढ़ियाँ निरन्तर यह क्रम जारी रखती हैं और वे सब मूँगे के नन्हें-नन्हें घर परस्पर जुड़ते हुए विशाल चट्टानों का रूप धारण कर लेते हैं। इसी प्रकार संस्कृति का भी धीरे-धीरे लम्बी अवधि में निर्माण होता है। मनुष्य विभिन्न स्थानों पर रहते हुए, विशेष प्रकार के सामाजिक वातावरण, संस्थानों, प्रथाओं, व्यवस्थाओं, धर्म, दर्शन, लिपि, भाषा तथा कलाओं का विकास करके अपनी विशिष्ट संस्कृति का निर्माण करते हैं। भारतीय संस्कृति का निर्माण भी इसी प्रकार हुआ है। संस्कृति समाज का व्यक्तित्व है, जिसके विचार, भावना, आचरण तथा कार्यकलापों के विभिन्न प्रस्तरों से संस्कृति की सिद्धि होती है। सिन्धु संस्कृति से उत्तरवैदिक काल तक भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों का निर्माण हो चुका था और गुप्त काल से लेकर आधुनिक काल तक भारतीय संस्कृति के मूलभूत आदर्शों में कोई मूल परिवर्तन नहीं आया है। पूर्व-वैदिक और उत्तरवैदिक आर्यों ने इस संस्कृति के निर्माण का भागीरथ प्रयत्न किया और बाद में गुप्त सम्राटों ने इस पूर्णतः पल्लवित करने में अपना महान् योगदान दिया। इनके प्रयासों से भारतीय संस्कृति का निर्माण इतना सुदृढ़ आधार पर हुआ कि विदेशी आक्रमणकारियों की संस्कृति भी भारतीय संस्कृति की नींवें न हिला सकी। इसके विपरीत वे विदेशी संस्कृतियाँ स्वयं भारतीय संस्कृति में घुलमिल गईं और भारतीय संस्कृति को समृद्ध बनाने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। भारत की इस समृद्ध संस्कृति ने, उसकी भौगोलिक परिस्थिति और उसके ऐतिहासिक अनुभवों ने, उसके धार्मिक विचारों और उसके आदर्शों ने उसे एकता एवं अखण्डता प्रदान की। सर्वगुणसम्पन्न भारतीय संस्कृति के इस ढाँचे ने काल के घातक प्रहारों एवं आक्रमणों से भारतीय संस्कृति की रक्षा की है।

भारत के निवासियों ने अपने सुदीर्घकालीन इतिहास में अपने जीवन को जिस प्रकार विकसित किया, धर्म, दर्शन, राजनीति, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, संगीत, कला आदि में जिस प्रकार उन्नति की, उसका इतिहास ही भारतीय संस्कृति का इतिहास है, जिसको इस ग्रन्थ में हम प्रतिपादित करने का प्रयास करेंगे।

अभ्यास के लिए प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग पाँच पृष्ठों में दीजिए—

1. भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
2. "भारतीय संस्कृति में विविधता में एकता पाई जाती है।" विवेचना कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए—

1. संस्कृति का अर्थ बताते हुए इसके उद्भव की विवेचना कीजिए।
2. सभ्यता और संस्कृति में भेद समझाइये।
3. भारतीय संस्कृति में आनुकूल्यता से आप क्या समझते हैं?
4. संस्कृति के निर्माण में आवश्यक तत्त्वों की विवेचना कीजिए।

◆

अध्याय-2

सैंधव एवं वैदिक धर्म

पुरातत्व की दृष्टि से भारतीय धर्म और संस्कृति का विकसित रूप सर्वप्रथम सिन्धु घाटी के क्षेत्र में मिलता है। वस्तुतः भारतवर्ष का इतिहास तो मानव-सभ्यता के प्राचीन पाषाण-युग के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है, परन्तु देश की सुविकसित सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास सिन्धु घाटी की सभ्यता से ही प्रारम्भ होता है, जो वैदिक सभ्यता से भी प्राचीन है। चूँकि इस सभ्यता के अधिकांश भग्नावशेष सिन्धु तथा उसकी सहायक नदियों की घाटियों में उपलब्ध हुए है, इसलिए इसे 'सिन्धु-घाटी की सभ्यता' अथवा 'सैन्धव सभ्यता' के नाम से पुकारा जाता है। इसे 'हडप्पा-संस्कृति' के नाम से भी पुकारा जाता है, क्योंकि हडप्पा नगर और उसके आस-पास का क्षेत्र इस सभ्यता का केन्द्र-स्थान रहा था। अतीत के खण्डहरों में दबी पड़ी इस सभ्यता के उत्खनन का कार्य सर्वप्रथम 1920 ई. में हडप्पा में ही शुरू किया गया था। हडप्पा, पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान) के माण्टगोमरी जिले में लाहोर से लगभग 100 मील दूर दक्षिण-पश्चिमी में रावी नदी के तट पर है। उत्खनन कार्य करवाने वालों में श्री दयाराम साहनी तथा श्री माधोस्वरूप वत्स अग्रणीय थे। इसके बाद 1922 ई. में श्री राखालदास बनर्जी के नेतृत्व में सिन्ध प्राप्त (पाकिस्तान) के लरकाना जिले में खुदाई का काम किया गया, जिसके फलस्वरूप मोहनजोदड़ो के भव्य नगर के अवशेष उपलब्ध हुए। यद्यपि इन दोनों स्थानों के बीच लगभग 350 मील की दूरी है, किन्तु दोनों स्थानों की खुदाई में प्राप्त अवशेषों में अद्भुत साम्यता थी और उनके तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर सर जॉन मार्शल ने यह सिद्ध कर दिया कि ये अवशेष किसी अति प्राचीन पूर्व-ऐतिहासिक सभ्यता के प्रतीक है। इस प्राचीन सुविकसित सभ्यता की खोज का काम निरन्तर चलता रहा। अर्नेस्ट मैके, एन. जी. मजूमदार, सर ऑरेल स्टीन, एच. हारग्रीव्ज, पिगट, व्हीलर, रंगनाथराव, सांकलिया, बी.वी. लाल, वी.के. थापर आदि पुरातत्ववेत्ताओं ने खोज और खनन के कार्य को आगे बढ़ाया। इन लोगों की खोजों के फलस्वरूप पता चला कि यह सभ्यता केवल सिन्धु-घाटी तक ही सीमित नहीं रही। इन खोजों से स्पष्ट हो गया कि ईसा से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व बलूचिस्तान से पश्चिमी उत्तर प्रदेश तक और अफगानिस्तान से गुजरात और सौराष्ट्र तक तथा राजस्थान में एक महान् संस्कृति विद्यमान थी, जिसका विकास वैयक्तिक रूप से हुआ और जिसकी निजी विशेषताएँ है। भारत की स्वतन्त्रता के बाद व्यापक स्तर पर उत्खनन कार्य किया गया, जिसके परिणामस्वरूप उपर्युक्त क्षेत्रों के बहुत से स्थानों पर हडप्पा सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए है। वर्तमान में भी कुछ स्थानों पर उत्खनन एवं खोज कार्य चल रहा है। जिससे आगे चलकर नये तथ्यों का पता लग सकेगा।

सभ्यता का विस्तार क्षेत्र—पुरातात्विक खोजों से यह सिद्ध हो गया है कि इस सभ्यता का विस्तार क्षेत्र अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, सिन्ध, पंजाब, पश्चिमी राजस्थान, गुजरात एवं उत्तरी भारत में गंगा-घाटी तक व्याप्त था। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा, इस सभ्यता के दो प्रमुख केन्द्र रहे होंगे। अफगानिस्तान में क्वेटा, कीली, गुलमुहम्मद, मुण्डिगर्क नदी के किनारे-किनारे तथा डम्बसदात में भी सिन्धु सभ्यता के प्राचीनतम अवशेष प्राप्त हुए हैं। बलुचिस्तान के उत्तर-पूर्व में लोरलाय घाटी तथा जोब नदी की घाटी में भी इस सभ्यता के बहुत से अवशेष मिले हैं। विद्वानों की मान्यता है कि दक्षिणी बलूचिस्तान की कुल्ली सभ्यता सम्भवत: सिन्धु सभ्यता का ही प्रारम्भिक रूप रही होगी। सिन्धु में अमरी नामक स्थान तथा इसके उत्तर-पूर्व में स्थिति कोटदीजी नामक स्थान पर जो अवशेष मिले है उन्हें भी इस सभ्यता का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है। इसी प्रकार राजस्थान प्रान्त के बीकानेर क्षेत्र में कालीबंगा नामक क्षेत्र में जो अवशेष मिले हैं, उनमें से कुछ तो सिन्धु सभ्यता से भी पहले के प्रतीत होते हैं और शेष अवशेष सिन्धु सभ्यता से साम्य रखते हैं। पंजाब में रोपड़ तथा गुजरात में लोथल और रंगपुर नामक स्थानों से प्राप्त अवशेष भी सिन्धु सभ्यता के समकालीन प्रमाणित होते है। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अविभाजित भारत में यह सभ्यता पश्चिम में अरब सागर के तट के समीप सुत्कगेण्डोर से लेकर पूर्व में आलमगीरपुर (मेरठ जिला) एवं विलुप्त सरस्वती नदी के किनारे तथा उत्तर में शिमला की पहाड़ियों की तलहटी से लेकर दक्षिण में नर्बदा और ताप्ती नदियों के मध्य स्थित भगवार तक के क्षेत्र में फैली हुई थी। श्री रंगनाथराव ने इस सभ्यता के क्षेत्र का विस्तार पूर्व से पश्चिम लगभग 1600 किलोमीटर और उत्तर से दक्षिण लगभग 1100 किलोमीटर नापा है। इस विस्तृत भू-भाग में कुछ विशाल नगर, कुछ कस्बे तथा कुछ ग्राम थे।

सभ्यता का काल—सिन्धु सभ्यता के काल के प्रश्न पर विद्वानों में भारी मतभेद है। बुलीहॉल, गार्डन चाइल्ड, बेक आदि विद्वान् विश्व की नदी घाटी सभ्यताओं में सिन्धु सभ्यता को सबसे प्राचीन एवं प्रारम्भिक मानते हैं। जॉन मार्शल और डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी का मत है कि सिन्धु सभ्यता का प्रारम्भ 3250 ई. पू. से भी बहुत पहले हुआ होगा। प्रो. के. एन. शास्त्री और डॉ. राजबली पाण्डेय इसे ईसा पूर्व चार हजार वर्ष पुरानी सभ्यता मानते है। डॉ. पाण्डेय का मत है कि, "यहाँ की खुदाई में जल के धरातल तक प्राचीन नगरों के खण्डहरों के एक के ऊपर दूसरे सात स्तर मिले हैं। मोटे तौर पर यदि एक नगर के बसने, पनपने और उजड़ने के लिये 500 वर्ष का समय दिया जाय तो सात नगरों के बसने, विकसित होने और उजड़ने में लगभग 3500 वर्ष लगे होंगे। सबसे नीचे का स्तर भी सभ्य नगर का अवशेष है; जिसके पूर्व सभ्यता विकसित हो चुकी थी और यदि भू-गर्भ का पानी बीच में बाधा न डालता को सातवें स्तर के नीचे भी खण्डहरों के स्तर मिल सकते हैं। इस प्रकार सिन्धु सभ्यता कम से कम ईसा पूर्व चार हजार वर्ष की है।" बलूचिस्तान एवं मकरान में मिली पुरातात्विक वस्तुओं के आधार पर भी यह माना जाता है कि सिन्धु सभ्यता का प्रारम्भ ई. पू. चार हजार वर्ष पूर्व क्वेटा, अमरी, नाल, कुली, झोव आदि स्थानों पर ग्राम्य बस्तियों के रूप में हो गया था। डॉ. राधाकृष्णन् की मान्यता है कि सिन्धु सभ्यता 3500 ई. पू. से 2250 ई. पू. के मध्य अपनी चरम सीमा पर थी। परन्तु सर मोरटीमर व्हीलर इस सभ्यता को 2500 ई. पू. से 1500 ई. पू. के मध्य की मानते है। डॉ. फ्रेंकफर्ट ने इसका काल 2800 ई. पू. का माना है तो डॉ. फवरी ने इसका समय 2800-2500 ई. पू. माना है। नवीनतम खोजों के आधार पर डॉ. मेके ने भी

डॉ. फबरी के मत की पुष्टि की है। पुरानी वस्तुओं के काल को जानने की विज्ञान सम्मत "कार्बन-14 परीक्षण प्रणाली" के अनुसार सिन्धु सभ्यता का विकास काल 2400 ई. पू. से 1750 ई. पू. माना जाता है। वस्तुत: सिन्धु सभ्यता का काल एक विवादास्पद प्रश्न है, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि 3000 ई. पू. में भारत-भूमि पर स्वतन्त्र एवं समृद्ध सभ्यता विकसित हो चुकी थी और यह सभ्यता मिस्र तथा सुमेर सभ्यताओं से किसी भी प्रकार से कम उन्नत नहीं थी। डॉ. फ्रेंकफर्ट ने ठीक ही लिखा है कि, "यह बिना किसी सन्देह के निर्धारित हो चुका है कि भारत ने एक ऐसी संस्कृति ने निर्माण में अपनी भूमिका अदा की जिसने यूनानियों के पहले इस विश्व को सभ्य बनाया।"

सभ्यता के निर्माता—सिन्धु सभ्यता के निर्माता कौन थे ? यह प्रश्न आज भी विवादास्पद बना हुआ है। इस सम्बन्ध में विद्वानों की तीन मान्यताएँ प्रचलित है। एक मान्यता के अनुसार वे लोग मिश्रित जाति या नस्ल के थे। दूसरी के अनुसार वे लोग द्रविड़ थे और तीसरी के अनुसार वे लोग आर्य थे। प्रथम मान्यता के समर्थक कर्नल स्युअल और डॉ. गुह्वा का कहना है कि सिन्धु सभ्यता का निर्माण किसी एक नस्ल अथवा जाति के लोगों ने नहीं किया। सिन्धु सभ्यता नागरीय सभ्यता थी। इसके मुख्य नगर व्यापार-वाणिज्य के प्रमुख केन्द्र बने हुए थे। अत: आजीविका की तलाश में अनेक प्रजातियों के लोग यहाँ आकर बस गये थे। सिन्धु सभ्यता के विभिन्न केन्द्रों की खुदाई में प्राप्त नर-कंकालों की शारीरिक बनावट के विश्लेषण के आधार पर मानवशास्त्रवेत्ताओं ने सिन्धु सभ्यता का विकास करने वाले लोगों को चार नस्लों-आदिम आग्नेय, मंगोलियन, भूमध्यसागरीय तथा अल्पाइन, से सम्बन्धित बताया है। इनमें से मंगोलियन तथा अल्पाइन नस्ल के लोगों की केवल एक-एक खोपड़ी मिली है। दूसरी मान्यता के विद्वानों का कहना है कि चूँकि खुदाई में प्राप्त नर-कंकालों में भूमध्यसागरीय नस्ल की प्रधानता है, अत: इस सभ्यता के निर्माण का श्रेय द्रविड़ों को दिया जाना चाहिये। द्रविड़ लोग भूमध्यसागरीय नस्ल की ही एक शाखा थे। सर जॉन मार्शल इस मत के प्रबल समर्थक है। कुछ विद्वान् ब्लूचिस्तान आदि भागों में बोली जाने वाली 'ब्राहुई' भाषा तथा द्रविड़ों की भाषा में समानता के कारण भी द्रविड़ों को इस सभ्यता का निर्माता मानते है। प्रोफेसर चाइल्ड ने सुमेरियन लोगों को इस सभ्यता का निर्माता माना है। डॉ. हाल ने भी उनके मत की पुष्टि की है, परन्तु वे द्रविड़ों को सुमेरियन जाति का अंग भी मानते है। श्री पिगट के अनुसार इस सभ्यता का मूल पूर्णतया भारतीय था, परन्तु वे इस पर सुमेरियन प्रभाव को भी स्वीकार करते है। तीसरी मान्यता के विद्वानों—लक्ष्मणस्वरूप, रामचन्द्र, शंखरानन्द, दीक्षितार तथा पुसालकर—के अनुसार इस सभ्यता के निर्माता आर्य थे अथवा आर्यों ने भी इसके विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान अवश्य दिया होगा। डॉ. पुसालकर के शब्दों में, "यह आर्य और अनार्य सभ्यताओं के मिश्रण का प्रतिनिधित्व करती है। अधिक से अधिक हम यह कह सकते है कि सम्भवतया उस समय में ऋग्वैदिक आर्य वहाँ की जनता का एक महत्त्वपूर्ण भाग थे और उन्होंने भी सिन्धु-घाटी की सभ्यता के विकास में अपना योग दिया।" वस्तुत: जब तक सिन्धु सभ्यता के स्थलों की खुदाई में प्राप्त मोहरों पर अंकित लिपि को भली प्रकार पढ़ नहीं लिया जाता तब तक यह कहना कठिन होगा कि इस सभ्यता को जन्म देने और विकसित करने वाले लोग किस जाति या नस्ल के थे? लेकिन इसकी कुछ बातें ऐसी है जो दुनिया में कहीं नहीं मिलती। जैसे इसमें मकान पक्की ईंटों के बनाये जाते जबकि सुमेरियन कच्ची इंटों के मकान बनाते थे; इसमें न तो सुमेरी शहरों की तरह

मन्दिर मिले है और न मिस्री नगरों जैसे महल या मकबरे, इसमें पीपल की पूजा, बैल का महत्त्व, स्नान-ध्यान और सफाई आदि अपनी तरह के धार्मिक अचार-विचार के जो अवशेष और चिन्ह मिले है वे अब तक और कहीं नहीं दिखाई दिये। इसमें मिला खास ढंग का सामान स्पष्ट करता है कि सैन्धव संस्कृति इस देश की अपनी चीज है और यहाँ सैकड़ों और हजारों साल से चले आ रहे रहन-सहन के विकास का फल है, जिसे ऐतिहासिक दृष्टि से किसी और संस्कृति से जोड़ने का कोई प्रमाण कही नहीं मिलता।

सैन्धव धर्म के आधार—सैन्धव संस्कृति के विकास के पीछे गहरी धार्मिक मान्यताएँ थी। यहाँ के लोग पढ़े-लिखे और कला-शिल्प में निपुण थे। अतः उनकी कलाशैलियों, मुद्राओं पर बनी आकृतियों, बर्तनों पर छपी चित्रकारी, कब्रों में दबी चीजों आदि से उनके धर्म के विषय में कुछ जानकारी मिलती है। यह हमारे लिए अत्यन्त खेद की बात है कि अभी तक उनकी लिपि ठीक से नहीं पढ़ी जा सकी है, जिससे उनकी भाषा और उसमें व्यक्त विचारों का ज्ञान नहीं हो सका, लेकिन फिर भी अन्य सामग्री से इस विषय पर काफी रोशनी मिल जाती है, जिससे कुछ ऐसे अनुमान लगाये जा सकते है, जो काफी अंशों तक संभव है।

परमपुरुष विश्वरूप प्रजापति की उपासना—सिन्धु-प्रदेश की खुदाई में एक मुद्रा (मोहर) मिली है। इस मुद्रा पर तीन मुख वाले उर्ध्वलिंग व्यक्ति योग मुद्रा में बैठा दिखाया गया है। इस व्यक्ति के सिर पर दो सींगों और उनके बीच में पंखेदार वस्तु का बना तिकोना मुकुट है; इसके गले में त्रिकोणात्मक हार है और हाथों में ऊपर तक कंकड़ों की लड़ियाँ है; इसके बराबर में हाथी, चीता, गेण्डा और भैसा है और उसके आसन के नीचे हरिणों का जोड़ा है। मुद्रा के ऊपरी हिस्से पर छः शब्द अंकित है। यदि इन्हे पढ़ लिया गया होता तो इसका समीकरण करने में कोई कठिनाई नहीं होती। परन्तु सिन्धु लिपि को अभी तक ठीक से पढ़ा नहीं जा सका है। फिर भी उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर बहुत से विद्वानों का मत है कि मुद्रा पर अंकित चित्र भगवान शिव का है। उनके अनुसार शिव को योगीश्वर, त्रिशूलधारी, पशुपति, त्र्यम्बक, त्रिनेत्र आदि कहा जाता रहा है। किन्तु ध्यान देने की बात है कि इसके साथ शिव के विशिष्ट वाहन नन्दी वृषभ का कोई सम्बन्ध नहीं दिखाया गया। यदि यह चित्र भगवान शिव का होता तो इसके साथ नन्दी का होना जरूरी था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह चित्र शिव का न होकर विश्वरूप त्वष्ट है, जिसकी चर्चा ऋग्वेद में हुई है। वहाँ इसे विश्वकर्मा प्रजापति का रूप या पुत्र बताया गया है। यह सृष्टि में स्रष्टा के अवतार का प्रतीक है। इसके तीन सिर, मन, प्राण और वाक् (भूत जगत) को प्रकट करते है, जिनसे विश्व की सृष्टि होती है। इसका उर्ध्वलिंग स्रष्टा की प्रजनन-शक्ति का परिचय देता है और इसके आसन के नीचे बने हुए दो हरिण, प्रजापति और उसकी पुत्री उषा के हरिण और हरिणी के रूप में सम्भोग करने के सूचक है, जिसकी चर्चा मैत्रायणि संहिता और ऐतरेय ब्राह्मण में आई है। इसके दोनों और दिखाये गये पशुओं के चित्र ऋग्वेद में वर्णित त्वष्टा के पशुपति रूप को प्रकट करता है। सिन्धु-घाटी की खुदाई में एक अन्य मुद्रा भी मिली है, जिस पर एक योगासीन व्यक्ति का चित्र है। चित्र के दोनों ओर एक-एक नाग तथा सामने दो नाग बैठे हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि नागों से घिरा हुआ योगी का यह चित्र भी भगवान शिव का है, क्योंकि वे अपने गले में नाग धारण करते है। एक अन्य मुद्रा पर एक धनुर्धारी शिकारी का चित्र पाया गया है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि यह चित्र किरात वेशधारी

भगवान शिव का है। किन्तु इन समस्त साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि इस देवता की आकृति के पीछे विश्वरूप की परिकल्पना है। जो भी हो, इतना निश्चित है कि सिन्धुवासी एक परमपुरुष की पूजा करते थे।

परमनारी की पूजा—सिन्धुवासियों में परमनारी की पूजा की काफी लोकप्रिय रही होगी। सिन्धुवासियों द्वारा मन्दिरों में पूजा-उपासना करने का कोई साक्ष्य नहीं मिलता। किन्तु सिन्धु नगरों की खुदाई में मिट्टी की बनी हुई बहुत-सी नारी मूर्तियाँ मिली है। विद्वानों का मत है कि ये मूर्तियाँ मातृदेवी या प्रकृति देवी की मूर्तियाँ है। ऐसी प्रतीत होता है कि वे पृथ्वी माता की प्रतीक किसी देवी को मानते थे। इस देवी की पूजा सभी कृषि-प्रधान समाजों में प्रचलित थी। ऋग्वैदिक काल में भी आद्यशक्ति या प्रकृति, पृथ्वी अथवा आदित के रूप में मातृपूजा का उल्लेख मिलता है। वे लोग इसके समक्ष पशुबलि अथवा नरवलि देते थे और उसके बदले में वह उन्हें धनधान्य देती थी। इस बात की भी संभावना है कि कालान्तर में मातृदेवी की इस उपासना से ही शक्ति-पूजा की परम्परा का विकास हुआ होगा।

मातृदेवी की मूर्तियाँ प्रायः नग्न रूप में मिली है। मूर्ति की कमर में पटका और मेखला तथा गले में गुलूबन्द अथवा हार प्रदर्शित किया गया है। सिर पर कुल्हाड़ी से मिलती-जुलती आकृति की कोई वस्तु भी दिखाई पड़ती है। कुछ मूर्तियों में जननी का रूप दिखाया गया है जिनमें शिशु को स्तनपान करते हुए प्रदर्शित किया गया है। एक मूर्ति में एक ऐसी स्त्री बनी हुई है जिसके गर्भ से एक वृक्ष निकलता हुआ प्रदर्शित किया गया है। सम्भवतः यह वानस्पतिक-जगत की देवी का प्रतीक हो। एक अन्य मूर्ति के शीश पर एक पक्षी पंख फैलाये बैठा है। इन सब बातों से स्पष्ट है कि सिन्धुवासी मातृदेवी को सारे लोक की पोषिका-पालिका जननी मानते थे। बहुत-सी मूर्तियों के दोनों ओर दो प्याले अथवा दीपक है और इन मूर्तियों के अग्रभाग पर धूम्र के निशान है। इससे कल्पना की जाती है कि सिन्धुवासी इन प्यालों में तेल अथवा धूप जलाकर मातृदेवी अथवा पृथ्वी माता की प्रतीक किसी देवी की पूजा करते थे।

प्रजनन शक्ति की पूजा—परमपुरुष और परमनारी की पूजा के साथ-साथ सिन्धुवासी प्रजनन शक्ति की लिंग एवं योनि के प्रतीकों के रूप में भी पूजा करते थे। हडप्पा व मोहनजोदड़ो में बहुत से लिंग मिले है। ये सामान्य पत्थर लाल पत्थर अथवा नीले पत्थर के बने है। छोटे-छोटे आकार से लेकर चार फीट की ऊँचाई तक के लिंग मिले है। विद्वानों का मत है कि छोटे आकार के लिंगों की पूजा लोग अपने-अपने घरों में ही करते थे और बड़े आकार के लिंग विशेष स्थानों पर प्रतिष्ठित करके पूजे जाते थे। आधुनिक हिन्दू धर्म में लिंग पूजा शायद सिन्धुवासियों की ही देन प्रतीत होती है। मैके महोदय का मत है कि लिंग की आकृति के जो पत्थर मिले है उन्हें पूजा का प्रतीक नहीं समझना चाहिये। सम्भवतः उनसे कूटने-पीसने का काम लिया जाता रहा होगा जैसाकि आज भी मूसल लोढ़े अथवा बट्टे से लिया जाता है।

खुदाई में पत्थर, चीनी मिट्टी तथा सीप के बने बहुत से छल्ले मिले है जिनका आकार आधा इंच से लेकर चार इंच तक है। बहुत से विद्वानों ने इस छल्लों को योनियों का प्रतीक मानकर यह मत व्यक्त किया है कि सिन्धुवासी योनि की पूजा भी करते थे। आर्य लोग योनि पुजक नहीं थे। अतः आज भारत में लिंग-योनि पुजा की जो परम्परा देखने को मिलती है,

वह निस्सन्देह अनार्यों की देन है। छल्लों के बारे में मैके महोदय का मत है कि अधिकांश छल्ले स्तम्भों के आधार थे न कि योनियों के प्रतीक।

वृक्ष-पूजा—खुदाई में प्राप्त अनेक मुद्राओं पर वृक्षों के अनेक चित्र मिले है जिनके आधार पर विद्वानों का मत है कि सिन्धुवासी वृक्षों की पूजा करते थे। एक मुद्रा पर दो पशुओं की शीश पर नौ पीपल की पत्तियाँ अंकित है। एक अन्य मुद्रा पर एक नग्न स्त्री का चित्र है जिसके दोनों ओर एक-एक टहनी बनी है। उसके सामने पत्तियों का मुकुट पहने एक अन्य आकृति का चित्र है। मार्शल महोदय का मत है कि मुद्रा में अंकित टहनियाँ पीपल की है। कुछ विद्वानों का मत है कि वृक्ष-पूजा के दो रूप प्रचलित थे। एक वृक्ष को उसके प्राकृतिक रूप में पूजना, जैसे कि तुलसी का पूजन। दूसरा वृक्ष को किसी देवता के प्रतीक के रूप में पूजना, जैसे कि पीपल की पूजा। ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धुवासी पीपल को बड़ा पवित्र मानते थे। उनकी मुद्राओं पर पीपल के अनेक रूप मिलते हैं। कहीं उसे वेदिका से उगा हुआ दिखाया गया है, कहीं इसके भीतर देवता को अंकित किया गया है, कहीं इसकी पांच पत्तों की टहनी और कहीं ग्यारह पत्तों की शाखा चित्रित की गई है। एक जगह इसकी पांच टहनियों पर सात पत्ते ऊपर की ओर दो नीचे की ओर, और बराबर में एक शृंग सांप दाँए-बाँए को बल खाते दिखाया गया है। कपड़ों और बर्तनों पर भी पीपल की टहनी और पत्तों के अनेक डिजाइन मिले है। वेद में पीपल का पेड़ विश्व-सृष्टि का प्रतीक है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में ब्रह्म को वृक्ष कहा गया है। वस्तुतः भारत में आरम्भ से ही पीपल को ब्रह्म का रूप समझ कर पूजा जाता रहा है। सिन्धु के नगरों और ग्रामों के चौराहों और रास्तों पर बड़े-बड़े पीपल के पेड़ रहे होंगे, जिनकी जड़ों को सभी स्त्री-पुरुष पूजते और जल से सींचते होंगे, जैसा कि आज भी होता है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि सिन्धुवासियों में पीपल के अतिरिक्त तुलसी, नीम, खजूर, बबूल आदि वृक्षों की पूजा भी प्रचलित रही होगी। भारत में वृक्ष-पूजा की परम्परा बहुत पुरानी है। बौद्ध लोग भी पीपल की पूजा करते थे।

पशु-पूजा—वृक्ष पूजा के साथ-साथ सिन्धुवासी पशु-पूजा में भी विश्वास रखते थे। कुछ मुद्राओं पर बैल के चित्र मिले है। खिलौने के रूप में भी बैल मिले है। मोहनजोदड़ो के एक ताम्रपत्र पर कुबड़दार बैल अंकित किया गया है। इसलिए विद्वानों का अनुमान है कि सैन्धव-सभ्यता में बैल का भी बड़ा महत्त्व रहा होगा। शहरों की सड़कों पर बड़े-बड़े बैल विचरते होंगे और लोग श्रद्धा से उन्हें भोजन आदि देते होंगे। विद्वानों का अनुमान है कि शक्ति के प्रतीक के रूप में बैल की पूजा काफी लोकप्रिय रही होगी। वैदिक परिभाषा में भी बैल देवत्व का प्रतीक माना गया है और बड़ा पवित्र समझा गया है। बैल की भाँति भैंस और भैंसा की भी पूजा की जाती थी, क्योंकि अनेक मुद्राओं पर इनके चित्र मिले है। गाय की पूजा के बारे में हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते। परन्तु नाग-पूजा काफी प्रचिलत थी। एक मुद्रा पर नाग की पूजा करते हुए एक मनुष्य का चित्र अंकित है। एक चबूतरे पर लेटे हुए नाग को दिखलाया गया है। इससे स्पष्ट है कि सैन्धव सभ्यता में नाग भी पूज्य माने जाते थे। मुद्राओं पर हाथी, बाघ, भेड़, बकरी, गैंडा, हिरण, ऊँट, घड़ियाल, गिलहरी, तोता, मुर्गा, मोर आदि पक्षियों के चित्र भी मिले हैं। सम्भव है ये सभी पशु-पक्षी सैन्धव लोगों के देवी-देवताओं के वाहन रहे हो, जैसा कि हम हिन्दू धर्म में देखते है। सैन्धव प्रदेश की कुछ मुद्राओं पर मनुष्य को चीते से लड़ते हुए दिखाया गया है। इस चित्र में वृक्ष पर चढ़ा आदमी

चीते को भगा रहा है, जो जाता हुआ पीछे को मुँह करके देख रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन चित्रों में वृक्ष और मनुष्य प्रकृति के व्यवस्थित पक्ष के रूप है और चीता उसके उद्दाम पक्ष का प्रतीक है। इन दोनों पक्षों में निरन्तर संघर्ष चल रहा है, यही इन चित्रों से व्यक्त होता है। सैन्धववासी पशुओं की आकृति विचित्र ढंग से बनाते थे। कुछ पशु आधे मनुष्य और आधे पशु है। आधा भेड़, आधा बकरा, आधा हाथी और आधा बेल या इसी प्रकार के अन्य मिश्रण से पशुओं की आकृति बनाते थे। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे इनमें दैवी अंश मानकर इनकी पूजा करते थे।

अग्नि कृत्य, स्नान-ध्यान और जल-देवता—सैन्धव लोग किसी-न-किसी रूप में अग्नि कृत्य या अग्नि-पूजा भी करते थे। कालीबंगा के मकानों में कोयले आदि से भरे हुए गड्डे मिले हैं और एक टीले पर चबूतरे के ऊपर कुएँ और गुसलखाने के पास वैदियों की पंक्ति पाई गई है। यह कोई यज्ञभूमि प्रतीत होती है, जहाँ यजमान ऊपर की मूँछ मुंडवाकर और बायें कन्धे पर पीपल के पत्तों के डिजाइन की शाल डालकर यज्ञ करते थे और अनेक छेदों वाले बर्तनों में से सहस्रधार सोमरस वितरित करते थे। यज्ञ के बाद वे स्नान करते थे जिसके लिए कुण्ड और तालाब बने होते थे। सैन्धव लोग सम्भवतः जल देवता में भी बड़ी श्रद्धा रखते थे। समुद्र, नदी, तालाब और कुण्ड को वे लोग देवता का निवास मानते थे।

प्रतीक मुद्रा—खुदाई में प्राप्त अनेक अवशेषों पर सींग, स्तम्भ और स्वास्तिका के चित्र मिलते हैं। विद्वानों का मत है कि इन चिन्हों का भी कुछ धार्मिक महत्व रहा होगा। सम्भव है कि यह चिन्ह किसी देवी देवता के प्रतीक रहे हो अथवा किसी धार्मिक भावना के प्रतीक के रूप में इनकी पूजा की जाती हो। कुछ विद्वानों का मानता है कि ये सैन्धववासियों के अन्धविश्वास के प्रतीक रहे हो और इनके माध्यम से रोग-व्याधि को दूर भगाया जाता था। कुछ मुद्राओं पर बने चित्रों में नर-नारियों को सींगयुक्त दिखलाया गया है शीश पर सींग धारण करने का भी कुछ धार्मिक महत्त्व रहा हो। इसी प्रकार स्तम्भ, स्वास्तिका और धूप-दीप आदि के प्रदर्शन का भी धार्मिक महत्त्व रहा हो। हिन्दू धर्म में आज भी स्वास्तिका के चिन्ह को पवित्र माना जाता है।

धार्मिक प्रथाएँ—मुद्राओं पर अंकित देवी-देवताओं के चित्रों तथा प्रतीकों के अंकन से इतना तो निश्चित हो जाता है कि सैन्धव लोग सकार उपासना करते थे और उनमें मूर्तिपूजा प्रचलित रही होगी, परन्तु वे लोग अपनी देव-प्रतिमाओं को कहाँ प्रतिष्ठित करते थे, इसका उत्तर अत्यन्त विवादास्पद है, क्योंकि खुदाई में अभी तक कोई ऐसा भवन नहीं मिला है जिसे हम मन्दिर अथवा उपासना-स्थल कह सके। कुछ विद्वानों का मानना है कि मोहनजोदड़ो में जिस स्थान पर कुषाणकालीन बौद्ध-स्तूप खड़ा है, उसके नीचे सैन्धव-वासियों का मन्दिर दबा पड़ा है।

मार्शल महोदय ने मुद्राओं पर अंकित नारियों की विभिन्न आकृतियों का अध्ययन करने के बाद यह मत स्थापित किया है कि ये नारी मूर्तियाँ मन्दिर की उपासिकाओं की होगी। इसी प्रकार खुदाई में प्राप्त नग्न रूप में नृत्य करती हुई एक नर्तकी को विद्वानों ने देवदासी या उपासिका मानकर सैन्धव सभ्यता में देवदासी प्रथा होने की कल्पना भी की है। धार्मिक प्रथाओं में शारीरिक शुद्धि अथवा स्नान-ध्यान पर विशेष ध्यान दिया जाता था। पूजा में धूप-दीप का भी प्रयोग होता था। संगीत एवं नृत्य के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करने की

परिपाटी भी रही होगी। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशु-बलि भी दी जाती थी। मूर्तियों की योगासन मुद्राओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सैन्धव सभ्यता में योग-साधना का भी महत्त्व था।

परलोक में विश्वास—सैन्धव लोग परलोक में विश्वास करते थे। सैन्धव लोग यह समझते थे कि मृत्यु के बाद मनुष्य की आत्मा दूसरे लोक में जाती है। अतः मुर्दे को या तो रस्मी तौर से कब्रों में दफनाया जाता था या उसे जलाकर उसकी भस्मी कलश में रख दी जाती थी। मुर्दे को दफनातें समय या उसकी भस्मी के साथ पशु, पक्षी, मछली, मनके, कड़े, बर्तन आदि चीजे भी रख दी जाती थी। क्योंकि सैन्धव लोगों का विश्वास था कि आत्मा का दूसरे लोक में जाते समय उसका सफर आसान हो और ये चीजें उसके सफर में काम आये। एक मृद्भाण्ड पर बकरा, गाय या बैल और कुत्ता अंकित है, जिससे शायद बकरे या पशु-बलि की तरफ इशारा हो। सामान्य जनता को जादू व टोने-टोटके में भी विश्वास था। कुछ मुद्राओं से ऐसा प्रतीत होता है कि ये मुद्राएँ गण्डे ताबीज का काम देने के लिए बनाई गई थी।

जब तक सैन्धव लिपि पढ़ी नहीं जाती तब तक उनके धर्म के विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। फिर भी खुदाई में प्राप्त अवशेषों, आकृतियों, चित्रों आदि के आधार पर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि सैन्धव लोगों की धार्मिक मान्यताएँ आधुनिक हिन्दू धर्म से काफी मेल खाती है। चूँकि हिन्दू धर्म के कुछ लक्षण वैदिक धर्म से भिन्न है, अतः विद्वानों का मानना है कि ये अनार्य सभ्यता की देन है और सम्भवतः उनका मूल स्रोत सैन्धव धर्म रहा हो। लेकिन डॉ. बुद्ध प्रकाश की यह दृढ़ मान्यता है कि, "यह धारणा कि यह संस्कृति वेद-विरोधी थी भ्रान्तमूलक और साक्ष्यहीन है।"

आधुनिक हिन्दू धर्म के साथ तुलना—बहुत से विद्वानों की मान्यता है कि आधुनिक हिन्दू-धर्म का स्रोत सिन्धु घाटी रहा होगा। स्टुअर्ट पिगट, इसी मत को स्वीकार करते हैं। जॉन मार्शल भी इसी मत के अनुयायी हैं। उन्होंने लिखा है कि, "सिन्धु घाटी के धर्म में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनसे मिलती-जुलती बातें हमें अन्य देशों में भी मिल सकती हैं और यह बात सभी प्रागैतिहासिक धर्मों के विषय में ठीक सिद्ध होगी। लेकिन सब-कुछ होते हुए भी उनका धर्म इतनी विशेषता के साथ भारतीय है कि आधुनिक युग के प्रचलित हिन्दू धर्म से कठिनता से उसका भेद किया जा सकता है।"

वस्तुतः सिन्धु घाटी के लोगों के धर्म तथा आधुनिक हिन्दू धर्म दोनों में अनेक विषयों पर आश्चर्यजनक समानता है। हिन्दुओं की भाँति सिन्धुवासी भी बहुदेववादी होते हुए भी वे एक ईश्वरीय सत्ता से परिचित थे। सिन्धुवासियों ने परमपुरुष परमनारी को सृजन-शक्ति के प्रतीक रूप में माना तो हिन्दू लोग पार्वती-परमेश्वर को मानते हैं। सिन्धुवासियों का पाशुपति शिव हिन्दू धर्म के शिव से मिलता-जुलता है। पाशुपति शिव की भाँति हिन्दुओं का शिव भी योगीश्वर है, त्रिशूलधारी है और पशुपति के रूप में विख्यात है। सैन्धवों का पाशुपति त्रिनेत्र है तो हिन्दुओं का शिव त्रिमुखी है और उसके तीसरे नेत्र की भी कल्पना की गई है। सिन्धुवासियों की मातृ-देवी हिन्दू धर्न की पृथ्वी एवं अदिति तथा आद्याशक्ति से मिलती-जुलती है। सिन्धुवासी लिंग की पूजा करते थे तो हिन्दू धर्म में आज भी लिंग-पूजा का महत्त्व बना हुआ है। सैन्धवों की भाँति हिन्दू धर्म में भी कहीं-कहीं पर लिंग-योनि की सम्मिलित

पूजा का महत्त्व भी बना हुआ है। सिन्धुवासी वृक्षों की पूजा करते थे। हिन्दू-धर्म में भी तुलसी, पीपल, आँवला, बबूल, शीशम आदि वृक्षों को धार्मिक महत्त्व दिया जाता है और समय-समय पर इनकी पूजा भी होती है। सिन्धुवासी बहुत से पशु-पक्षियों की पूजा करते थे। हिन्दू धर्म में अनेक पशु-पक्षियों को देवताओं का वाहन मानकर धार्मिक महत्त्व दिया गया है जैसे कि हाथी इन्द्र का, बाघ दुर्गा का, मेंढ़ा ब्रह्मा का, घड़ियाल गंगा का, भैंसा यम का, बैल शंकर का, उल्लू लक्ष्मी का वाहन समझा जाता है। सिन्धुवासियों की भाँति हिन्दुओं में नाग-पूजा भी प्रचलित है।

सिन्धुवासियों में पवित्र स्नान और जल-पूजा का धार्मिक महत्त्व था। आधुनिक हिन्दू धर्म में भी इसका महत्त्व कायम है। सिन्धुवासी प्रतीक पूजा करते थे। हिन्दु धर्म में स्वस्तिका-चिन्ह आज भी पवित्र और शुभ माना जाता है। सिन्धुवासी साकार उपासना में विश्वास रखते थे और उन्होंने अपने देवताओं की मूर्तियाँ बनाईं। हिन्दू धर्म में भी मूर्तिपूजा प्रचलित है। जिस प्रकार सिन्धुवासी अपनी मूर्तियों के आगे धूप-दीप जलाते थे, उसी प्रकार हिन्दू लोग भी मूर्तियों के आगे धूप-दीप जलाते हैं। विद्वानों का मानना है कि सिन्धु प्रदेश में देवताओं की सेवा के लिए उपासिकाएँ एवं देवदासियाँ होती थीं। हिन्दू धर्म में भी इस परम्परा को देखा जा सकता है। देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए सिन्धुवासी पशु बलि देते थे। हिन्दू धर्म में भी कुछ देवी-देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिए पशु बलि दी जाती थी। सिन्धुवासियों के धार्मिक जीवन में योग-साधना का विशेष स्थान बना हुआ है। चूँकि हिन्दू धर्म के उपर्युक्त बहुत से लक्षण वैदिक धर्म से भिन्न हैं अतः विद्वानों का मानना है कि ये अनार्य सभ्यता की देन है और संभवतः उनका मूल स्रोत सिन्धुवासियों का धर्म रहा हो।

वैदिक धर्म

यदि पुरातत्त्व की दृष्टि से भारतीय धर्म का विकसित रूप सर्वप्रथम सिन्धु सभ्यता में दिखाई देता है तो साहित्य की दृष्टि से इसका परिपक्व रूप सर्वप्रथम वेदों में मिलता है। बौद्धिक चिन्तन की स्वतन्त्रता के फलस्वरूप हमारे देश में समय-समय पर अनेक धर्मों तथा सम्प्रदायों का उदय हुआ। धार्मिक क्षेत्र में भारत में जो विभिन्न परीक्षण हुए उनके फलस्वरूप आधारभूत धार्मिक विचारों की प्रतिष्ठा हुई, जैसे बहुदेववाद और एकेश्वरवाद, मानववाद, यज्ञों की प्रधानता आदि का विचार सर्वप्रथम हमें वेदों में मिलता है। वेद सत्य है, सत्य काल से परे है, अतः वेद शाश्वत है। वेद शब्द 'विद्' ज्ञाने धातु से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ ज्ञान हुआ। चिन्तन, दर्शन और साक्षात्कार के क्षणों में जो ज्ञान रश्मियाँ ऋषियों के मन-पटल पर अवतीर्ण हुई, वे शब्दों और प्रतीकों के माध्यम से वेद के मंत्रों और सूक्तों के रूप में प्रकट हुई। यह दिव्य ज्ञान सामयिक परिभाषाओं और परिकल्पनाओं में ग्रथित होकर एक विशेष सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में प्रस्फुटित हुआ और उसके अनुरूप एक विशेष धार्मिक उपचार, अचार-संहिता और जीवन-शैली का निर्माण हुआ। इस प्रकार से वेद शाश्वत होते हुए भी इसका बाहरी परिधान ऐतिहासिक है और यह भारतीय संस्कृति के विकास की एक विशेष अवस्था का सूचक है। वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद , ऋग्वेद इन चारों में सबसे प्राचीन है। इसमें 10 मण्डल, 1029 शूक्त और कुल 10580 ऋचायें हैं। ऋग्वेद के सूक्त विविध देवताओं की स्तुति करने वाले भाव भरे गीत हैं तथा इनमें भक्ति-भावना की प्रधानता है। यजुर्वेद मूलतः यज्ञों का वेद है। इसमें यज्ञों और हवनों के नियम

और विधान हैं। यह ग्रन्थ कर्मकाण्ड प्रधान है। सामवेद में उन मंत्रों का संकलन है, जिनको गाकर देवताओं का आह्वान किया जाता है। यज्ञ, अनुष्ठान और हवन के समय ये मंत्र गाये जाते हैं। अथर्ववेद में भूत-प्रेत, जादू-टोने आदि के मंत्र है। धार्मिक दृष्टि से ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों का बड़ा महत्त्व है। अथर्ववेद से स्पष्ट है कि कालान्तर में वैदिक आर्यों में प्रकृति पूजा गौण हो गई थी तथा प्रेत-आत्माओं व तंत्र-मंत्र में विश्वास किया जाने लगा था।

वेद का भाषाबद्ध रूप सिन्धु-सरस्वती के प्रदेश में विकसित हुआ। मानव संस्कृति के उषा-काल से ही इस प्रदेश में बसे हुए लोगों ने, जिन्हें आचार-विचार की पवित्रता के कारण 'आर्य' कहा जाता था, दिव्य ज्ञान की ज्योति को वेद की भाषा में संग्रहीत किया। अतः वेद—भारतीय धर्म और संस्कृति का शाश्वत और अक्षय कोष हैं। प्रारम्भ में वेदों का पठन-पाठन मौखिक था। विद्वानों के सम्प्रदाय अपने-अपने ढंग से इसका परायण करते थे। इससे विभिन्न पाठ-परम्पराएँ चल पड़ी थीं। गुरु-शिष्य परम्परा व पिता-पुत्र परम्परा द्वारा ये मंत्र ऋषि-वंशों में स्थिर रहते थे और उन्हें श्रुति (श्रवण) द्वारा शिष्य गुरु से, या पुत्र पिता से जानता था। इस कारण उन्हें श्रुति भी कहा जाता था। विविधि ऋषि-वंशों में जो विविध शूक्त श्रुति द्वारा चले अते थे, धीरे-धीरे बाद में उनको संकलित किया जाने लगा। इस महत्त्वपूर्ण कार्य का प्रधान श्रेय मुनि वेदव्यास को है। वे महाभारत युद्ध के समकालीन थे तथा असाधारण प्रतिभाशाली विद्वान् थे। वेदव्यास ने वैदिक सूक्तों को संहिता रूप में संग्रह किया। उनके द्वारा संकलित वैदिक संहिताएँ चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।

भारतीय धर्म का विकास किस प्रकार हुआ, यह ज्ञान वेदों के अध्ययन से ही सम्भव है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को प्रायः चार भागों में बाँटा जा सकता है—(1) संहिता, (2) ब्राह्मण, (3) आरण्यक, और (4) उपनिषद्। वेद के धार्मिक उपचार का वर्णन करने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई। इनके दो भाग हैं—विधि (नियम) और अर्थनाद (आख्यानों, पुराणों और इतिहास द्वारा नियमों के अर्थ की व्याख्या)। प्रत्येक वेद के अपने-अपने ब्राह्मण हैं। ऋग्वेद के कोषितकी या सांख्यायान और ऐतरेय ब्राह्मण, कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण, शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण, सामवेद के ताण्ड्य महाब्राह्मण या पंचविश ब्राह्मण, छान्दोग्य का मंत्र ब्राह्मण और सामविधान ब्राह्मण और अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण। इन ब्राह्मणों के परिशिष्ट 'आरण्यक' कहलाते हैं और उनके अन्तिम भाग 'उपनिषद्' है। इस समस्त साहित्य के अध्ययन की सुविधा के लिए शिक्षा (स्वर ध्वनि), छन्द, निरुक्त, व्याकरण, ज्योतिष और कल्प नामक छः विधायें हैं, जिन्हें वेदांग कहते हैं। कल्प के तीन विभाग हैं—श्रौत सूत्र, गृह्य सूत्र और धर्म सूत्र। यह विश्व का एक महान् आश्चर्य है कि इतना विशाल साहित्य मौखिक संक्रमण द्वारा अत्यन्त शुद्ध रूप में सुरक्षित रहा।

वैदिक धर्म

वैदिक धर्म सादा तथा सरल था। प्रकृति के चमत्कारों को देखकर वैदिक आर्यों के हृदय में अनुराग, विस्मय और भय उत्पन्न कर दिया। अतः उन्होंने प्रकृति के समक्ष नतमस्तक होकर उसकी प्रमुख शक्तियों की देवताओं के रूप में प्रतिष्ठा कर दी। इस प्रकार के दैवीकरण के साथ आर्यों के धर्म अर्थात् वैदिक धर्म का आरम्भ हुआ। वैदिक आर्य दैवी शक्तियों तथा प्राकृतिक शक्तियों, जैसे सूर्य, चन्द्र, आकाश, उषा, मेघ-ध्वनि, मारुत तथा वायु की उपासना करते थे। जहाँ कहीं भी आर्यों को किसी जीवित शक्ति का आभास मिला,

वहीं उन्होंने एक देवता की सृष्टि कर दी। अतः अपनी आरम्भिक अवस्था में देवगण प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक मात्र थे। प्रकृति के प्रत्येक रूप में देवता की कल्पना करने के कारण वैदिक धर्म में बहुत से देवताओं की प्रतिष्ठा हो गई। अतः ऋग्वैदिक धर्म बहुदेववादी था। सर्वप्रथम आर्यों ने 'द्यौस' (आकाश) तथा 'पृथ्वी' की पूजा की। उनका विश्वास था कि दोनों की अनुकम्पा से ही मानव-जीवनयापन सम्भव था। इन दोनों को अन्य सभी देवताओं का जन्मदाता मान लिया गया। प्रकृति की इन दो शक्तियों का यह सरलतम मानवीकरण था। मानवीकरण के इस सिद्धान्त से प्रेरित आर्यों ने ब्राह्य जगत की अन्य शक्तियों को भी देवी-देवताओं का रूप दे डाला। आकाश देवता को 'वरुण' कहा जाने लगा। पृथ्वी और आकाश के मध्य में विद्यमान समस्त वस्तुओं में वरुण का वास माना गया। ऋग्वेद में वरुण के दो रूपों का उल्लेख मिलता है। एक रूप में सुख-समृद्धि देने वाला, सहदय, सृष्टि के निर्माता का, तो दूसरा रूप है विनाश तथा अभिशाप-दान का। उसमें आसुरी शक्ति की भी कल्पना की गई है, उसकी भक्ति, पूजा, तथा प्रार्थना से वह प्रसन्न हो जाता है और पापियों के पाप क्षमा कर देता है। कुछ विद्वानों का मानना है कि वरुण की उपासना से ही आर्यों में कर्मवाद और भक्ति मार्ग के सिद्धान्तों का उदय हुआ।

वरुण के साथ ही 'मित्र' की भी पूजा की जाने लगी। आर्यों ने बहिर्जगत् के प्रकाश का मानवीकरण करके उसे 'मित्र' का नाम दिया। दोनों को संयुक्त रूप से 'मित्रावरुण' कहा जाने लगा। बहिर्जगत में सूर्य का महत्त्व भी किसी से कम नहीं है। अतः आर्यों ने इसे भी अपना देवता मान लिया। उसे सम्पूर्ण चर-अचर का रक्षक तथा मनुष्यों के समस्त सत्-असत् कर्मों का दृष्टा माना गया। सूर्य के व्यापक रूप को 'सविता' नाम दिया गया। सविता में सूर्य का व्यक्त तथा रात्रि को अव्यक्त रहने वाला रूप—दोनों ही सम्मिलित हैं। सविता को पाप-मोचन देवता के रूप में भी माना गया है।

विष्णु नामक देवता को विश्व का संरक्षक माना गया है। भक्तों की प्रार्थना पर तुरन्त सहायता को पहुँचने वाला देवता है। ऋग्वेद में उसके तीन पदों का उल्लेख है, जिसके अनुसार वह समस्त ब्रह्माण्ड में भ्रमण करता है। उसके इस व्यापक स्वरूप के कारण उसे 'वृहद् शरीर', 'उरु-गाय' (व्यापक रूप से गमनशील), 'उरु क्रम' (व्यापक रूप से अभिक्रमा करने वाला) आदि नामों से भी पुकारा गया है। विष्णु के समान ही अग्नि का भी विशेष महत्त्व है और बड़े पैमाने पर उसकी प्रार्थना की जाती थी। ऋग्वेद में अग्नि की प्रार्थना सम्बन्धी लगभग 200 मंत्र हैं, जो उसकी लोकप्रियता और महत्त्व को प्रकट करते हैं। यज्ञ में अग्नि का विशेष महत्त्व था। इसीलिए उसे 'पुरोहित', 'यज्ञिय' और 'ह्रोता' नाम से पुकारा गया है। उसे देवताओं का मुख माना गया है, क्योंकि उसी के द्वारा आहुति सभी देवताओं के पास पहुँचती है। दाह-कर्म के लिए भी अग्नि अनिवार्य थी। अग्नि को समस्त लोक के राक्षसों को भगाने वाला कहा गया है। वैदिक आर्य सोमरस के प्रेमी थे। इसलिए उन्होंने इसे भी देवता मान लिया। उसे सूर्य और विद्युत् से उत्पन्न हुआ बताया गया। ऋग्वेद में सोम की प्रार्थना के अनेक मंत्र हैं।

आँधी, तूफान और वर्षा का देवता इन्द्र था। ऋग्वेद में इसे सर्वाधिक शक्तिशाली देवता माना गया है। उसे आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी से भी अधिक बड़ा माना गया है। एक स्थान पर उसे वृत्र ही हत्या करके बादलों में रुके हुए जल को मुक्त कराने वाला कहा

गया है। वृत्र को शीत, कोहरे और पाले का असुर माना गया है। ऋग्वेद में इन्द्र की प्रार्थना सम्बन्धी लगभग 250 ऋचाएँ। उपर्युक्त देवताओं के अलावा ऋग्वेद में मारुत, वात, पर्जन्य, अश्विन, यम, रुद्र, पूषण आदि देवताओं का भी उल्लेख है। देवियों में उषा, अदिति, सिन्धु, आरुयानी और सरस्वती के नाम उल्लेखनीय हैं। उषा का अर्थ है—अरुणोदय के पूर्व की वेला। अदिति का अर्थ है—सर्वव्यापिनी प्रकृति। आरुयानी का तात्पर्य वन-देवी से है और मानवी बुद्धि का दैवीकरण सरस्वती के रूप में किया गया था।

देवी-देवताओं के वर्ग—ऋग्वेद में 33 देवी-देवताओं का उल्लेख मिलता है, जिन्हें तीन वर्गों में बाँटा गया है—(1) आकाशीय देवता, (2) अन्तरिक्षीय देवता, तथा (3) पृथ्वी के देवता। आकाश के देवता में द्यौस, वरुण, मित्र, सूर्य, सविता, पूषण, उषा, अदिति तथा अश्विन आदि सम्मिलित थे। अन्तरिक्षीय देवताओं में इन्द्र, मरुत, वात, पर्जन्य आदि आते हैं। पृथ्वी के देवताओं में स्वयं पृथ्वी, अग्नि, सोम, वृहस्पति, सरस्वती आदि आते थे।

किसी वस्तु में मानवीय गुणों का आरोपीकरण करना मानवीकरण कहलाता है। वैदिक आर्यों ने अपने देवी-देवताओं की कल्पना मानव के रूप में की। परन्तु उनमें मानवीय अवगुण नहीं थे। वे अमर, परम शक्तिवान तथा उदार थे। उनके देवी-देवता सदाचार तथा नैतिकता के प्रतीक थे। विविध प्रकार के देवी देवताओं की कल्पना करने पर भी वैदिक आर्य एकेश्वरवाद (एक सत्) की भावना को भी समझ चुके थे। प्रारम्भ में आर्यों ने 'वरुण' को देवातिदेव माना, परन्तु बाद में उसका स्थान 'इन्द्र' ने ले लिया। आर्यों ने यह भी अनुभव कर लिया कि 'इन्द्र' के ऊपर भी कोई एक परमसत्ता है, जो समूचे ब्रह्माण्ड को संचालित करती हैं।

पूजा-उपासना विधि—वैदिक आर्य अपने देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिये दो तरीकों से पूजा-उपासना करते थे। एक प्रार्थना एवं स्तुति द्वारा और दूसरी यज्ञों द्वारा। यज्ञ उनकी उपासना का मुख्य अंग था। इसलिए ऋग्वैदिक धर्म को 'यज्ञ धर्म' कहा जाता है। यज्ञों में अन्न, घी, माँस तथा सुगन्धित सामग्री की आहुति देकर आर्य अपने देवताओं से लम्बी आयु, पुत्र-पौत्र, धन-धान्य की प्राप्ति तथा शत्रुओं का विनाश करने की प्रार्थना करते थे। प्रारम्भ में प्रत्येक आर्य यजन-कार्य स्वयं करता था, परन्तु बाद में ब्राह्मण पुरोहित की सहायता ली जाने लगी। ऋग्वेद में वृहत् एवं व्ययात्मक यज्ञों का भी उल्लेख मिलता है, जो प्रायः राजाओं और धनी व्यक्तियों के द्वारा ही करवाये जाते थे। आर्यों का एक वर्ग यज्ञ के स्थान पर स्तुति को अधिक महत्त्व देता था। ऋग्वेदिक आर्य देव पूजा के साथ-साथ अपने पितरों की भी पूजा करते थे। ऋग्वेदिक काल में मन्दिरों का निर्माण नहीं हुआ था और न मूर्ति-पूजा प्रचलित थी। किन्तु ऋग्वेद में एक स्थान पर दस गायें देकर इन्द्र की प्रतिमा लेने का उल्लेख आया है। इससे ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक आर्य मूर्ति-पूजा से परिचित अवश्य थे।

ऋग्वैदिक आर्य यज्ञ और स्तुति के साथ-साथ नैतिकता के विकास के लिये भी प्रार्थना करते थे। वे सद्गुणों की वृद्धि पर जोर देते थे। जादू, टोना-टोटका, धोखा, व्यभिचार आदि को पाप समझते थे। ऋग्वेद में पाप-पुण्य और स्वर्ग-नरक की कल्पना भी मिलती है। आर्यों का विश्वास था कि पुण्य कर्म करने वाले लोग मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग में रहते हैं तथा निम्न कर्म करने वाले लोग नरक के अन्धकूप में धकेले जाते हैं। ऋग्वेद में मोक्ष का उल्लेख

नहीं मिलता। आर्य लोग अमरता में विश्वास करते थे। वे आत्मावादी थे कुछ विद्वानों का मानना है कि ऋग्वैदिक आर्यों में पुनर्जन्म की भावना का उदय हो चुका था, परन्तु पर्याप्त साक्ष्यों के अभाव में इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कहना कठिन है।

उत्तर वैदिक धर्म

उत्तर वैदिक काल में भी बहुदेववाद की प्रतिष्ठा थी। आर्यों के देवता तो वही रहे, परन्तु उनके महत्त्व में परिवर्तन हो गया। ऋग्वैदिक काल में प्राकृतिक शक्तियों के सूचक देवताओं—इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य आदि का स्थान गौण हो गया और उनके स्थान पर शिव, विष्णु, ब्रह्मा, पार्वती, दुर्गा, भैरव, गणेश आदि देवताओं की प्रधानता बढ़ गई। ऋग्वेद में शिव का उल्लेख नहीं मिलता। रुद्र नामक छोटे देवता का उल्लेख अवश्य मिलता है। वही 'रुद्र' अब 'शिव' के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। शायद यहीं से शैव-सम्प्रदाय का उदय हुआ होगा। इसी प्रकार ऋग्वेद में 'विष्णु' का उल्लेख एक छोटे देवता के रूप में मिलता है। परन्तु इस युग में वह प्रधानयज्ञ-पुरुष हो गये। उन्हें 'नारायण' नाम से भी पुकारा जाने लगा। ऋग्वेद में प्रजापति का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु उत्तर वैदिक काल में वह 'ब्रह्मा' के रूप में यज्ञों का स्वामी माना जाने लगा। इस युग में अनार्यों की यज्ञ-पूजा, गन्धर्व-पूजा, राक्षस-पूजा, सूर्य-पूजा आदि की भी आर्य समाज में प्रतिष्ठा हो चुकी थी। इसी आधार पर कुछ विद्वानों का मानना है कि उत्तर वैदिक काल का महान कार्य हिन्दू धर्म का संगठन है।

बहुदेववाद के साथ-साथ यज्ञवाद का भी विकास हुआ। उत्तर वैदिक काल में यज्ञों की जटिलता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। कोई-कोई यज्ञ तो वर्षों तक चलते थे। इस प्रकार यज्ञों पर बहुत अधिक धन व्यय होता था। ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक यज्ञों, यज्ञ-कालों, यज्ञ-क्रियाओं, यज्ञ-पात्रों, यजमानों, उनकी संख्या, विशेषज्ञता आदि का विस्तार से उल्लेख मिलता है। ऋग्वैदिक आर्यों में जहाँ देवताओं के प्रति आत्मसमर्पण की भावना थी, वहीं इस युग के आर्यों में मन्त्र-शक्ति तथा यज्ञादि के द्वारा देवताओं को आपने वश में करने की भावना का विकास हुआ। इसलिये अब यज्ञों में बलि का महत्त्व भी बढ़ने लगा। उदाहरणार्थ, 'अश्वमेध यज्ञ' में अश्व की और 'पुरुषमेघ यज्ञ' में पुरुष की बलि दी जाने लगी। यज्ञों के कारण समाज में ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढ़ गई। उत्तर वैदिक काल में धार्मिक संस्कारों का महत्त्व भी बढ़ गया।

उत्तर वैदिक काल में जहाँ एक तरफ बलि, कर्मकाण्ड, संस्कार आदि पर अधिक जोर दिया जा रहा था, वहीं दूसरी तरफ तप एवं ज्ञान मार्ग का विचार भी प्रारम्भ हो चुका था। आरण्यकों ने तप के विचार का प्रतिपादन किया। उन्होंने योग-साधना तथा शारीरिक कष्ट सह कर परम-ब्रह्मा (मोक्ष) की प्राप्ति का मार्ग बतलाया। उपनिषदों ने ज्ञान मार्ग का प्रतिपादन किया। उपनिषद् शब्द का अर्थ ही उस ज्ञान से है जो भ्रम को नष्ट करके यथार्थ ज्ञान की ओर ले जाता है। दूसरे शब्दों में, उपनिषदों का अर्थ है—आध्यात्म-विद्या या ब्रह्मज्ञान। ब्रह्मा, आत्मा, जन्म-मरण, जीवन के वास्तविक ध्येय आदि से सम्बन्धित सिद्धान्तों का गहन चिन्तन उपनिषदों में मिलता है। उपनिषदों के अनुसार मनुष्य का सच्चा ध्येय मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष, आवागमन से अर्थात् जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा है। उपनिषदों में स्पष्ट किया गया है कि आत्म-तत्त्व को पहचाने बिना मोक्ष सम्भव नहीं है। मोक्ष के सिद्धान्त के साथ उपनिषदों में कर्म एवं पुनर्जन्म का भी विवेचन किया गया है। उपनिषदों में

कहा गया है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह अपने कर्मों को सुधारे। उपनिषदों में सृष्टि की रचना पर भी प्रकाश डाला गया है। उनका मत है कि सृष्टि पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु इन पाँच तत्त्वों से बनी हुई। इन पाँच तत्त्वों का स्वामी महातत्त्व है। यही महातत्त्व मूल तत्त्व है, यही ब्रह्म है।

वैदिक धार्मिक विचारधारा

वेदों का विषय विश्वदर्शन है। इनमें संसार को समझने का भव्य प्रयास है। जीव और जगत् की विविधता और जटिलता इनमें व्याप्त है। इन समस्याओं का वे स्पष्ट उत्तर देते हैं कि इस विस्मयजनक विविधता और इन चकराने वाले परिवर्तनों में एक ही तत्त्व प्राप्त है, एक ही सत्ता कार्यशील है। उसका कोई खास नाम न लेकर उसे सिर्फ 'तदेकम' एक) कहा गया है। 'वह एक' अपनी सृजनात्मक प्रेरणा से अपने अपको विश्व के विविध रूपों में प्रकट करता है। स्थिति और देश की दृष्टि से यह विश्व का 'स्कम्भ' (चौखटा) है। गति और काल की दृष्टि से यह विश्व की प्रक्रिया (काल) है। इसकी यह कालमयी अभिव्यक्ति प्रगति और विश्रान्ति की अन्तः प्रक्रिया का रूप लेती है। इसे सत् और असत् का संघर्ष कहते हैं।

विश्व की मौलिक एकता—सृष्टि के इस एक तत्त्व को बहुत से नामों से पुकारते है। ये नाम इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, मातरिश्वा आदि वास्तव में एक ही सत्ता को व्यक्त करते हैं। वह एक सत्ता तीन रूप धारण करके मन, प्राण और भूत बन जाती है। तत्पश्चात् भूत के पाँच भाग हो जाते हैं—आकाश, अग्नि, वायु, जल, और पृथ्वी। ये विभाग विकास के क्रम में सोलह हो जाते हैं। इन सोलह रूपों वाला विश्व ही 'षोडशी प्रजापति' है।

सृष्टि और स्रष्टा में कोई भेद नहीं है। सृष्टा, स्रष्टि में व्याप्त हैं। ऋग्वेद के हंसवती में कहा गया है कि, "वह प्रकाश के रूप में ज्योतिर्मय आकाश में व्याप्त है; वसु (वायु) के रूप में अन्तरिक्ष में निवास करता है; होता (अग्नि) के रूप में यज्ञवेदी पर विद्यमान है, अतिथि के रूप में घर में रहता है, प्राण के रूप में मनुष्य के अन्दर विद्यमान है ऋत् (विश्व के अनुशासन) के रूप में सर्वत्र व्याप्त है।" अतः परमात्मा, मनुष्य प्रकृति की ही सत्ता से निष्पन्न हैं और एक ही अनुशासन में ग्रथित होकर विश्व में दिव्य समन्वय व्यक्त करते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार, "अग्नि वाक् में प्रतिष्ठित है, वाक् हृदय में, हृदय मुझ में, मैं अमरत्व में और अमरत्व ब्रह्मा में" अर्थात् विश्वात्मा, जीवात्मा और भौतिक एक अंग के रूप में अभूतपूर्व सामंजस्य में बँधे हुए हैं।

मानववाद और भौतिक जगत्—मनुष्य विश्वात्मा के अत्यन्त निकट है। वेद कहता है। मनुष्य देवत्व का रूप है। ऋषि वामदेव के शब्दों में यह (मनुष्य) चिल्ला उठता है, मै मनु हूँ, मैं सूर्य हूँ, मैं प्रज्ञावान ऋषि कक्षीवान हूँ, मैं उशना कवि हूँ, मेरी ओर देखो, मैंने आर्यों को पृथ्वीलोक दिया है, मैं यज्ञ करने वाले मनुष्यों को वर्षा प्रदान करता हूँ, मैं तुमुल निनाद के साथ जल गिराता हूँ, सब देवता मेरी आज्ञा मानते हैं।" इसी प्रकार महिला ऋषि वाच् कहती है, मैं सम्पूर्ण विश्व की सम्राज्ञी हूँ और सम्पूर्ण सम्पत्ति की दात्री हूँ, मैं सत्य को जानने वाली हूँ और पूज्यों में प्रथम हूँ, देवताओं ने मुझे विभिन्न लोकों में अधिष्ठित किया है, अतः मेरे विविध निवास हैं और मैं अनेक प्राणियों में विद्यमान हूँ।" वेद के मन्त्र मानव

गौरव की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ एवं उच्चतम अभिव्यक्तियाँ हैं मानववाद का इतना ऊँचा और निखरा हुआ रूप उत्यन्त दुर्लभ है।

मनुष्य की तरह भौतिक जगत् भी दिव्य है। इसके समस्त उपादान—सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी आदि देवता हैं। आकाश और पृथ्वी अश्विन रूपी देवता हैं पृथ्वी पर अग्नि, अन्तरिक्ष में वायु और आकाश में सूर्य प्रधान देवता है। ये क्रमशः बढ़कर ग्यारह-ग्यारह हो जाते हैं। फिर ये तैंतीस देवता तीन हजार तीन सौ उन्तालीस हो जाते हैं और इसके बाद इनकी संख्या तैंतीस करोड़ हो जाती है। इस प्रकार समस्त भौतिक जगत् देवमय है, प्रकृति का प्रांगण देवताओं से परिपूर्ण है। वस्तुतः सभी देवता एक विश्वात्मा के अंग हैं, एक-दूसरे के सम्पर्क से उत्पन्न होते हैं और एक-दूसरे के रूप हैं।

प्रकृति, समाज और मनुष्य की एकरूपता—जिस प्रकार विश्व में तीन लोक, तीन देव और तीन वेद हैं, उसी प्रकार मानव समाज में भी ब्राह्मण, राजन्य और विश्—ये तीन वर्ग हैं और मनुष्य के शरीर में भी वात, पित्त और कफ तीन का विधान है। इस प्रकार, एक दूसरी दृष्टि में, विश्व में विश्पति के सात पुत्र, सात आदित्य, सात लोक और सात ऋतु हैं, उसी प्रकार समाज भी स्वामी, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, दण्ड अनेक मित्र नामक सात अंगों से बना हुआ राज्य शासन कार्य करता है और मनुष्य के शरीर मन, प्राण और सुनने, सूँघने, देखने, चखने और छूने का काम करने वाली पाँच इन्द्रयाँ सक्रिय रहती हैं। इस प्रकार, प्रकृति, समाज और मनुष्य के व्यापारों में एकरूपता है। ये सब एक व्यापक समन्वय और संविधान में बँधे हुए हैं। मनुष्य को निरन्तर इस समन्वय को आत्मसात् करना पड़ता है और इसके लिये विश्व की शक्तियों से सम्पर्क स्थापित करना पड़ता है। इसके लिए प्रतीकों के रूप में बाह्य उपचारों की आवश्यकता होती है, जिसे यज्ञ कहते हैं।

यज्ञों का स्वरूप—विश्व में जो सृजन, निर्माण और विकास की अविरल धारा बह रही है तथा मन, प्राण और भूत का जो अविरल संयोग-वियोग हो रहा है, यही यज्ञ है। मानव शरीर में जीवित रहने और साँस लेने की क्रिया भी यज्ञ है। इस विश्वव्यापी यज्ञ के साक्षात्कार के लिये प्रतीकों के रूप में भौतिक यज्ञों का विधान है, जो मंत्रों का विषय है। ये यज्ञ मनुष्य और प्रकृति के बीच प्रतीकों का सेतु बनाते हैं। इनसे मनुष्य प्रकृति से नाता जोड़ता है और उसको शक्तियों का उपयोग करने की क्षमता प्राप्त करता है। शतपथ ब्राह्मण कहता है कि ऋक् पृथ्वी है, यजुष् अन्तरिक्ष है और साम द्युलोक है, अतः इनमें विहित उपचारों के द्वारा अर्थात् अग्नि, इन्द्र और सूर्य के आह्वान द्वारा मनुष्य इन तीनों लोकों को जीत लेता है।

भौतिक यज्ञ करने से मनुष्य विश्व की शक्तियों का आह्वान कर उन्हें अपने में धारण करता है। अतः विभिन्न उद्देश्यों को लेकर अनेक प्रकार के यज्ञों का विधान है। प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन पाँच महायज्ञ करने पड़ते हैं—(1) देवयज्ञ, इसमें भोजन, घी, दूध, दही अग्नि में डाला जाता है, (2) भूतयज्ञ, इसमें भोजन की बलि चारों तत्त्वों (पृथ्वी, जल, वायु, आकाश) प्रजापति, काम, विश्वैदेवी आदि को दी जाती है, (3) पितृयज्ञ, इसमें पितरों के लिए दक्षिण दिशा की ओर भोजन, जल फेंका जाता है, (4) ब्रह्मयज्ञ, इसमें वैदिक पाठों का स्वाध्याय करना पड़ता है, और (5) मनुष्य यज्ञ, इसमें अपने आप भोजन करने से पहले किसी अतिथि को भोजन कराया जाता है। इसके अलावा उसे रोज सुबह व शाम अग्निहोत्र करना पड़ता है। सूर्योदय से पहले सूर्य और प्रजापति को और सूर्यास्त के बाद अग्नि और

प्रजापति को जौ और चावल की आहुति दी जाती है। महीने में दो बार, प्रतिपदा और पूर्णिमा को दर्शनपूर्णमासेष्टि की जाती है, इनमें क्रमशः अग्नि और इन्द्र तथा अग्नि और सोम को पुरोडाश् (अन्न का परोंठा) दिया जाता है। अग्नि तीन प्रकार की होती है—गार्हपत्य, दक्षिण और आहवनीय। गार्हपत्य की वेदी गोल और दक्षिण के अर्धवृत्त के आकार की होती है। आहवनीय अग्नि की वेदी चौकोर होती है।

वर्ष में तीन बार बसन्त, वर्षा और शरद् ऋतुओं के आरम्भ में क्रमशः वैश्वदेव, दरुणप्रधान और साकमेघ यज्ञ किये जाते हैं। पहले में अग्नि, सोम, सविता, सरस्वती और पूषा के लिए पाँच तर्पण किये जाते हैं और इसके बाद मारुतों को पुरोडाश, विश्वदेवों को दूध और द्यावापृथिवी को पुरोडाश दिया जाता है, दूसरे में आटे की मेण्ढे और भेड़ की मूर्तियाँ ऊन से सानकर दूध के साथ वरुण और मरुतों को भेंट की जाती हैं और वर्षा के लिए करीर के फलों की बलि दी जाती है। तीसरे में पितरों को भोजन दिया जाता है, रुद्र त्र्यम्बक को बलि दी जाती है और इसके बाद हल के दो भागों की पूजा होती है। गृह्य उपचारों में श्रावण पूर्णिमा को विष्णु, वर्षा ऋतु और श्रावण के देवता को पकवान चढ़ाया जाता है और मार्ग-शीर्ष की पूर्णिमा को आग्रहायणी का पर्व मनाया जाता है। इस अवसर पर मकानों की सफाई व सफेदी की जाती है। इनके अलावा शरद या वसन्त में पशुधन की वृद्धि के लिए शूलगव यज्ञ किया जाता है जिसमें रुद्र को बैल की बलि दी जाती है।

वैदिक यज्ञों में सोमयज्ञ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसे बड़े आदमी करते हैं। यह प्रायः वसन्त में नये वर्ष के आरम्भ में किया जाता था। इसे करने से पहले 16 याज्ञिक नियुक्त किये जाते हैं जो यजमान और उसकी पत्नी को दीक्षित करते हैं। फिर सोम की बूँटी खरीद कर गाड़ी में लाई जाती है। पहले दिन गर्म दूध की आहुति होती है, दूसरे दिन सोम को वेदी पर लाकर सिलबट्टे से पीसा और छन्ने से छाना जाता है, फिर इसे कलशों में भरकर दूध में मिलाया जाता है और फिर कटोरों में देवताओं को भेंट किया जाता है। प्रायः दिन में तीन बार यह सोम का स्रवन होता है। तीसरे दिन अग्नि और सोम को बकरे की बलि दी जाती है और अन्त में यजमान अवभृथ नामक स्नान करता है। सोमयज्ञ भी सात प्रकार के हैं। इनमें वाजपेय शक्ति प्राप्त करने के लिए किया जाता हैं। इसमें रथों की दौड़ खास तौर से होती है। राजसूय और अश्वमेघ राजाओं के लिए है। ये यज्ञ लम्बे चलते हैं। कुछ यज्ञों में पशु बलि दी जाती है, किन्तु इसे सामान्यतः अच्छा नहीं समझा जाता। इसलिए पशुवध के समय लोगों के मुँह फेरने और इसके अपराध के लिए देवताओं से क्षमा माँगने के मंत्रों का पढ़ने का विधान है।

निष्कर्ष—वेदों में अविकसित धार्मिक विचारधारा से लेकर सम्यक् रूप से विकसित धार्मिक विचार प्रणालियों का स्पष्ट रूप से दिग्दर्शन होता है। वेदों में धार्मिक विचारधारा का क्रमिक विकास मिलता है। वेदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक धर्म सादा, सरल, सुसंस्कृत और परिष्कृत था। प्रकृति के चमत्कारों को देखकर वैदिक आर्यों के हृदय में अनुराग, विस्मय और भय की भावना उत्पन्न हुई। फलतः बाह्य प्रकृति की इन सभी शक्तियों के आगे वे नतमस्तक हो गये तथा इन प्राकृतिक शक्तियों, जैसे—सूर्य, चन्द्र, आकाश, उषा, मारुत, वायु, अग्नि आदि की उपासना करने लगे। इस प्रकार प्रकृति के दैवीकरण के साथ वैदिक धर्म आरम्भ हुआ। वैदिक आर्य स्वाभाविक भक्तिभावना से अपने इष्ट देवता की स्तुति किया करते थे। प्रत्येक देवी-देवता के लिए भिन्न-भिन्न ऋचाएँ थीं और उनको गाकर

ही देव-स्तवन होता था। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ और अनुष्ठान किये जाते थे। यज्ञों में मन्त्रोच्चारण के साथ अग्नि में दूध, घी, अन्न, दही, मांस आदि की आहुति दी जाती थी। यज्ञादि के समय सोमरस का प्रयोग पुनीत समझा जाता था।

ऋग्वेद के प्रारम्भिक युग में आर्यों में प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की देवता के रूप में कल्पना करने के कारण, बहुदेववाद प्रचलित था। परन्तु कालान्तर में वे धर्म से दर्शन की ओर बढ़े। उन्होंने सम्पूर्ण सृष्टि के मूल तत्त्व को खोजने का प्रयास किया। उन्होंने समझ लिया कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक परमसत्ता है। यह विचार ऋग्वेद में सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है, "सत् एक ही है, परन्तु विद्वान् उसे अग्नि, यम, मातिश्वरा आदि अनेक नामों से पुकारते हैं। ऋग्वेद के बाद की ऋचाओं में एकेश्वरवाद की भावना और अद्वैतवात की प्रवृत्ति के दृष्टांत मिलते हैं। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में कहा गया है कि आकार और अस्तित्व वाले का सृजन निराकार से हुआ है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में एकेत्ववाद का सुन्दर विवेचन मिलता है। एक ही मूल तत्त्व सृष्टि के आदि में था, उसी से सृष्टि की उत्पत्ति हुई और वह पूर्ण रूप से सृष्टि में व्याप्त और परिव्याप्त है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के पुरुष सूत्र में कहा गया है, "सारे जगत की उत्पत्ति एक विराट पुरुष से हुई है, जिसके हजार सिर तथा हजार चरण थे। उसके सिर के आकाश, नाभि से वायु, पैर से पृथ्वी, मस्तिष्क से चन्द्रमा, श्वास से हया तथा नेत्रों से सूर्य उत्पन्न हुए। सारे जगत का कारण विराट पुरुष से है जो सारे विश्व में व्याप्त है पर उसमें परिसमाप्त हैं।" इस प्रकार एक परम-सत्ता की भावना का विकास हुआ। इस भावना का चरम विकास आगे चलकर उपनिषदों के ब्रह्म के सिद्धान्त में देखने को मिलता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग पाँच पृष्ठों में दीजिए—

1. सैन्धव धर्म की विवेचना कीजिए।
2. सैन्धव सभ्यता की धार्मिक स्थिति की विवेचना कीजिए।
3. "सैन्धव धर्म आधुनिक हिन्दू धर्म के काफी निकट है।" इस कथन को उदाहरण सहित समझाइये।
4. वैदिक धर्म की विस्तृत विवेचना कीजिए।
5. वैदिक धार्मिक विचारधारा की व्याख्या कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए—

1. सैन्धव सभ्यता का विस्तार क्षेत्र बताइए।
2. सैन्धव सभ्यता के निर्माता कौन थे ?
3. सैन्धववासी किस परमपुरुष की उपासना करते थे ?
4. सैन्धववासियों की धार्मिक प्रथाओं और विश्वासों की विवेचना कीजिए।
5. ऋग्वैदिक काल की पूजा-उपासना विधि की चर्चा कीजिए।
6. उत्तरवैदिक धर्म, ऋग्वैदिक धर्म से कहाँ तक भिन्न था ?

◆

अध्याय-3

जैन धर्म

ईसा पूर्व छठी शताब्दी भारतीय इतिहास मे भी अपना महत्त्व रखती है। इस शताब्दी को सामान्यतया बौद्धिक एवं आध्यात्मिक उथल-पुथल का समय माना जाता है। प्राचीन युग में भारत, चीन, ईरान और यूनान ने समृद्ध संस्कृतियों का विकास किया था। परन्तु ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक आते-आते धर्म और समाज के क्षेत्र में रूढ़िवादिता, अन्धविश्वासों और जटिल कर्मकाण्डों तथा पुरोहितों के बढ़ते हुए एकाधिकार के कारण प्राचीन सभ्यताओं का रूप विकृत हो गया, जिसके परिणामस्वरूप तर्कशील और मननशील लोगों का पुरातन मान्यताओं एवं परम्पराओं से विश्वास उठ गया और वे सत्य की खोज में लीन हो गये। अतः इस युग के लोगों में बौद्धिक एवं तार्किक चिन्तन का विकास हुआ और वे किसी भी बात को स्वीकार करने से पूर्व उसे परखना चाहते थे। उनके मन में अपनी पुरानी मान्यताओं एवं विश्वासों की सत्यता को जानने की तीव्र इच्छा उत्पन्न हो रही थी। वे लोग लोक और परलोक के गहन विषयों का तर्कसंगत अनुसन्धान कर, उसे सर्वसाधारण के लिए सुलभ और बोधगम्य बनाया चाहते थे। उनके इस चुनौती भरे प्रयास से प्राचीन सभ्यताओं की मान्यताएँ लड़खड़ाने लग गई। इस दृष्टि से हम इस युग को धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलन का युग भी कह सकते हैं। यह सुधारवादी आन्दोलन विश्वव्यापी था। प्रत्येक सभ्य देश में कुछ ऐसे मननशील विचारक हुए जिन्होंने परम्परागत धार्मिक अन्धविश्वासों तथा रूढ़ियों और सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया तथा मानव जीवन को एक नई दिशा प्रदान करने की चेष्टा की। इस सुधारवादी आन्दोलन का नेतृत्व चीन में महात्मा कन्फ्यूशियस और लाओत्से ने, यूनान में हिराक्लिटस और पाइथोगोरस ने, ईरान में महात्मा जरथुस्त्र ने और भारत में महावीर स्वामी तथा महात्मा बुद्ध ने किया। इन महापुरुषों के युग प्रवर्तक अभियान के फलस्वरूप मनुष्य के धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए जिससे मानव सभ्यता समृद्ध एवं विकसित हुई।

भारत में सामाजिक एवं धार्मिक जागृति के कारण

ऋग्वैदिक काल के आर्यों का धर्म यज्ञ प्रधान होते हुए भी सरल था। उस समय के यज्ञ अति सरल, शुद्ध और व्यक्तिगत होते थे, जिसमें किसी प्रकार का आडम्बर नहीं होता था। प्रत्येक मनुष्य स्वयं मन्त्रों की सहायता से यज्ञों को सम्पादित करने में समर्थ था। सामाजिक व्यवस्था भी कर्म पर आधारित थी। परन्तु कालान्तर में वैदिक धर्म का स्वरूप जटिल हो गया। यज्ञ पुरोहित प्रधान बन गये और वे अत्यधिक जटिल भी बन गये तथा कर्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था भी जन्म प्रधान हो गयी। यज्ञों तथा कर्मकाण्डों का प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया और उनमें आडम्बरों का प्रवेश हो गया। ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक

आते-आते आर्यों की सरल धार्मिक एवं उदार सामाजिक व्यवस्था में अनेक रूढ़ियाँ, बन्धन एवं विकृतियाँ उत्पन्न हो गयीं, जिनके परिणामस्वरूप सामान्य एवं निम्न स्तर के लोगों को कई प्रकार की सुविधाओं से वंचित होकर दयनीय जीवन बिताने के लिए विवश होना पड़ा। महावीर स्वामी तथा महात्मा बुद्ध ने इस स्थिति को सुधारने की दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उनके समय में होने वाली सामाजिक एवं धार्मिक जागृति के मुख्य कारण निम्नलिखित थे—

(1) ब्राह्मणों का प्रभुत्व—अपने साधनामय सरल जीवन और ज्ञान के कारण वैदिक युग में ब्राह्मण वर्ण की स्थिति सर्वोपरि हो गई थी। वह पठन-पाठन और यजन-याजन के द्वारा समाज की बौद्धिक एवं आध्यात्मिक तथा धार्मिक जरूरतों को पूरा करता था। अतः सम्पूर्ण समाज भी उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। पौराणिक काल तक आते-आते समाज में ब्राह्मणों का प्रभुत्व सर्वोपरि हो गया था। यज्ञों तथा धार्मिक कर्मकाण्डों की संख्या बढ़ने के साथ-साथ ब्राह्मणों की प्रधानता भी बढ़ गई। चूँकि उस युग में जीवन की प्रत्येक समस्या को सुलझाने का एकमात्र आधार वेद ही माने जाते थे और वेदों को पढ़ने और उनकी व्याख्या करने का विशेषाधिकार ब्राह्मण वर्ग के पास था, अतः उनका प्रभुत्व बढ़ने लगा। अब जन्म से मृत्यु तक ऐसा कोई काम नहीं बचा जो ब्राह्मणों से पूछे बिना पूरा हो सके। इससे ब्राह्मण वर्ग अत्याचारी, अहंकारी और शोषक बन गया। ब्राह्मणों के इस प्रभुत्व के विरुद्ध प्रतिक्रिया उठना स्वाभाविक ही थी। जैन एवं बौद्ध मत—ब्राह्मण प्रभुत्व के विरुद्ध उत्पन्न प्रतिक्रिया के परिणाम थे।

इस सम्बन्ध में एक बात यह भी विचारणीय है कि ब्राह्मणों के प्रभुत्व को सर्वप्रथम पूर्वी भारत में चुनौती मिली। वस्तुतः ई.पू. छठी शताब्दी तक पूर्वी भारत पूर्ण रूप से आर्य संस्कृति के प्रभाव में न आया था। वह अनार्य संस्कृति का गढ़ समझा जाता था। आर्य प्रवृत्तिमार्गी थे। उन्हें संसार त्याग, वैराग्य, कायाक्लेश आदि सिद्धान्तों में रुचि अथवा विश्वास न था। इसके विपरीत अनार्य संस्कृति निवृत्तिमूलक थी। अतः दोनों में संघर्ष होना स्वाभाविक था। पूर्वी भारत में उत्पन्न होने वाले जैन एवं बौद्ध मत—दोनों ही निवृत्तिमूलक थे। यह आर्यों की प्रवृत्तिमूलक संस्कृति के विरुद्ध विद्रोह था।

ब्राह्मणों के विरुद्ध असन्तोष का एक बड़ा कारण वेद-वाद था। ब्राह्मणों के सभी ग्रन्थ वेदों पर आधारित थे। ब्राह्मणों की दृष्टि में वेद ईश्वर-प्रदत्त थे। अतः वेदों को ही धर्म का मूल समझते थे। वेद विरुद्ध कोई भी बात ब्राह्मणों की दृष्टि में अधर्म थी। परन्तु इस समय तक समाज में एक ऐसे प्रबुद्ध वर्ग का उदय हो चुका था जो वेदों को पूर्ण मानने को तैयार नहीं था। उनकी दृष्टि में वैदिक ज्ञान भी सीमित था और उनमें भी त्रुटियाँ थीं। उनका मानना था कि केवल वेद मन्त्रों में आस्था रखने और मन्त्रों का उच्चारण करते रहने से हम अपनी सभ्यता का और अधिक विकास नहीं कर पायेंगे। उपनिषदों में भी इसी प्रकार की भावना दिखलाई पड़ती है। बौद्ध साहित्य में ऐसे बहुत से साक्ष्य उपलब्ध हैं जिनसे पता चलता है कि समाज का एक वर्ग वेद-प्रामाण्य के विषय को लेकर ब्राह्मणों का कट्टर आलोचक बनता जा रहा था। महावीर और महात्मा बुद्ध ने भी इसी प्रकार के विचारों को व्यक्त किया था।

(2) बहुदेववाद—वैदिक धर्म बहुदेववादी था। उसमें अनेक देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। सृष्टि की लगभग सभी शक्तियाँ देव समूह में सम्मिलित कर ली गई

थीं। राजा-रानियाँ और बड़े-बड़े शूरवीरों को भी देवताओं की पंक्ति में बैठा दिया गया था। इन समस्त देवी-देवताओं को सन्तुष्ट रखने के लिए अनेक प्रकार के यज्ञ, होम, उपासना, जप-तप आदि किया जाता था। यह ठीक है कि ऋग्वैदिककाल में आर्यों ने एकेश्वरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था और उपनिषदों में इसका विशद् उल्लेख भी है। फिर भी एकेश्वरवाद का सिद्धान्त समाज में कभी लोकप्रिय नहीं हो पाया। इस काल में पुनः एकेश्वरवाद ने जोर पकड़ा और लोग सोचने लगे कि जब सर्वत्र ब्रह्म व्याप्त है तो इतने सारे देवी-देवताओं की उपासना करना व्यर्थ है। उनका यह भी मानना था कि मनुष्य को अपने आत्मोत्कर्ष के लिए देवताओं पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्य के कर्म ही उसके भाग्य-विधाता हैं। इस प्रकार की विचारधारा के विकास के कारण बहुदेववादी ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध असन्तोष उठना स्वाभाविक ही था।

(3) यज्ञ एवं कर्मकाण्ड—वैदिककाल के आरम्भ में आर्यों का धर्म सरल तथा आडम्बरहीन था। वे अपने यज्ञ और अनुष्ठान स्वयं कर लेते थे। इसके लिए पुरोहित की सहायता की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु धीरे-धीरे इसमें कर्मकाण्ड और तरह-तरह के विधि-विधानों की प्रधानता बनी। अब पुरोहितों की सहायता लेना आवश्यक हो गया। धीरे-धीरे पुरोहितों का महत्त्व बढ़ा। उन्हें भी देवताओं के समान समझा जाने लगा। पहले एक पुरोहित से काम चल जाता था। अब उनकी संख्या सात हो गई। सात से बढ़कर सत्रह हो गई। अब कुछ यज्ञ तो ऐसे हो गये जो वर्षों तक चला करते थे। वस्तुतः ब्राह्मणों ने यज्ञों को अपनी रोटी-रोजी का मुख्य साधन बना लिया था और चिरकाल तक इसका लाभ उठाते रहने की कामना से उन्होंने धार्मिक यज्ञों को कर्मकाण्डी, अधिक जटिल, कठोर तथा खर्चीला बना दिया। अब अनेकानेक देवी-देवताओं की कल्पना की गई और उनकी पूजा होने लगी। अब यज्ञों में पशुबलि पर अत्यधिक जोर दिया जाने लगा। साधारण व्यक्ति के लिए ऐसे यज्ञों को करवाना असम्भव हो गया। दूसरी तरफ ब्राह्मण वर्ग ने कर्म के आधार पर पुनर्जन्म और स्वर्ग-नरक की भयावह धारणाएँ पैदा करके जनता का शोषण करना शुरू कर दिया। इस स्थिति में जादू-टोना, झाड़-फूंक, मन्त्र-तन्त्र आदि अन्धिविश्वास समाज में बढ़ने लगे। ऐसी स्थिति में सामान्य लोगों में विरोध की भावना का विकसित होना स्वाभाविक था, क्योंकि वे लोग मौजूदा धर्म के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने में असमर्थ थे और उन्हें भी मोक्ष प्राप्त करने की अभिलाषा थी। विरोध का दूसरा कारण पशुबलि था। तीसरा कारण आडम्बर तथा अन्धविश्वास था। यही कारण है कि जब महावीर तथा बुद्ध ने धर्म के सरल स्वरूप को प्रस्तुत किया तो लाखों की संख्या में लोग शीघ्र ही उनके अनुयायी बन गये।

(4) वर्णों का आपसी संघर्ष—आर्यों की प्रारम्भिक सामाजिक व्यवस्था काफी उदार तथा लचकीली थी। उस समय में वर्ण-व्यवस्था कर्म पर आधारित थी और कोई भी व्यक्ति अपनी योग्यता के आधार पर अपना वर्ण बदल सकता था। चारों वर्णों का समाज में समान महत्त्व था। परन्तु धार्मिक जटिलता के साथ-साथ सामाजिक व्यवस्था भी जटिल होने लगी। अब चारों वर्णों की निश्चित सीमाएँ बाँध दी गईं और कर्म का स्थान जन्म ले लिया अर्थात् अब वर्ण का निश्चय व्यक्ति के कर्म के आधार पर न किया जाकर जन्म के आधार पर किया जाने लगा। प्रारम्भ में ब्राह्मणों को अपने साधनामय सरल जीवन के लिए समाज में सर्वोपरि स्थान दिया गया था। क्षत्रिय को देश की रक्षा तथा शासन-व्यवस्था का भार सौंपा

गया था। अतः समाज में उनकी स्थिति भी श्रेष्ठ थी क्योंकि ब्राह्मण वर्ग अपनी सुरक्षा तथा आजीविका के लिए क्षत्रिय वर्ण पर आश्रित था। परन्तु बाद में क्षत्रियों को ब्राह्मणों की प्रभुता अखरने लगी। वे अपने आपको ब्राह्मणों से श्रेष्ठ मानने लगे। शतपथ ब्राह्मण में सर्वप्रथम उनकी प्रतिक्रिया का उल्लेख मिलता है जिसमें क्षत्रिय को ब्राह्मण से श्रेष्ठ बताया गया है। उपनिषद् काल में ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष और अधिक बढ़ गया। इस काल में क्षत्रियों ने भी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में अपनी प्रतिष्ठा कायम करने का प्रयत्न किया। भारतीय दर्शन की एक विशेष शाखा—"ब्रह्मविद्या" की स्थापना का श्रेय क्षत्रिय विद्वानों को ही है। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के इस संघर्ष की झलक साहित्यिक रचनाओं में भी मिलती है। उदाहरणार्थ, तमाम ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी चतुर्वर्णों का उल्लेख है, वहाँ सदैव पहले ब्राह्मणों का ही उल्लेख मिलेगा; फिर क्षत्रिय, और वैश्य शूद्र का। इसके विपरीत जितने भी बौद्ध-ग्रन्थ हैं उनमें पहले क्षत्रिय वर्ण का उल्लेख मिलेगा और फिर ब्राह्मण, वैश्य तथा शूद्र वर्णों का।

क्षत्रियों की इस चुनौती ने भारत में धर्म-सुधार आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। वैश्य वर्ग के पास धन-सम्पत्ति की कमी नहीं थी; परन्तु ब्राह्मण वर्ग उसे अपने बराबर सम्मान देने को तैयार नहीं थे। अतः वैश्यों में भी ब्राह्मणों के प्रभुत्व के विरुद्ध असन्तोष उत्पन्न हो गया और उन्होंने क्षत्रियों का साथ दिया। शूद्र लोग तो उपेक्षित जीवन बिता रहे थे। उन्हें मौजूदा धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था से कोई लगाव नहीं रह गया था। यही कारण है कि जब महावीर और महात्मा बुद्ध ने एक नवीन धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था प्रस्तुत की तो क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों ने उसका स्वागत किया।

(5) अन्य कारण—उपर्युक्त मुख्य कारणों के अलावा कुछ अन्य कारण भी थे। इस समय बोलचाल की भाषा प्राकृत तथा पालि थी। परन्तु समय धार्मिक ग्रन्थ संस्कृत भाषा में थे। धार्मिक कर्मकाण्ड भी संस्कृत भाषा में सम्पादित कराये जाते थे। केवल ब्राह्मण वर्ग ही इस भाषा में दक्ष होता था। सामान्य जनता को न तो संस्कृत लिखना-पढ़ना आता था और न वह संस्कृत में बोले जाने वाले मन्त्रों का अर्थ ही समझ पाती थी। अतः इस भाषा के विरुद्ध भी असन्तोष उठ रहा था और लोग किसी सरल भाषा के उपयोग के लिए उत्सुक थे ताकि वे भी धार्मिक बातों को समझ सकें।

धर्मसुधार आन्दोलनों को औपनिषद्क विचारधारा से भी महत्त्वपूर्ण प्रेरणा मिली थी। उपनिषदों में वैदिक धर्म की बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षिक किया गया तथा इन बुराइयों का विरोध भी किया गया। उपनिषदों के कर्मकाण्ड की भी पर्याप्त आलोचना की गई। उनके अनुसार यज्ञ करने और कराने वालों को बुद्धिहीन कहा गया। उपनिषदों ने ज्ञान की प्राप्ति को मोक्ष का साधन बताया। उन्होंने अहिंसा तथा आचरण की पवित्रता पर जोर दिया। वस्तुतः उपनिषदों ने जैन एवं बौद्ध मत की पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी।

छठी शताब्दी ई.पू. तक आते-आते जनता इन धार्मिक रूढ़ियों तथा सामाजिक बन्धनों से ऊबने लगी थी। वैदिक धर्म तथा धार्मिक कर्मकाण्डों एवं मौजूदा सामाजिक व्यवस्था से उसका विश्वास उठने लगा था। इस प्रकार भारतीय समाज में प्रचलित यज्ञवाद, वेदवाद एवं बहुदेववाद के साथ ब्राह्मणों के नैतिक पतन, ब्राह्मण-क्षत्रिय प्रतिस्पर्द्धा एवं सामाजिक असन्तोष ने मिलकर आन्दोलन का रूप धारण कर लिया।

जैन धर्म

अपने मूल रूप में जैन धर्म ईसा पूर्व छठी शताब्दी की देन नहीं है। जैन साहित्य एवं परम्परा के अनुसार जैन धर्म आर्यों के वैदिक धर्म से भी पुराना है। जैन धर्म की स्थापना एवं विकास में योग देने वाले विद्वान् महात्माओं को "तीर्थंकर" कहा गया है और ऐसा माना जाता है कि महावीर स्वामी के पहले 23 जैन तीर्थंकर हुए थे। पहले तीर्थंकर "ऋषभदेव" थे और तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ थे। प्रथम बाईस तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता के बारे में विद्वानों को शंका है। हाँ, तेईसवें अवश्य ऐतिहासिक पुरुष थे।

पार्श्वनाथ—जैन साहित्य के अनुसार पार्श्वनाथ का जन्म महावीर से लगभग 250 वर्ष पूर्व आठवीं सदी ईसा पूर्व में हुआ था। उनका उल्लेख साहित्य ब्राह्मण में भी मिलता है। वे काशी के राजा अश्वसेन (आससेन) के पुत्र थे। इनकी माता का नाम वामा था। इनका विवाह कुशस्थल की राजकन्या प्रभावती के साथ हुआ था। 30 वर्ष की अवस्था तक इन्होंने वैभव-विलास का जीवन व्यतीत किया। फिर गृहस्थ जीवन को त्याग कर सत्य की खोज में निकल पड़े। 83 दिनों की घोर तपस्या के बाद सम्मेद पर्वत पर इन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। ज्ञान प्राप्ति के बाद लगभग 70 वर्ष तक इन्होंने धर्म-प्रचार का काम किया। 100 वर्ष की आयु में इनकी मृत्यु हुई।

पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित मार्ग का अनुसरण करने वाले "निग्रन्थ" कहलाये, क्योंकि वे सांसारिक बन्धनों (ग्रन्थियों) से विमुक्त हो जाते थे। उनके अनुयायियों की संख्या काफी थी। महावीर स्वामी के माता-पिता भी पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। जैन साहित्य में पार्श्वनाथ के अनुयायिनी स्त्रियों का भी उल्लेख मिलता है। पार्श्वनाथ ने अपने अनुयायियों को संगठित करने के लिए चार गणों (संघों) की स्थापना की थी।

पार्श्वनाथ ने अपने अनुयायियों को चार सिद्धान्तों पर चलने को कहा। वे थे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह। पार्श्वनाथ ने ब्राह्मणों के बहुदेववाद और यज्ञवाद का विरोध किया। वे वेदों की प्रामाणिकता में भी विश्वास नहीं रखते थे। हिंसात्मक यज्ञों के तो वे घोर विरोधी थे। इसी प्रकार, जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था में भी उनका विश्वास नहीं था। उनके मत के अनुसार प्रत्येक मनुष्य मोक्ष का अधिकारी है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि महावीर जैन धर्म के संस्थापक नहीं थे। उनके जन्म से सैकड़ों वर्ष पूर्व जैन धर्म सुसंगठित हो चुका था। उसके अपने विधि-विधान थे। ज़ीवन-यापन की विशेष व्यवस्था थी। उनके अपने चार संघ थे। प्रत्येक संघ एक-एक गणधर की देखरेख में काम करता था। महावीर स्वामी ने उनकी मौजूदा व्यवस्था में सुधार करके उसे लोकप्रिय बनाया। इसीलिए कुछ विद्वान् उन्हें जैन धर्म का सुधारक मानते हैं।

महावीर स्वामी की जीवनी—जैन धर्म के चौबीसवें तथा अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी का जन्म वैशाली के समीप कुण्डग्राम में ज्ञातृक क्षत्रिय कुल में 599 ई. पू. (कुछ के अनुसार 540 ई.पू.) के आसपास हुआ था। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ ज्ञातृक क्षत्रियों के छोटे से राज्य कुण्डग्राम के सरदार थे। महावीर की माता का नाम त्रिशला था। वह लिच्छवी वंश के प्रसिद्ध राजा चेटक की वहिन थी। महावीर स्वामी के बचपन का नाम वर्धमान था। उनके जन्म पर ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की थी कि वड़ा होने पर वह या तो चक्रवर्ती राजा बनेगा अथवा परमज्ञानी भिक्षु। वर्धमान को बचपन से ही क्षत्रियोचित शिक्षा दी

गई थी। युवावस्था में उनका विवाह यशोदा नामक सुन्दर राजकन्या के साथ किया गया। इस वैवाहिक सम्बन्ध से उनके एक पुत्री भी हुई जिसका विवाह जमालि नामक क्षत्रिय सरदार के साथ किया गया था। वर्धमान जब 30 वर्ष के हुए तब उनके पिता का स्वर्णवास हो गया। इस घटना से उनकी निवृत्तिमार्गी प्रवृत्ति और भी अधिक मज़बूत हो गयी और उन्होंने अपने बड़े भाई नन्दिवर्धन से आज्ञा लेकर गृह-त्याग कर दिया और वे भिक्षु बन गये।

भिक्षु महावीर ने एक वर्ष और एक मास तक वस्त्र धारण किए और घोर तपस्या की। परन्तु उन्हें अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफलता नहीं मिली। असन्तुष्ट होकर उन्होंने पार्श्व के सम्प्रदाय को छोड़ दिया और अकेले ही तपस्या करने लगे। उनके वस्त्र जीर्ण-शीर्ण होकर गिर गये तब वर्धमान ने नंगे रहना प्रारम्भ किया। उनके नग्न शरीर पर अनेक प्रकार के कीट-कीटाणु चढ़ने लगे और उन्हें काटने लगे। परन्तु वे पूर्णतः उदासीन रहे। बारह वर्ष तक वे अपने शरीर की पूर्णतः उपेक्षा कर सब प्रकार के कष्ट सहते रहे। उन्होंने संसार के समस्त बन्धनों का उच्छेद कर दिया। संसार से वे सर्वथा निर्लिप्त हो गये। अन्त में, जम्भियगाम (जृम्भिका) के समीप उज्जुवालिया (ऋजुपालिका) सरिता के तट पर महावीर को कैवल्य (ज्ञान) प्राप्त हुआ। तभी उन्हें "केवलिन्" की उपाधि मिली। अपने इन्द्रियों को जीत लेने के कारण वे "जिन" कहलाये। तपस्या के समय अपूर्व साहस दिखलाने के कारण वे "महावीर" के नाम से पुकारे जाने लगे। उन्होंने समस्त सांसारिक बन्धनों को तोड़ दिया था, इसलिए वे 'निग्रन्थ' भी कहलाये।

सत्य का ज्ञान हो जाने के बाद महावीर ने जनता को जीवनयापन का सही मार्ग दिखाने का कार्य प्रारम्भ किया। जनता में अपने विचारों का प्रचार करने के लिए वे स्थान-स्थान पर घूमने लगे। मगध, काशी, कोसल आदि राज्य उनके प्रचार क्षेत्र थे। चूँकि महावीर स्वामी का कई राजवंशों से निकट का सम्बन्ध था, अतः उन राजवंशों से उन्हें अपने धर्म-प्रचार में काफी सहायता मिली होगी। उनकी सत्यावाणी तथा जीवन के सरल मार्ग से प्रभावित होकर सैकड़ों लोग उनके अनुयायी बनने लगे। राजा-महाराजा, वैश्य-व्यापारी तथा अन्य लोग उनकी बातों का अनुसरण करने लगे और धीरे-धीरे उनके अनुयायियों की संख्या काफी बढ़ गई। जैन साहित्य से पता चलता है कि लिच्छवी राज्य का चेटक, अवन्ती का प्रद्योत, मगध के बिम्बिसार और अजातशत्रु, चम्पा का दधिवाहन और सिन्धु-सौबीर का उदयन आदि राजा महावीर के प्रति परम श्रद्धालु थे और उनके अनुयायी बन गये। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार बिम्बिसार और प्रद्योत महात्मा बुद्ध के अनुयायी थे। इससे पता चलता है कि उस युग के हिन्दू शासक धार्मिक से काफी उदार तथा सहिष्णु थे और वे ज्ञानी पुरुषों का समान रूप से आदर करते थे। इसी कारण जैन और बौद्ध दोनों धर्मों ने उनमें से अधिकांश को अपना-अपना अनुयायी मान लिया। अन्त में 527 ई.पू. (कुछ के अनुसार 467 ई.पू.) के आस-पास 72 वर्ष की आयु में पावापुरी (पटना) में महावीर स्वामी को मोक्ष प्राप्त हुआ। उनकी मृत्यु के बाद भी उनका धर्म फलता-फूलता रहा और आज भी विद्यमान है।

महावीर स्वामी और पार्श्वनाथ के सिद्धान्तों में काफी मतभेद नहीं था। जहाँ पार्श्व ने चार व्रतों की आवश्यकता पर जोर दिया था, वहाँ महावीर स्वामी ने "ब्रह्मचर्य" नामक एक और व्रत जोड़कर पाँच व्रतों पर जोर दिया। मतभेद का दूसरा बिन्दु वस्त्र पहनने से था। पार्श्व ने अपने अनुयायियों को वस्त्र पहनने की स्वीकृति दे दी थी परन्तु महावीर स्वामी ने जैन भिक्षुओं को निर्वस्त्र रहने को कहा था।

जैन धर्म के सिद्धान्त

निवृत्ति मार्ग—जैन धर्म आर्यों के प्रवृत्तिमूलक धर्म के विरुद्ध निवृत्तिमार्गी था। वह आर्यों की भाँति इस संसार के समस्त सुखों की कामना नहीं करता। उसके लिए तो संसार के समस्त सुख दुःखमूलक हैं; व्याधि रूप हैं। क्योंकि इनसे कामनाएँ शान्त नहीं होतीं उल्टे बढ़ती हैं। मनुष्य जन्म और मृत्यु के आवागमन के चक्र से पीड़ित है। गृहस्थ-जीवन में भी उसके लिए कोई सुख-शान्ति नहीं है। जैन धर्म के अनुसार सारा संसार दुःखमय है। इस दुःख का मूल कारण कभी तृप्त न होने वाली तृष्णा है जिससे मनुष्य आजीवन घिरा रहता है। बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म की मुख्य समस्या भी दुःख और दुःख-विरोध है। उसके अनुसार मनुष्य का सुख सांसारिक सुखों को भोगने में नहीं है अपितु इस संसार को ही त्यागने में है। मनुष्य को सब-कुछ त्याग कर, कभी अन्त न होने वाले दुःख को छोड़कर संसार से कोई सम्बन्ध न रखकर, भिक्षु बनकर जीवन व्यतीत करना चाहिए। इस प्रकार, जैन धर्म एक भिक्षु धर्म है। यह निवृत्ति मार्ग है जो आर्यों की प्रवृत्तिमूलक विचारधारा के विपरीत था।

जीव और आजीव—जैन धर्म मुख्य रूप से दो तत्त्वों में विश्वास करता है। एक जीव और दूसरा आजीव। दोनों ही तत्त्व शाश्वत हैं, अनादि और अनन्त हैं। इनसे ही मिलकर यह जगत् बनता है। इसीलिए वह अनादि और अनन्त है। उनका कर्त्ता भी कोई नहीं है। जीव ही आत्मा है, दोनों एक ही तत्त्व हैं। जैन धर्म में आत्मा के अस्तित्व को विश्वास सहित और ज्ञानपूर्वक माना गया है। जीव चैतन्य द्रव्य है और अजीव चैतन्य रहित है। जीव का विस्तार शरीर के अनुसार होता है। इसका कार्य अनुभूति है अर्थात् सुख-दुःख, सन्देह, ज्ञान आदि सभी का अनुभव होता है। जीव, अजीव के ढाँचे (शरीर) में रहता है। अजीव अवस्था जड़ पदार्थ को ''पुद्गल'' कहते हैं। पुद्गल उस वस्तु को कहते हैं जिसे जोड़कर बड़ा किया जा सके अथवा तोड़कर छोटा किया जा सके। इसका सबसे लघुतम भाग परमाणुओं के आपस में मिलने से ही इस भौतिक संसार के विभिन्न रूप बनते हैं, जिनके पाँच गुण हैं। ये इस प्रकार हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द। इस प्रकार, जीव और अजीव से मिलने के जगत् की रचना होती है।

जीव और अजीव के सम्बन्ध का माध्यम ''कर्म'' है। पुद्गल ही कर्म है जो जीव को घेरे रहता है जैसे खान में धातु मिट्टी में मिली रहती है, इसी प्रकार जीव इस 'कर्म' नाम के बारीक मैटर से सना रहता है। वह हर समय जीवन से चिपटा रहता है। कर्म जीव पर रूप, रंग, रस और गन्द की विशिष्ट छाप लगाते हैं जिसे ''लेश्या'' (लेस्सा) कहते हैं। इनसे पृथक् होना अर्थात् पद्गल से अलग होना, कर्म के बन्धन को तोड़ना है। कर्म के बन्धन को तोड़ने का अर्थ है—जन्म-मरण और पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त होना। इसी का नाम 'मोक्ष' है।

बन्ध और मुक्ति—बन्ध के मुख्य कारण हैं—राग और द्वेष। इनसे ही चार कषायों—क्रोध, मान, माया और लोभ का उदय और विकास होता है। राग और द्वेष जीव में आसक्ति या कामना का दुर्भाव पैदा करते हैं। इससे जीव अपना विवेक खो बैठता है और दुनिया में भटकता रहता है। वह राग और द्वेष से उत्पन्न कषायों—हिंसा, झूठ, चोरी, लोभ आदि का आश्रम लेता है। जैनागमन में ''कर्म'' क्रिया को नहीं कहते बल्कि 'पुद्गल परमाणुओं' को कहते हैं। पुद्गल परमाणुओं का बहना या बनना ''आश्रव'' कहलाता है। यही आश्रव व्यक्ति के कर्मबन्ध का कारण होता है। वह हिंसा आदि को सत्य और पाने

योग्य समझकर ज्योंही तदनुसार आचरण करता है, तो कर्मों के बन्धनों से बंध जाता है। इसी को "बन्ध" कहते हैं। इसी प्रकार, 'आश्रव' और 'बन्ध' पुनर्जन्म के मुख्य कारण हैं। राग और द्वेष केवल दुःख ही पैदा नहीं करते अपितु सुख भी पैदा करते हैं। जो कर्म दुःख के कारण होते हैं उन्हें पाप कहा जाता है और सुख के कारण होते हैं उन्हें पुण्य कहा जाता है। पाप और पुण्य— दोनों का जन्म आसक्ति के कारण होता है। पुण्य बन्ध से जीव का जो शरीर बनता है वह पाप बन्ध से बनने वाले शरीर से भिन्न किस्म का होता है। पाप बन्ध की अवस्था में जीव पूर्ण रूप से कषायग्रस्त हो जाता है। परन्तु पुण्य बन्ध की अवस्था में कषाय जीव की विवेक शक्ति को पूरी तरह से नहीं दबा पाते। इसलिए पुण्य बन्ध की अवस्था में जीव में यह विवेक बना रहता है कि क्या चीज ग्रहण करने योग्य है और क्या चीज छोड़ने योग्य है। इस प्रकार की जिज्ञासा का उदय ही राग-द्वेष पर रोक लगाता है। इस रोक को "संवर" कहते हैं। इस संवर के परिणामस्वरूप धीरे-धीरे संचित कर्म कटते या नष्ट हो जाते हैं। कर्म-नाश की इस प्रक्रिया को "निर्जरा" कहते हैं। पूर्ण निर्जरा की स्थिति का ही दूसरा नाम मुक्ति है।

निर्वाण—राग-द्वेष या आसक्ति के बन्धन से मुक्ति ही मोक्ष है। मोक्ष का ही दूसरा नाम निर्वाण है। निर्वाण जैन धर्म का चरम लक्ष्य है। इसके लिए कर्म-फल से मुक्ति आवश्यक है। निर्वाण की अवस्था में मनुष्य सभी प्रकार की कामनाओं से मुक्त हो जाता है। उसे अनन्त शान्ति मिल जाती है। निर्वाण का अर्थ अस्तित्व की समाप्ति नहीं है। इसका अभिप्राय जीव के भौतिक अंश के विनाश से है। जीव का आत्मिक तत्त्व कभी समाप्त नहीं होता। निर्वाण का अर्थ शून्यता, अकर्मण्यता अथवा निष्क्रियता भी नहीं है। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति भी विशुद्ध रूप में देख-सुन सकता है। निर्वाण प्राप्ति के लिए एक निश्चित कार्यक्रम या आचार-संहिता बनाई गई है जिसका पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इस आचार-संहिता के तीन अंग हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, और सम्यक् चरित्र। इसे "त्रिरत्न" कहा जाता है।

त्रिरत्न : सम्यक् दर्शन—सम्यक् दर्शन का अर्थ है सही विश्वास या श्रद्धा। जैन धर्म के अनुसार 'सत्' में विश्वास रखना है सम्यक् श्रद्धा है। इसके आठ अंग हैं—(1) सन्देह को दूर करना, (2) सांसारिक सुखों की इच्छा को मिटना, (3) आसक्ति-विरक्ति से बचना, (4) गलत रास्ते की तरफ न जाना, (5) अधकचरे विश्वासों से भ्रमित न होना, (6) सही विश्वास पर जमे रहना, (7) सभी के लिए समान प्रेम रखना, और (8) जैन सिद्धान्तों में पूर्ण आस्था तथा विश्वास रखना। इसके लिए तीन प्रकार की मूर्खताओं से बचना जरूरी है—(1) लोक-अन्धविश्वास, (2) देवी-देवताओं के पूजन से पुण्य प्राप्ति की आशा, और (3) छली-कपटी साधु-सन्तों के बहकावे में आना।

सम्यक् ज्ञान—सम्यक् ज्ञान का अर्थ है सही विचार अर्थात् सत् और असत् का भेद समझ लेना। जैन धर्म के अनुसार ज्ञान पाँच प्रकार का होता है—(1) **मति ज्ञान**—जो इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है जैसे नाक के द्वारा गन्ध ज्ञान। (2) **श्रुति ज्ञान**—वह ज्ञान जो सुनकर अथवा वर्णन के द्वारा प्राप्त होता है। इसे शास्त्र-ज्ञान भी कहते हैं। (3) **अवधि ज्ञान**—दूर-देश और काल का ज्ञान। (4) **मनःपर्याय**—अन्य व्यक्तियों के भावों और विचारों को जान लेने वाला ज्ञान; और (5) **केवल्य ज्ञान**—देश-काल की सीमाओं से परे का सम्पूर्ण ज्ञान। यह पूर्ण ज्ञान है, जो निग्रन्थों को प्राप्त होता है। जीव में पूर्ण ज्ञान रहता है

परन्तु भौतिक आवरण के कारण वह छिप जाता है। भौतिक तत्त्व का नाश होते ही जीव को पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है और वह "निग्रन्थ" हो जाता है।

सम्यक् चरित्र—सम्यक् चरित्र का अर्थ है सही काम अथवा आचरण। इन्द्रियां जीव के बाह्य उपकरण हैं और इनकी सहायता से वह बाह्य जगत् की जानकारी प्राप्त करता है। उदाहरण के लिए आँख का काम है देखना। प्रत्येक जीव सुन्दर दृश्य को पसन्द करेगा और असुन्दर दृश्य से आँखें हटा लेगा अर्थात् सुन्दर दृश्य में उसकी आसक्ति है। परन्तु जो जीव सुन्दर-असुन्दर के भेद के प्रति उदासीन होकर अनासक्त हो जाता है, उसके लिए सभी दृश्य एक-समान हो जाते हैं। इसी को सम्यक् आचरण कहते हैं। जैन धर्म के अनुसार बाह्य जगत् के विषयों के प्रति सम दुःख-सुख भाव से उदासीनता ही सम्यक् आचरण है और इसी को सम्यक् चरित्र कहते हैं।

जैन धर्म के अनुसार पूर्व जन्म के कर्म-फल को नष्ट करने तथा इस जन्म के कर्म-फल से बचने के लिए "त्रिरत्नों" का पालन करना अति आवश्यक है। इसी से मनुष्य 'निर्वाण' की ओर अग्रसर हो सकता है।

पाँच अणुव्रत—जैन धर्म में चरित्र-निर्माण के लिए दस भाव धर्म की व्यवस्था है। ये दस भाव हैं—क्षमा, मार्दव (कोमलता), आर्जव (सरलता), सत्य, शौच (पवित्रता), संयम, तप, त्याग (दान), आकिंचन्य (परिग्रह त्याग) और ब्रह्मचर्य। इन दस भावों का संक्षेप पाँच भावों में भी किया गया है—अहिंसा (क्षमा, मार्दव और आर्जव), सत्य, अचौर्य (शोच), ब्रह्मचर्य (संयम और तप) और अपरिग्रह (त्याग और किंचनता)। गृहस्थ दशा में इनका पूरा अभ्यास नहीं हो सकता, इसलिए उनका पालन अणुव्रतों के रूप में किया जाता है। साधु दशा में इनका आचरण व्यापक हो जाता है, तब वे महाव्रत बन जाते हैं। अर्थात् गृहस्थियों के लिए अणुव्रत और साधुओं के लिए "महाव्रत"।

अहिंसा—अहिंसा महावीर स्वामी की शिक्षा और जैन धर्म के सिद्धान्तों का मूल मन्त्र है। अहिंसा का अर्थ प्राणिमात्र के प्रति दया, समानता और उपकार की भावना से है। मन, वचन और कर्म से किसी के प्रति अहित की भावना न रखना ही वास्तविक अहिंसा है। सर्व जीवों के प्रति संयमपूर्ण जीवन-व्यवहार ही अहिंसा है। परन्तु सांसारिक मनुष्यों के लिए पूर्ण अहिंसाव्रत धारण करना कठिन है। इसलिए गृहस्थों के लिए "स्थूल अहिंसा" का विधान किया गया है। "स्थूल अहिंसा" का अर्थ है—निरपराधियों की हिंसा न करना।

सत्य—अहिंसा के साथ-साथ महावीर स्वामी ने सत्य वचन पर भी बहुत जोर दिया, क्योंकि बिना सत्य भाषण के अहिंसा का पालन सम्भव नहीं है। अतः महावीर स्वामी का उपदेश था कि प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक परिस्थिति में सत्य बोलना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को झूठ से बचना चाहिए और सच्चाई के साथ रहना चाहिए।

अस्तेय—अस्तेय का अर्थ है—चोरी न करना। महावीर स्वामी ने चोरी को महान् अनैतिक कार्य बताया तथा इस दुर्गुण से हमेशा दूर रहने की शिक्षा दी। इसका व्यापक अर्थ है, दूसरों की चीज अथवा हक न लेना।

अपरिग्रह—अपरिग्रह का अर्थ है—संग्रह न करना। महावीर के अनुसार जो व्यक्ति सांसारिक वस्तुओं का संग्रह नहीं रखता, वह संसार के मायाजाल से दूर रहता है। इसका व्यापक अर्थ है—वस्तुओं और पदार्थों का संग्रह न करना, सम्पत्ति न जुटाना और जो कुछ भी अपने पास हो उसे दूसरों के आराम के लिए प्रस्तुत करना।

ब्रह्मचर्य—उपर्युक्त चारों बातों का पालन तब तक नहीं हो सकता जब तक कि मनुष्य विषय-वासनाओं से दूर नहीं रहता। इसलिए महावीर ने पार्श्वनाथ के इन चार व्रतों में पाँचवाँ व्रत जोड़कर इन्हें त्रिरत्नों की प्राप्ति के साधन बताये। ब्रह्मचर्य का एक अर्थ शरीर की अपवित्रताओं को दूर करना भी है।

सात शील व्रत—जैन धर्म के अनुसार पाँच व्रतों के साथ-साथ शील व्रतों का पालन करना भी जरूरी है। ये इस प्रकार हैं—(1) **दिग्व्रत**—अपनी क्रिया को कुछ विशिष्ट दिशाओं में सीमित करना। (2) **देशव्रत**—अपना कार्य कुछ विशिष्ट देशों तक सीमित रखना। (3) **अनर्थ दण्डव्रत**—बिना कारण अपराध का भागी न बनाना। (4) **सामयिक**—अपने ऊपर विचार करने के लिए समय का कुछ भाग निश्चित करना। (5) **प्रोषधोपवास**—मास के दोनों पक्षों की अष्टमियों और चतुर्दशियों को उपवास करना। (6) **उपभोग-प्रतिभोग परिणाम**—दैनिक उपभोग की वस्तुओं और पदार्थों को नियमित करना। (7) **अतिथि-संविभाग**—घर आये साधु या उपासक को भोजन कराने के बाद भोजन करना। जैन धर्म के गृहस्थ अनुयायियों के लिए इन शील व्रतों का पालन करना आवश्यक था।

पाँच समिति—जैन धर्म के अनुसार मनुष्य को अपने दैनिक जीवन में पाँच बातों की सतर्कता बरतनी चाहिए—(1) **ईर्या समिति**—चलते-फिरते समय सावधानी रखना ताकि किसी जीव को कष्ट न पहुँचे। (2) **भाषा समिति**—सावधानी से बोलना ताकि किसी मानव को ठेस न पहुँचे। (3) **एषणा समिति**—खाना खाते समय सावधानी बरतना ताकि कोई जीवल मर न जाय। (4) **आदान निक्षेप समिति**—वस्तुओं को उठाते, रखते और प्रयोग करते समय सावधानी रखना जिससे दूसरे को कष्ट न हो। (5) **उत्सर्ग समिति**—लघुशंका और दीर्घशंका से निपटते समय सावधानी रखना तथा गन्दगी न फैलाना। इन बातों का दैनिक जीवन में प्रयोग करने पर बहुत जोर दिया गया है। वस्तुतः ये सभी बातें अहिंसा से ही सम्बन्धित हैं।

अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद—*जैन धर्म का जो दर्शन है उसके अनुसार वस्तु के* अनन्त स्वरूप हैं। केवल ज्ञानी अथवा जीवनमुक्त या अर्हत् ही उन स्वरूपों की अनन्तता को जानते हैं। शेष लोग तो उसके कुछ स्वरूपों को ही जानते हैं। ज्ञान की यह विभिन्नता सात प्रकार की हो सकती है—(1) है, (2) नहीं है, (3) है और नहीं है, (4) कहा नहीं जा सकता है, (5) है, किन्तु कहा नहीं जा सकता, (6) नहीं है और कहा नहीं जा सकता, (7) है और नहीं है, किन्तु कहा नहीं जा सकता। जैन धर्म में इसे अनेकान्तवाद, स्याद्वाद अथवा सप्त भंगी का सिद्धान्त कहते हैं। यह भी हो सकता है कि एक व्यक्ति किसी एक स्वरूप को जाने हुए हो और दूसरा किसी और स्वरूप को। और फिर यह भी सम्भव है कि वक्ता जाने हुए स्वरूप को भी आवश्यकतानुसार अंशमात्र ही कहे। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के इस प्रकार के कथन परस्पर-विरोधी प्रतीत हो सकते हैं जबकि वे अपनी-अपनी दृष्टि से ठीक हैं। यदि मनुष्य तटस्थ भाव से उसी वस्तु का दर्शन करता है और जैसी वह उसे दिखाई देती है, वह वैसी ही उसे बताता है—तो वह बताना सत्य ही कहा जायेगा, असत्य नहीं। समझ और विवेक के परिणाम की भिन्नता के कारण स्वरूप को समझने में कल्पना की अधिकता तो रहेगी ही अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद इसी दृष्टि को जगाता है। वस्तु के अनेक स्वरूपों को जानने के लिए आविष्ट बुद्धि नहीं अपितु निर्मल बुद्धि चाहिए। यदि बुद्धि

निर्मल है तो विविधता चाहे भाव की हो, विचार या कर्म की हो, वह विचित्र न लग कर स्वाभाविक लगेगी। स्याद्वादी वही हो सकता है जो निर्मल अन्तःकरण वाला है, प्रशान्त है और जिसकी संवेदना सूक्ष्म को ग्रहण करती है। इस प्रकार, वस्तु तत्त्व को समझने-समझाने में जैन दर्शन अनेकान्तवाद की सहायता लेता है।

तपस्या और उपवास—महावीर ने आत्मा को वश में करने तथा पाँच आचरणों का पालन करने के प्रयत्न में तपस्या और उपवास पर सबसे अधिक बल दिया। उन्होंने दो प्रकार की तपस्या बतलाई—एक बाह्य तथा दूसरी आन्तरिक। बाह्य तपस्या में व्रत, अन्न त्याग, भिक्षाचार्य तथा कष्ट सहन करना मुख्य हैं। आन्तरिक तपस्या में नम्रता, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान तथा शरीर त्याग सम्मिलित हैं। बाह्य तपस्या करने से व्यक्ति में आन्तरिक तपस्या करने की क्षमता आती है और उससे आदमी में अच्छे विचारों का विकास होता है। महावीर स्वामी ने तपस्या का सबसे सरल उपाय उपवास बताया है। इससे शरीर एवं आत्मा शुद्ध होती है और मनुष्य मोक्ष प्राप्त करता है।

उपर्युक्त बातों के अलावा महावीर स्वामी ने उस युग में प्रचलित धार्मिक और सामाजिक बुराइयों के सम्बन्ध में कई बातें बताई थीं, जो इस प्रकार हैं—

(1) वेदों को मान्यता नहीं—महावीर स्वामी ने सैद्धान्तिक दृष्टि से ब्राह्मण धर्म के वेदवाद, यज्ञवाद और कर्मकाण्ड का विरोध किया। उनका कहना था कि यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं कि वैदिक प्रज्ञान ही एकमात्र पूर्ण और निर्विवाद है। अतः महावीर स्वामी ने वेद-प्रामाण्य को अस्वीकृत कर दिया। उनके अनुसार वेद ईश्वरीय कृति न होकर मानव कृति थे। इसलिए उन्होंने वैदिक यज्ञों तथा कर्मकाण्डों का घोर विरोध किया तथा जीवन में नैतिकता और अच्छे नियमों के पालन पर जोर दिया। परम अहिंसावादी होने के कारण भी महावीर स्वामी हिंसक यज्ञों को स्वीकार नहीं कर सकते थे। उनके अनुसार यज्ञ तथा कर्मकाण्ड बाह्य एवं यांत्रिक थे और उनसे मनुष्य की अन्तःशुद्धि सम्भव न थी।

(2) ईश्वर सम्बन्धी विचार—जैन धर्म का ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास था या नहीं, इस विषय पर विद्वानों में काफी समय तक मतभेद बना रहा। परन्तु अब यह निश्चित हो गया है कि जैन धर्म ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता। वह ईश्वर को इस सृष्टि का निर्माता नहीं मानता। उसके अनुसार संसार वास्तविक है और इसका कभी भी मूलतः विनाश नहीं होता। संसार 6 द्रव्यों का समुदाय है। ये द्रव्य हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। ये सभी द्रव्य शाश्वत हैं, नित्य हैं और अनश्वर हैं। अतः यह सृष्टि भी अनादि और अनन्त है। उपर्युक्त द्रव्यों में जो उत्पाद-व्यय होता है, इनका जो संगठन-विघटन होता है, उसी के कारण इनसे निर्मित पदार्थों का रूप-परिवर्तन होता जा रहता है। इसमें ईश्वर की सहायता अथवा हस्तक्षेप की जरूरत नहीं पड़ती। महावीर स्वामी का विचार था कि मनुष्य की आत्मा में जो कुछ महान् है और शक्ति और नैतिकता है, वही भगवान् है।

(3) आत्मवाद—ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास न रखते हुए भी जैन धर्म में अनात्मवादी नहीं है। महावीर स्वामी आत्मा की अमरता में विश्वास करते थे। उनके अनुसार प्रकृति में परिवर्तन हो सकते हैं। किन्तु आत्मा अजर-अमर है और सदैव एक-सी बनी रहती है। वे जीव को ही आत्मा मानते हैं और उनके अनुसार जीव केवल मनुष्य, पशु और वनस्पति में ही नहीं है, बल्कि विश्व के कण-कण में पाया जाता है। इसी आत्मा को

ईश्वर मनुष्य कह सकते हैं। इसी तथ्य के आधार पर डॉ. राधाकृष्णन् ने कहा है कि, "ईश्वर मनुष्य की आत्मा में अन्तर्निहित शक्तियों का उच्चतम, श्रेष्ठतम और पूर्णतम व्यक्तीकरण मात्र है।"

(4) पुनर्जन्म और कर्मवाद—जैन धर्म ईश्वर में विश्वास नहीं करता। वह मनुष्य को स्वयं अपना भाग्य विधाता मानता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उन्नति-अवनति स्वयं उसके कर्मों पर निर्भर करती है। इस दृष्टि से जैन धर्म कर्म की प्रधानता को स्वीकार करता है। उसका विश्वास है कि पूर्वजन्म के कर्मों से ही इस बात का निर्णय होता है कि किस वंश में हमारा जन्म होगा और कैसा हमारा शरीर होगा। क्योंकि अपने सांसारिक एवं आध्यात्मिक जीवन में मनुष्य जो भी कर्म करता है उसके लिए वह स्वयं उत्तरदायी है। मनुष्य के समस्त सुख-दुःख का कारण उसके अपने कर्म ही हैं। मनुष्य के कर्मों के कारण पैदा होने वाली सांसारिक वासना के बन्धनों से आत्मा का बार-बार आवागमन होता रहता है और जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है। किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना जीव का छुटकारा नहीं हो सकता। इस प्रकार, कर्म ही पुनर्जन्म का कारण है। इसलिए महावीर स्वामी का कथन था कि यदि वासनाओं पर विजय प्राप्त कर ली जाय तो कर्मों के बन्धन नष्ट हो सकेंगे और कर्म-फल से विमुक्ति ही निर्वाण-प्राप्ति का साधन है। उनका उपदेश था, "मनुष्य अपने पूर्वजन्म के कर्म-फल का नाश करे और इस जन्म में किसी प्रकार का कर्म-फल संगृहीत करे।" ऐसा करने से मनुष्य को जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति मिल जायेगी।

(5) सामाजिक समानता—जैन धर्म मुख्यतः सामाजिक समानता के सिद्धान्त पर आधारित था। महावीर ने ब्राह्मणों की वर्ण-व्यवस्था का घोर विरोध किया था और बिना किसी भेदभाव के अपने धर्म का द्वार सभी वर्णों के लिए खोल दिया था। उनकी मान्यता थी कि सभी देहधारियों की आत्मा एक-सी है। मोक्ष प्राप्ति के लिए किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जा सकता है। इसका मुख्य आधार यह था कि चूँकि निर्वाण पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त था, और पुरुषार्थ कोई भी व्यक्ति कर सकता था, इसलिए भेदभाव की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि महावीर स्वामी के बाद उनके अनुयायी उनके इस सिद्धान्त को पूर्णतः व्यवहार में न लागू कर सके और उनमें जाति-भेद के संस्कार विद्यमान रहे। यही कारण है कि जैन धर्म शूद्रों को न अपना सका।

(6) नारी स्वातन्त्र्य—पार्श्वनाथ ने नारियों को भी निर्वाण-प्राप्ति की अधिकारिणी माना था। महावीर स्वामी ने भी उनके विचार का अनुसरण किया। उन्होंने भी अपने धर्म तथा संघ के द्वार स्त्रियों के लिए खोल दिये थे। परिणामस्वरूप अनेक स्त्रियों ने भी जैन धर्म की दीक्षा ली। पुरुषों की भाँति स्त्रियों के भी दो वर्ग थे—एक श्रमणियों का और दूसरा श्राविकाओं का। जैन साहित्य में बहुत-सी श्रमणियों का उल्लेख मिलता है।

जैन धर्म में विभाजन

महावीर स्वामी के जीवनकाल में ही जैन धर्म में दरार पैदा हो गयी थी। स्वयं उन्हीं के दामाद जमालि क्षत्रिय का महावीर स्वामी के साथ "क्रियमाणकृत" के सिद्धान्त पर मतभेद हो गया और वह जैनसंघ से अलग हो गया। महावीर स्वामी की पुत्री "प्रियदर्शना" भी लगभग 1000 भिक्षुणियों के साथ जैनसंघ से पृथक् हो गई। परन्तु कालान्तर में वह

अपनी समस्त अनुयायिनियों के साथ संघ में वापस लौट आई थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस घटना से जैन धर्म के प्रचार पर थोड़ा-बहुत प्रतिकूल प्रभाव तो अवश्य पड़ा होगा। महावीर स्वामी के बाद जैन यतियों में धीरे-धीरे आचार सम्बन्धी परिवर्तन होने लगे। तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए जैन संघ के प्रधान नेता संघभद्र ने जैनाचार में कुछ संशोधन किये। प्राचीन जैन साधु नग्न रहते थे परन्तु अब कुछ साधु वस्त्र धारण करने लगे। इस प्रकार, जैन धर्म की दो शाखाओं—दिगम्बर और श्वेताम्बर का आरम्भ हुआ। दोनों के मौलिक सिद्धान्तों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि दिगम्बर सम्प्रदाय कट्टरपन्थी जैनियों का सम्प्रदाय है और ये लोग जैन धर्म के नियमों का पालन कठोरता से करते हैं। उनके मतानुसार जैन साधु को सब-कुछ त्याग देना चाहिए। वस्त्र भी धारण नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत श्वेताम्बर सम्प्रदाय में नियमों की कठोरता कम कर दी गई है और मानवीय दुर्बलता को पूर्णतः ध्यान से ओझल नहीं किया गया है। इस सम्प्रदाय के साधु वस्त्र धारण करते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय स्त्रियों को इसी जीवन में निर्वाण प्राप्त करने की अधिकारिणी नहीं मानता, जबकि श्वेताम्बर वाले उनको अधिकारिणी मानते हैं। दिगम्बर मत का विश्वास है कि 'केवल ज्ञान' की प्राप्ति के बाद व्यक्ति को आहार की आवश्यकता नहीं रहती अर्थात् वह निराहार रह सकता है। परन्तु श्वेताम्बर वालों का मत है कि इस ज्ञान की प्राप्ति के बाद भी व्यक्ति को भोजन की आवश्यकता रहती है। दोनों सम्प्रदायों में भिन्नता का एक विषय महावीर स्वामी का पारिवारिक जीवन भी है। श्वेताम्बर मत की मान्यता है कि भगवान महावीर ने यशोदा के साथ विवाह किया था और उनके "प्रियदर्शना" नामक एक पुत्री भी हुई थी। परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय उनके विवाह और पुत्री का जन्म—दोनों में विश्वास नहीं रखता। उसके मतानुसार महावीर स्वामी ने विवाह किया ही नहीं था। दोनों के मध्य अन्तर का एक कारण 19वें तीर्थंकर मल्लिनाथ भी हैं। श्वेताम्बर मत के अनुसार वे स्त्री थे जबकि दिगम्बर वाले उन्हें पुरुष मानते हैं। कालान्तर में इन दो शाखाओं के अन्तर्गत भी तेरापन्थी, मन्दिर मार्गी, स्थानकवासी आदि अन्य उपशाखाओं का विकास हुआ और जैन धर्म भी अनेक मत-मतान्तरों में विभाजित हो गया।

जैन धर्म का प्रचार व प्रसार—महावीर स्वामी के प्रयत्नों से प्रारम्भ में जैन धर्म का प्रचार बड़े उत्साह से हुआ। इसका मुख्य कारण स्वयं महावीर स्वामी का इसके प्रचार-प्रसार में भाग लेना था, वे स्वयं वर्ष के आठ माह तक स्थान-स्थान पर घूम-घूम कर अपने मत का प्रचार करते थे तथा वर्षा ऋतु के चार मास किसी एक स्थान पर बिताते थे। महावीर स्वामी ने जनता की बोलचाल की भाषा "पालि" में अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया जिससे लोगों को सरलता के साथ उनके विचार समझ में आने लगे और जनता उन्हें अंगीकार करने लगी। इसके अतिरिक्त अन्य लोक-सभाओं में जैन धर्म के साहित्य की रचना ने भी इसे लोकप्रिय बनाने में सहयोग दिया। इस धर्म के शीघ्र प्रसार का एक महत्त्वपूर्ण कारण सामाजिक समानता की भावना थी। महावीर ने अपने धर्म का द्वार सभी जातियों के लिए समान रूप से खोल रखा था। ऐसी स्थिति में कठोर वैदिक व्यवस्था में निम्न समझे जाने वाले लोगों ने शीघ्र ही उनके विचारों को अपना लिया। जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में महावीर स्वामी द्वारा संस्थापित जैन-संघों ने भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। जैन-मतावलम्बी इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, भद्रबाहु, जिनसेन, गुणभद्र, हेमचन्द्र आदि अनेक विद्वानों ने इस धर्म पर विविध ग्रन्थों की रचना कर इसके प्रचार-प्रसार में योग दिया। महावीर स्वामी राजवंशीय थे और तत्कालीन भारत में कई राजवंशों के साथ उनके पारिवारिक सम्बन्ध थे। उनकी सफलता ब्राह्मणों के विरुद्ध क्षत्रियों की सफलता थी। इस भावना से प्रेरित कई राजवंशों से भी अपूर्व सहयोग मिला। महावीर स्वामी ने समकालीन मगध के राजाओं—बिम्बिसार, अजातशत्रु और

उसके उत्तराधिकारी उदायीभद्र ने इस धर्म को संरक्षण प्रदान किया था। अवन्ती, वत्स, अंग, चम्पा, सिन्धु-सौबीर आदि राज्यों के शासकों ने भी इसे स्वीकार कर इसके प्रसार में राजकीय सहयोग दिया। अपने अन्तिम दिनों में मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त भी इस धर्म का अनुयायी बन गया था और उसके प्रपौत्र सम्प्रति ने दक्षिण भारत में जैन धर्म को फैलाने में सहयोग दिया। इसी प्रकार, गुजरात के सोलंकी राजा कुमार कलिंग के राजा खारवेल तथा दक्षिण भारत के गंग, कदम्ब, चालुक्य एवं राष्ट्रकूट नरेशों में से बहुतों ने इस धर्म को आश्रय प्रदान कर इसके विकास में योग दिया।

इस प्रकार, जैन धर्म ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने के समय तक लगभग सम्पूर्ण भारत में फैल गया था। लेकिन जैन धर्म का प्रचार-प्रसार बौद्ध धर्म की भाँति नहीं हो पाया और समय-समय पर इसका विकास अवरुद्ध होता रहा। फिर भी, इतना अवश्य है कि जैन धर्म भारत में स्थायित्व प्राप्त करने में सफल रहा। राजपूतकाल में इसका आंशिक रूप में पुनरुत्थान हुआ और भारत से जैन धर्म पूर्णतया विलुप्त नहीं हुआ। आज भी भारत में इस धर्म की विचारधारा विद्यमान है और मुख्यतः राजस्थान, मध्य प्रदेश, गुजरात आदि में इसके लाखों अनुयायी हैं।

जैन धर्म के व्यापक न होने के कारण—बौद्ध धर्म की तुलना में जैन धर्म अपने जन्म और विकास के प्रारम्भिक काल में अधिक व्यापक नहीं हो पाया। इसका मुख्य कारण इस धर्म में दार्शनिक पक्ष की प्रधानता और इसके आचरण सम्बन्धी नियमों की कठोरता थी। अहिंसा, नग्नता, केशलुंचन, आमरण अनशन तथा काया क्लेश के अन्य सिद्धान्त सामान्य जनता के लिए कभी व्यावहारिक नहीं हो सकते थे। दूसरा कारण, जैन धर्म में जाति-प्रथा का पुनः प्रवेश था। महावीर स्वामी ने जाति-प्रथा का विरोध किया था। परन्तु उनके अनुयायी उनके इस सिद्धान्त को हृदय से नहीं अपना पाये और संघ-प्रवेश के लिए उच्च जातीय लोगों को ही प्राथमिकता दी जाती रही। इससे जैन धर्म की नवीनता नष्ट हो गयी और निम्न जातियों में यह धर्म अलोकप्रिय हो गया। एक अन्य कारण यह रहा कि ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध जैन धर्म अधिक काल तक अपनी पूर्ण पृथक् सत्ता को कायम न रख सका। समय के साथ-साथ जैन धर्म में ब्राह्मण धर्म की अनेक बातें घुस गईं। ब्राह्मण धर्म की जाति-व्यवस्था, उसके धार्मिक तथा सामाजिक संस्कार, उसका भक्तिवाद और उसके देवी-देवता भी जैन धर्म में प्रवेश पा गये। एक अन्य कारण जैन-संघ के संगठन का जनतन्त्रात्मक न होना था। जैन-संघों की शक्ति प्रारम्भ से ही धर्माचार्य अथवा गणधरों के हाथों में केन्द्रित रही थी, जैन संघों में प्रगतिशील वैधानिक व्यवस्था का अभाव था। एक अन्य कारण, जैन धर्म में प्रतिभाशाली लग्नशील विद्वानों की कमी का होना था। ऐसे विद्वान् जो अपने विरोधी मतों का खण्डन करके अपने धर्म की प्रतिष्ठा स्थापित कर पाते। परिणामस्वरूप वह अन्य धर्मों की दौड़ में बहुत पीछे रह गया। भारत के कुछ शासकों ने जैन धर्म को आश्रय अवश्य दिया परन्तु जैन धर्म को अशोक, कनिष्क तथा हर्ष जैसा आश्रयदाता न मिला जो उसे देशव्यापी बना देता। अन्य धर्मों की प्रतिद्वन्द्विता के कारण भी जैन धर्म की उन्नति को काफी धक्का लगा। बौद्ध धर्म उसका मुख्य प्रतिद्वन्द्वी था। इसके अलावा हिन्दू धर्म की शैव एवं वैष्णव शाखाओं के उत्थान ने भी जैन धर्म की प्रगति को अवरुद्ध कर दिया। जैन धर्म में व्यापक आन्तरिक मतभेद ने भी इसके विकास की गति को अवरुद्ध कर दिया। उपर्युक्त सभी कारणों के सामूहिक परिणामस्वरूप जैन धर्म व्यापक नहीं बन पाया।

जैन धर्मग्रन्थ—विषय की दृष्टि से सम्पूर्ण जैन साहित्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(1) आगम साहित्य, और (2) आगमेतर साहित्य। आगम साहित्य के

भी दो भाग हैं—एक अर्थागम और दूसरा सूत्रागम। तीर्थंकर भगवान् द्वारा उपदिष्ट वाणी अर्थागम है। तीर्थंकरों के प्रवचन के आधार पर गणधरों द्वारा रचित साहित्य सूत्रागम है। ये आगमज्ञान के अक्षय भण्डार होने के कारण "गणिपिटक" तथा संख्या में बारह होने से "द्वादशांगी" नाम से भी पुकारे जाते हैं। आचरंग सूत्र में जैन भिक्षुओं के आचरण सम्बन्धी नियम दिये गये हैं। भगवती सूत्र में महावीर स्वामी के माध्यम से जैन धर्म के सिद्धान्तों की विवेचना की गई है। ऐसे सूत्रों में आचार्य भद्रबाहु द्वारा रचित "कल्पसूत्र" बहुत प्रसिद्ध है। जैन धर्म का मूल साहित्य प्राकृत में है, विशेष रूप से वह मागधी भाषा में लिखा गया है। जैन विद्वानों ने कन्नड़, तमिल और तेलगू भाषाओं में भी अनेक ग्रन्थ लिखे। महावीर स्वामी के बाद जैन विद्वानों ने संस्कृत भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की।

जैन धर्म की भारतीय संस्कृति को देन

यद्यपि जैन धर्म का प्रचार-प्रसार अधिक नहीं हो पाया, फिर भी इस धर्म ने भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के विभिन्न पक्षों को बहुत प्रभावित किया और भारतीय दर्शन, साहित्य तथा कला के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। संक्षेप में जैन धर्म की भारतीय संस्कृति को देन निम्न प्रकार से हैं—

दार्शनिक क्षेत्र में—जैन विचारधारा ने ज्ञान-सिद्धान्त, स्याद्वाद और अहिंसा आदि के विचारों को पनपाकर भारतीय दार्शनिक चिन्तन को अधिक तटस्थ और गौरवपूर्ण बनाने में योगदान दिया। ज्ञान-सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक जीव की आत्मा पूर्ण ज्ञानयुक्त है और सांसारिकता का पर्दा उसके ज्ञान प्रकाश को प्रकट नहीं होने देता। अतः प्राणिमात्र को इस पर्दे को हटाकर ज्ञान को समझना चाहिए। ऐसा करने पर वह "निग्रन्थ" हो जाता है। विचार-समन्वय के लिए अनेकान्त दर्शन की देन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भगवान् महावीर ने इस दर्शन की मूल भावना का विश्लेषण करते हुए सांसारिक प्राणियों को बोध दिया—"किसी बात को, सिद्धान्त को एक तरफ से मत देखो। एक ही तरह उस पर विचार मत करो। तुम जो कहते तो वह सच होगा, पर दूसरे जो कहते हैं, वह भी सच हो सकता है। इसलिए सुनते ही भड़को मत। वक्ता के दृष्टिकोण से विचार करो।" आज संसार में जो तनाव और द्वन्द्व है, वह दूसरों के दृष्टिकोण को न समझने के कारण है। संस्कृति के रक्षण और प्रसार में जैन धर्म की यह देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सत्य और अहिंसा का पाठ पढ़ा कर जैन धर्म ने भारतीय जीवन में नवीन चेतना को बढ़ाया दिया; जिसका सहारा महात्मा बुद्ध और आगे के कई महात्माओं तथा महात्मा गाँधी ने भी लिया। अहिंसा आज भारत देश की आन्तरिक एवं बाह्य नीतियों का प्रमुख अंग बनी हुई है। यह मूलतः जैन-दर्शन की ही देन है।

साहित्य के क्षेत्र में—भाषा और साहित्य के क्षेत्र में भी जैन धर्म ने सांस्कृतिक समन्वय को प्रोत्साहन दिया। जैनाचार्यो ने संस्कृत को ही नहीं अपितु अन्य सभी प्रचलित लोक भाषाओं को अपनाकर उन्हें समुचित सम्मान दिया। जहाँ-जहाँ भी वे गये; वहाँ-वहाँ की भाषाओं को चाहे वे आर्य परिवार की हों, चाहे द्रविड़ परिवार की—अपने उपदेश और साहित्य का माध्यम बनाया। इसी उदार प्रवृत्ति के कारण मध्ययुगीन विभिन्न जन'.प्री भाषाओं के मूल रूप सुरक्षित रह सके हैं। आज जब भाषा के नाम पर भारी विवाद और मतभेद हैं; तब ऐसे समय में जैन धर्म की यह उदार दृष्टि अभिनन्दनीय ही नहीं अनुकरणीय भी है और इससे हम अपनी सांस्कृतिक एकता को कायम रखने में अधिक सफल होंगे।

संस्कृत और प्राकृत भाषा साहित्य को जैन लेखकों ने बहुत समृद्ध किया और समस्त भारतीय पौराणिक सामग्री को अपनी मान्यताओं के साथ समन्वित किया। इससे भारत के आध्यात्मिक चिन्तन को सर्वसाधारण तक पहुँचाने में बड़ी सहायता मिली। विमल सूरी ने

प्राकृत भाषा में "षडमचरिय" (पद्मचरित) लिखकर राम-कथा को जैन रूप दिया। सातवीं सदी में रविषेण ने "पद्मपुराण" की रचना की और स्वयम्भू ने अपभ्रंश में "षडमचरिउ" लिखा। आठवीं सदी में जिनसेन द्वितीय ने "हरिवंश पुराण" की रचना की जो महाभारत और हरिवंश का जैन रूपान्तर था। तेरहवीं सदी में देवप्रभ ने "पाण्डव चरित" लिखा। सोलहवीं सदी में शुभचन्द्र ने "पाण्डव पुराण" की रचना की। कथा साहित्य के विकास में तो जैन लेखकों ने कमाल कर दिया। पादलिप्त ने "तरंगवती" की रचना की। चौदहवीं सदी में इसी रचना के आधार पर "तरंगलीला" बनी। आठवीं सदी में हरिभद्र ने "समरादित्य कथा", दसवीं सदी में सिद्धर्षि ने "उपभीति प्रपंच कथा", चौदहवीं सदी में धर्मचन्द्र ने "मलय सुन्दरी कथा" और बाद में बुद्धि विजय ने "पद्मावती कथा" की रचना की। नाटक और गीत काव्य के क्षेत्र में भी जैन लेखकों की बड़ी देन है। उनके लिखे "हमीर-मद मर्दन", "मोहराज पराजय" और "परबुद्ध-रौहिणेय" बहुत अच्छे नाटक हैं। नीति, दर्शन और व्याकरण, ज्योतिष तथा चिकित्सा पर भी अनेक ग्रन्थों की रचना की गयी। जैन ग्रन्थों की एक उपयोगिता इस बात में भी निहित है कि वे प्राचीन भारतीय इतिहास की जानकारी के महत्त्वपूर्ण साधन भी हैं।

कला के क्षेत्र में—जैन धर्म की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन कलात्मक-स्मारक, मूर्तियाँ, मन्दिर, मठ और गुफाओं के रूप में आज भी सुरक्षित हैं। उड़ीसा के पुरी जिले में उदयगिरी और खण्डगिरी में 35 जैन गुफाएँ मिली हैं। एलोरा में भी कई जैन गुफाएँ हैं। इन गुफाओं में जैन धर्म से सम्बन्धित मूर्तियों की कला देखते ही बनती है। मध्य भारत में खुजराहो में कई मन्दिर 10वीं तथा 11वीं शताब्दी के बने हुए हैं। राजस्थान में आबूपर्वत पर प्रसिद्ध देलवाड़ा के जैन मन्दिर हैं जो संगमरमर के बने हुए हैं। इन मन्दिरों में मूर्ति कला के अलावा बेल-बूटों, तोरण-द्वारों, नक्काशी आदि का काम मन को मुग्ध कर देता है। कटियावाड़ की गिरनार और पालीताना पहाड़ियों पर, राजस्थान में रणकपुर नामक स्थान पर, बिहार में पारसनाथ और मैसूर में श्रवण-बेलगोला पर जैन मन्दिर के बड़े समूह बने हुए हैं। शत्रुंजय पहाड़ी पर 500 जैन मन्दिर हैं। यहाँ जैन तीर्थंकरों की चतुर्मुखी मूर्तियाँ भी हैं। श्रवण-वेलगोला से प्राप्त गोमतेश्वर की प्रतिमा दर्शकों को आश्चर्यचकित कर देती है। यह प्रतिमा 60 फीट ऊँची है और एक पर्वत-शिखर पर स्थित है। जैन धर्म की यह कलाकृतियाँ समकालीन भारतीय कला पर पर्याप्त प्रकाश डालती हैं।

अन्य क्षेत्रों में योगदान—जैन धर्म ने तत्कालीन सांस्कृतिक विषमता के विरुद्ध अपनी आवाज बुलन्द की थी। उसने ब्राह्मण धर्म की वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया और उसमें व्याप्त कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया। जैन धर्म ने जन्म के आधार पर उच्चता और नीचता का निर्णय करने वाले पण्डितों को करारा जवाब दिया। कर्म के आधार पर ही व्यक्तित्व की पहचान पर जोर दिया। अपमानित और अचल सम्पत्तिवत् मानी जाने वाली नारी के प्रति आत्मसम्मान और गौरव की भावना को पुनः जागृत किया। उसे धर्म-ग्रन्थों को पढ़ने का ही अधिकार नहीं दिया अपितु मोक्ष की उत्तराधिकारिणी भी माना। इस प्रकार जैन धर्म ने सामाजिक समानता को पुनः प्रतिष्ठित किया।

जैन धर्म ने सांस्कृतिक समन्वय और एकता की भावना को भी सफल बनाया। विचार-समन्वय के लिए अनेकान्त दर्शन की देन दी। अचार-समन्वय की दिशा में मुनि-धर्म और गृहस्थ-धर्म की व्यवस्था दी। इस प्रकार, प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गों का समन्वय किया गया। जैन धर्म में सम्प्रदायवाद, जातिवाद, प्रान्तीयतावाद, भाषावाद आदि सभी मतभेदों को त्यागकर राष्ट्र-देवता को बड़ी उदार और आदर की दृष्टि से देखा है। उसने भारत के

किसी एक भाग विशेष को ही अपनी श्रद्धा का, साधना का और चिन्तन का केन्द्र नहीं बनाया। वह सम्पूर्ण राष्ट्र को अपना मानकर चला। जैन धर्म अपनी समन्वय भावना के कारण ही सगुण और निर्गुण भक्ति के विवाद में नहीं पड़ा। प्राचीन साहित्य के संरक्षण में भी जैन धर्म की विशेष भूमिका रही है। जैन साधुओं ने जीर्ण-शीर्ण एवं दुर्लभ ग्रन्थों का प्रतिलेखन कर उनकी रक्षा की और स्थान-स्थान पर ग्रन्थ भण्डारों की स्थापना कर, इस अमूल्य निधि को सुरक्षित रखा। यह ज्ञान भण्डार इस दृष्टि से राष्ट्र की अमूल्य निधि है।

सामान्यतः यह कहा जाता है कि जैन धर्म ने संसार को दुःखमूलक बताकर निराशा की भावना फैलाई है, जीवन में संयम और विराग की अधिकता पर बल देकर उसकी अनुराग भावना और कला-प्रेम को कुण्ठित किया है। परन्तु इस प्रकार के विचार भ्रान्तिमूलक हैं। जैन धर्म ने यह सब-कुछ किसलिए किया ? अखण्ड आनन्द की प्राप्ति के लिए, शाश्वत सुख की उपलब्धि के लिए। उसमें तो मानव को महात्मा बनाने की, आत्मा को परमात्मा बनाने की आस्था का बीज छुपा हुआ है। उसी ने दैववाद के नाम पर अपने को असहाय और निर्बल समझी जाने वाली जनता को आत्मजागृति का सन्देह दिया था। उसी ने मानव हृदय में छिपे पुरुषार्थ को जगाया और मनुष्य को अपने भाग्य का विधाता बनाया। जैन धर्म की यह विचारधारा युगों बाद आज भी बुद्धिजीवियों की धरोहर बनी हुई है तथा संस्कृति को वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान कर रही हैं।

आधुनिक भारत के नवनिर्माण की सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और आर्थिक प्रवृत्तियों में जैन धर्मावलम्बियों की भूमिका भी महत्त्वपूर्ण रही है। अहिंसा, सत्याग्रह, भूमिदान, सम्पत्तिदान, भूमि सीमाबन्दी, आयकर प्रणाली, धर्मनिरपेक्षता जैसे सिद्धान्तों और कार्यक्रमों में जैन-दर्शन की भावधारा न्यूनाधिक रूप से प्रेरक कारण रही है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग पाँच पृष्ठों में दीजिए—

1. छठी शताब्दी ई.पू. में भारत में सामाजिक एवं धार्मिक जागरण के मुख्य कारणों का उल्लेख कीजिए।
2. महावीर स्वामी की संक्षिप्त जीवनी एवं उनकी शिक्षाओं का वर्णन कीजिए।
3. जैन धर्म भारत में अधिक लोकप्रिय क्यों नहीं हो सका ? हिन्दू और जैन धर्म में क्या समानता पाई जाती है?
4. भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास में जैन धर्म के योगदान की विवेचना कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए—

1. पार्श्वनाथ कौन थे ? उनकी मुख्य शिक्षाओं का उल्लेख कीजिए।
2. जैन धर्म में 'जीव' और 'अजीव' का महत्त्व समझाइये।
3. 'त्रिरत्न' क्या है ? संक्षेप में व्याख्या कीजिए।
4. अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद को समझाइये।
5. जैन धर्म में विभाजन क्यों हुआ? दिगम्बर शाखा की विशेषताएँ बताइये।

अध्याय-4

बौद्ध धर्म

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में भारत के वृहत् धर्म-वृक्ष से एक दूसरी सुन्दर शाखा भी इसी काल में प्रस्फुटित हुई, जो बौद्ध धर्म के नाम से प्रख्यात है। इसके सम्बन्ध में भी हमें वही बात दुहरानी पड़ती है जो हम पहले जैन धर्म के बारे में कह चुके हैं। वह यह कि महात्मा गौतम बुद्ध की शिक्षाओं को एक नये धर्म की संज्ञा देना भूल होगी। इस कथन की पुष्टि भी उन्हीं उक्तियों द्वारा होती है, जो पहले दी जा चुकी है। जैसे जैन मत के आचार्यों ने वैदिक धर्म के अनेक आधारभूत सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों अपना लिया, वैसे ही महात्मा बुद्ध ने किया। *'कर्म'* और *'आवागमन'* के सिद्धान्त बौद्ध मत के वैसे ही अंग हैं, जैसे वैदिक धर्म के। महात्मा बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्था का इसके अतिरिक्त कोई विरोध नहीं किया कि कर्म ही वर्ण का आधार है, न कि जन्म। उस समय भी वैदिक परम्परा इस उक्ति से अनभिज्ञ न थी और न आज ही है। अन्य सामाजिक रीतियों और परम्पराओं—जैसे विविध गृह-संस्कारादि का विरोध महात्मा बुद्ध ने या उनके अनुयायियों ने कभी नहीं किया। हाँ, जैनियों के समान महात्मा बुद्ध ने भी वेदों को अपौरुषेय और दैवी ज्ञान का भण्डार नहीं माना। इससे स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध धर्म भी अन्य सम्प्रदायों के समान ही भारतीय धर्म संस्थान की परिधि में उदित हुआ था तथा विदेशी विद्वानों की अनभिज्ञता से तथा कुछ ऐतिहासिक कारणों से यह भ्रम प्रचलित हो गया कि बौद्ध धर्म एक नया धर्म था, जो वैदिक धर्म के विरोध में समकालीन क्षत्रियों द्वारा संस्थापित किया गया था।

महात्मा बुद्ध की जीवनी—बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध का जन्म शाक्य कुल में हुआ था। इसलिए उन्हें 'शाक्य मुनि' भी कहा जाता है। उनके पिता शुद्धोदन शाक्य गणराज्य के प्रधान थे। शाक्यों का गणराज्य उत्तर-पूर्वी सीमा पर हिमालय की तराई में स्थित था तथा कपिलवस्तु इस गणराज्य की राजधानी थी। कपिल वस्तु एवं देवदह के मध्य नेपाल राज्य की तराई में आज के नौतनवा स्टेशन से 8 मील पश्चिम में रुक्मिनदेई नामक स्थान है। वहाँ उस युग में लुम्बिनी नामक वन था। बौद्ध सूत्रों के अनुसार ईसा से 563 वर्ष पूर्व कपिलवस्तु के राजा शुद्धोदन की महारानी मायादेवी अपने पिता के घर आ रही थी कि रास्ते में लुम्बिनी वन में वैशाख मास की पूर्णिमा को उसने एक बालक को जन्म दिया, जिसका नाम सिद्धार्थ रखा गया। सिद्धार्थ के जन्म के एक सप्ताह पश्चात ही उसकी माता का स्वर्गवास हो गया। अतः सिद्धार्थ का पालन-पोषण उसकी मौसी एवं विमाता प्रजापति (गौतमी) ने किया। बाल्यावस्था से ही सिद्धार्थ विचारवान, करुणावान एवं एकान्तप्रिय थे। संसार के लोगों को कष्टों में देखकर उनका हृदय दया से भर जाता था। यद्यपि उनके पिता शुद्धोदन ने उन्हें संसारी बनाने के लिए सभी प्रकार की क्षत्रियोचित शिक्षा-दीक्षा दिलवाई तथा

उन्हें विलासिता की हर प्रकार की सामग्री उपलब्ध कराई, फिर भी सिद्धार्थ का मन इन सांसारिक बातों में नहीं लग सका। वे सदैव इन बातों की ओर उदासीन रहते थे तथा एकान्त में उदास बैठे रहते थे। पुत्र की ऐसी मनोवृत्ति देखकर पिता शुद्धोदन ने सोलह वर्ष की आयु में सिद्धार्थ का विवाह दण्डपाणि की सर्वगुणसम्पन्न एवं रूपलावण्यमयी राजकुमारी यशोधरा के साथ कर दिया। साथ ही अपने पुत्र को सांसारिक प्रवृत्तियों में लगाने के लिए प्रत्येक मौसम के अनुकूल अलग-अलग प्रासाद बनवा दिये तथा प्रत्येक प्रासाद में विभिन्न ऋतुओं के अनुरूप सभी प्रकार के ऐश्वर्य और भोग-विलास की सामग्री भी उपलब्ध करवा दी। शुद्धोदन को आशा थी कि इससे सिद्धार्थ का मन सांसारिक सुखों में लग जायेगा। परन्तु इस वैभव और विलास के बीच भी सिद्धार्थ के मन में जीवन की सुख-दुःख की समस्याओं को लेकर निरन्तर द्वन्द्व चलता रहता था। लगभग 12-13 वर्ष तक सामान्य गृहस्थ जीवन का सुख भोग लेने पर भी सिद्धार्थ का मन सांसारिक प्रवृत्तियों में नहीं लग सका। अपने गृहस्थ जीवन में सिद्धार्थ के 'राहुल' नामक एक पुत्र भी हुआ, फिर भी सिद्धार्थ का वैरागी मन संसार में नहीं लगा। इसी वैराग्य भावना ने उन्हें तृष्णा की जंजीर को तोड़ने, अज्ञान का कोहरा दूर भगाने तथा अपनेपन की मिथ्या मति को मिटाने की प्रेरणा प्रदान की तथा एक रात्रि को अपने पुत्र, पत्नी और पिता तथा सम्पूर्ण राज्य वैभव को त्यागकर वे ज्ञान की खोज में निकल पड़े। उनके जीवन की इस घटना को बौद्ध धर्म एवं साहित्य में 'महाभिनिष्क्रमण' के नाम से पुकारा जाता है।

प्रोफेसर कौशाम्बी के अनुसार सिद्धार्थ के इस प्रकार गृह त्यागने का एक राजनीतिक कारण भी था। शाक्यों के समीप कोलियों का राज्य था। शाक्य व कोलियों के बीच रोहिणी नदी के पानी को लेकर झगड़ा रहता था। इस पारस्परिक झगड़े के कारण सिद्धार्थ बड़े अप्रसन्न रहते थे। जब शुद्धोदन ने कोलियों पर आक्रमण करने का उत्तरदायित्व सिद्धार्थ को सौंपा तो उन्होंने इन्कार कर दिया और यह सोचकर कि कदाचित राज्याज्ञा की अवहेलना करने के कारण उसके पिता उसे राज्य से निष्कासित कर देंगे, सिद्धार्थ ने स्वयं ही गृह त्याग दिया। प्रो. कौशाम्बी द्वारा प्रस्तुत यह कारण उचित एवं तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

उस 'महाभिनिष्क्रमण' की रात्रि में वह अपने घोड़े पर 30 योजन दूर निकल गये और गोरखपुर के समीप अनोमा नदी के तट पर उन्होंने अपने आभूषण तथा राजसी वस्त्र उतार दिये और तलवार से अपना जूड़ा काट कर संन्यास ले लिया। उस समय उनकी आयु 29 वर्ष की थी।

सत्य और ज्ञान की खोज में—संन्यासी हो जाने के बाद बुद्ध तप तथा साधना में लीन हो गये। सबसे पहले वे वैशाली के "आलारकालाम" नामक एक तपस्वी के पास ज्ञानार्जन हेतु गये किन्तु वहाँ उनकी ज्ञान-पिपासा शान्त नहीं हो पाई। इसके बाद वे राजगृह के ही एक अन्य ब्राह्मण "उद्रक रामपुत्त" के पास गये। उपर्युक्त दोनों गुरुओं से सिद्धार्थ ने योग साधना और समाधिस्थ होना सीखा। परन्तु इससे उन्हें सन्तोष नहीं मिला। यहाँ से वे उरूवेला की सुरम्य वनस्थली में आये और तपस्या में लीन हो गये। यहाँ उन्हें कौण्डिन्य आदि पाँच ब्राह्मण साधक संन्यासी भी मिल गये। अपने इन ब्राह्मण साथियों के साथ वे उरूवेला में कठोर तपस्या करने लगे। सिद्धार्थ ने पहले तो तिल और चावल खाकर तप किया परन्तु बाद में उन्होंने आहार का सर्वथा त्याग कर दिया जिससे उनका शरीर सूखकर काँटा बन गया। तप करते-करते सिद्धार्थ को 6 वर्ष बीत गये पर साधना में सफलता न मिली।

ऐसी जनश्रुति है कि एक दिन नगर की कुछ स्त्रियाँ गीत गाती हुई उस ओर से निकलीं जहाँ सिद्धार्थ तपस्यारत थे। उनके कान में स्त्रियों का एक गीत पड़ा, जिसका भावार्थ इस प्रकार था—

"वीणा के तारों को ढीला मत छोड़ा। ढीला छोड़ो देने से उनसे सुरीला स्वर न निकलेगा। परन्तु तारों को इतना कसो भी मत, जिससे वे टूट जायें।"

सिद्धार्थ के हृदय ने गीत के भावों को ग्रहण किया। उन्होंने स्वीकार किया कि नियमित आहार-विहार से ही योग साधना सिद्ध हो सकती है। किसी भी बात की अति करना ठीक नहीं है। वास्तव में मनुष्य को मध्यम मार्ग ही अपनाना चाहिए। अतः उन्होंने आहार करना शुरू कर दिया। गौतम में यह परिवर्तन देखकर उनके पाँचों ब्राह्मण साथी उन्हें पथभ्रष्ट समझकर उनका साथ छोड़कर सारनाथ चले गये। किन्तु इससे गौतम विचलित नहीं हुए और उन्होंने ध्यान लगाने का निश्चय किया। वे वहीं एक पीपल के वृक्ष के नीचे ध्यान की अवस्था में बैठ गये। सात दिन तक ध्यानमग्न रहने के पश्चात् वैसाख पूर्णिमा की रात को जब सिद्धार्थ ध्यान लगाने बैठे तो उन्हें "बोध" (आन्तरिक ज्ञान) हुआ। उन्हें साक्षात् सत्य का दर्शन मिला। तभी से वे "बुद्ध" नाम से विख्यात हुए। उस समय उनकी आयु 35 वर्ष की थी। जिस वृक्ष के नीचे उन्हें बोध प्राप्त हुआ था, उसका नाम "बोधिवृक्ष" पड़ा और जिस स्थान पर यह घटना घटी उसका नाम "बोधगया" हो गया। इस घटना के बाद भी महात्मा बुद्ध चार सप्ताह तक उसी बोधिवृक्ष के नीचे रहे और धर्म के स्वरूप का चिन्तन करते रहे।

ज्ञान का प्रचार—ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् सबसे पहले "बोध गया" में ही बुद्ध ने अपने ज्ञान उपदेश तपस्यु और मल्लिक नामक दो बनजारों को दिया था। इसके बाद बुद्ध अपने ज्ञान एवं विचारों को जनसाधारण तक पहुँचाने के उद्देश्य वहाँ से निकल पड़े और सारनाथ पहुँचे। यहाँ उन्हें वे पाँचों ब्राह्मण साथी मिल गये जो उन्हें छोड़कर चले आये थे। बुद्ध ने उन्हें अपने ज्ञान की, धर्म के रूप में दीक्षा दी। यह घटना बौद्ध धर्म के इतिहास में "धर्म-चक्र-परिवर्तन" के नाम से महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यहाँ से महात्मा बुद्ध काशी गये और वहाँ अपने ज्ञान का प्रचार करने लगे। कुछ ही समय में बुद्ध के शिष्यों की संख्या 60 हो गई। तब उन्होंने एक संघ की स्थापना की जिसकी सहायता से लगभग 45 वर्ष तक बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार किया। उन्होंने भी साधारण बोलचाल की भाषा को अपनाया तथा जाति-पाँति और ऊँच-नीच की भावना से दूर रहते हुए सभी को उपदेश दिया। कोसल के राजा प्रसेनजित तथा मगध के बिम्बिसार और अजातशत्रु, वैशाली की सुप्रसिद्ध गणिका आम्रपाली, स्वयं बुद्ध के पिता शुद्धोदन और पुत्र राहुल ने भी उनके धर्म को स्वीकार कर लिया। अपने प्रिय शिष्य आनन्द के विशेष आग्रह पर उन्होंने स्त्रियों को भी बौद्धधर्म की दीक्षा देना स्वीकार कर दिया। अन्त में 80 वर्ष की आयु में गोरखगुर के समीप कुशीनगर (कुशीनारा) नामक स्थान पर गौतम बुद्ध ने अपना शरीर त्याग दिया। बुद्ध के शरीर त्यागने की घटना को बौद्ध लोग "महापरिनिर्वाण" कहते हैं। उनका अन्तिम उपदेश था—"हे भिक्षुओं, तुम आत्मदीप बनकर विचरो। तुम अपनी ही शरण में जाओ। किसी अन्य का सहारा मत ढूँढ़ो। केवल धर्म को अपना दीपक बनाओ। केवल धर्म की शरण में जाओ।"

बौद्ध धर्म के प्रमुख सिद्धान्त

महात्मा बुद्ध जगत् और जीवन को मान कर चले। वे इस उलझन में नहीं पड़े कि विश्व या मनुष्य अमर है या नश्वर, सीमित है या असीम, जीव और शरीर एक है या अलग। जब किसी ने उनसे इन प्रश्नों का उत्तर देने का आग्रह भी किया तो वे मौन रहे या उन्हें निरर्थक समझकर टालते रहे। उन्होंने जीवन को जैसा भी यह है, वैसा मानकर व्यावहारिक दृष्टि से इसकी समस्या की खोज की। इस दृष्टि से उन्होंने अपने धर्म की इतनी अधिक नैतिक व्याख्या की कि कुछ विद्वानों ने तो यह कहना भी शुरू कर दिया था कि बौद्ध धर्म वास्तव में धर्म नहीं अपितु आचार-शास्त्र है। परन्तु यह मत भ्रान्तिमूलक है। ऐसा कहने वाले विद्वान् ''भारतीय धर्म'' की सम्पूर्ण विशेषताओं से अपरिचित रहे होंगे। मूल बौद्ध धर्म कोई पृथक् दर्शन भी नहीं है, क्योंकि बुद्ध ने सत्ता-सम्बन्धी किसी प्रश्न पर कभी अपना विचार प्रकट नहीं किया। आज जो कुछ भी बौद्ध दर्शन के नाम से विख्यात है, वह महात्मा बुद्ध के बाद का विकास है। बौद्ध धर्म आध्यात्म-शास्त्र (Metaphysics) भी नहीं है, क्योंकि बुद्ध ने सृष्टि सम्बन्धी विषय पर भी कभी अपने विचार प्रकट नहीं किये। उनका धर्म तो व्यावहारिक धर्म था। वह मनुष्य की उन्नति का साधन था। वह जीवन का विषय है और इसी जीवन में ''निर्वाण'' दिलाता है। वह निन्तात बुद्धिवादी है और उसमें अन्धविश्वासों तथा अन्ध परम्पराओं के लिए कोई स्थान नहीं। उनका धर्म किसी यान्त्रिक कर्मकाण्ड, सूक्ष्म दार्शनिकता अथवा पौराणिक अन्ध मान्यता के ऊपर आधारित न था। उसका आधार तो मानव मात्र का कल्याण था। उसके मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार थे—

चार आर्य सत्य—बौद्ध धर्म की आधारशिला है; उसके चार आर्य सत्य। उसके अन्य सभी सिद्धान्तों का विकास इन आर्य-सत्यों के आधार पर ही हुआ है। ये चार आर्य सत्य निम्नलिखित हैं—

1. दुःख—बौद्ध धर्म भी दुःखवाद को लेकर चला। बुद्ध ने सम्पूर्ण मानवता को दुःखी देखा। किसी को किसी बात का दुःख तो किसी को अन्य किसी का दुःख; जन्म भी दुःख; बुढ़ापा भी दुःख; रोग भी दुःख; मृत्यु भी दुःख; धन-विनाश भी दुःख; प्रियजन का वियोग भी दुःख; इच्छित वस्तु का न मिलना भी दुःख। इस प्रकार, चारों ओर दुःख ही दुःख है।

2. दुःख समुदाय—संसार में सर्वत्र दुःख है, यह वास्तविक सत्य है। तब प्रश्न उठता है कि आखिर इन दुःखों का कारण क्या है? महात्मा बुद्ध की दृष्टि में इसका मूल कारण तृष्णा (इच्छा) है। उनका कहना था कि यह तृष्णा पुनर्भव को करने वाली, आसक्ति और राग के साथ चलने वाली और यत्र-तत्र रमण करने वाली है। यह वैसे ही है जैसे कि काम-तृष्णा या भव तृष्णा। परन्तु इस तृष्णा का जन्म कैसे होता है? इसका समाधान करते हुए बुद्ध ने कहा था कि रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श तथा मानसिक वितर्क और विचारों से जब मनुष्य आसक्ति करने लगता है तो तृष्णा का जन्म होता है। अर्थात् दूसरे आर्य सत्य का अर्थ है—दुःख का कोई न कोई कारण (समुदाय) अवश्य होता है।

3. दुःख निरोध—जिस प्रकार, संसार में दुःख है और दुःख के कारण (समुदाय) हैं; उसी प्रकार, दुःख-निरोध (दुःख से छुटकारा) भी सम्भव है। दुःख के मूल कारण तृष्णा के मूलोच्छेदन से दुःख से छुटकारा मिल सकता है। उनका कहना था, ''संसार में जो कुछ

भी प्रिय लगता है, संसार में जिसमें रस मिलता है, उसे जो दुःखस्वरूप समझेंगे और उससे डरेंगे, वे ही तृष्णा को छोड़ सकेंगे। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का विरोध ही दुःख-निरोध है।

4. दुःख निरोध मार्ग—दुःखों पर विजय प्राप्त करने का मार्ग है। कोई भी व्यक्ति उस मार्ग का अनुसरण कर दुःखों पर विजय प्राप्त कर सकता है। बुद्ध ने जो मार्ग बतलाया वह "दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा" के नाम से विख्यात है। इसमें आठ अंगों की व्यवस्था है। अतः इसे "आर्य अष्टांगिक मार्ग" भी कहते हैं।

अष्टांगिक मार्ग—महात्मा बुद्ध ने बतलाया कि सांसारिक वस्तुओं को भोगने की तृष्णा या इच्छा ही सारे दुःखों का मूल कारण है। यह तृष्णा ही आत्मा को जन्म-मरण के बन्धन में जकड़े रखती है। अतः निर्वाण अथवा मोक्ष प्राप्ति के लिए तृष्णा को मिटा देना आवश्यक है। इसके लिए मनुष्य को अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। यह मार्ग जीवनयापन के बीच का रास्ता है। इसीलिए इसको "मध्यम-मार्ग" भी कहा गया है। अष्टांगिक मार्ग के 8 अंग इस प्रकार हैं—

1. सम्यक्-दृष्टि—सत्य-असत्य, पाप-पुणय, सदाचार और दुराचार में भेद करना ही सही ज्ञान है। इसी से चार आर्य सत्यों का सही-सही ज्ञान प्राप्त होता है। यह ज्ञान श्रद्धा और भावना से युक्त होना चाहिए।

2. सम्यक् -संकल्प—कामना और हिंसा से मुक्त आत्म-कल्याण का पक्का निश्चय ही सम्यक संकल्प है।

3. सम्यक्-वाणी—सत्य, विनम्र और मृदु वचन तथा वाणी पर संयम ही सम्यक् वाणी है।

4. सम्यक्-कर्मान्त—सब कर्मों में पवित्रता रखना। हिंसा, द्रोह तथा दुराचरण से बचते रहना और सत्कर्म करना।

5. सम्यक्-आजीव—न्यायपूर्ण मार्ग से आजीविका चलाना। जीवन-निर्वाह से निषिद्ध मार्गों का त्याग करना।

6. सम्यक्-प्रयत्न—इसे सम्यक्-व्यायाम भी कहते हैं। इसका अर्थ है सत्कर्मों के लिए निरन्तर उद्योग करते रहना।

7. सम्यक्-स्मृति—लोभ आदि चित्त के संतापों से बचना तथा उत्तम शिक्षाओं को सदैव याद रखना।

8. सम्यक्-समाधि—राग तथा द्वेष से रहित होकर चित्त की एकाग्रता को बनाये रखना।

मध्यमा-प्रतिपदा—दुःख से छुटकारा पाने के लिए महात्मा बुद्ध ने जो अष्टांगिक मार्ग बतलाया था, वह विशुद्ध आचार तत्त्वों पर आधारित था। उसमें [illegible]ारीरिक कष्ट एवं क्लेश से युक्त कठोर तपस्या को उचित बतलाया गया और न ही अत[illegible] सांसारिक भोग-विलास को। वस्तुतः वह दोनों अतियों के बीच का मार्ग था। इसी से उसे मध्यमा-प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) भी कहा गया है। इसके पालन से मनुष्य निर्वाण पथ की ओर अग्रसर हो सकता है।

दस शील—अपनी शिक्षाओं में महात्मा बुद्ध ने शील या नैतिकता पर बहुत अधिक बल दिया। उन्होंने अपने अनुयायियों को मन, वचन और कर्म से पवित्र रहने को कहा। इसके लिए उन्होंने अग्रलिखित दस शील (नैतिक आचरण) का पालन करने को कहा। इन्हें हम सदाचार के नियम भी कह सकते हैं। ये इस प्रकार हैं—(1) अहिंसा व्रत का पालन करना, (2) सदा सत्य बोलना, (3) अस्तेय अर्थात् चोरी न करना, (4) अपरिग्रह अर्थात् वस्तुओं का संग्रह न करना, (5) ब्रह्मचर्य अर्थात् भोग-विलास से दूर रहना, (6) नृत्य-ज्ञान का त्याग, (7) सुगन्धित पदार्थों का त्याग, (8) असमय में भोजन का त्याग, (9) कोमल शय्या का त्याग, और (10) कामिनी कांचन का त्याग।

सदाचार के इन नियमों में से प्रथम पाँच नियम महावीर स्वामी के पाँच अणुव्रतों के समान ही हैं। बुद्ध के अनुसार इन पाँच नियमों का पालन करना गृहस्थ अनुयायियों तथा साधु उपासकों दोनों के लिए आवश्यक है। इनका पालन करते हुए संसार त्याग करने पर भी मनुष्य सन्मार्ग की ओर बढ़ सकता है। अर्थात् बुद्ध ने गृहस्थ लोगों को भी उज्ज्वल भविष्य का आश्वासन दिया। लेकिन जो व्यक्ति संसार की मोह-माया को छोड़कर भिक्षु जीवन बिताता है; उसके लिए शील के सभी दस नियमों का पालन करना आवश्यक है। इस प्रकार, बौद्ध धर्म में शील के नियमों के पालन में भिक्षुओं की अपेक्षा गृहस्थों को अधिक ढील दी गई थी।

महात्मा बुद्ध के अन्य विचार

वेदों की प्रमाणिकता का खण्डन—महात्मा बुद्ध तर्क पर बहुत बल देते थे। अन्ध-श्रद्धा में उनका विश्वास नहीं था। अतः उन्होंने वेदों की प्रमाणिकता का खण्डन किया। वे ज्ञान की सीमा को वेदों तक सीमित मानने को तैयार नहीं थे। इसके अलावा वेदों में कही गई बातों को भी अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। उनका मानना था कि इस प्रकार के अन्धविश्वास से मानव बुद्धि कुण्ठित हो जायेगी। वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास न रखने के कारण बौद्ध धर्म ईश्वर को इस सृष्टि का निर्माता नहीं मानता है। महात्मा बुद्ध के इस प्रकार के विचारों के कारण कुछ लोगों ने इन्हें नास्तिक भी कहा। परन्तु बुद्ध का कहना था कि मनुष्य की बुद्धि परीक्षात्मक होनी चाहिए। उसे किसी के कहे पर पूरा विश्वास न करके अपने आप बात और चीज को परखना चाहिए। स्वयं अपने विषय में उन्होंने कहा कि जो लोग मुझे सर्वज्ञ मानते हैं वे मेरी निन्दा करते हैं।

अनात्मवाद—आत्मा सम्बन्धी विषय पर उन्होंने मध्यम मार्ग को अपनाया। उन्होंने न यह कहा कि आत्मा है और न यह कहा कि आत्मा नहीं है। वस्तुतः महात्मा बुद्ध ने आत्मा सम्बन्धी विषय पर विवाद करने से ही मना कर दिया। क्योंकि यदि वे यह कहते कि आत्मा है तो मनुष्य को अपने से आसक्ति हो जाती और आसक्ति ही दुःख का मूल कारण थी। यदि वे यह कहते कि आत्मा नहीं है तो मनुष्य यह सोचकर कि मृत्यु के बाद मेरा कुछ भी शेष न रहेगा, घोर मानसिक वेदना पहुँचती। अतः उन्होंने इस विवाद में पड़ना उचित नहीं समझा।

कर्मवाद—महात्मा बुद्ध कर्मवादी थे। उनका कहना था कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। मनुष्य का यह लोक और परलोक उसके कर्म पर निर्भर है। परन्तु बुद्ध के कर्म का अर्थ वैदिक कर्मकाण्ड नहीं था। वे मनुष्यों की समस्त कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाओं को कर्म मानते थे। यही कर्म सुख-दुःख के दाता

उनका कहना था कि जाति मत पूछ, आचरण पूछ। निम्न जाति का व्यक्ति भी अच्छे कर्मों से ज्ञानवान और पापरहित मुनि हो सकता है और आचरणहीन ब्राह्मण शूद्र हो सकता है। महात्मा बुद्ध ने अन्तःशुद्धि और सम्यक् कर्मों पर जोर देकर समाज में नैतिक अनुशासन स्थापित करने का प्रयास किया।

पुनर्जन्मवाद—बुद्ध कर्मवादी थे। उनकी मान्यता थी कि कर्मों के अनुसार ही मनुष्य अच्छा-बुरा जन्म पाता है। दूसरी तरफ, बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व के विषय में कुछ नहीं कहा, अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि फिर कर्मों का फल कौन भोगता है? पुनर्जन्म किसका होता है? महात्मा बुद्ध के अनुसार यह पुनर्जन्म आत्मा का नहीं अपितु अहंकार का होता है। जब मनुष्य की तृष्णाएँ एवं वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं तो वह पुनर्जन्म के चक्र से मुक्त हो जाता है।

कार्य-कारण सम्बन्ध—महात्मा बुद्ध संसार की प्रत्येक वस्तु और घटना के पीछे किसी न किसी कारण का होना मानते थे। उनका कहना था कि प्रत्येक घटना स्थिति के कारणों को पहले समझना और फिर उससे मुक्ति प्राप्त करने के उपाय किया जाना आवश्यक है। बौद्ध धर्म का कारणवाद ही उसे अन्य सम्प्रदायों से पृथक् करता है। महात्मा बुद्ध का कहना था कि जन्म-मरण सकारण है। जन्म के कारण जरा-मरण है। कार्य-कारण की शृंखला से यह संसार चलता रहता है। इसके लिए किसी सत्ता अथवा ईश्वर की आवश्यकता नहीं पड़ती।

निर्वाण—बौद्ध धर्म का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करना है। 'निर्वाण' शब्द का अर्थ है "बुझना"। बुद्ध का कहना था कि मन में पैदा होने वाली तृष्णा या वासना की अग्नि को बुझा देने पर निर्वाण प्राप्त हो सकता है। यह निर्वाण इसी जन्म में, इसी लोक में प्राप्त किया जा सकता है। निर्वाण का अर्थ है—बार-बार जन्म-मरण की स्थिति से मुक्ति। इस विषय में भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को निम्न उपदेश दिया था—"भिक्षुओं, यह संसार अनादि है। तृष्णा से संचालित हुए प्राणी इसमें भटकते-फिरते हैं। उनके आदि-अन्त का पता नहीं चलता। भंवचक्र में पड़ा हुआ प्राणी अनादि काल से बार जन्म लेता और मरता आया है। इसने संसार में बार-बार जन्म लेकर प्रिय-वियोग और अप्रिय-संयोग के कारण रो-रोकर अपार आँसू बहाये हैं। दीर्घकाल तक तीव्र दुःख का अनुभव किया है। अब तो तुम सभी संस्कारों से निर्वेद प्राप्त करो, वैराग्य प्राप्त करो, मुक्ति प्राप्त करो।"

आत्मावलम्बन—गौतम बुद्ध ने आत्मावलम्बन को भी बड़ा महत्त्व दिया है। बौद्ध धर्म का एक प्रमुख तत्त्व करुणा है। करुणा के तीन भेद कहे गये हैं—(1) स्वार्थमूला करुणा—माता की पुत्र के प्रति करुणा। (2) सहेतुकी करुणा—किसी को कष्ट में पड़ा हुआ देखकर हृदय द्रवित हो जाना, और (3) अहेतुकी या महाकरुणा—इसमें न तो मनुष्य का स्वार्थ होता है और न वह पवित्रता का ही विचार करता है। वह सभी पर समान रूप से अपनी करुणा बिखेरता है। महात्मा बुद्ध ने मनुष्य को स्वयं अपना भाग्यविधाता माना है। उनका मानना था कि मनुष्य अपने ही प्रयत्नों से दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर सकता है। इसके लिए ईश्वरीय कृपा की आवश्यकता नहीं है।

प्रतीत्य समुत्पाद—जैसा कि बताया जा चुका है, बौद्ध धर्म नितान्त कारणवादी है।

अर्थात् किसी कारण से कोई बात उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में, इसे "कार्य-कारण नियम" भी कह सकते हैं। यह बौद्ध धर्म के मूल उपदेशों में से एक है। किसी भी घटना के लिए कोई भी कारण आवश्यक होता है। बिना कारण कुछ नहीं घटित होता। इस कार्य-कारण परम्परा (प्रतीत्य समुत्पाद) से इस सत्य की स्थापना हुई कि संसार में बारम्बार जन्म और उससे होने वाले दुःखों का सम्बन्ध किसी सृष्टिकर्त्ता (ईश्वर) से नहीं है, प्रत्युत उनके कुछ निश्चित कारण व प्रत्यय (शर्तें) होते हैं। इस कारण बुद्ध को अनीश्वरवादी भी कहा जाता है। प्रतीत्य समुत्पाद को महात्मा बुद्ध ने इतना महत्त्व दिया कि उन्होंने इसे "धर्म्म" नाम दिया है।

क्षणिकवाद—प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त से ही क्षणिकवाद अथवा परिवर्तनवाद का जन्म हुआ। बौद्ध दर्शन परिवर्तन तथा क्षणिकता में विश्वास करता है। संसार और जीवन—दोनों में से कोई नित्य नहीं है। उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। दोनों परिवर्तनशील हैं, इसलिए नाशवान हैं। महात्मा बुद्ध का कहना था कि यह जगत् परिवर्तनशील है। इसकी प्रत्येक वस्तु प्रति क्षण बदलती रहती है; यहाँ तक कि आत्मा व जगत् भी निरन्तर बदलता रहता है। परन्तु संसार का यह परिवर्तन जनसाधारण को दिखाई नहीं पड़ता। ठीक वैसे ही जैसे कि नदी का प्रवाह प्रति क्षण बदलते रहने पर भी पूर्ववत् ही प्रतीत होता है।

सामाजिक विचार—महावीर स्वामी की भाँति महात्मा बुद्ध भी ब्राह्मणवादी जाति-व्यवस्था के विरोधी थे। वे जन्म के आधार पर किसी को छोटा-बड़ा न मानकर कर्म के आधार पर व्यक्ति का मूल्यांकन करने के पक्ष में थे। वे दास-प्रथा के भी विरोधी थे। उनकी मान्यता थी कि बेकारी एक अभिशाप है और यह राज्य का कर्त्तव्य है कि वह हर व्यक्ति को किसी-न-किसी काम में लगाये रखे। बुद्ध राजतन्त्र के पक्ष में थे। वे राजा को सारी भूमि का स्वामी मानते थे। उनकी कल्पना के अनुसार आदर्श राजा उसे कहना चाहिए जो शस्त्रबल तथा दण्ड के बिना केवल नीति और धर्म के माध्यम से अच्छा शासन चला सके। उन्होंने सामाजिक उन्नति के लिए कई बातों पर बल दिया था। वे हिंसा, निर्दयता एवं परायी स्त्रियों के साथ दुराचार के विरुद्ध थे। चुगलखोरी, कड़वी भाषा तथा प्रलाप के विरुद्ध थे। उनकी मान्यता थी कि प्रत्येक गृहस्थ को अपने माता-पिता की सेवा, अचार्य की सेवा, पत्नी की सेवा, मित्र की सेवा, सेवक की सेवा और साधु-संन्यासियों की सेवा करनी चाहिए। बैर से बैर नहीं मिट सकता अतः प्रेम का सहारा लेना चाहिए। अक्रोध से क्रोध को जीतना चाहिए। दूसरे के दोषों को देखने की आदत नहीं रखनी चाहिए। जो कहो, सो करना चाहिए। मन, वचन, कर्म को संगत रखते हुए जीवनयापन करना चाहिए।

बौद्ध भिक्षु और संघ—अपने विचारों को स्थाई बनाने के लिए बुद्ध ने व्यावहारिक दृष्टि से काम लिया। वे जानते थे कि उनके अनुयायी कठोर नियमों का पालन नहीं कर सकते। इसलिए उन्होंने अपने अनुयायियों को भिक्षुक तथा उपासक—इन दो श्रेणियों में विभाजित कर दिया। भिक्षु उन लोगों को कहते थे जो गृहस्थ जीवन छोड़कर बुद्ध के समस्त उपदेशों का पूर्ण पालन करते हुए बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में जीवन व्यतीत करते थे। प्रारम्भ में बुद्ध ने स्त्रियों को इस प्रकार त्यागमय भिक्षु-जीवन बिताने की अनुमति नहीं दी। किन्तु बाद में अपने प्रिय शिष्य आनन्द के आग्रह पर स्त्रियों को भी त्यागी-जीवन बिताने की अनुमति दे दी। वे भिक्षुणियाँ कहलाईं। उन्हें भी भिक्षुओं की भाँति कठोर नियमों का पालन

करना पड़ता था। उपासक एवं उपासिकाएँ—गृहस्थी पुरुष एवं स्त्रियों को कहा जाता था। वे लोग गृहस्थ जीवन में रहते हुए महात्मा बुद्ध द्वारा बतलाये गये मार्ग के अनुसार जीवनयापन करते थे।

भिक्षुवर्ग को संगठित एवं संयमी बनाये रखने के लिए बुद्ध ने बौद्ध संघ की स्थापना की। संघ में भिक्षुओं को वहाँ की दिनचर्या और कार्यक्रम के अनुसार जीवन बिताना पड़ता था। संघ में जाति-पाँति का भेद नहीं था और न ही इसका कोई अधिपति होता था। संघ का मुख्य काम बौद्ध धर्म का प्रचार करना था। संघों में रहने के लिए भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए अलग-अलग मठ (विहार) बने होते थे जहाँ वे त्यागमय सादा जीवन बिताते थे। वर्ष के आठ महीनों तक भिक्षुगण घूम-घूमकर बौद्ध धर्म का प्रचार करते थे और चार माह मठ में रहते हुए आत्मचिन्तन एवं साधना करते थे। आगे चलकर ये मठ प्राचीन भारत में शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गये। बौद्ध संघ गणतन्त्रात्मक प्रणाली के आधार पर संगठित किया गया था। संघ सम्बन्धी कार्यों में प्रत्येक भिक्षु के अधिकार समान थे। संघ की बैठकों में भाग लेना आवश्यक समझा जाता था। अनुपस्थित व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के माध्यम से भी अपना मत प्रकट करा सकता था। प्रक्येक सदस्य स्वतन्त्रतापूर्वक अपना मत दे सकता था। बहुमत के द्वारा निर्णय लिये जाते थे। प्रत्येक प्रस्ताव को तीन बार प्रस्तुत और स्वीकृत किया जाता था। तभी वह अधिनियम बनता था।

संघ की सभा में सदस्यों के बैठने की व्यवस्था करने वाले व्यक्ति को "आसन-प्रज्ञापक" कहा जाता था। संघ की बैठक में प्रस्ताव रखने वाले को प्रस्ताव की सूचना पहले से देनी होती थी। इस कार्यवाही को "ज्ञाप्ति" कहा जाता था। प्रस्ताव को 'नत्ति' कहा जाता था। प्रस्ताव प्रस्तुत करने को "अनुस्सावन" अथवा "कम्मवाचा" कहा जाता था। वाद-विवाद के बाद प्रस्ताव पर मत लिया जाता था। कभी-कभी शलाकाओं के द्वारा मतदान की व्यवस्था की जाती थी। संघीय सभा की कार्यवाही को शुरू करने के लिए 30 सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक थी। अर्थात् यह बैठक का कोरम होता था। कोरम के अभाव में सभा की कार्यवाही अवैध समझी जाती थी। इस प्रकार, संघ गणतान्त्रिक पद्धति के अनुसार अपना काम करता था।

बौद्ध धर्म का विभाजन

जैसे अन्य धर्मों में समय के साथ-साथ अनेक शाखाओं का जन्म हुआ है, उसी प्रकार बौद्ध धर्म भी अपनी स्थापना के कुछ समय बाद कई शाखाओं में बँट गया। परन्तु उनमें दो शाखाएँ मुख्य हैं—(1) हीनयान, और (2) महायान।

हीनयान सम्प्रदाय—हीनयान सम्प्रदाय बौद्ध धर्म के प्राचीन स्वरूप (मूल रूप) को महत्त्व देता है। हीनयान सम्प्रदाय महात्मा बुद्ध को आदि धर्म-प्रवर्तक तथा निर्वाण प्राप्त एक सामान्य व्यक्ति मानता है। वह बुद्ध को ईश्वर का अवतार नहीं मानता। अर्थात् बुद्ध में देवी शक्ति प्रतिष्ठित करने का विरोधी है। हीनयान सम्प्रदाय कर्मवाद एवं पुनर्जन्म में विश्वास रखता है। परन्तु बुद्ध की भाँति हीनयान भी ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं रखकर स्वयं पर विश्वास रखता है और उसका मानना है कि बुद्ध के द्वारा बताये मार्ग का अनुसरण करने से निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है और निर्वाण प्राप्ति के लिए यही सही मार्ग है। इस सम्प्रदाय का कथन है कि अपने लिए स्वयं प्रकाश बनो। लेकिन, स्वयं के प्रकाश को पहचान सकना

प्रत्येक के वश में नहीं होता। हीनयान शाखा वाले इस बात को स्वीकार करते हैं कि शुभ और अशुभ दोनों तरह की वासनाएँ हेय हैं। वे लोग केवल निवृत्ति के ऊपर ही अधिक बल देते हैं। इसलिए इस सम्प्रदाय को "छोटी गाड़ी" कहा जाता था, क्योंकि इससे थोड़े व्यक्ति ही यह सुख प्राप्त कर सकते थे।

महायान सम्प्रदाय—बौद्ध धर्म के जिन अनुयायियों ने इस कठिन मार्ग को सरल बनाने के लिए कुछ नवीन सरल मान्यताओं का विकास कर उनके अनुसार चलना प्रारम्भ किया, वे महायानी कहलाये। ईसवी सन् की शुरुआत के साथ-साथ बौद्ध धर्म में हीनयान और महायान का यह भेद स्पष्ट रूप से सामने आ गया। महायान शाखा के विकास के लिए कई कारण उत्तरदायी थे। उनमें से एक मुख्य कारण उन दिनों में भक्ति प्रधान भागवत धर्म की बढ़ती हुई लोकप्रियता थी जिसके परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म की प्रगति रुक गई थी। दूसरा मुख्य कारण उन दिनों में भारत से बाहर से आकर बसने वाले यवन, शक, पह्लव कुषाण आदि लोगों को अपने मत में दीक्षित करने का था। मूल बौद्ध धर्म में गृहस्थों के लिए निर्वाण की व्यवस्था न थी और हीनयान मत भी इसी की पुष्टि करता था। परन्तु महायान सम्प्रदाय वाले सब आदमियों, खास तौर से गृहस्थियों को, निर्वाण-सुख का अधिकारी बनाना चाहते थे। उनका कहना था कि व्यक्ति को केवल आत्म-कल्याण ही नहीं करना है, बल्कि संसार के अन्य दुःखी प्राणियों की सेवा के साथ उन्हें भी निर्वाण का मार्ग बताना है। बुद्ध का जीवन इसी का उदाहरण है।

महायान की विशेषताएँ—महायान सम्प्रदाय की मान्यता है कि बुद्ध के पूर्व भी बौद्ध धर्म के अनेक प्रवर्तक हो चुके थे, जिन्हें वे "बोधिसत्व" कहते हैं। प्रत्येक "कुल पुत्र" बोधिचर्चा से अर्थात् करुणा, मुदिता, मैत्री और अपेक्षा के आचरण द्वारा या दान, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा नामक 6 पारमिताओं की साधना द्वारा बुद्धत्व के मार्ग पर चल सकता है। किन्तु उसे बुद्ध बनने में रुचि नहीं है। वह अकेले बुद्धत्व को प्राप्त करना उचित नहीं समझता जबकि उसके अन्य साथी दुःख और कष्टों के बन्धन में जकड़े हुए हैं। वह ऐसे लोगों की सेवा को बुद्धत्व से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण समझता है। उसके लिए प्राणी मात्र की भलाई और सेवा ही जीवन का चरम लक्ष्य है और वह इसी को "निर्वाण" मानता है। ऐसे लोगों को महायानी "बोधिसत्व" कहते हैं। बोधिसत्वचर्या का एक अंग करुणा है और दूसरा प्रज्ञा। करुणा से लोक सेवा और परोपकार की भावना विकसित होती है। प्रज्ञा से संसार का वास्तविक स्वरूप और आतंकित मर्म से साक्षात्कार होता है। इस दृष्टि से महायान सार्वजनिक और सार्वभौम मानवता का आदर्श प्रस्तुत करता है।

भक्ति प्रधान भागवत धर्म और बाहर से आने वाले यवन, शक, कुषाण आदि लोगों के प्रभाव के परिणामस्वरूप महायान सम्प्रदाय में बुद्ध की मूर्ति-पूजा चल पड़ी। महायान वालों ने बुद्ध को परमात्मा और अवतार मानना शुरू कर दिया। बुद्ध तो अपने को सर्वज्ञ कहलाने के भी विरुद्ध थे। किन्तु उनके अनुयायी उनके मानव रूप से सन्तुष्ट न रहे। गान्धार और मथुरा में स्वतन्त्र शैलियों से बुद्ध की मूर्तियाँ बनायी जाने लगीं और बुद्ध की पूजा होने लगी। बुद्ध के साथ-साथ बोधिसत्वों की पूजा भी की जाने लगी। इस प्रकार, बौद्ध धर्म में मूर्ति-पूजा का रिवाज बढ़ा। यह माना जाने लगा कि दुःखी प्राणी जब निराश हो जाता है तो ईश्वर के अवतार भगवान बुद्ध उसे आशा प्रदान करते हैं।

भागवत धर्म की भक्ति का प्रभाव भी महायान सम्प्रदाय पर पड़ा और उसने भी महात्मा बुद्ध के प्रति भक्ति को निर्वाण का सरल साधन मान लिया। जैसे वैष्णव मत की मान्यता थी कि भक्ति के द्वारा ईश्वर तथा मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है, उसी प्रकार, महायान मत की मान्यता थी कि ईश्वर के अवतार बुद्ध तथा बोधिसत्वों की भक्ति के द्वारा निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार, महायान सम्प्रदाय ने देश एवं काल की परिस्थिति के अनुसार अपने को व्यावहारिक और उपयोगी बनाने का प्रयास किया। यही उसकी लोकप्रियता का रहस्य था।

बौद्ध संगीतियाँ—बौद्ध धर्म के विकास में बौद्ध संगीतियों (अधिवेशनों) का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। बौद्ध धर्म के लम्बे इतिहास में चार संगीतियों का विशेष महत्त्व है। पहली संगीति महात्मा बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद राजगृह नगर में हुई थी। इस अवसर पर बौद्ध भिक्षुओं में नोंकझोंक शुरू हो गई। इस सभा का मुख्य उद्देश्य महात्मा बुद्ध के उपदेशों का संकलन करना था। जो लोग परम्परागत कठोर नियमों के अनुयायी थे, वे "स्थविर" कहलाये। परन्तु जो भिक्षु संघ के नवीन नियम लागू करने के पक्ष में वे "महासांघिक" कहलाये। जैसे-जैसे समय बीतता गया, दोनों में नोंक-झोंक बढ़ती गयी। बुद्ध के निधन के सौ वर्ष बाद वैशाली में बौद्ध धर्म की दूसरी संगीति हुई और इस सभा में स्थविरवादी और महासांघिकों ने अपनी अलग महासमिति करके अपने ढंग से बौद्ध धर्मशास्त्रों का सम्पादन किया। तीसरी संगीति अशोक के समय में पाटलिपुत्र में हुई। इस अवसर पर "अभिधम्मपिटक" के भाग की रचना की गई। इस संगीति में स्थविरवादियों की प्रधानता रही; यद्यपि अशोक ने बौद्ध धर्म के सभी सम्प्रदायों को एकता के सूत्र में बाँधने का अथक प्रयास किया था। चौथी संगीति कनिष्क के शासनकाल में काश्मीर में हुई। इस संगति में सर्वास्तिवाद नामक सम्प्रदाय की प्रधानता रही और इस अवसर पर बौद्ध ग्रन्थों पर जो टीकाएँ लिखी गईं वे "**विभाषा**" के नाम से प्रसिद्ध हुईं।

बौद्ध धर्म का मुख्य साहित्य—बौद्ध धर्म का साहित्य सामूहिक रूप से "त्रिपिटक" कहा जाता है। उनके नाम हैं—(1) सुत्तपिटक, (2) विनयपिटक और (3) अभिधम्म-पिटक। सुत्तपिटक के पाँच विभाग हैं—(1) दीर्घ निकाय, (2) मज्झिम निकाय, (3) संयुक्त निकाय, (4) अंगुत्तर निकाय और (5) खुद्दक निकाय। इनमें बौद्ध धर्म के विभिन्न अंगों, विश्व की उत्पत्ति, जाति व्यवस्था की कृत्रिमता, निर्वाह प्राप्ति के साधन, पुनर्जन्म, आत्मज्ञान, आत्मचिन्तन आदि विषयों का विवेचन है। विनयपिटक में भिक्षुओं के आचरण सम्बन्धी नियम हैं। अभिधम्मपिटक में गौतम बुद्ध के उपदेशों का विवेचन है। यह सात अध्यायों में विभक्त है। इन त्रिपिटकों की अनेक टीकाएँ तथा व्याख्याएँ हैं जिनमें बौद्ध विद्वानों ने बौद्ध धर्म के नैतिक नियमों की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। "धम्मपद" नामक एक ग्रन्थ जिसे बौद्ध धर्म की गीता कहा जा सकता है। इसमें 424 गाथाएँ हैं जिनमें बौद्ध धर्म का सार है। जातक कथाओं का एक संग्रह है जिसमें बुद्ध की 574 पूर्वजन्म की कथाओं का वर्णन है। बौद्ध धर्म का अधिकांश साहित्य पालि भाषा में है। बौद्ध विद्वानों ने संस्कृत भाषा में भी अनेक रचनाएँ लिखीं परन्तु संस्कृत साहित्य के केवल थोड़े से अंश उपलब्ध हैं।

बौद्ध धर्म की लोकप्रियता के कारण

बौद्ध धर्म और जैन धर्म दोनों का आविर्भाव उत्तरी भारत में ही हुआ था; किन्तु महात्मा बुद्ध और उनके अनुयायियों के प्रयत्नों से बहुत कम समय में बौद्ध धर्म का प्रसार भारत और विदेशों में हो गया। इस धर्म के शीघ्र लोकप्रिय बन जाने के कई कारण थे; जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

1. **सरल सिद्धान्त**—बौद्ध धर्म के सिद्धान्त सरल, व्यावहारिक, सुबोध एवं गृहस्थ लोगों के अनुकूल थे। बुद्ध ने अपने दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन न कर शुद्ध आचरण पर अधिक जोर दिया था। वस्तुतः उनके सिद्धान्त नैतिक जीवन व्यतीत करने की रीति-नीति को स्पष्ट करते थे। ऐसी स्थिति में जनता का गूढ़ रहस्यवादी तथा जटिल वैदिक धर्म से हटकर इस धर्म की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था।

2. **अनुकूल वातावरण**—बौद्ध धर्म का उदय उस समय में हुआ था, जब भारतीय जनता प्रचलित धर्म की रूढ़िवादिता, कर्मकाण्ड, रहस्यवाद और उनके पुजारी-पुरोहितों के आचरण से क्षुब्ध थी। ऐसे समय में गौतम बुद्ध ने प्रचलित व्यवस्था का खण्डन कर जीवन को उन्नत करने के लिए सरल एवं व्यावहारिक तरीकों को बताया, जिनका जनता ने हृदय से स्वागत किया। यदि बुद्ध वैदिक युग में हुए होते तो उनके विचारों को शायद ही लोकप्रियता मिल पाती।

3. **जन-भाषा का प्रयोग**—महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेशों का प्रचार उस युग की जन-भाषा पालि में किया था। अतः जनसाधारण उनकी बात को आसानी से समझ लेता था। ऐसी स्थिति में जनता पर उनके उपदेशों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। बौद्ध धर्म का प्रारम्भिक साहित्य भी जन-भाषा में ही लिखा गया था। इस कारण महात्मा बुद्ध के उपदेश शीघ्र ही जनप्रिय हो गये और उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ती गई।

4. **समानता की भावना**—जातिगत भेदभाव से ऊपर उठकर सबको समान रूप से मोक्ष का अधिकारी मानना बौद्ध धर्म की सफलता का एक मुख्य कारण था। क्योंकि वैदिक व्यवस्था की जटिलता से निम्न जातियों को तो मोक्ष की आशा नहीं थी और अन्य जातियों के निर्धन लोग भी मोक्ष का विचार नहीं कर सकते थे। याज्ञिक-अनुष्ठानों को सम्पन्न कराने के लिए आवश्यक धन उनके पास नहीं था। ऐसे समय में जब बुद्ध ने जातीय समानता तथा मानव मात्र के लिए मोक्ष का द्वार उन्मुक्त होने की घोषणा की तो हजारों लोग उनके अनुयायी बन गये क्योंकि सभी को अपना परलोक सुधारने की आकांक्षा थी।

5. **सम्पन्न लोगों का संरक्षण**—बौद्ध धर्म के प्रसार में उस युग के शाक्य, लिच्छवी, मल्ल, कोलीय, मोरीय आदि गणराज्यों के सम्पन्न लोगों ने अत्यधिक रुचि ली थी। इसके साथ ही विद्वानों तथा व्यापारियों ने इसे अपनाया तथा तन, मन और धन से इसके प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया जिससे जनसाधारण में बौद्ध धर्म तीव्र गति से फैला। बाद के समय में सम्राट अशोक, कनिष्क तथा हर्षवर्धन ने इस धर्म के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। ऐसी स्थिति में अर्थात् प्रारम्भ और बाद के काल में राज्याश्रय और धनी वर्ग का सहयोग मिलने से बौद्ध धर्म का भारत और विदेशों में खूब प्रसार हो सका। अशोक का योगदान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

6. बौद्ध संघ—महात्मा बुद्ध ने जिस बौद्ध संघ प्रणाली को जन्म दिया था, वह अपने ढंग की अनूठी थी। उसके संघों की जीवन-प्रणाली जनतन्त्रात्मक होने के साथ-साथ संघीय भावना को लिए हुए थी। संघों में रहने वाले सभी भिक्षुगण एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर बुद्ध के उपदेशों का प्रचार करते हुए संगठित रूप में त्याग, सदाचार, अध्यवसाय और अध्ययनशीलता के उत्तम गुणों का परिचय देते थे। साथ ही, वे प्रत्येक प्रकार की कठिनाई और आपत्ति का सामना करने को तत्पर रहते थे। ऐसी स्थिति में बौद्ध संघों की इस संगठन शक्ति का सामान्य जनता पर प्रभाव होना तथा इस धर्म के प्रति सम्मान बढ़ना स्वाभाविक था।

7. प्रतिस्पर्द्धी धर्मों का अभाव—बौद्ध धर्म के शीघ्र और व्यापक प्रसार का एक महत्त्वपूर्ण कारण उस युग में उसका विरोध करने वाली धार्मिक विचारधाराओं अर्थात् धार्मिक सम्प्रदायों का भी अभाव था। वैदिक धर्म में प्रचार की प्रवृत्ति नहीं थी और उस युग में जनसाधारण को वैदिक धर्म से अरुचि होने लगी थी। जैन-मत अधिक व्यापक नहीं हो पाया था और उसके सिद्धान्तों में शारीरिक क्लेश की प्रधानता के कारण भी वह अधिक लोकप्रिय नहीं बन पाया। ऐसी स्थिति में बौद्ध प्रचारकों को बिना विरोध के अपने धर्म का प्रचार करने में सफलता मिल गई।

8. बुद्ध का व्यक्तित्व—बौद्ध धर्म की लोकप्रियता तथा उसके द्रुतगामी प्रसार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण महात्मा बुद्ध का आकर्षक व्यक्तित्व था। उनकी रोमांचकारी जीवनी ने उनके व्यक्तित्व को एक विशेष स्तर प्रदान कर दिया था। राजा के पुत्र होते हुए भी सभी सुख-सुविधाओं के त्याग ने स्वाभाविक रूप से उनके व्यक्तित्व को ऊँचा उठा दिया था। जनता स्वाभाविक रूप में उनके प्रति सम्मान से झुक जाती थी और विरोधी भी नतमस्तक हो जाते थे। इसके साथ ही गौतम बुद्ध ने कभी किसी धर्म का अनादर नहीं किया बल्कि तर्क के आधार पर प्रतिपक्षी धर्म का खण्डन करते थे। ऐसी स्थिति में जनता का उनके उपदेशों के प्रति श्रद्धावान होना स्वाभाविक था।

उपर्युक्त कारणों के अलावा बौद्ध धर्म की परिवर्तनशीलता ने भी इस धर्म के प्रसार में योगदान दिया। धर्म की कठोरता को त्याग कर इसमें उदारवादी महायान विचारधारा का जन्म हुआ जिसने बौद्ध धर्म के व्यापक प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसी के साथ, बौद्ध शिक्षण संस्थाओं यथा तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशीला आदि द्वारा बौद्ध धर्म और साहित्य की समुचित शिक्षा व्यवस्था ने इस धर्म के भारत और विदेशों में प्रसार में भारी सहयोग दिया। उपर्युक्त सभी कारणों के सामूहिक परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म एक विश्व धर्म-बन गया।

विदेशों में प्रसार—यद्यपि अपनी जन्मभूमि भारत में बौद्ध धर्म समय की गति के अनुसार उठता-गिरता रहा, किन्तु अपने जन्म के बाद से लेकर छठी शताब्दी ईसवी तक भिक्षुओं तथा कुछ भारतीय सम्राटों के प्रयत्नों से यह धर्म मध्य एशिया, चीन, तिब्बत, जापान, बर्मा, दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा यूनान तक फैल गया।

बौद्ध धर्म का विदेशों में प्रचार का कार्य विधिवत् रूप में मौर्य सम्राट अशोक के काल में हुआ। अशोक ने इस धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए श्रीलंका, बर्मा, मध्य एशिया तथा पश्चिमी एशिया आदि में अपने प्रचारक भेजे। अशोक के शिलालेखों से पता चलता है कि बौद्ध प्रचारकों ने सीरिया, मेसोपोटामिया तथा यूनान में मेसीडोनिया, एरिच तथा कोरिन्थ

आदि राज्यों में जाकर इस धर्म को फैलाया। विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार में इस धर्म की महायान शाखा का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा और महायान विचारधारा के अनुयायी सम्राट कनिष्क के प्रयत्नों से मध्य एशिया, तिब्बत, चीन तथा जापान तक इस धर्म का खूब प्रचार हुआ। चीन में सम्राट मींगती के समय में बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ। कई बौद्ध विद्वान् चीन गये और उन्होंने चीनी भाषा में बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया। विद्वानों का कथन है कि चीन से बौद्ध धर्म कोरिया, मंगोलिया, पारमोसा तथा जापान में फैला। बौद्ध धर्म का इन देशों में जिस प्रभावशाली रूप में प्रसार हुआ, उसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि अपनी जन्मभूमि से विलुप्त हो जाने पर भी इन देशों में से अधिकांश में बौद्ध धर्म आज भी जीवित है।

बौद्ध धर्म के भारत से लोप होने के कारण—बौद्ध धर्म का जिस तेजी के साथ प्रसार हुआ था उसी तेजी के साथ वह भारत से विलुप्त भी हो गया। बारहवीं शताब्दी के बाद भारत में इसके अनुयायियों की संख्या नाम मात्र की रह गई और धीरे-धीरे वह अपनी जन्मभूमि से विलुप्त हो गया। भारत में बौद्ध धर्म की इस आकस्मिक अवनति के कई कारण बताये जाते हैं, जिनमें से मुख्य निम्न हैं—

1. आन्तरिक दोष—वैदिक धर्म के जिस आडम्बर और कर्मकाण्ड के विरोध में महात्मा बुद्ध ने सीधा-साधा धर्म चलाया था, वह उनके निर्वाण के बाद, धीरे-धीरे आडम्बर, जटिलता एवं कठोरता का शिकार बनता गया। कालान्तर में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों और नियमों में भी कठोरता तथा जटिलता आ गई जिससे उसके सामान्य अनुयायियों को अरुचि पैदा हो गई। अब महात्मा बुद्ध को ईश्वर का अवतार मानकर उनकी मूर्तियाँ बनने लगीं और उन मूर्तियों की विविध पद्धतियों से पूजा होने लगी। इससे बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म के अधिक निकट आता गया। उसकी नवीनता तथा सुधारवादी प्रवृत्ति समाप्त हो गई जिससे लोगों का उससे विश्वास उठने लगा।

2. राजकीय संरक्षण का अभाव—मौर्य वंश की समाप्ति के बाद बौद्ध धर्म को राजकीय संरक्षण मिलना बन्द हो गया। मौर्यों के उत्तराधिकारी शुंग तथा कण्व और सातवाहन नरेशों ने वैदिक धर्म को समर्थन दिया। कनिष्क के समय में बौद्ध को पुनः राज्याश्रय प्राप्त हुआ। परन्तु गुप्त वंश ने पुनः हिन्दू धर्म को संरक्षण देकर उसे प्रोत्साहित किया। गुप्तवंशीय नरेशों ने वैदिक यज्ञों को भी पुनः प्रतिष्ठा प्रदान की। दक्षिण भारत में चालुक्य नरेशों ने हिन्दू धर्म को राजकीय संरक्षण प्रदान किया। अतः जनता भी हिन्दू धर्म की ओर अग्रसर हुई।

3. हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान—मौर्य वंश के पतन के बाद वैदिक धर्म के विद्वानों ने अपने धर्म में निहित दोषों को दूर करके उसे सरल रूप में पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। शुंग, कण्व, भारशिव, नाग, गुप्त, वाकाटक और चालुक्य नरेशों ने वैदिक यज्ञों का आयोजन कर हिन्दू धर्म की उन्नति में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इन शासकों ने शिव, विष्णु, कार्तिकेय आदि प्राचीन हिन्दू देवताओं की उपासना की और उनके भव्य मन्दिरों का निर्माण करवाया। बौद्ध धर्म के प्रति झुकाव रखने वाला हर्षवर्धन भी ब्राह्मण धर्म के प्रति श्रद्धा रखता था। इससे हिन्दू धर्म को पुनः राष्ट्र-धर्म का स्तर मिला। गुप्तों ने संस्कृत भाषा को राष्ट्रीय भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया जिससे वैदिक साहित्य की खोई हुई प्रतिष्ठा भी पुनः कायम हो गई। इन सबका सामूहिक परिणाम यह निकला की जनता का एक बड़ा भाग

बौद्ध धर्म से उदासीन होकर पुनः हिन्दू धर्म की ओर आकर्षित हो गया। इससे बौद्ध धर्म के प्रभाव में काफी कमी आ गई।

4. बौद्ध भिक्षुओं का नैतिक पतन—बौद्ध धर्म की लोकप्रियता का एक मुख्य कारण भिक्षुओं का त्यागमय जीवन और नैतिक आचरण था। परन्तु मौर्यवंशी शासकों के काल में राज्य की ओर से भिक्षुओं के लिए विशाल एवं भव्य मठ विहार बनवाये गये और उनके व्यय के लिए काफी धन दान में दिया गया। अनायास प्राप्त होने वाली धन-सम्पदा ने भिक्षुओं के त्यागमय जीवन को विलासिता में बदलना शुरू कर दिया। इससे उनमें अनुशासनहीनता के साथ-साथ आचरणहीनता भी आ गई। वे कर्त्तव्य-विमुख और पथभ्रष्ट होने लगे। इससे सामान्य जन की श्रद्धा इस धर्म से हटने लगी। वज्रयान सम्प्रदाय के उदय के बाद तो बौद्ध मठ एवं विहार व्यभिचार एवं दुराचार के केन्द्र बन गये। ऐसी स्थिति में उसका पतन होना स्वाभाविक ही था।

5. बौद्ध धर्म में विभाजन—जैसाकि बताया जा चुका है कि बुद्ध की मृत्यु के बाद से ही बौद्ध भिक्षुओं में आन्तरिक मतभेद उत्पन्न हो गये और वे हीनयान तथा महायान में बँट गये। इसके बाद उनमें स्थविरवाद और महासांधिक सम्प्रदायों का विकास हुआ। अशोक ने बौद्ध धर्म में एकता बनाए रखने का अथक प्रयास किया और उसे कुछ सफलता भी मिली। परन्तु बाद में इन विभिन्न शाखाओं में जबरदस्त संघर्ष शुरू हो गया और एक-दूसरे की बुरी तरह से निन्दा और कटु आलोचना करने लगे। उनके इस आपसी संघर्ष ने बौद्ध धर्म की लोकप्रियता को भारी नुकसान पहुँचाया।

6. हिन्दू प्रचारकों का प्रयत्न—नवोदित हिन्दू धर्म के प्रचारकों ने भी बौद्ध धर्म के प्रभाव को कम करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। प्रारम्भ में भागवत, शैव एवं वैष्णव सम्प्रदाय के लोगों ने तन, मन और धन से अपने-अपने सम्प्रदायों का प्रचार-प्रसार किया। आठवीं और नवीं शताब्दियों में कुमारिल भट्ट और गुरु शंकराचार्य ने स्थान-स्थान पर बौद्ध पण्डितों को शास्त्रार्थों में पराजित करके हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता को सिद्ध किया। इन विद्वानों ने तर्क के आधार पर बौद्ध मत का खण्डन किया और सारे देश में हिन्दू धर्म का प्रचार किया।

7. विदेशी आक्रमण—गुप्तों के बाद भारत पर होने वाले विदेशी आक्रमणों विशेष रूप से क्रूर हूणों के आक्रमणों ने अहिंसावादी बौद्ध धर्म पर घातक प्रहार किया। हूणों के नेता मिहिरकुल ने बौद्ध मठों एवं विहारों को निर्दयता से नष्ट कर दिया। हूणों ने हजारों की संख्या में बौद्ध भिक्षुओं का कत्लेआम किया। इसका परिणाम यह निकला कि पंजाब, राजस्थान और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्तों में बौद्ध धर्म का प्रभाव क्षीण हो गया। क्योंकि इन प्रदेशों में बचे हुए बौद्ध भिक्षु तिब्बत तथा चीन की तरफ भाग गये। मध्ययुग के शुरू में मुस्लिम आक्रमणकारियों ने बंगाल और बिहार के प्रान्तों में बौद्धों का कत्लेआम किया। उनके मठों और विहारों को भूमिसात किया और नालन्दा जैसी शिक्षण संस्थाओं को भी जलाकर राख कर दिया। इससे इन प्रदेशों से भी बौद्ध धर्म का प्रभाव जाता रहा। ऐसी स्थिति में सामान्य बौद्ध गृहस्थ पुनः हिन्दू धर्म में आ गये।

8. राजपूतों का उत्कर्ष—हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद देश में राजपूतों का उत्कर्ष हुआ और उन्होंने स्थान-स्थान पर अपने स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की। राजपूत लोग अपनी शूर-वीरता के लिए प्रख्यात थे और युद्ध तथा सैनिक सेवा उनका मुख्य व्यवसाय था। ऐसे लोगों

को अहिंसा से कोई लगाव नहीं था। अतः उन्होंने हिन्दू धर्म को प्रोत्साहन दिया। राजकीय संरक्षण न मिलने से राजपूत युग में बौद्ध धर्म का प्रभाव बिल्कुल क्षीण हो गया।

9. संघ में स्त्रियों का प्रवेश—बौद्ध धर्म की अवनति का एक मुख्य कारण संघ में स्त्रियों का प्रवेश था। स्वयं महात्मा बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द को कहा था कि तुम्हारे विशेष आग्रह पर मैं स्त्रियों को संघ में प्रवेश करने का अधिकार तो दे रहा हूँ, परन्तु अब यह धर्म 500 वर्षों से अधिक नहीं पनप पायेगा। भिक्षु एवं भिक्षुणियों के एक साथ रहने से संयम का सन्तुलन बिगड़ गया और मठों एवं विहारों का शुद्ध एवं सात्विक वातावरण व्यभिचार एवं विलासिता में बदल गया। इससे उनकी प्रतिष्ठा गिर गई। बज्रयान सम्प्रदाय ने बौद्ध धर्म को वाम मार्ग की ओर धकेल कर उसकी रही-सही प्रतिष्ठा को भी धूल में मिला दिया।

10. सामाजिक कारण—बौद्ध धर्म ने लोगों को मोक्ष प्राप्ति का एक नवीन मार्ग तो बतला दिया परन्तु वह अपने अनुयायियों के लिए दैनिक सामाजिक व्यवस्था सम्बन्धी रीति-रिवाज अथवा संस्कार नहीं बना पाया। परिणामस्वरूप लाखों लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी बन जाने के बाद भी सामाजिक अवसरों पर हिन्दू संस्कारों का पालन करते रहे। उदाहरणार्थ; जन्म, विवाह, मृत्यु आदि अवसरों के लिए उन्हें हिन्दू रीति-रिवाजों का ही पालन करना पड़ता था। इस दृष्टि से बौद्ध धर्म के अनुयायी हिन्दू धर्म से कभी अधिक दूर नहीं जा पाये थे। अतः जब बौद्ध धर्म का अवसान शुरू हुआ तो उन्हें पुनः हिन्दू धर्म अपनाने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

भारतीय संस्कृति को बौद्ध धर्म की देन

बौद्ध धर्म अपने में एक महान् क्रान्ति था। इसने भारतीय संस्कृति को विविध रूपों में प्रभावित किया और अपनी अनोखी देन से भारतीय धर्म-दर्शन, साहित्य-कला, शासन-नीति और आचार-विचार को एक विशेष दिशा-बोध कराया। भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों में बौद्ध धर्म के प्रभाव और देन को निम्नलिखित रूपों में आँका-परखा जा सकता है—

धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में—बौद्ध धर्म एक सीधा-सादा धर्म था। उसमें निरर्थक नियमों, विधि-विधानों तथा पुरोहितों की आवश्यकता न थी। इससे विपरीत वैदिक धर्म में कर्मकाण्ड तथा यज्ञों की भरमार थी। बौद्ध धर्म की लोकप्रियता ने वैदिक धर्म को अत्यधिक प्रभावित किया और इसी के परिणामस्वरूप हिन्दू धर्म का रूपान्तरण हुआ। यज्ञ, बलि, कर्मकाण्ड आदि आडम्बरों के स्थान पर हिन्दू धर्म में मानवता, स्नेह, सौहार्द्र की भावना का विकास हुआ। बौद्ध धर्म ने भारत में मूर्ति-पूजा के अधिक प्रसार का काम भी किया। महायान बौद्धों की मूर्ति-पूजा की प्रबल प्रवृत्ति ने हिन्दू धर्म में भी मूर्ति-पूजा को अधिक व्यापक बनाया। बौद्धों की मठ-प्रणाली ने भी हिन्दू धर्म को प्रभावित किया। इससे पूर्व हिन्दू धर्म में मठ-प्रणाली नहीं थी। गुरु शंकराचार्य ने उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम—चारों दिशाओं में अपने मठों की स्थापना की। बौद्ध धर्म ने प्रचार-प्रसार की जो शैली अपनाई उसने भी हिन्दू धर्म को प्रभावित किया। इससे पूर्व हिन्दू धर्म प्रचार-प्रसार में विश्वास नहीं रखता था।

बौद्ध धर्म ने वास्तव में अपने अनात्मवाद, अनीश्वरवाद, कार्य-कारण सम्बन्ध, कर्मवाद एवं पुनर्जन्मवाद, आन्तरिक शुद्धि तथा निर्वाण के दार्शनिक विचारों से भारतीय चिन्तन प्रणाली को नवीन गति प्रदान की। असंग, नागार्जुन, वसुबन्धु, धर्मकीर्ति आदि ने बौद्ध विचारधारा का अपने ढंग से विकास किया। शून्यवाद तथा माध्यमिक दर्शन का भारत में ही नहीं अपितु विश्व के दर्शन साहित्य में भी गौरवपूर्ण स्थान है। बौद्धों का दार्शनिक साहित्य समृद्ध ही नहीं अपितु विचारोत्तेजक भी था। उनके विचारों से भारतीय दर्शन की प्राचीन परम्परा को नवीन दृष्टिकोण से पुनः विचार करने के लिए बाध्य होना पड़ा। बौद्धों ने दार्शनिक विचारों का खण्डन करने के लिए अन्य अनेक दार्शनिक पैदा हुए जिनमें कुमारिल भट्ट तथा गुरु शंकराचार्य अग्रगण्य थे। इन दोनों के योगदान से भारतीय दर्शन में नवीन चेतना जागृत हुई।

साहित्य एवं कला के क्षेत्र में—बौद्ध धर्म ने भारतीय साहित्य एवं कला को भी काफी प्रभावित किया। बौद्ध धर्म के विद्वानों द्वारा पालि और संस्कृत भाषा में बौद्ध दर्शन और धार्मिक विचारधारा से सम्बन्धित प्रभूत साहित्य की रचना की गई। साथ ही, महात्मा बुद्ध के जीवन को आधार बनाकर संस्कृत एवं जन भाषाओं में भी साहित्य लिखा गया। काव्य एवं नीति सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ लिखे गये। इन सबने भारतीय साहित्य को समृद्ध किया और संस्कृत तथा लोक भाषाओं के विकास में सहयोग दिया। बौद्ध विद्वान् दिग्नाग ने भारतीय तर्क-शास्त्र का विकास किया। उन्होंने "न्याय प्रवेश" और "आलम्बन परीक्षा" नामक ग्रन्थ लिखे। न्याय वैशेषिक पर इसकी गहरी छाप पड़ी है। "बुद्ध चरित" नामक महाकाव्य और "सारिपुत्र प्रकरण" नामक नाटक बौद्धों की ही देन है। मिलिन्दपन्हो तथा महावस्तु नामक ग्रन्थों में काफी ऐतिहासिक सामग्री है। इसी प्रकार, मंजूश्री मूलकल्प तथा दिव्यावदान नामक बौद्ध ग्रन्थों से भी भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। यदि सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य को अलग कर दिया जाय, तो वस्तुतः भारतीय साहित्य खण्डित-सा होने लगता है।

कला के क्षेत्र में भी बौद्ध धर्म की महान् देन रही है। कुछ विद्वानों की तो यह मान्यता है कि भारतीय शिल्प कला, मूर्ति कला एवं चित्रकला का जो निखरा स्वरूप दिखाई देता है, वह बौद्ध धर्म की ही देन है। गुहा मन्दिरों का निर्माण, मूर्ति कला की गान्धार शैली तथा भावना-प्रधान अजन्ता शैली की चित्रकला बौद्ध धर्म के प्रभाव से ही विकसित हो पाई है। कला के क्षेत्र से पाषाण का प्रयोग सर्वप्रथम शायद अशोक ने ही किया था। उसने 84 हजार स्तूपों का निर्माण करवाया, जिसमें साँची का स्तूप आज भी कला की दृष्टि से श्रेष्ठ माना जाता है। अशोक द्वारा निर्मित स्तम्भों में उच्चकोटि की कला झलकती है। साँची, भरहुत और अमरावती में बौद्ध धर्म की उच्चकोटि की कलाकृतियों का निर्माण हुआ। शिल्प कला का विकास भी बौद्ध धर्म के कारण ही सम्भव हो पाया। महायान सम्प्रदाय के विकास के साथ-ही-साथ महात्मा बुद्ध की प्रतिमाओं का निर्माण किया जाने लगा। इस समय बुद्ध की अधिकांश मूर्तियाँ गान्धार प्रदेश में बनीं। इसलिए उस प्रदेश की कला को गान्धार शैली का नाम दिया गया। गान्धार कला ने भारतीय मूर्तिकला को भी प्रेरणा

दी जिसके फलस्वरूप मथुरा, नालन्दा और सारनाथ में मूर्ति कला की अलग-अलग शैलियाँ विकसित हुईं। चित्रकला के क्षेत्र में अजन्ता की विश्वप्रसिद्ध गुफाओं की चित्रकला है। इसका मुख्य विषय महात्मा बुद्ध के जीवन के विभिन्न दृश्य तथा बोधिसत्वों का जीवन चित्रण ही है। बादामी, बाघ, सित्तनवासल तथा बराबर की गुफाओं में भी बौद्ध चित्रकला अनुपम है।

प्रशासन नीति के क्षेत्र में—बौद्ध धर्म ने परोक्ष रूप से प्रशासन नीति को भी प्रभावित किया। जनतन्त्र की समानता, सहिष्णुता और भ्रातृत्व की भावना को बौद्ध धर्म में साफ देखा-परखा जा सकता है। बौद्ध धर्म ने ''अहिंसा परमोधर्मः'' का नारा बुलन्द किया। अशोक ने हमेशा-हमेशा के लिए तलवार म्यान में रखकर अहिंसा का मार्ग अपनाया। यह ठीक है कि राजनैतिक दृष्टि से बौद्ध धर्म भारतीय संस्कृति के पतन का कारण बना परन्तु उसने भारतीय शासकों में लोक सेवा की भावना को पुनः जागृत किया। आधुनिक युग में महात्मा गाँधी ने अहिंसा को अपने आन्दोलन का मुख्य साधन बनाया।

आचार-विचार के क्षेत्र में—भारत में प्राचीनकाल से सदाचार को महत्त्व मिलता आया है। सत्य, सेवा, त्याग, परोपकार, अहिंसा आदि भारतीय संस्कृति के आदर्श रहे हैं। किन्तु जिस समय भारत में इन आदर्शों का विलोप होने लगा तब बौद्ध धर्म ने ही ''दस शील'' को अपनाकर भारतीय जनता को पुनः नैतिकता और सदाचरण का मार्ग दिखलाया और भारतीय आचार-विचार को उन्नत बनाने में पूरा-पूरा सहयोग दिया। बौद्ध धर्म के कारण ही जाति-पाँति के बन्धन थोड़े ढीले पड़े और निम्न जातियों को थोड़ी राहत मिली। **हेवेल** ने लिखा है कि, ''बौद्ध धर्म ने आर्यावर्त के जातीय बन्धनों को तोड़कर उसके आध्यात्मिक वातावरण में घुसे हुए अन्धविश्वासों को दूर कर सम्पूर्ण आर्य जाति को एकरूपता प्रदान करने में योग दिया और मौर्य वंश के विशाल साम्राज्य की नींव रखी।'' बौद्ध धर्म ने भारतीय लोगों के नैतिक पक्ष को उन्नत बनाने में अपूर्व योग दिया।

अन्य प्रभाव—बौद्ध धर्म ने भारत के वैदिक सम्बन्धों का क्षेत्र व्यापक किया तथा बहुत से देशों के साथ उसके सम्पर्क को मजबूत बनाया। जहाँ-जहाँ भी बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ वहाँ के बौद्ध लोग भारत को अपना पवित्र तीर्थस्थान मानने लगे और कई लोग भारत आने लगे। बौद्ध भिक्षुओं ने भारत की पृथकृता को भंग कर दिया और विश्व के अनेक देशों के साथ भारत के सांस्कृतिक तथा आर्थिक सम्बन्ध कायम हुए। उन देशों में भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का भी प्रसार हुआ जिसका विवरण आगे दिया जायेगा।

आज के युग में भी बौद्ध धर्म मानव समाज के लिए एक विशेष आकर्षण रखता है। विज्ञान एवं बौद्धिकता के मौजूदा युग में सामान्य व्यक्ति भी अन्धविश्वासों, रूढ़ियों एवं जटिल कर्मकाण्डों से रहित धर्म की अपेक्षा करता है। अहिंसा और मानवता की सेवा को अपनाना चाहता है। बुद्धि और तर्क की सहायता से रहस्यों को जानना चाहता है। सामाजिक समानता एवं सहिष्णुता चाहता है। इस दृष्टि से आज के युग में भी बौद्ध धर्म मानवता को सही मार्ग दिखलाने वाला है।

जैन धर्म और बौद्ध धर्म—तुलनात्मक अध्ययन

जैन धर्म और बौद्ध धर्म—दोनों का प्रसार एक ही समय में हुआ था और दोनों का उद्देश्य तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों तथा बुराइयों का उन्मूलन करना था। अतः दोनों में बहुत-सी बातों का एक समान पाया जाना स्वाभाविक ही है। समानता के मुख्य बिन्दु इस प्रकार हैं—(1) दोनों धर्मों का उदय ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। अतः दोनों ही धर्म ब्राह्मण धर्म के प्रमुख ग्रन्थ वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करते और न ही उन्हें ज्ञान का अन्तिम छोर मानते हैं। (2) दोनों ही धर्म ब्राह्मण धर्म के यज्ञवाद, बहुदेववाद और जन्म पर आधारित जातिवाद का विरोध करते हैं और सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्थाओं में ब्राह्मणों के प्रभुत्व को स्वीकार नहीं करते। (3) दोनों धर्म ईश्वर को इस सृष्टि का निर्माता नहीं मानते और इस कारण दोनों की गणना नास्तिक धर्मों में की जाती है। (4) दोनों ही धर्म ब्राह्मण धर्म की प्रवृत्ति मार्ग का विरोध करते हैं और निवृत्ति मार्ग में विश्वास रखते हैं। अर्थात् दोनों संसार-त्याग पर जोर देते हैं। परन्तु दोनों ही धर्म गृहस्थ धर्म की आवश्यकता को भी समान रूप से स्वीकार करते हैं। (5) दोनों ही धर्मों में सदाचार और अहिंसा का प्रधान स्थान है। (6) दोनों ही धर्म कर्मवाद और पुनर्जन्म पर विश्वास करते हैं। दोनों 'कर्म' का अर्थ ब्राह्मण धर्म के 'कर्म' के अर्थ से भिन्न मानते हैं। अर्थात् ब्राह्मणों की भाँति वे यज्ञ-अनुष्ठान को अच्छा कर्म नहीं मानते। (7) दोनों ही धर्मों का अन्तिम लक्ष्य "निर्वाण" अर्थात् मोक्ष प्राप्ति है। दोनों धर्मों का विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य को बिना किसी भेदभाव के निर्वाण प्राप्त करने का अधिकार है। (8) दोनों ही धर्म इस जीवन को दुःखमय समझते हैं। उनमें ब्राह्मण धर्म की आशावादिता का अभाव है। (9) दोनों धर्मों में संघ व्यवस्था का महत्त्व है। दोनों धर्मों के अनुयायियों की चार श्रेणियाँ हैं—भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका। (10) दोनों धर्मों के अपने-अपने "त्रिरत्न" हैं। (11) दोनों धर्मों में प्रारम्भ में भक्ति का कोई स्थान नहीं था परन्तु बाद में दोनों में भी भक्तिवाद का उदय हुआ। (12) इसी प्रकार, प्रारम्भ में दोनों धर्म व्यक्ति-पूजा तथा मूर्ति-पूजा के विरोधी थे परन्तु बाद में दोनों धर्मों में इस प्रकार की पूजा होने लग गई। (13) दोनों धर्मों ने मानव-सेवा पर अधिक जोर दिया। (14) दोनों ही ने देव वाणी संस्कृत के स्थान पर बोलचाल की भाषा को अपने प्रचार-प्रसार का माध्यम चुना। जैन धर्म ने प्राकृत भाषा को और बौद्ध धर्म ने पालि भाषा को अपनाया। परन्तु बाद में दोनों के साहित्य का माध्यम संस्कृत भाषा हो गया। (15) उपर्युक्त समानताओं के अलावा दोनों धर्मों के संस्थापकों के जीवन में भी काफी साम्य रहा। दोनों ही राजवंशी क्षत्रिय थे। दोनों ने विवाह करके गृहस्थ जीवन का सुख भोगा और दोनों के सन्तान भी हुई। दोनों ने लगभग 30 वर्ष की आयु में सुखी पारिवारिक जीवन का त्याग कर संन्यास ग्रहण किया और सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए घोर तपस्या का जीवन व्यतीत किया। दोनों ने ही ज्ञान प्राप्ति के बाद मृत्युपर्यन्त जनकल्याण हेतु धर्म-प्रचार का कार्य किया।

उपर्युक्त समानताओं के उपरान्त भी दोनों में बहुत-सी असमानताएँ भी थीं, जो इस प्रकार हैं—(1) जैन धर्म का मूल स्वरूप बौद्ध धर्म से कहीं अधिक प्राचीन है। (2) दोनों धर्मों का अन्तिम लक्ष्य तो एक समान प्रतीत होता है परन्तु सूक्ष्मता से देखने पर दोनों में मौलिक भिन्नता साफ नजर आ जाती है। जैन धर्म में मोक्ष (कैवल्य) का अर्थ दुःखरहित अर्थात् आत्मा का सदानन्द में मिल जाना है। परन्तु बौद्ध धर्म में मोक्ष (निर्वाण) का अर्थ व्यक्तित्व के पूर्ण विनाश से है। अर्थात् जब व्यक्ति सभी प्रकार की वासना या आसक्ति से मुक्त हो जाता है। जैन धर्म के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति मृत्यु के पश्चात् ही सम्भव है जबकि बौद्ध धर्म के अनुसार मनुष्य इसी जीवन में निर्वाण प्राप्त कर सकता है। उसके लिए मृत्यु आवश्यक नहीं है। (3) दोनों धर्मों में निर्वाण प्राप्ति के साधनों में भी भिन्नता है। जैन धर्म के अनुसार तपस्या, उपासना और काया-क्लेश आदि से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। किन्तु बौद्ध धर्म मध्यम मार्ग पर जोर देता है। उसके अनुसार अत्यधिक शारीरिक कष्ट और विलासमय जीवन—दोनों ही अवांछनीय हैं। इसके अलावा जैन धर्म जहाँ "त्रिरत्न" के अनुसरण की बात कहता है, वहीं बौद्ध धर्म "अष्टांगिक मार्ग" के आधार पर जोर देता है। (4) वैसे दोनों धर्म अहिंसावादी हैं परन्तु व्यवहार रूप में बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म अहिंसा पर अधिक जोर देता है। (5) जैन धर्म आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करता है परन्तु बौद्ध धर्म अनात्मवादी है। (6) दोनों ही धर्म जन्म पर आधारित जाति-व्यवस्था के विरोधी तथा सामाजिक समानता के पक्षधर थे। परन्तु जहाँ तक इस विषय पर अमल करने का सवाल है, जैन धर्म के अनुयायी संकीर्णता के जाल में फँस गये और निम्न जातियों को उत्साह के साथ गले से नहीं चिपटा पाये। बौद्ध धर्म ने बिना किसी हिचक के इस सिद्धान्त को पूरी तरह से अमल किया और निम्न जातियों के लोगों को सम्मान के साथ संघ में प्रवेश दिया। (7) जहाँतक धार्मिक सहिष्णुता का सवाल है, जैन धर्म अधिक सहिष्णु रहा। बौद्ध धर्म प्रारम्भ से ही धार्मिक कट्टरता को लेकर चला और परिणामस्वरूप अन्य धर्मों के साथ इसका निरन्तर सैद्धान्तिक संघर्ष चलता रहा। (8) सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जहाँ जैन धर्म ने स्पष्ट रूप से अपने विचारों का उल्लेख किया है वहीं बौद्ध धर्म इस पर चुप्पी साध गया। (9) वैसे तो दोनों धर्मों के अपने-अपने संघ हैं परन्तु बौद्ध धर्म में संघीय जीवन पर अधिक जोर है जबकि जैन धर्म की संघीय व्यवस्था उतनी संगठित नहीं है। बौद्ध संघ जनतांत्रिक शासन व्यवस्था के ही दूसरे रूप प्रतीत होते हैं। (10) बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार जिस तेजी के साथ शुरू हुआ था उसी रफ्तार से उसका पतन भी हो गया और भारत-भूमि से उसका लोप हो गया। परन्तु जैन धर्म का प्रचार-प्रसार धीमी गति से हुआ और उसका अस्तित्व भारत में बना रहा। (11) जैन अपने महापुरुषों को 'तीर्थंकर' कहकर पुकारते हैं तो बौद्ध उन्हें 'बोधिसत्व' कहकर पुकारते हैं। (12) जहाँ बौद्ध धर्म को अशोक, कनिष्क तथा हर्षवर्धन जैसे चक्रवर्ती सम्राटों का संरक्षण मिला, वहाँ जैन धर्म को किसी भी चक्रवर्ती राजा का संरक्षण प्राप्त न हो सका। (13) बौद्ध धर्म का विदेशों में भी प्रचार हुआ परन्तु जैन धर्म के अनुयायियों ने विदेशों में अपने धर्म के प्रचार के प्रति उत्साह नहीं दिखाया। परिणामस्वरूप भारत के बाहर उसका प्रचार नहीं हो पाया है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि दोनों धर्मों में पर्याप्त समानताओं के उपरान्त भी काफी असमानता थी और दोनों में एक-दूसरे के प्रति ईर्ष्या एवं द्वेष की भावना भी बनी रही। बौद्धों ने अपने प्रभुत्व काल में जैन धर्म के प्रभुत्व को कम करने के लिए भी अवश्य प्रयत्न किया होगा।

अभ्यास के लिए प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग पाँच पृष्ठों में दीजिए—

1. महात्मा बुद्ध के जीवन तथा उनकी शिक्षाओं का वर्णन कीजिए।
2. बौद्ध धर्म के उत्थान और पतन के कारणों की विवेचना कीजिए।
3. बौद्ध धर्म में विभाजन क्यों हुआ ? महायान सम्प्रदाय की विशेषताएँ बताइये।
4. बौद्ध धर्म और जैन धर्म की शिक्षाओं की तुलना करते हुए दोनों में भेद बताइये।
5. भारतीय संस्कृति को बौद्ध धर्म की क्या देन रही ?

लघूत्तरात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए—

1. महात्मा बुद्ध के चार आर्य सत्य की विवेचना कीजिए।
2. 'मध्यमा प्रतिपदा' (मध्यम मार्ग) से आप क्या समझते हैं ?
3. 'प्रतीत्य समुत्पाद' का अर्थ समझाइये।
4. महात्मा बुद्ध के सामाजिक विचारों की विवेचना कीजिए।
5. हीनयान सम्प्रदाय की विशेषताएँ बताइये।

अध्याय-5

पौराणिक वैष्णव और शैव धर्म

यद्यपि महावीर स्वामी और महात्मा बुद्ध ने लोगों को मोक्ष और निर्वाण प्राप्ति का सरल मार्ग बताया था, किन्तु उनकी मृत्यु के बाद उनके सम्प्रदायों में तन्त्र-मन्त्र और अन्ध-विश्वास उत्पन्न हो गये। उनके संघों में अनैतिकता एवं अनाचार प्रविष्ट हो गया, जिससे लोगों का उनमें विश्वास नहीं रहा। धीरे-धीरे हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान होने लगा। बौद्ध धर्म में व्याप्त तन्त्र-मन्त्र विद्या तथा जैन धर्म की कट्टरता और नियमों की कठोरता के विरुद्ध एक तीव्र प्रतिक्रिया हुई, जिससे हिन्दू धर्म के पुरुत्थान के साथ-साथ उसके विविध सम्प्रदाय भी प्रबल हो गये। इनमें वैष्णव और शैव सम्प्रदाय प्रमुख हैं।

(1) वैष्णव धर्म

उद्‌गम—वैष्णव धर्म के अंकुर हमें ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद में जहाँ अन्य देवी-देवताओं का उल्लेख मिलता है, वहाँ विष्णु का नाम भी मिलता है। ऋग्वेद में विष्णु को सूर्य का रूप माना गया है। इससे अधिक ऋग्वेद में वैष्णव धर्म का कोई उल्लेख नहीं मिलता। आगे चलकर ऋग्वेद में त्रिविक्रम की कथा में विष्णु का उल्लेख मिलता है। इस कथा में विष्णु को समस्त विश्व की रक्षा करने वाला माना गया है। निरुक्त में बताया गया है कि सूर्य का नाम ही विष्णु है। वैदिक युग में राजा बसु द्वारा यज्ञों में पशुबलि का विरोध करने तथा हरि की उपासना पर बल देने से वैष्णव धर्म का बीजारोपण हो गया। वैष्णव धर्म में भक्ति भावना को अत्यधिक प्रधानता दी गई।

उपनिषदों में भी भक्ति तथा ईश्वर शरणागति के भाव का उल्लेख मिलता है। उपनिषदों में कर्मकाण्डों को महत्त्व न देकर, केवल श्रद्धा को मान्यता दी गई है। उपनिषदों में कहा गया है कि, "आत्मा की उपलब्धि किसी बलहीन को नहीं होती और न वह उपनिषदों से, अंध्ययन से अथवा यज्ञ से ही सम्भव है। वह जिस किसी को वरण कर लेती है, वही उसे पाने में समर्थ हो जाता है। अत: आत्मा द्वारा वरण किये जाने के पूर्व उसे प्रार्थना या सेवा से प्रसन्न कर लेना आवश्यक है।" इस प्रकार एकमात्र 'हरि' में एकाग्र भाव के साथ भक्ति करने वाली साधना का 'एकांतिक' धर्म के रूप में उदय हुआ। इसकी पूजन पद्धति 'सस्वत विधि' कहलाने लगी, जिसके प्रधान अंग भक्ति, आत्मसमर्पण तथा अहिंसा के भाव थे। इसे अपना कर इसका प्रचार करने वालों में वासुदेव कृष्ण जैसे महान् व्यक्ति की गणना की जाती है। इसी कारण आगे चलकर इसका नाम भी 'वासुदेव धर्म' पड़ गया तथा हरि का स्थान स्वयं वासुदेव कृष्ण ने ग्रहण कर लिया। विक्रम संवत् के पूर्व तीसरी शताब्दी तक इसकी विधि 'पाँचरात्र विधि' में परिणित हो गई और इसका नाम भागवत धर्म के रूप में परिवर्तित हो गया।

पाँचरात्र विधि—पाँचरात्र मत के अनुसार सृष्टि का बीज प्रलय के रूप में भगवान वासुदेव में सिमटा हुआ है। उसकी शक्ति, इच्छा शक्ति, क्रिया शक्ति और भूति शक्ति, जिन्हें मन, प्राण और भौतिक प्रकृति की क्षमताएँ कहा जा सकता है, जागृत हुई और उससे छः गुण उत्पन्न हुए। इनमें ज्ञान और बल, एश्वर्य और वीर्य तथा शक्ति और तेज के तीन जोड़े हैं। इन जोड़ों को 'व्यूह' कहते हैं। ये तीन व्यूह 'सकर्षण' (वासुदेव कृष्ण का भाई बलराम), 'प्रद्युम्न' (वासुदेव कृष्ण का पुत्र) और अनिरुद्ध (वासुदेव कृष्ण का पौत्र) है। इनके ऊपर 'वासुदेव व्यूह' है। सबसे ऊपर 'पर वासुदेव' है। इन चार व्यूहों से सोलह उप-व्यूह बनते हैं और फिर उनमें से चार विद्येश्वर निकलते हैं। ये सभी मिलकर वासुदेव की चौबीस मूर्तियाँ होती हैं। इसके बाद भगवान अपने आपको प्रकृति के विविध रूपों में प्रकट करता है। ये उसके विभव हैं, जिन्हें अवतार भी कहते हैं। भागवत पुराण के अनुसार इनकी संख्या असीम हैं। विश्वक्सेन संहिता के अनुसार आम का पेड़ तक भगवान का अवतार है। अहिर्बुध्न्य संहिता में 39 अवतारों की सूची है, जिससे 'शान्तात्या' के रूप में बुद्ध को भी अवतार माना गया है। ये सब अवतार मूर्तियों के रूप में पूजे जाते हैं। पूजा के पाँच अंग बताये गये हैं—अभिगमन (देवता की ओर जाना), उपादान (पूजा की सामग्री पत्र, पुष्प, फल, नैवेद्य, धूप, दीप आदि जमा करना), इज्या (इस सामग्री को देवता पर चढ़ाना), स्वाध्याय (शास्त्रों को पढ़ना और मन्त्रों का जपना) और योग (ध्यान लगाना और भगवान से साक्षात्कार प्राप्त करना)। इस सभी का सार भक्ति है।

भागवत धर्म—ईसा से कई शताब्दियों पूर्व भारत में भागवत धर्म का उदय हो चुका था। भागवत धर्म में याज्ञिक कर्मकाण्डों के स्थान पर नारायण की भक्ति का उपदेश था। इसमें निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सगुण ईश्वर की प्रतिष्ठा की गई तथा भक्ति को मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ साधन बताया गया। भागवत धर्म के प्रमुख ग्रन्थ महाभारत, गीता और भागवत पुराण हैं। इस धर्म के अनुसार मनुष्य में अहंकार की भावना अधिक हैं, जब तक अहं है, उसमें अज्ञान रहता है तथा संसार में उसका आवागमन चलता रहता है। इसे दूर करने के लिए गीता में तीन मार्ग बताये गये हैं—कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग। इन तीनों का उद्देश्य अहंकार से निवृत्ति है। कर्मवान व्यक्ति सदैव कर्म करते रहते हैं, कर्मवाद का धीरे-धीरे विकास होता है और मनुष्य ज्ञान मार्ग पर पहुँच जाता है, जहाँ उसके अज्ञान का अन्धकार दूर हो जाता है और वह भक्ति मार्ग की ओर प्रशस्त हो जाता है। जब भक्त भगवान की भक्ति में लीन हो जाता है, उसका अहं समाप्त हो जाता है और उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

श्रीमद्भगवत गीता की रचना के समय दो प्रकार की साधनाएँ प्रधान रूप से प्रचलित थीं, जिनमें एक ज्ञान योग और दूसरी कर्मयोग थी। इनमें से प्रथम का रूप मुख्यतः आत्मोपासना का था। इसके अनुसार मनुष्य का कर्त्तव्य अपने चित्त को सभी सांसारिक बन्धनों से हटाकर तथा उसे नित्य, शुद्ध तथा ज्ञानमय आत्मा की ओर उन्मुख कर पूर्ण आत्मज्ञान की उपलब्धि करना है। इसी प्रकार दूसरे का रूप कर्मोपासना का था, जिसके अनुसार सभी को चाहिए कि वे अपने कर्म का निर्वाह कर्त्तव्य मानकर करें, जिससे अत्यधिक सुख की प्राप्ति हो। श्रीकृष्ण ने इन दोनों को मर्यादित कर इनका 'ज्ञान-कर्म योग समुच्चय' के रूप में समन्वय किया। इसके साथ ही उन्होंने दोनों के सुधरे हुए रूप में भक्ति योग का भी पुट दे दिया, जिससे निष्काम भावना के साथ सदाचरण करने का एक सरल मार्ग निकल

आया। गीता में वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ तथा संन्यास को हेय ठहरा कर बुद्धि से निष्काम कर्म करते रहने की प्रवृत्ति को श्रेष्ठ बताया गया है। शरणगति के सिद्ध का प्रतिपादन करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है, "हे अर्जुन, सब धर्मों को छोड़कर तुम मेरी शरण में आओ, मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कराऊँगा।" इस प्रकार गीता भक्तियोग को ज्ञानयोग से श्रेष्ठ बतलाती है और भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का अधिकार शूद्रों तथा स्त्रियों को भी प्रदान करती है। भक्ति का महत्त्व बताते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है, "न तो योग, न ज्ञान, न कर्म, न वेदाध्ययन, न तप और न दान मुझे इतने प्रिय हैं, जितनी एकान्तिक भक्ति। भक्ति, ज्ञानयोग व कर्मयोग के साधनों से श्रेष्ठ है।" गीता के अनुसार मोक्ष प्राप्त करने के लिये संन्यास आवश्यक नहीं, गृहस्थ में रहते हुए भी भक्ति द्वारा मोक्ष सम्भव है।

पौराणिक धर्म—गुप्तकाल पौराणिक धर्म का काल था तथा वैदिक धर्म के पुनरुद्धार का काल था। गुप्तकाल के वैष्णव धर्म में प्रचीन और नवीन तत्त्वों का समन्वय था, जिसकी अभिव्यक्ति भागवत पुराण व अन्य पुराणों में हुई थी। अधिकांश गुप्त सम्राट वैष्णव थे और अपने को 'परम भागवत' कहते थे। गुप्तकाल में इस धर्म की बहुत उन्नति हुई और इस धर्म ने भारत के प्रमुख धर्म का स्थान प्राप्त कर लिया। इस काल में विभिन्न देवी-देवताओं को स्पष्ट, साकार और सजीव रूप प्रदान किया गया। विष्णु-उपासना के अन्तर्गत लक्ष्मी की पूजा भी गुप्तकाल में प्रचलित थी। यद्यपि उसका आविर्भाव वैदिक काल में ही हो चुका था, किन्तु गुप्तकाल में उनका रूप निखर आया और वे धन, ऐश्वर्य एवं समृद्धि की देवी मानी जाने लगीं। उनकी कल्पना विष्णु-पत्नी के रूप में की गई। भागवत पुराण में विष्णु भक्ति का अत्यन्त ही विशद् वर्णन मिलता है तथा बाद में विष्णु पुराण में भी विष्णु भक्ति के विवेचन के साथ-साथ अनेक उपाख्यानों की भी रचना की गई। पुराणों के अनुसार भगवान को पूर्ण आत्मसमर्पण कर हम ब्रह्म को आनन्दमय अवस्था में प्राप्त कर सकते हैं। भक्ति किसी अन्य ध्येय का साधन नहीं, वरन् अपने आप में ही सर्वोच्च ध्येय है।

अवतारवाद—इसे विभववाद भी कहा जाता है। भारतीय धर्मों में अवतारवाद अपना विशिष्ट स्थान लिये हुए हैं। अवतारवाद के सम्बन्ध में विद्वानों की यह मान्यता रही है कि यह महाकाव्य काल की देन है। किन्तु रामायण और महाभारत में अवतारवाद का जो स्वरूप दिखाई देता है वह अचानक उत्पन्न होने वाले अवतारवाद का स्वरूप नहीं है। निश्चित ही उसके पीछे शताब्दियों का योगदान स्वीकार करना होगा, क्योंकि कोई भी विचारधारा उत्पन्न होकर ख्याति प्राप्त करने में शताब्दियों का समय ले लेती है। इसलिए अवतारवादी विचारधारा का काल रामायण और महाभारत से बहुत पहले माना जाना चाहिये। वैदिक साहित्य में हमें अवतारवादी तत्त्व मिलते हैं। जिस प्रकार अवतारवादी साहित्य में विष्णु अनेक रूप धारण कर लेता है वैसे ही वैदिक साहित्य में विष्णु और इन्द्र को अनेक रूपधारी कहा गया है। वैदिक इन्द्र तथा सूर्य परवर्तीकाल के अवतारवादी विष्णु हैं।

श्रीमद्भगवत गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि, "जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म का अभ्युदय होता है, मैं अपनी आत्मा का सृजन करता हूँ, सज्जन व्यक्तियों की रक्षा के लिये, पापी लोगों का नाश करने के लिये और धर्म की पुनर्स्थापना के लिये मैं युग-युग में अवतार लेता हूँ।" इस प्रकार अवतारवाद प्रचलित हुआ। सबसे प्राचीन ग्रन्थ में चार अवतारों का उल्लेख मिलता है—वराह, नृसिंह, वामन और वासुदेव कृष्ण। गुप्तकाल में वराह का पूजना होता था। नृसिंह अवतार के सन्दर्भ में प्रहलाद व हिरण्यकश्यप

की कथा प्रचलित है। वामन अवतार के सन्दर्भ में भी एक कथा प्रचलित है कि भगवान विष्णु ने वामन रूप धारण करके राजा बलि से दो पैर जमीन लेने में सारा विश्व ले लिया था। कृष्णावतार में कृष्ण के दो रूप मिलते हैं—एक तो वह कृष्ण जो मथुरा व वृन्दावन में रासलीलाएँ करता था, दूसरा महाभारत के वासुदेव कृष्ण, जो महान् राजनीतिज्ञ एवं दार्शनिक थे। इसके बाद परशुराम और राम के जुड़ जाने से अवतारों की संख्या छः हो गयी। महाभारत में भी इन छः अवतारों के अतिरिक्त हंस, कूर्म, मत्स्य और कल्कि अवतारों का उल्लेख मिलता है। मत्स्यपुराण में महाभारत के रचयिता वेदव्यास और महात्मा बुद्ध को भी अवतार मान लिया गया। रघुवंश के अनुसार रावण वध के लिये विष्णु ने दशरथ के पुत्र के रूप में जन्म लिया था। स्पष्ट है कि राम की विष्णु के अवतार के रूप में कल्पना की गई। पुराणों में चौबीस अवतारों का उल्लेख मिलता है, जिसमें बड़े-बड़े धर्म प्रवर्तकों को भी विष्णु का अवतार मान लिया गया और कहा गया कि भगवान विष्णु के अवतारों की तो गणना ही नहीं की जा सकती। वैष्णव धर्म में अवतारवाद का अत्यधिक महत्त्व है। अवतारवाद के कारण अनेक धर्म इस धर्म में सम्मिलित होते गये और धर्म के नाम पर कभी संघर्ष नहीं हुआ। भगवान को अन्तर्यामी माना जाने लगा, जो प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में विद्यमान है। सम्पूर्ण विश्व का संचालन उस अन्तर्यामी द्वारा ही होता है।

वैष्णव धर्म का आरम्भिक प्रसार—वैष्णव धर्म का दृष्टिकोण सार्वजनिक था। यह वर्णाश्रम व्यवस्था के बन्धनों से मुक्त था। इस धर्म के अनुसार मानव मात्र एक है, ब्राह्मण और शूद्र, उच्च और नीच, देशी और विदेशी सभी भगवान् की दृष्टि में शुद्ध हैं। भागवत पुराण के अनुसार, "पापी लोग भी भगवान का आश्रय लेकर शुद्ध हो जाते हैं।" स्वभावतः वैष्णव धर्म का निचली और विदेशी जातियों में काफी प्रचार हुआ। वासुदेव कृष्ण की पूजा लोकप्रिय होने लगी। चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में मेगस्थनीज ने मथुरा में श्रीकृष्ण की पूजा का वर्णन किया हैं। दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में तो वैष्णव धर्म इतना प्रबल हो चुका था कि विदेशी जातियाँ भी इसकी ओर आकर्षित होने लगीं। यवन, शक, कुषाण इसके पक्के अनुयायी हो गये थे। दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व में यूनानी राजा अन्तलिकित के राजदूत तक्षशिला निवासी हेलियोडोरस ने 'भागवत' उपनाम ग्रहण किया और देव-देव वासुदेव की भक्ति के निमित्त एक गरुड़ध्वज खड़ा करवाया और उस पर इस धर्म के तीन नैतिक सिद्धान्त—दम, त्याग और अप्रमाद—अंकित करवाये, जिनके आचरण से स्वर्ग मिलता है। कुषाण वंश के तीन राजाओं का नाम वासुदेव था। वैष्णव धर्म का ईरानी जगत् से भी गहरा सम्बन्ध स्थापित हुआ। महाभारत के शान्ति पर्व से पता चलता है कि नारद मुनि ने श्वेतद्वीप (रूसी-प्रदेश जिसे शाकद्वीप भी कहते हैं) में जाकर नारायण हरि की उपासना की। वहाँ उन्हें गौर वर्ण के मुनि, नारायण की भक्ति करते हुए मिले। ये लोग मानस जप और सूक्त, सुमत व सुकृत (अच्छा बोलना, सोचना और करना) के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। इनमें पशुबलि की मनाही थी और ये देवता पर सिर्फ धान्य चढ़ाते थे। सीरिया की एक अनुश्रुति के अनुसार दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व तक आर्मीनिया में श्रीकृष्ण की पूजा होने लगी थी। विदिशा, घोसुण्डी और नानाघाट के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि धीरे-धीरे यह धर्म मध्य प्रदेश, राजस्थान और महाराष्ट्र तक फैल गया था। वैष्णव धर्म सार्वभौम मानवता का प्रतिपादक था।

वैदिक धर्म के साथ समन्वय—ऐसी मान्यता है कि यज्ञ से पुराण का जन्म हुआ। प्रारम्भ में पुराण के पाँच विषय थे—सर्ग (सृष्टि की कथा), प्रतिसर्ग (प्रलय के बाद सृष्टि

का पुनर्भाव), वंश (देवताओं, राक्षसों, ऋषियों और राजाओं के वृत्तान्त), मन्वन्तर (युग-चक्रों का आवर्तन) और वंशानुचरित (राजवंशों का वर्णन)। इनका पठन पारायण ब्राह्मणों के हाथ में था, किन्तु जब यज्ञ, विशेषकर अश्वमेध यज्ञ से पारिप्लव आख्यान निकल गये, तब पुराणों से ब्राह्मणों का सम्बन्ध टूट गया और सूतों, चारणों और कथावाचकों ने इसे अपने हाथ में ले लिया। अब पुराण लोकधर्मों के प्रचार के माध्यम बन गये। किन्तु गुप्तकाल में पुराण-वेद, स्मृति, भागवत धर्म और बौद्ध-जैन विचारधारा के समन्वय के माध्यम बन गये। भारतीय संस्कृति के इतिहास में यह एक अभूतपूर्व घटना थी। अपनी समन्वयमूलक दृष्टि के कारण पुराणों ने वर्णाश्रम धर्म को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। विष्णुपुराण में कहा गया है कि, "वही व्यक्ति परमेश्वर की पूजा कर सकता है जो अपने वर्ण और आश्रम सम्बन्धी कर्त्तव्य को पूरा करता हो।" वायुपुराण में कहा गया है कि, "जब यज्ञों की कमी हो जाती है तो भगवान विष्णु बारम्बार धर्म की स्थापना के लिये जन्म लेते हैं।" विष्णुपुराण, वायुपुराण और भागवत पुराण में राजा वेन की कथा में वर्णन आया है कि वर्णाश्रम धर्म की अवहेलना के अपराध में ऋषियों ने उसे यमलोक भेज दिया। विष्णु पुराण में यम अपने नौकरों को हिदायत देते हैं कि वे विष्णु के उपासकों को हाथ न लगाएँ, क्योंकि वे वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करते हैं। इस प्रकार पुराणों के माध्यम से वैष्णव धर्म प्राचीन सामाजिक व्यवस्था का पोषक बन गया और धार्मिक भेद समाप्त हो गये।

वैष्णव धर्म में नये तत्त्व—दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से वैष्णव धर्म में नये तत्त्व जुड़ने शुरू हो गये थे। इसमें अवतारवाद मुख्य था। पाँचरात्र पद्धति में वासुदेव की पूजा चार रूपों में (चतुर्व्यूह) होती थी। इसके विस्तृत प्रतिपादन के लिये 600-800 ई. के बीच में अनुश्रुति के अनुसार 108 पाँचरात्र संहिताएँ बनीं। ये विष्णु की शक्ति पर अधिक बल देते हैं। मध्य युग में, जहाँ वैष्णव धर्म का अधिक प्रसार हुआ, वहाँ साथ ही उसके मन्तव्यों में भी परिवर्तन हुए। यह धर्म भक्तिमार्ग का पोषक था। कर्मकाण्ड और अनुष्ठानों की अपेक्षा भक्ति और उपासना को अधिक महत्त्व दिया जाता था। शुंग काल में मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था, जिसमें वासुदेव कृष्ण की मूर्ति स्थापित की जाती थी। किन्तु मध्ययुग में भागवत धर्म की सीधी और सरल भक्ति आडम्बरयुक्त होने लगी। मन्दिरों में स्थापित मूर्तियों के साज-शृंगार को अत्यधिक महत्त्व दिया जाने लगा और उपास्यदेव को सन्तुष्ट करने के लिये नाचने व गाने की प्रथा भी शुरू हुई। अब मन्दिरों में स्थापित मूर्तियाँ केवल प्रतीक मात्र नहीं रह गई बल्कि उन्हें जीवित एवं जागृत देवता मानकर उनको स्नान, भोग, साज-शृंगार, वस्त्र आदि अर्पण करने की प्रथा भी शुरू हो गयी। कृष्ण के सम्बन्ध में अनेक गाथाएँ प्रचलित हो गईं, जैसे गोपियों के साथ उनकी क्रीड़ाएँ, राधा का कृष्ण के साथ सम्बन्ध आदि। भागवत पुराण को मध्ययुग (दसवीं सदी) की वृत्ति माना जाता है। भागवत पुराण में कृष्ण के चरित्र का जिस ढंग से वर्णन किया गया है, वह महाभारत के कृष्ण से बिल्कुल भिन्न है। कृष्ण-लीलाओं का जो वर्णन भागवत एवं ब्रह्मवैवर्त पुराणों में उपलब्ध होता है, उसका विकास मध्य युग में ही हुआ था। इस कारण अब वैष्णव धर्म ने एक ऐसा नया रूप ग्रहण कर लिया जो पुराने भागवत वैष्णव धर्म से बिल्कुल भिन्न था। 12वीं शताब्दी के अन्त में कवि जयदेव ने गीत गोविन्द नामक जो काव्य लिखा उसमें राधा और कृष्ण के प्रेम और प्रेम क्रीड़ाओं का मनोरंजक वर्णन किया है। यह ग्रन्थ वैष्णव धर्म की इस युग की प्रवृत्तियों का परिचायक है।

वैष्णव आचार्य—वैष्वण धर्म के विकास में यहाँ के आचार्यों एवं सन्तों ने प्रधान रूप से भाग लिया। शंकराचार्य वैष्णव सम्प्रदाय के अग्रणी माने जाते हैं। इन्होंने उपनिषदों ब्रह्मसूत्रों और गीता पर टीका-टिप्पणी करके प्रत्येक मत का खण्डन किया। इन्होंने जगह-जगह बौद्धों को परास्त किया तथा बौद्धों के अनात्मवादी सिद्धान्त का खण्डन किया। उनका कहना था कि यदि आत्मा नहीं है तो कोई चीज अपने आप ही निर्मित क्यों नहीं हो जाती। चूना व पत्थर पड़ा रहने से मकान नहीं बनता, बल्कि किसी चैतन्य मनुष्य के मस्तिष्क की चेतना से मकान का निर्माण होता है। इनके सिद्धान्तों का आधार सत्य, चित्त और आनन्द था। उन्होंने कहा कि जो सत्य है वह कभी नष्ट नहीं हो सकता। आत्मा चैतन्य है और उसमें भी सत्य विद्यमान है। वास्तविक आनन्द पूर्णता में है। इनका प्रधान उद्देश्य वैदिक आर्य धर्म का पुनरुद्धार था तथा उनका दृष्टिकोण मूलतः दार्शनिक था। 'ब्रह्म एक है' के सिद्धान्त को भी शंकराचार्य ने ही प्रतिपादित किया था।

वैष्णव धर्म के विकास में दक्षिण भारत के आलवार सन्तों ने विशेष रूप से कार्य किया। इन्होंने भक्तिरस को प्रवाहित करने के लिये बहुत से गीतों का निर्माण किया, जो जनता में बड़े लोकप्रिय हुए। आलवार सन्तों ने अपने आध्यात्मिक अनुभव के आधार पर जिन पदों की रचना की, उनका संग्रह तमिल में 'प्रबन्धम्' नाम से प्रसिद्ध है। दक्षिण में इस ग्रन्थ की प्रतिष्ठा तमिल वेद के रूप में हुई। साधारण जनता के लिये कठोर तपस्या और याज्ञिक अनुष्ठान की अपेक्षा भक्ति मार्ग का अनुसरण करना अधिक सरल था। इसलिये आलवार सन्तों द्वारा प्रवाहित भक्ति धारा जनता में बहुत लोकप्रिय हुई।

आठवीं और नौवीं शताब्दी में वैष्णव धर्म को दो ओर से खतरा उत्पन्न हुआ। एक ओर कुमारिल भट्ट ने वैदिक कर्मकाण्ड को ही मुक्ति का मार्ग मानते हुए उसके पुनः प्रतिष्ठापन का आन्दोलन चलाया। दूसरी ओर शंकराचार्य ने अद्वैतवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर यह सिद्ध किया कि सत्य सत्ता केवल ब्रह्म है और जीव तथा प्रकृति की कोई पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। यह ज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति का साधन है। जब ब्रह्म और जीव में अभेद है, तो भक्ति से कोई लाभ नहीं। शंकराचार्य के अगाध, पाण्डित्य, असाधारण प्रतिभा, अद्‌भुत शास्त्रार्थ-सामर्थ्य और विलक्षण व्यक्तित्व के कारण वैष्णव धर्म को बड़ा आघात लगा। इसलिये दक्षिण भारत में अनेक ऐसे आचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने अपने भक्ति-सिद्धान्त को सुदृढ़ दार्शनिक आधार पर स्थापित किया। इन आचार्यों का प्रयास था कि भक्ति मार्ग और वैष्णव धर्म को सुदृढ़ दार्शनिक आधार पर स्थापित कर उसे पुष्ट किया जाय।

इस प्रकार के आचार्यों में सर्वप्रथम 10वीं शताब्दी के अन्त में नाथ मुनि हुए। इनका प्रधान कार्य न केवल वैष्णवों का संगठन, आलवार के गीतों का संग्रह तथा उन्हें द्रविड़ रागों में लयबद्ध करना और मन्दिरों में उनका गायन करना था, अपितु वैष्णव सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या करना भी था। नाथ मुनि द्वारा वैष्णव धर्म के उप-सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ जिसे 'श्री वैष्णव' कहा जाता है। इनके उत्तराधिकारियों में यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य प्रमुख थे। यामुनाचार्य ने विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहा कि भक्तियोग के सम्मुख ज्ञानयोग और कर्मयोग की स्थिति कोई महत्त्व नहीं रखती। रामानुज ने भी विशिष्टाद्वैतवाद की स्थापना की। इसके अनुसार अखिल सद्‌गुणों के भण्डार एक ईश्वर के जीव और जगत् दो प्रकार के विशेषण हैं। शंकर के अद्वैत में जीव और ब्रह्म में अभिन्नता होने के कारण भक्ति के लिये कोई स्थान न था, रामानुज की दार्शनिक पद्धति में उसे ब्रह्म का

विशेषण मानते हुए भी उससे पृथक् माना गया, अतः इसमें भक्ति सम्भव थी। रामानुज ने विष्णु भगवान की पूजा का प्रचार किया तथा भक्ति को मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ साधन बताया।

श्री वैष्णव सम्प्रदाय के अतिरिक्त वैष्णव धर्म के अन्य सम्प्रदायों का भी विकास हुआ। इनमें निम्बार्काचार्य और पध्वाचार्य द्वारा प्रतिपादित सम्प्रदाय उल्लेखनीय हैं। निम्बार्काचार्य (1114-1162 ई.) ने द्वैताद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसके अनुसार जीव तथा ईश्वर व्यवहार में भिन्न हैं, किन्तु सिद्धान्ततः अभिन्न हैं। उन्होंने भक्ति मार्ग पर बहुत जोर दिया और यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य को उसी ढंग से भगवान की भक्ति करनी चाहिये जैसे कि राधा और अन्य गोपियाँ कृष्ण के प्रति भक्ति व प्रेम रखती थीं। उनका मत 'सनक सम्प्रदाय' कहलाता था। सनक सम्प्रदाय वाले राधा-कृष्ण को अपना सर्वस्व समझते थे। मध्वाचार्य (1197-1276 ई.) द्वैतवाद में विश्वास करते थे। उनके अनुसार ईश्वर, जीव और जगत् तीनों अलग-अलग हैं। ईश्वर स्वामी है, जीव उस पर आश्रित है तथा जगत् ईश्वर द्वारा परिचालित होता है। वे विष्णु को ईश्वर का रूप मानकर उसी की उपासना का उपदेश देते थे। इसी प्रकार वल्लभाचार्य (1479-1530 ई.) भक्ति द्वारा भगवान कृष्ण के साथ एकत्व प्राप्त करने का उपदेश देते थे। उन्होंने शुद्धाद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनका कहना था कि संसार में जितनी भी वस्तुएँ हैं वे उसी ब्रह्म का स्वरूप है। वे प्रत्येक वस्तु में ब्रह्म की सत्ता मानते थे। उनके अनुयायी पुष्टिमार्गी या वल्लभ सम्प्रदायी कहलाते थे। वे कृष्ण के बाल रूप की उपासना करते थे। इस पुष्टिमार्ग में कृष्ण व गोपियों की रासलीलाएँ भी धीरे-धीरे प्रवेश करने लगीं, जिससे रसिकता में वृद्धि होने लगी और कालान्तर में अनाचार का प्रवेश हो गया।

उपर्युक्त आचार्यों के प्रयत्नों से वैष्णव धर्म को वह दार्शनिक आधार प्राप्त हो गया, जिसकी उन्हें आवश्यकता थी। जब जीव, ब्रह्म से विशिष्ट या भिन्न है, तो उनके लिये भक्ति ही मोक्ष का सर्वोत्तम मार्ग है। भारत में सर्वत्र इस मत का प्रचार हुआ और बहुत से लोग वैष्णव मन्दिरों में भगवान की मूर्ति की पूजा और भक्ति के लिए प्रवृत्त हुए।

(2) शैव धर्म

उद्भव और विकास—शैव धर्म भी काफी प्राचीन लोक धर्म है। शिव की परिकल्पना में संस्कृति के विकास के अनेक स्तर समाये हुए हैं। सिन्धु सभ्यता में शैव धर्म के दर्शन होते हैं। सिन्धु सभ्यता के अवशेषों में शिव की मूर्तियाँ मिली हैं। मूर्ति में एक योगी ध्यानमग्न है तथा उस योगी के सिर पर सींग हैं और उसके आस-पास पशु बैठे हैं। शिव को महायोगी माना जाता है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि शिव की प्राचीन मूर्तियों में जो उसके सिर पर सींग पाये जाते हैं, वे सींग अब अर्ध-चन्द्र में परिवर्तित हो गये हैं। अतः सिन्धु सभ्यता के समय शैव धर्म था। ऋग्वेद में रुद्र का वर्णन मिलता है और उसे अत्यन्त ही भयंकर माना गया है। यही रुद्र कालान्तर में शिव के साथ मिलकर एक हो गया। यजुर्वेद तक शिव-पूजा पूर्ण विकसित हो चुकी थी। यजुर्वेद में रुद्र के अनेक रूप देखने को मिलते हैं, जैसे शिव, रुद्र, शतरुद्रीय आदि। अथर्ववेद तक पहुँचते-पहुँचते यह स्पष्ट हो गया कि रुद्र ही आकाश के तारागण और ग्रहों को परिचालित करता है। इसमें यह भी कहा गया है कि शिव, सदाशिव है अर्थात् सभी का मंगल करने वाला है। तैत्तिरीय संहिता व श्वेताश्वतर उपनिषद् में रुद्र और शिव की एकता सिद्ध की गई है और शिव को ईश्वर का रूप माना गया है। इसका

ऋषि श्वेताश्वतर भक्तिपूर्वक रुद्र की शरण लेता है। बौद्ध ग्रन्थ 'निद्देस' में शिव के उपासकों का उल्लेख मिलता है। महाभारत के नारायणीय प्रकरण में उमापति शिव का उल्लेख मिलता है। चौथी-तीसरी सदी ईसा पूर्व में यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने दायोनीसस की पूजा का जिस प्रकार वर्णन किया है, उसमें शिव-पूजा के रिवाज का साक्ष्य मिलता है। दूसरी सदी ईसा पूर्व में पतंजलि ने 'शिव भागवतों' की चर्चा की है, जिसका अर्थ है शिव को भगवान मानने वाले। उस समय शिव की मूर्ति की पूजा चालू थी।

पाशुपत शैव धर्म—शिव-पूजा को लकुलीश ने पाशुपत सम्प्रदाय में संगठित किया। वायु, कूर्म और लिंग पुराणों से ज्ञात होता है कि जिस समय वासुदेव कृष्ण उत्तरी भारत में अपना धर्म फैला रहे थे, उसी समय पश्चिमी भारत में कायावरोहण नामक स्थान पर लकुलीश का जन्म हुआ। उन्हें शिव का अठाईसवाँ और अन्तिम अवतार मान लिया गया। लकुलीश के विचार 'पाशुपत सूत्रों' में मिलते हैं, जिनके आधार पर 14वीं शताब्दी में माधवाचार्य ने अपने 'सर्व-दर्शन-संग्रह' में उनके मत के विषय में उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि लकुलीश शिव को समस्त सृष्टि का कारण मानते थे। उन्हें 'पति' कहते हैं। उनका कार्य जीवात्मा है, जिसे 'पशु' कहा गया है। यह पशु 23 भौतिक तत्त्वों के जाल में जकड़ा हुआ है, जिसके लिये 'पाश' शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु इसका एक गुण 'विद्या' भी है, जिससे वह 'पाशों' से छुटकारा पाता है। इसके लिये 'विधि' के अनुसार 'व्रतों' का पालन करना पड़ता है और 'द्वारों' से गुजरना पड़ता है। 'व्रतों' में राख पर लेटना, शरीर पर राख लपेटना, हँसना, गाना, नाचना, हुहुक्कार की आवाज करना, मंत्र जपना और पूजा करना शामिल है। 'द्वारों' में जागते हुए भी सोते से लगना (क्राथन), लकवा मारे हुए की तरह गात को हिलाना (स्पन्दन), चलते हुए लड़खड़ाना (मण्डन), कामोद्दीपक मुद्राएँ बनाना (श्रृंगरण), पागलों जैसा असामाजिक व्यवहार करना (अवितत्करण) और ऊटपटांग बकना (अवितद् भाषण) सम्मिलित हैं। इससे योग की स्थिति उत्पन्न होती है, जिसमें 'पशु' 'पति' से मिलता है और उसके समस्त दुःख शिव में लीन होकर समाप्त हो जाते हैं। शैव धर्म में दुःखों के अन्त के दो रूप हैं—अनात्मक तथा सात्मक। अनात्मक का अर्थ है योग द्वारा दुःखों से पूर्ण मुक्ति तथा सात्मक का अर्थ है योग द्वारा अलौकिक सिद्धियों की प्राप्ति। जब मनुष्य मोक्ष की पहली सीढ़ी पर पहुँचता है तो वह सर्वज्ञ हो जाता है, वह शिव-तुल्य हो जाता है, वह महान् शक्तिशाली हो जाता है। तत्पश्चात् जिसे अलौकिक शक्ति प्राप्त करनी होती है, वह और आगे बढ़ता है और ऐसे स्थान पर पहुँचता है, जहाँ संसार की कोई जीज उसे लिप्त नहीं कर सकती।

पाशुपत शैवों की क्रियाओं में सामाजिक विद्रोह की भावना छिपी हुई थी। जब समाज वर्णों और वर्णों के झगडों में फँसकर निष्क्रिय होता जा रहा था, तब पाशुपतों ने इसके गर्वीले शिष्टाचार को चुनौती देने के लिये अशिष्ट बातों का प्रचार किया। महाभारत के शान्ति पर्व में शिव ने स्पष्ट कहा है कि उसका धर्म वर्णाश्रम व्यवस्था के विपरीत है और मानव-मात्र के कल्याण के लिये है। पाशुपत सूत्रों के टीकाकार कौण्डिन्य ने भी पाशुपतों की क्रियाओं को ब्राह्मण विरोधी बताया है। पाशुपतों और ब्राह्मणों का विरोध इतना गहरा था कि 'स्मृति चन्द्रिका' में कहा गया कि पाशुपत को छू लेने मात्र से नहाना और कपड़े धोने चाहिये। इससे स्पष्ट है कि पाशुपत धर्म जाति-पाँति के भेदभाव को मिटाकर सारी मानवता को एक करना चाहता था। इसी कारण ईसवी सन् के आस-पास उत्तरी भारत में शकों, पह्लवों

और कुषाणों के आने से इस धर्म की विशेष उन्नति हुई। शक राजा मोग और पह्लव राजा गुन्डफर्न शैव मतावलम्बी थे। कुषाण सम्राट कदफिस प्रथम, कदफिस द्वितीय और हुविष्क भी शिवोपासक थे। इनके माध्यम से शैव धर्म भारत से बाहर मध्य एशिया में भी फैला।

कापालिक और कालमुख—ये दोनों शैव धर्म के ही सम्प्रदाय थे। इनके सिद्धान्त पाशुपतों से अधिक उग्र थे। कापालिक सम्प्रदाय वाले सिर पर बड़ा जूड़ा बांधते हैं, कानों में हड्डियों की बड़ी-बड़ी बालियाँ पहनते हैं, गले में हड्डियों की माला पहिनते हैं तथा श्मशान में रहते हैं। कापालिकों के लिये छः मुद्राओं का धारण करना अनिवार्य है—कर्णिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म तथा यज्ञोपवीत। इनके अतिरिक्त पारलौकिक सिद्धि के लिये निम्न क्रियाओं का विधान है—(1) नरमुण्ड या कपाल में भोजन करना, (2) मृत व्यक्ति की भस्म शरीर पर लगाना, (3) भस्म भक्षण, (4) हाथ में त्रिशूल दण्ड रखना, (5) मदिरा का पात्र सदैव अपने पास रखना और, (6) उस पात्र में अवस्थित महेश्वर की पूजा करना। शैव साहित्य से पता चलता है कि इस सम्प्रदाय में भी बड़े-बड़े योगी हुए थे। कालमुख सम्प्रदाय की क्रियाएँ भी लगभग कापालिकों की तरह ही हैं, किन्तु कालमुख सम्प्रदाय के अनुयायी अपने मुँह को काला करते थे। दक्षिण में इस सम्प्रदाय के अनेक शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जिससे पता चलता है कि यह दक्षिण में अधिक प्रचलित था। इन दोनों सम्प्रदायों का दर्शन पाशुपत सम्प्रदाय के समान ही है।

शैव साहित्य-त्रिदर्शन (आगमशास्त्र, स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञा) में पाशुपतों, कापालिकों और कालमुखी के गन्दे आचार व क्रिया-विधियों की भर्त्सना की है तथा ध्यान और ज्ञान को परम पद की प्राप्ति का मुख्य साधन बताया है।

वीर शैव या लिंगायत सम्प्रदाय—12वीं शताब्दी में कर्नाटक में शैव धर्म का एक उत्कृष्ट रूप सामने आया। अल्लमप्रभु और बसवण्ण ने, जो बाद में प्रधानमंत्री के पद तक पहुँचा था, वीर शैव अथवा लिंगायत सम्प्रदाय की स्थापना की थी। इस सम्प्रदाय के अनुसार प्रारम्भ में केवल शिव की सत्ता थी। वह निरावलम्ब था, जिसे 'सर्वशून्य' कहते हैं। उसके साथ उसकी शक्ति थी और इस शक्ति के कारण उसमें अपनी चेतना पैदा हुई। वह 'शून्यलिंग' बन गया, जो 'निष्कल ब्रह्म' था। इसके बाद वह 'महालिंग' बना और फिर उसने पाँच मुँह वाले 'सदाशिव' का रूप धारण कर लिया। उसके पाँच मुँह से पाँच सादाख्य पैदा हुए जिनमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच तत्त्व निकले। उसकी आँखों व मन से सूर्य और चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई तथा छुपे हुए मुँह से जीवात्मा का विकास हुआ। जीवात्मा को परमात्मा (शिव) से एकाकार होने के लिये छः स्थलों से गुजरना पड़ता है। ये छः स्थल हैं—भक्तस्थल (इसमें भक्तिभाव पैदा किया जाता है), महेश्वरस्थल (इसमें विश्वास और निश्चय पैदा किया जाता है), प्रसादीस्थल (इसमें भगवान की कृपा के अलावा सभी बातों को हेय समझा जाता है), प्राणलिंगीस्थल (इसमें मन के भीतर भगवान के प्रसाद की अनुभूति की जाती है), शरणस्थल (इसमें अद्वैत या एक शिव का साक्षात्कार किया जाता है) और लिंगांगसामरस्य [इसमें जीवात्मा (अंग) परमात्मा (लिंग) के साथ एक हो जाती है]। इस दिव्य अनुभूति पर मानव मात्र का अधिकार है। अतः वीर शैव धर्म सबके लिये खुला है, क्योंकि इसकी दृष्टि में सभी व्यवसायों के लोग समान थे। इस प्रकार इस सम्प्रदाय ने मानव मात्र की समानता को प्रतिपादित कर एक बड़ी सामाजिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने केदार (हिमालय में), उज्जयिनी, श्रीशैलम्, रम्भापुरी और

वाराणसी में पाँच मठों की स्थापना की, जिनके द्वारा लिंगायत सम्प्रदाय का सर्वत्र भारत में प्रचार हुआ।

शैव-सिद्धान्त सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय का प्रचार मुख्य रूप से दक्षिण के तमिल प्रदेशों में हुआ। इसके प्रवर्तकों में माणिक्कवाचकर, अप्पर, सम्बन्धर और सुन्दर सर्वप्रधान है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी जगत् और जीव की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं और शिव को चराचर जगत् का स्वामी मानते हैं। इसी प्रकार शिवाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्रीकण्ठ थे, जो रामानुजाचार्य के समकालीन थे। उनके सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म जगत् का न केवल निमित्त कारण है, बल्कि उपादान कारण भी है। शिव की शक्ति ही जगत् के रूप में अभिव्यक्त होती है। ब्रह्म और शिव एक ही सर्वोपरि सत्ता के सूचक हैं।

शैव धर्म का प्रसार—मध्य युग में अनेक शिव मन्दिरों का निर्माण हुआ। महाराष्ट्र तथा दक्षिण में राष्ट्रकूट और चोल राजाओं के संरक्षण में शैव धर्म बड़ा लोकप्रिय हुआ। इसी समय इलोरा (वेरुल) के जगत् प्रसिद्ध कैलाश और तंजौर के विशाल शिव मन्दिरों का निर्माण हुआ। इन मन्दिरों में भगवान शिव की मूर्ति स्थापित की जाती थी। इन मूर्तियों में शिव के अनेक रूप है। वह जगत् का पालन करने वाला है और अपने भक्तों पर अनुग्रह भी करता है। यह शिव का सौम्य रूप है। शिव सृष्टि का संहार भी करता है। यह उसका रौद्र रूप है। वह अनेकविध शिल्पों और विधाओं का प्रवक्ता भी है। वह उमा और पार्वती का पति भी है। श्रीकृष्ण के समान शिव के सम्बन्ध में भी अनेक कथाएँ पुराणों में मिलती है। इन कथाओं के आधार पर शिव की अनेक रूपों में मूर्तियाँ बनायी गई। इनमें शिव की सौम्य, उग्र और नटराज की शिव मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। बाद में जब शैव धर्म में तन्त्रवाद का प्रवेश हुआ तब शिवलिंग भी मन्दिरों में स्थापित किये गये। वर्तमान समय में भारत में जो शैव मन्दिर है उनमें प्रायः शिवलिंग की पूजा की जाती है। यह लिंग सृष्टि के उस तत्त्व को सूचित करता है जिसमें सम्पूर्ण चर जगत् का प्रादुर्भाव होता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग पाँच पृष्ठों में दीजिए—

1. वैष्णव धर्म के उद्भव एवं विकास की विवेचना कीजिए।
2. वैष्णव आचार्यों और उनके विचारों की व्याख्या कीजिए।
3. शैव धर्म के उद्भव एवं विकास पर एक निबन्ध लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए—

1. पाँचरात्र विधि से आप क्या समझते हैं ?
2. अवतारवाद के उद्भव के बारे में चर्चा कीजिए।
3. शैव धर्म में पाशुपत शैव धर्म क्या है? विवेचना कीजिए।
4. शैव धर्म के दो सम्प्रदायों-कापालिक एवं कालमुख की विशेषताएँ एवं क्रियाएँ बताइये।
5. लिंगायत सम्प्रदाय क्या था ? इसके मुख्य सिद्धान्त बताइये।

◆

अध्याय-6

वर्ण-व्यवस्था

भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषताओं में उसका सामाजिक संगठन उसकी प्रमुख विशेषता है। भारतीय सामाजिक संगठन को उसकी व्यापकता, विविधता और जटिलता के कारण उस समय तक नहीं समझा जा सकता, जब तक कि उसके वैचारिक एवं संस्थागत आधारों का गहन अध्ययन न कर लिया जाय। आधारों को समझने के लिए हमें सामाजिक संगठन के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करना होगा। भारतीय सामाजिक संगठन का इतिहास पाँच हजार वर्ष से भी अधिक पुराना है। वास्तव में भारतीय सामाजिक संगठन का इतिहास उस समय आरम्भ हो चुका था, जब विश्व के अधिकांश देशों के लोग सभ्यता के उषाकाल की लालिमा भी नहीं देख पाये थे। उस समय भारत में ऐसे सामाजिक संगठन का निर्माण हो चुका था, जो न केवल व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में सहायक सिद्ध हुआ, बल्कि समाज स्वयं भी समृद्धि के मार्ग पर प्रशस्त हुआ। प्राचीन ऋषि-मुनियों, विचारकों एवं चिन्तकों ने ऐसे जीवन मूल्यों और आदर्शों का निर्माण किया, जो आज भी भारतीय सामाजिक संगठन का आधार बने हुए हैं। सामाजिक संगठन में परिवार और पारिवारिक व्यवस्था में वर्ण, संस्कार आश्रम व्यवस्था और जाति व्यवस्था अपना प्रमुख स्थान रखती है। पारिवारिक व्यवस्था में थोड़ा सा परिवर्तन, समाज की स्थिति में परिवर्तन कर देता है। हमारे प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में पारिवारिक व्यवस्था का स्वरूप दिखाई देता है। वर्ण और जाति-व्यवस्था का अस्तित्व भी केवल भारत में ही रहा है। आश्रम व्यवस्था और संस्कारों की व्यापकता हमारे सामाजिक जीवन की प्रमुख विशेषता रही है। अन्य देशों की संस्कृतियों में इन संस्थाओं का कभी व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रहा।

प्राचीन भारतीय समाज वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित था। इस देश के प्राचीन ऋषि मुनियों एवं चिन्तकों ने मानव समाज को चार वर्णो में और मानव जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया था। ये चार वर्ण है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र किसी भी समाज के मनुष्यों को चार वर्गो में विभाजित किया जा सकता है। जो पढ़ने-पढ़ाने, धार्मिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करने और धर्मानुसार आचरण के लिए प्रेरित करने का काम करें, उन्हें ब्राह्मण कहा जा सकता है। देश की सीमाओं पर आक्रमणकारियों तथा आन्तरिक शत्रुओं से रक्षा करने और समाज में शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था करना क्षत्रिय वर्ग का कार्य है। कृषि, पशुपालन, उद्योग, व्यापार-वाणिज्य, व्यवसाय आदि द्वारा, सर्वसाधारण लोगों द्वारा धन अर्जित किया जाय, उन्हें वैश्य कहा जा सकता है। जो अन्य तीनों वर्गों के लोगों की सेवा में रहकर अपना जीवन व्यतीत करे, वे शुद्र हैं। ये चार वर्ण ऐसे हैं जो किसी भी समाज में हो सकते हैं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए भारत के प्राचीन विचारकों ने यह प्रतिपादित किया था

कि सभी लोग अपने-अपने वर्ण-धर्म का पालन करें और राज्य संस्था का भी यह कर्त्तव्य है कि वह सभी लोगों को स्वधर्म में स्थिर बनाये रखें। भारत के चिन्तकों, विचारकों तथा नीतिकारों ने इस बात पर बहुत अधिक बल दिया है कि वर्ण-धर्म का पालन करने में ही व्यक्ति और समाज का हित और कल्याण है। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय समाज काफी अंशों तक वर्ण-व्यवस्था पर आधारित था।

वैदिक एवं उत्तर-वैदिक काल में वर्ण

वर्णाश्रम व्यवस्था भारत के सामाजिक जीवन का मूल आधार रही है। 'वर्णाश्रम' शब्द दो शब्दों 'वर्ण' तथा 'आश्रम' से मिलकर बना है। वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था—ये दोनों ही वर्णाश्रम में सम्मिलित है। इसे वर्णाश्रम धर्म भी कहा जाता है। वर्ण-व्यवस्था सामाजिक कर्त्तव्यों तथा वृत्तियों के विभाजन द्वारा एक व्यवस्थित समाज स्थापित करने की योजना थी। इसका उद्देश्य समाज को उच्छृंखलता तथा अनावश्यक प्रतिस्पर्द्धा से बचाना था।

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति—वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि भारत में आने से पूर्व आर्यों में वर्ण-व्यवस्था थी। इसके विपरीत स्लेटर आदि विद्वानों का मत है कि आरम्भ में आर्य सनाज में वर्ण-व्यवस्था नहीं थी। उनके भारत में आने पर द्रविड़ आदि अनार्य जातियों के प्रभाव से ही वर्ण-व्यवस्था का विकास हुआ। वस्तुत: आर्यों के आगमन के साथ ही भारतीय समाज में दो वर्ग अस्तित्व में आ गये थे। एक था आर्य वर्ग और दूसरा था अनार्य वर्ग। आर्य विजेता थे और भारत में रहने वाले अनार्य पराजित थे। शासक और शासित में भेद होना आवश्यक था। इसके अलावा आर्य गौर वर्ण के थे और अनार्य कृष्ण वर्ण के थे। आर्यों में अपने रक्त की शुद्धता कायम रखने की कामना थी। अत: उन्होंने अनार्यों से सम्पर्क स्थापित नहीं किया। इस प्रकार समाज में दो वर्ग कायम हो गये थे। ऐसी स्थिति में विद्वानों की मान्यता है कि वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति ऋग्वैदिक काल में हुई थी। कुछ विद्वानों की यह भी मान्यता है कि वर्ण-व्यवस्था का उदय और विकास उत्तर-वैदिक काल में हुआ था।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के समय में भारतीय आर्य चार वर्णो में विभाजित नहीं हुए थे। यही कारण है कि ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अतिरिक्त ऋग्वेद में अन्यत्र कहीं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णों का उल्लेख नहीं मिलता। पुरुष सूक्त को प्राय: सभी आधुनिक विद्वान् पश्चातकालीन मानते है। ऋग्वेद में अन्यत्र ब्राह्मणों और क्षत्रियों का उल्लेख तो अवश्य मिलता है किन्तु वैश्य और शूद्र का उल्लेख केवल पुरुष सूक्त में मिलता है। इससे यह स्पष्ट है कि प्राचीन वैदिक काल में ब्राह्मण और क्षत्रिय सर्वसाधारण जनता अथवा विश: से पृथक् होने लग गये थे, हालांकि अभी तक चातुर्वण्य का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। ऋग्वेद में तत्कालीन समाज का जो स्वरूप दिखाई देता है, उसे इस प्रकार विवेचित किया जा सकता है—

पंच जन—प्राचीन वैदिक काल में भारतीय आर्य अनेक जनों (कबीलों) में विभाजित था। ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर 'पंचजना:' और 'पंचकृष्टय:' का उल्लेख मिलता है, जो निश्चय ही उस युग के आर्यों की पाच प्रमुख जातियाँ (कबीले) थी। ये पंच जन अनु, द्रुह्यु, यद्रु, तुर्वशु और पुरु थे। इन पंच जनों के अलावा भरत, त्रित्सु, श्रृंजय आदि अन्य

जनों का उल्लेख भी वेदों में मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि ज्यों-ज्यों आर्यों का भारत में विस्तार होता गया, उनमें विविध जनों का विकास भी होता गया। प्रत्येक जन में सभी व्यक्तियों की स्थिति एकसमान थी और सभी एक ही 'विशः' (जनता) के अंग समझे जाते थे।

आर्य और दास—आर्यों के भारत में आने से पूर्व जो लोग पहले से ही यहाँ रह रहे थे, वेदों में उन्हें 'दास' या 'दस्यु' कहा गया है। इन लोगों की अनेक समृद्ध एवं सुसंस्कृत बस्तियाँ भारत में विद्यमान थी। आर्यों ने उन पर विजय प्राप्त कर उन्हें अपने अधीन कर लिया था। ये अनार्य लोग आर्य-जनपदो में आर्य-राजाओं की अधीनता में रहने लगे। आर्य लोग इनसे घृणा करते थे और उन्हें अपने से हीन समझते थे। आर्य लोग उन्हें अपने समान स्थिति देने को तैयार नहीं थे। अतः यह स्वाभाविक था कि अनार्यों की सामाजिक स्थिति आर्यों की अपेक्षा हीन रही। इस प्रकार आर्य जनपदों में रहने वाली जनता दो भागों में विभक्त हो गयी—आर्य और दास। अनार्यों की हीन स्थिति के कारण ही उन्हें 'दास' या 'दस्यु' कहा गया, जिसका अभिप्राय ही संस्कृत भाषा में गुलाम हो गया। दास लोग शिल्प में अत्यन्त चतुर थे। ये सुन्दर और विशाल भवनों का निर्माण करते थे और अनेक प्रकार के व्यवसायों में भी दक्ष थे। आर्यो द्वारा पराजित हो जाने के बाद भी उनकी, शिल्प एवं व्यवसाय में निपुणता नष्ट नहीं हुई थी, अतः वे अपने-अपने शिल्प एवं व्यवसायों में लगे रहे। आर्य श्रेष्ठ सैनिक और विजेता थे। वे याज्ञिक अनुष्ठानों को गौरव की बात समझते थे और भू-स्वामी बनकर खेती, पशुपालन आदि द्वारा अपना जीवन निर्वाह करते थे। लेकिन विविध प्रकार के शिल्प और व्यवसाय दास लोगों के हाथों में ही रहा। फलस्वरूप प्राचीनकाल से ही भारत में शिल्पियों को कुछ हीन समझने की प्रवृत्ति रही। फिर भी आर्यों और दासों के पारस्परिक सम्बन्धों का अभाव भी नहीं था। आर्यों की अपेक्षा अनार्यों अथवा दासों की संख्या अधिक थी और उन दोनों में पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्ध भी होते रहते थे। आर्य-प्रदेशों में ऐसे लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती गई, जो शुद्ध आर्य या दास न होकर वर्णसंकर थे। ऐसे वर्णसंकर लोगों को ही सम्भवतः 'व्रात्य' कहा जाता था। अथर्ववेद व्रात्य जातियों का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है। बाद में व्रात्य-सोम-यज्ञ द्वारा इन व्रात्यों को आर्य जाति में सम्मिलित करने की व्यवस्था की गई थी। इससे स्पष्ट है कि वैदिक युग में आर्यों और दासों का भेद बहुत स्पष्ट था तथा आर्य-जनपदों में दो वर्ण स्पष्ट रूप से विद्यमान थे।

वर्ण-व्यवस्था का प्रार्दुर्भाव—जैसाकि पहले बताया गया है कि आर्य विशः के सभी लोगों की सामाजिक स्थिति समान थी, लेकिन समय के साथ-साथ धीरे-धीरे उनमें भी भेद उत्पन्न होने लगा। अनार्यों अथवा दासों से निरन्तर संघर्षरत रहने के कारण अब आर्यों को कुछ ऐसे वीर सैनिकों की आवश्यकता अनुभव हुई जो युद्ध-विद्या में निपुण हो। शत्रुओं से जनता की रक्षा करना ही उनका मुख्य कार्य समझा जाता था। क्षत (हानि) से त्राण (रक्षा) करने वाले होने का कारण उन्हें 'क्षत्रिय' कहा जाता था। यद्यपि ये आर्य-विशः के ही अंग थे किन्तु उन्हें सर्वसाधारण लोगों से अधिक सम्मानित और ऊँचा समझा जाता था। क्षत्रिय सैनिकों के विशिष्ट कुल 'राजन्य' कहलाते थे। सम्भवतः ये राजन्य ही अपने में से एक को राजा के पद के लिए स्वीकार कर लेते थे। जिस प्रकार आर्य-विशः में क्षत्रियों की विशेष स्थिति थी, ठीक उसी प्रकार जो याज्ञिक कर्मकाण्ड में विशेष दक्ष थे, उनका दर्जा भी विशेष था। जब आर्य लोग स्थायी रूप से भारत में बस गये तब उनके विधि-विधानों एवं अनुष्ठानों

में भी वृद्धि हो गयी। प्राचीनकाल का सादगीपूर्ण और सरल धर्म निरन्तर अधिकाधिक जटिल होता गया। ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि कुछ लोग जटिल याज्ञिक कर्मकाण्ड में विशेष निपुणता प्राप्त करें और उन्हें भी सर्वसाधारण आर्य-विशः क्षत्रियों के समान आदर की दृष्टि से देखें। इस प्रकार वैदिक युग में वर्ण-व्यवस्था का प्रार्दुर्भाव हो गया, जो आगे चलकर भारत में चातुर्वर्ण्य के रूप में विकसित हुआ और बाद में भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण विशेषता बन गया। लेकिन वैदिक युग में ब्राह्मण और क्षत्रिय सर्वसाधारण विशः से विशेष और उत्कुष्ट समझे जाते थे, फिर भी उनमें वर्ग-भेद या जाति-भेद नहीं था। कोई व्यक्ति ब्राह्मण है या क्षत्रिय इसका आधार उसकी योग्यता अथवा अपने कार्य में निपुणता ही थी। कोई भी व्यक्ति अपनी विद्वता, योग्यता और निपुणता के आधार पर ब्राह्मण पद प्राप्त कर सकता था। इसी प्रकार आर्य-जन का कोई भी व्यक्ति अपनी युद्ध-कला में निपुणता एवं वीरता के आधार पर क्षत्रिय व राजन्य पद प्राप्त कर सकता था।

यद्यपि आर्य लोग दासों अथवा दस्युओं को अपनी तुलना में हीन समझते थे, फिर भी उन्हे अस्पृश्य नहीं समझा जाता था। ऋग्वैदिक काल में कुछ दास परिवार तो बहुत ही समृद्ध थे तथा आर्य ब्राह्मण उनसे दान-दक्षिणा स्वीकार करने में जरा भी संकोच नहीं करते थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र में बल्बूथ नामक एक दास द्वारा सौ गायें दान में देने का उल्लेख मिलता है। इतना ही कुछ मन्त्रों में तो आर्य ब्राह्मणों द्वारा दासों के हित-सुख के लिए प्रार्थना करने का भी उल्लेख मिलता है। सर्वाधिक ध्यान देने योग्य तो बात यह है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ग की सामाजिक स्थिति का आधार जन्म पर आधारित नहीं था अर्थात् ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण ही हो, यह अनिवार्य नहीं था। कार्य में विशिष्टता के आधार पर ही लोगों को ब्राह्मण तथा क्षत्रिय समझा जाता था और उनकी स्थिति अन्य आर्य-विशः की तुलना में ऊँची समझी जाती थी। सम्पूर्ण आर्य-विशः में यही भावना व्याप्त थी कि सम्पूर्ण आर्य-विशः एक है। उस काल तक चातुर्वर्ण्य का वैसा विकास नही हुआ था, जैसाकि उत्तर-वैदिक काल में देखा जाता है।

उत्तर-वैदिक युग में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था—यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में अनेक स्थानों पर चारों वर्णों का उल्लेख मिलता है। इसके स्पष्ट होता है कि उत्तर-वैदिक युग में वर्ण-भेद भलिभाँति विकसित हो गये थे। चूँकि इस काल में याज्ञिक कर्मकाण्ड इतने अधिक जटिल हो चुके थे कि ऐसे जटिल यज्ञों की विविध प्रक्रियाओं को सम्पादित करने के लिए विशेषज्ञ होना आवश्यक हो गया। ऐसे विशेषज्ञों की स्थिति सामान्य आर्य-जनों से ऊँची होती थी। अरण्यों व आश्रमों में निवास करने वाले ब्रह्मवादियों और तत्त्व चिन्तकों को भी ब्राह्मणों के इसी वर्ग में माना जाने लगा। इस प्रकार याज्ञिकों और मुनियों के एक नये वर्ग का प्रार्दुर्भाव हुआ। विभिन्न आर्य-जन (कबीले) जब सप्त-सैन्धव प्रदेश से आगे बढ़कर पूर्वी और दक्षिणी भारत में फैलना प्रारम्भ किया, तब उन्हें वहाँ के मूल निवासियों से युद्ध करना पड़ा। जो रथेष्ठ (श्रेष्ठ रथी) और राजन्य युद्ध में अपनी योग्यता प्रदर्शित करते थे और जिनके पराक्रम के कारण आर्यों ने नये-नये प्रदेशों पर अधिकार किया। उन्होंने भी नये वर्ग का विकास किया, जिसे क्षत्रिय कहा जाता था। उनकी स्थिति भी सामान्य आर्य-विशः की तुलना में ऊँची मानी जाती थी। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के अतिरिक्त जो सर्वसाधारण आर्य जनता में सभी प्रकार के शिल्पी, वणिक्, कृषक, पशु-पालक आदि भी थे, उन्हें 'विशः' या 'वैश्य' कहा जाता था। समाज में जो सबसे निम्न वर्ग था और जो आर्य गृहस्थों की सेवा में दास,

चाकर, सेवक, कर्मकार आदि के रूप में कार्य करते थे, उन्हें शूद्र कहा गया। तीनों उच्च वर्ण के बालक अपने-अपने कुल के उपयुक्त विद्या प्राप्त कर, और यज्ञोपवीत धारण कर 'द्विज' बनने का प्रयास करते थे। यज्ञोपवीत को द्विजत्व का चिन्ह माना जाता था। तैत्तिरीय ब्राह्मण ग्रन्थ में ब्राह्मण के लिये सूत के, क्षत्रिय के लिए सन के तथा वैश्य के लिए ऊन के यज्ञोपवीत धारण करने का विधान किया गया है। इसी ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि ब्राह्मण का वसंत ऋतु में, क्षत्रिय का ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य का शीत ऋतु में उपनयन होना चाहिये। इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना के समय वर्ण-भेद भलीभाँति विकसित हो चुका था।

यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रणयन-काल तक वर्ण-भेद भलिभाँति विकसित हो चुके थे, तथापि उसका अभी तक पूर्ण रूप से जन्म को नहीं माना जाता था। यद्यपि महर्षि विश्वामित्र का जन्म क्षत्रिय कुल में हुआ था, फिर भी राजा सुदास ने ब्राह्मण वशिष्ठ के स्थान पर विश्वामित्र को अपना पुरोहित बनाया। अनेक ऐसे क्षत्रिय राजा थे, जो आध्यात्म एवं दार्शनिक चिन्तन के लिये बहुत प्रसिद्ध थे और ब्राह्मण लोग भी उनके पास जाकर शिक्षा ग्रहण करते थे। श्वेतकेतु के पिता ब्राह्मण उद्दालक, पांचाल के क्षत्रिय राजा प्रवाहण जाबालि के पास ज्ञान-प्राप्ति के लिये गये थे। ब्राह्मण गुरु ऐसे बालकों को भी विद्या प्रदान करने में संकोच नहीं करते थे जिनके कुल, गौत्र आदि का कुछ भी पता नहीं हो। छान्दोग्य उपनिषद् में कथा आती है कि सत्यकाम जाबाल जब आचार्य गौतम के पास विद्याध्ययन के लिये गया तो आचार्य ने उसके पिता के सम्बन्ध में पूछा। सत्यकाम ने अपने प्रत्युत्तर में कहा कि उसे न तो उसके पिता का नाम ज्ञात है और न अपने गौत्र का पता है, क्योंकि उसकी माता एक परिचारिका के रूप में अनेक घरों में काम करती थी तभी उसका जन्म हो गया था। सत्यकाम जाबाल के कुल व गौत्र का पता न होने पर भी आचार्य गौतम ने उसे विद्याध्ययन कराना स्वीकार कर लिया और विधिवत् यज्ञोपवीत संस्कार कराके उसे अपना शिष्य बना लिया था। ऐतरेय ब्राह्मण ग्रन्थ का प्रणयन कर्ता महिदास किसी अज्ञात आचार्य की पत्नी इतरा (शुद्रा दासी) का पुत्र था। इसीलिए वह 'ऐतरेय' नाम से विख्यात हुआ। ऐतरेय ब्राह्मण में एक कथा आती है कि एक बार कुछ ऋषि मुनि सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ कर रहे थे, उस समय एलूष कवष नामक व्यक्ति उनके बीच में आकर बैठ गया। इस पर उसे देखकर ऋषि मुनियों ने कहा कि यह दासी पुत्र अब्राह्मण है, हमारे बीच कैसे बैठ सकता है। किन्तु एलूष कवष का परिचय प्राप्त होने पर ऋषि मुनियों ने कहा कि यह तो परम विद्वान् है, देवता भी इसे जानते है। एक अन्य प्राचीन कथा के अनुसार राजा शन्तनु के भाई देवापि ने याज्ञिक अनुष्ठान में दक्षता प्राप्त करके ब्राह्मण पद प्राप्त कर लिया था। इस युग में विविध वर्णों में वैवाहिक सम्बन्ध भी होते थे। महर्षि च्यवन (ब्राह्मण) ने राजन्य (क्षत्रिय) शर्याति की कन्या से विवाह किया था। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि इस समय तक वर्ण-भेद ने ऐसा रूप ग्रहण नहीं किया था कि ब्राह्मण और क्षत्रिय कुल में जन्म लिये बिना कोई व्यक्ति इन वर्णों में शामिल न हो सके।

सूत्र ग्रन्थों के काल में वर्ण-व्यवस्था—ब्राह्मण ग्रन्थों के बाद सूत्र ग्रन्थों की रचना हुई थी। ये सूत्र ग्रन्थ तीन प्रकार के है—श्रौत सूत्र, गृह्य सूत्र और धर्मसूत्र। इन सूत्र ग्रन्थों से पता चलता है कि सूत्र ग्रन्थों के काल में वर्ण-व्यवस्था और वर्ण-भेद अधिक विकसित हो गये थे। ब्राह्मणों को अन्य वर्णों से श्रेष्ठ समझा जाने लगा। गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है कि

राजा अन्य सभी से तो श्रेष्ठ है किन्तु ब्राह्मणों से नहीं। ब्राह्मणों का आदर-सत्कार करना राजा का परम कर्त्तव्य है। यदि कोई ब्राह्मण आ रहा हो, तो राजा को उसके लिए मार्ग छोड़ देना चाहिये। धर्म सूत्रों में ब्राह्मणों का अवध्य, अदण्ड्य, अबहिष्कार्य और अबन्ध्य कहा गया है और ब्रह्म-हत्या को घोर पाप बताया गया है। यह भी व्यवस्था की गई है कि ब्राह्मणों से किसी प्रकार का कोई कर न लिया जाय, क्योंकि वह वेदपाठ करता है और विपत्तियों का निवारण करता है। इस युग में ब्राह्मण वर्ण का आधार जन्म से माना जाने लगा। विशेष परिस्थितियों में ब्राह्मणों को यह अनुमति दी गई थी कि वे अन्य वर्णों के कार्य भी कर सकें। बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार संकटकालीन परिस्थितियों में ब्राह्मण के लिए शस्त्र धारण करना समुचित है। इतना ही नहीं, वे वैश्यों के कर्म भी सम्पादित कर सकते थे।

समाज में क्षत्रियों का स्थान ब्राह्मणों से नीचे था। क्षत्रियों का कार्य बाह्य शत्रुओं से देश की जनता की रक्षा करना, शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना और देश पर शासन करना था। किन्तु इन कार्यों के लिए ब्राह्मणों के सहयोग की आवश्यकता स्वीकार की गई थी। वैदिक युग में भी यह विचार विद्यमान था कि ब्रह्म-शक्ति और क्षत्र-शक्ति एक-दूसरे की पूरक है। सूत्र ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर राजा और क्षत्रिय वर्ग के लिए ब्राह्मणों के सहयोग की आवश्यकता बताई गई है। वैश्य वर्ग के लोगों का कार्य कृषि, पशुपालन, वाणिज्य और महाजनी माना जाता था, किन्तु संकटकालीन परिस्थितियों में उन्हें शस्त्र धारण करने की अनुमति दी गई थी। समाज में शूद्रों की स्थिति तो अत्यन्त हीन थी। उनका एकमात्र कार्य तीनों उच्च वर्णों के लोगों की सेवा करना समझा जाता था। इसीलिए गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है कि उच्च वर्ण के लोगों के जो जूते, वस्त्र आदि जीर्ण-शीर्ण हो जाएँ, उन्हें शूद्रों के प्रयोग के लिये दे दिया जाय तथा उच्च वर्णों के लोगों के भोजन-पात्रों में जो झूठन शेष बच जाय, उसी से शूद्र अपनी भूख शान्त करें। शूद्र की हत्या करने पर उसी दण्ड की व्यवस्था की गई जो कौवे, मेंढ़क, कुत्ते आदि की हत्या के लिये निर्धारित था। शूद्रों को न तो वेद पढ़ने का अधिकार था और न यज्ञ करने का। गौतम धर्मसूत्र में कहा गया है कि यदि कोई शूद्र वेद मन्त्र सुन भी ले, तो उसके कानों में सीसा या लाख को पिघला कर डाल देना चाहिये और यदि कोई शूद्र वेद मन्त्रों का उच्चारण करें, तो उसकी जीभ काट लेनी चाहिये। शूद्रों के लिए उपनयन संस्कार वर्जित था। अतः उन्हें शिक्षा ग्रहण करने का अवसर ही प्राप्त नहीं हो सकता था। किसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त न कर सकने के कारण उसके लिये यही एकमात्र कार्य रह जाता था कि वह तीनों उच्च वर्णों की सेवा कर अपना जीवन निर्वाह करे। इस प्रकार समाज में शूद्रों की स्थिति अत्यन्त हीन थी।

समाज में सभी वर्णों की स्थिति न केवल असमान थी, बल्कि प्रत्येक वर्ण के लिए कानून भी पृथक्-पृथक् थे और विभिन्न वर्णों के व्यक्तियों के लिए एक ही अपराध के लिए दण्ड-व्यवस्था भी भिन्न थी। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार ब्राह्मण का अपमान करने पर क्षत्रिय पर 100 कर्षापण जुर्माना करने का नियम था, लेकिन यदि ब्राह्मण क्षत्रिय का अपमान करे तो उस पर केवल 50 कर्षापण जुर्माना किया जा सकता था। ब्राह्मण द्वारा वैश्य का अपमान करने पर केवल 25 कर्षापण दण्ड देने का विधान था। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण है और इनमें प्रथम तीन वर्ण जन्म के आधार पर अधिकाधिक श्रेष्ठ है। इस प्रकार सूत्र ग्रन्थों के रचना काल में न केवल वर्ण-भेद विकसित हुआ, बल्कि वर्षों का आधार जन्म को माना जाने लगा। लेकिन यह भी कोई

असम्भव नहीं था कि निम्न वर्ण का व्यक्ति धर्माचरण करके अपने से उच्च वर्ण को प्राप्त कर सके। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है कि, ''धर्माचरण द्वारा निकृष्ट वर्ण का व्यक्ति भी अपने से उच्च वर्ण को प्राप्त कर सकता है और अधर्म का आचरण करने पर उच्च वर्ण का व्यक्ति अपने से निचले वर्ण में हो जाता है।'' अत: वर्ण परिवर्तन सर्वथा असम्भव भी नहीं था।

बौद्ध एवं जैन धर्म के काल में वर्ण-भेद—सूत्र-ग्रन्थों के काल के बाद बौद्ध एवं जैन धर्म का काल माना जाता है। महात्मा बुद्ध एवं महावीर स्वामी के प्रादुर्भाव के समय तक वर्ण-व्यवस्था अत्यन्त विकृत रूप धारण कर चुकी थी। इसीलिए बौद्ध साहित्य में वर्ण-भेद की कटु आलोचना की गई है। बौद्ध साहित्य में जन्म के स्थान पर कर्म को अधिक महत्त्व दिया गया है तथा समाज में व्याप्त ऊँच-नीच की भावना के विरुद्ध विचार व्यक्त किये गये हैं। बौद्ध ग्रन्थों से इस बात का भी संकेत मिलता है कि इस युग में ब्राह्मणों और क्षत्रियों में सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ हो गई थी। बौद्ध धर्म का अद्भव और प्रारम्भ पूर्वी भारत में हुआ था, जहाँ अनार्य लोगों की प्रधानता थी तथा ब्राह्मणों द्वारा किये जाने वाले याज्ञिक कर्मकाण्डों का न तो महत्त्व था और न विशेष प्रचार हुआ था। वहाँ का क्षत्रिय वर्ग विशुद्ध आर्य क्षत्रिय न होकर 'व्रात्य' था। अत: यह तो स्वाभाविक ही था कि व्रात्य क्षत्रियों द्वारा ब्राह्मणों की प्रमुखता स्वीकार न करें। महात्मा बुद्ध के अनुसार जन्म से न तो कोई ब्राह्मण होता है और न कोई चाण्डाल। किसी व्यक्ति को ब्राह्मण या चाण्डाल केवल उसके कर्म के आधार पर ही कहा जा सकता है। महात्मा बुद्ध की यह भी मान्यता थी कि केवल ब्राह्मण ही स्वर्ग के अधिकारी नहीं है, बल्कि अपने पुण्य कर्मों द्वारा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी स्वर्ग प्राप्त करने के अधिकारी हो सकते हैं। बुद्ध द्वारा ब्राह्मणों की सर्वोच्च स्थिति का विरोध करने का कारण यह था कि जन्म के आधार पर वर्ण निर्धारित होने के फ़लस्वरूप उस समय ऐसे ब्राह्मण भी हो गये थे जो वेदाध्ययन करने के स्थान पर हीन कर्म करने लग गये थे। जातक कथाओं में ऐसे ब्राह्मणों का उल्लेख लिता है जिन्होंने कृषक, वणिक्, बढ़ई, गडरिये आदि के पेशे अपना लिये थे। उस युग में ऐसे ब्राह्मण भी हो गये थे जो धर्म-विरोधी कार्यों में रत रहने लगे। अत: बुद्ध द्वारा ब्राह्मणों की सर्वोच्चता का विरोध स्वाभाविक था।

बौद्ध साहित्य के अनुसार वैश्य वर्ण में अनेक वर्गों के गृहपति सम्मिलित थे। इस वर्ण में एक ओर जहाँ श्रेष्ठी व सार्थवाह जैसे धनी वर्ग के वैश्य थे, वहीं छोटे व्यवसाय व व्यापार द्वारा अपना जीवन निर्वाह करने वाले भी वैश्य थे। बौद्ध साहित्य में शूद्रों का रूप मिलता है वह द्विजों की झूठन खाकर अपनी क्षुधाशान्त करने वाले शूद्रों से भिन्न है। मेहनत मजदूरी करके अपना जीवन निर्वाह करने वाले शिल्पी, नट, नर्तक, घसियारे, ग्वाले, सपेरे आदि भी बौद्ध ग्रन्थों में शूद्र वर्ण के अन्तर्गत माने गये हैं। बौद्ध साहित्य में चाण्डाल और निषाद जैसी कुछ जातियों का उल्लेख मिलता है जिन्हें शूद्रों की तुलना में भी हीन माना गया है। जैन साहित्य में भी लगभग ऐसे ही विचारों का उल्लेख मिलता है। महावीर स्वामी ने भी जन्म के स्थान पर गुण-कर्म को सामाजिक स्थिति के लिए महत्त्वपूर्ण माना था।

मौर्य युग में वर्ण-व्यवस्था

कौटलीय-अर्थशास्त्र और मेगस्थनीज के यात्रा-विवरण से मौर्य-युगीन वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप हमारे समक्ष स्पष्ट हो जाता है। कौटलीय-अर्थशास्त्र में समाज को चार वर्णों में

विभाजित किया गया है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मण का स्वधर्म (कर्त्तव्य अथवा कार्य) अध्ययन, अध्यापन, यजन (यज्ञ करना), याजन (यज्ञ कराना), दान देना और दान ग्रहण करना बताया गया है। क्षत्रिय का स्वधर्म अध्ययन, यजन, दान, शस्त्राजीव (शस्त्र द्वारा आजीविका प्राप्त करना) और भूतरक्षण (प्राणियों की रक्षा करना) है। वैश्य का स्वधर्म अध्ययन, यजन, दान, कृषि, पशुपालन और वाणिज्य (व्यापार) हैं। शूद्र का स्वधर्म द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) की सेवा करना, वार्ता (कृषि, पशुपालन और वाणिज्य), कारुकर्म (शिल्पी या कारीगर का कार्य) और कुशीलव कर्म (नट आदि के कार्य) है। कौटिल्य ने विविध वर्णों के प्रायः वही कार्य बताये है जो स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित किये हैं। किन्तु कौटिल्य ने जो शूद्र के स्वधर्म में कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को सम्मिलित किया है, वह स्मृतियों तथा धर्मशास्त्रों से भिन्न है। सम्भवतः वैश्यों के सहायक के रूप में या स्वतन्त्र रूप से शूद्र भी इस युग में कृषि, पशुपालन और व्यापार करते थे और शिल्प को शूद्रों का कार्य मान लिया गया था।

यद्यपि कौटिल्य ने भारत की प्राचीन परम्परा और सामाजिक मर्यादा के अनुसार ही चारों वर्षों के स्वधर्म प्रतिपादित किये हैं, तथापि व्यवहार में विभिन्न वर्णों के लोग इन्हीं स्वधर्मो का पालन करते हों, ऐसी बात नहीं थी। यद्यपि क्षत्रियों का कार्य सैनिक सेवा करना था, किन्तु ब्राह्मणों, वैश्यों और शूद्रों की सेनाएँ भी होती थी। इन वर्णों के व्यक्तियों को भी सेना में भर्ती किया जाता था। अतः मौर्य युग में केवल क्षत्रिय ही सैनिक सेवा नहीं करते थे। कौटिल्य ने एक स्थान पर लिखा है, कि यदि किसी पुरोहित को आदेश दिया जाय कि वह अयाज्य (शूद्र आदि ऐसे व्यक्ति जिन्हें यज्ञ का अधिकार न हो) को यज्ञ कराये या उसे पढ़ाये, और वह पुरोहित इस आदेश का पालन न करे तो उसे पदच्युत कर दिया जाय। इससे स्पष्ट है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में शूद्र यज्ञ कर सकते थे और उन्हें भी वेदादि की शिक्षा दी जाती थी। अतः मौर्य युग में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप ऐसा नहीं था कि विभिन्न वर्णों के व्यक्ति केवल वहीं कार्य करें जो शास्त्रों में वताये गये हैं। फिर भी कोटिल्य ने इस बात पर बहुत अधिक बल दिया है कि सभी वर्णों को अपने-अपने स्वधर्म का पालन करना चाहिये और राज्य-संस्था का प्रमुख कार्य यही है कि वह सबको अपने-अपने स्वधर्म में स्थिर रखे। इससे स्पष्ट है कि चातुर्वण्य समाज में प्रत्येक वर्ण के लिए अपने-अपने स्वधर्म का पालन करना एक आदर्श तो माना जाता था, किन्तु व्यवहार में विविध वर्णों के व्यक्ति अपने-अपने स्वधर्म का पालन करते हो, ऐसा नहीं था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र— ये चारों समाज के अंग माने जाते थे और अनार्यों को 'म्लेच्छ' कहा जाता था। दासों के सम्बन्ध में कौटिल्य ने लिखा है कि यदि कोई शूद्र को दास -रूप में विक्रय के लिये ले जायें तो उस पर बारह पण जुर्माना किया जाय। इससे स्पष्ट है कि आर्य को कभी दास नहीं बनाया जा सकता था, हालांकि म्लेच्छों की सन्तान को दास-रूप में बेचने में कोई दोष नहीं था।

उपर्युक्त चार वर्णों के अतिरिक्त कौटिल्य ने वर्णसंकर लोगों का भी उल्लेख किया है। जैसे ब्राह्मण पिता और वैश्य माता से उत्पन्न सन्तान को 'अम्बष्ठ' कहा गया है। ब्राह्मण पिता और शूद्र माता की सन्तान को 'निषाद' और 'पारशव' की संज्ञा दी गई थी। क्षत्रिय पिता और शूद्र माता की सन्तान को 'उग्र' कहा जाता था। वैश्य पिता की क्षत्रिय माता से उत्पन्न सन्तान को 'मागध' और ब्राह्मण माता से उत्पन्न सन्तान को 'वैदेहक' कहते थे। शूद्र पिता की वैश्य स्त्री से उत्पन्न सन्तान को 'चाण्डाल' कहा जाता था। शूद्र पिता की क्षत्रिय स्त्री से

उत्पन्न सन्तान 'क्षत' कहलाती थी। इस प्रकार कौटिल्य ने अनेक वर्णसंकर लोगों का उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य युग के भारतीय समाज में अनेक ऐसे वर्णों की सत्ता भी थी, जिन्हें परम्परागत चार वर्णों के अन्तर्गत रखना सम्भव नहीं था, फिर भी इनकी स्थिति शूद्रों के समकक्ष मानी जाती थी। किन्तु चाण्डालों की स्थिति इनसे हीन रखी गई थी तथा समाज में उन्हें अत्यन्त हीन दृष्टि से देखा जाता था। इसलिए उनके सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई कि वे नगरों में श्मशान के समीप निवास करें। मौर्य युग में वर्णसंकर लोगों ने पृथक् जातियों का रूप धारण कर लिया था। कौटिल्य ने यह भी व्यवस्था दी कि उनके वैवाहिक सम्बन्ध उन्हीं लोगों में हो और अपने कार्यों तथा परम्पराओं में वे अपने पूर्ववर्ती पूर्वजों का अनुसरण करें। मौर्य युग में ऐसी जातियों का विकास भी हो चुका था जिनका कोई विशेष शिल्प या पेशा हो। तन्तुवाय (जुलाहे), रजक (धोबी), तुन्नवाय (दर्जी), सुवर्णकार (सुनार), चर्मकार (चमार), कर्मार (लुहार), लोहकार, कुट्टाक (बढ़ई) आदि अनेक जातियाँ थी, जिनका समावेश शूद्र वर्ण में किया गया था तथा उन्हें भी आर्य जनता का अंग माना जाता था।

मेगस्थनीज ने मौर्य युग में भारत की सम्पूर्ण आबादी को सात जातियों में विभाजित किया है—(1) दार्शनिकों की जाति जिनकी संख्या यद्यपि अन्य जातियों से कम थी, किन्तु प्रतिष्ठा में सर्वश्रेष्ठ थी। गृहस्थों द्वारा बलि प्रदान करने तथा मृतकों का श्राद्ध करने के लिए वे नियुक्त किये जाते थे और इन अनुष्ठानों के बदले वे बहुमूल्य दान प्राप्त करते थे। वे बहुत-सी बातों की भविष्यवाणी करते थे, जिससे सर्वसाधारण को बड़ा लाभ पहुँचता था। जो दार्शनिक अपनी भविष्यवाणी में भूल करता था, उसे निन्दा के अतिरिक्त कोई दण्ड नहीं दिया जाता था। भविष्यवाणी के अशुद्ध होने पर दार्शनिक जीवनभर के लिए मौन ग्रहण कर लेता था। (2) किसान लोग दूसरों की तुलना में संख्या में बहुत अधिक थे। वे राजा को भूमि कर देते थे और अपनी स्त्रियों व बच्चों के साथ गाँवों में निवास करते थे। वे नगरों या शहरों में जाने से बचते थे। (3) अहीर, गड़रिये तथा सभी प्रकार के चरवाहे, जो न तो नगरों में रहते थे और न गाँवों में, बल्कि डेरों में रहते थे। शिकार द्वारा पशुओं को जाल आदि में फँसा कर हानिकारक जंगली पशुओं और पक्षियों से देश की रक्षा करते थे तथा वे ऐसे जंगली जन्तुओं और पक्षियों को भी पकड़ते थे जो किसानों द्वारा बोयी गई फसल को खा जाते थे। (4) एक वर्ग या जाति कारीगर लोगों की थी। इनमें से कुछ लोग तो कवच बनाते थे और कुछ लोग अन्य उपकरण बनाते थे। इनके द्वारा बनाये गये उपकरण किसानों तथा अन्य व्यवसायियों द्वारा प्रयोग में लाये जाते थे। (5) सैनिकों का भी एक अलग वर्ग था, जो भलिभाँति सुसंगठित था तथा युद्ध के लिये सदैव सुसज्जित एवं समुद्यत रहता था। युद्ध की सेना (यौद्धा सैनिक, युद्ध के हाथी, घोड़े आदि) का राजकीय खर्च से पालन होता था। शान्ति के समय ये लोग आमोद-प्रमोद में मग्न रहते थे या आलस्य में पड़े रहते थे। ये संख्या में दूसरे स्थान पर थे। (6) निरीक्षक लोग, भारतवर्ष में जो कुछ हो रहा हो उसकी खोज और देखभाल का काम करते थे तथा उसकी सूचना वहाँ के राजा को, यदि वहाँ राजा न हो तो किसी अन्य राजकीय अधिकारी को, इसकी सूचना देते थे। (7) राज्यकार्य की देखभाल तथा शासन संचालन का कार्य करने वाले सभासदों व शासकवर्ग भी था, जो अपने उच्च चरित्र और बुद्धिमत्ता के कारण सर्वाधिक प्रतिष्ठित था। राज्य के मन्त्रीगण, राज्य के कोषाध्यक्ष और न्यायकर्त्ता इसी वर्ग से लिये जाते थे। सेना का नायक और प्रधान शासक भी

इसी वर्ग में आते थे। इनकी संख्या सबसे कम थी। मेगस्थनीज के इस विवरण से यह संकेत मिलता है कि भारतीय समाज के इन सभी वर्गों (सातों वर्गों) ने इस समय तक जातियों का रूप धारण कर लिया था। ग्रीक लेखक डायोडोरस ने लिखा है कि, "किसी को यह अनुमति नहीं है कि वह अपनी जाति से बाहर विवाह कर सके, या किसी ऐसे पेशे व शिल्प का अनुसरण कर सके जो कि उसका अपना न हो। उदाहरणार्थ, कोई सिपाही किसान का धन्धा नहीं कर सकता था और कोई शिल्पी दार्शनिक नहीं बन सकता था।"

मेगस्थनीज ने अपने विवरण में चातुर्वण्य का कहीं उल्लेख नहीं किया है। सम्भवतः वह अपने देश ग्रीस और पड़ौसी देश ईजिप्ट की सामाजिक रचना से परिचित था, जहाँ समाज अनेक जातियों व वर्गों में विभाजित था। उसी सामाजिक संरचना को ध्यान में रखकर उसने भारत की जनता को भी सात वर्गों में विभाजित करने का प्रयास किया है। निःसन्देह ये सातों प्रकार के लोग भारतीय जनता में विद्यमान थे। मेगस्थनीज द्वारा उल्लिखित दार्शनिकों को भारत में ब्राह्मण–श्रमण संचा से सूचित किया जाता था। कृषक समुदाय में वे वैश्य और शूद्र के अन्तर्गत आते थे, जो खेती द्वारा अपना जीवन निर्वाह किया करते थे। मेगस्थनीज ने जिन गड़रियों आदि का उल्लेख किया है, कौटलीय अर्थशास्त्र में उन्हें वैश्य और शूद्र कहा गया है, जिनका व्यवसाय पशुपालन था। कारीगरों को भारत में शूद्र वर्ण में माना जाता था तथा सैनिक का पेशा मुख्य रूप से क्षत्रिय वर्ण में माना जाता था। कौटलीय अर्थशास्त्र में संत्रियों, गुप्तचरों एवं गूढ़–पुरुषों का विस्तृत वर्णन मिलता है, जो शासन–संचालन की दृष्टि से बड़े महत्वपूर्ण माने जाते थे। ग्रीक लेखकों ने शासकों को एक पृथक् वर्ग माना है, लेकिन ये व्यक्ति प्रायः ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण में से ही होते थे। वस्तुतः मेगस्थनीज द्वारा वर्णित भारतीय समाज का कौटिल्य के चातुर्वण्य से कोई विरोध नहीं है, बल्कि केवल दृष्टिकोण में ही अन्तर है।

वर्तमान में भी भारतीय समाज को चार वर्णों में विभाजित माना जाता है, किन्तु बहुत–सी ऐसी जातियाँ है जो निश्चित रूप से किसी भी वर्ण में नहीं मानी जा सकती। नाई, सुनार, बढ़ई आदि अपने को शूद्र वर्ण में नहीं मानते तथा ब्राह्मण या वैश्य वर्ण के लोग उन्हें उच्च वर्ण में नहीं मानते। फिर भी समाज में वे अपनी पृथक् सत्ता रखते हैं जिनके विवाह, तलाक, उत्तराधिकार आदि के सम्बन्ध में अपने नियम है। सम्भवतः यही स्थिति मौर्य युग में भी थी। उस समय तन्तुवाय, रजक आदि पृथक् जातियों का विकास हो चुका था और उनमें ऐसे परम्परागत नियमों का विकास हो चुका था, जिन्हें राज्य–संस्था भी स्वीकार करती थी। कौटिल्य ने इन जातियों को शूद्र वर्ण में माना है। किन्तु मौर्य युग में शूद्रों की सामाजिक स्थिति हीन न हीं थी। वे आर्य समाज के ही अंग माने जाते थे तथा चाण्डालों, म्लेच्छों आदि से भिन्न स्थिति रखते थे। मौर्य युग में विविध प्रकार के शिल्पियों व कारीगरों के साथ–साथ कृषकों, कुशीलवों और पशुपालकों को भी शूद्र वर्ण के अन्तर्गत माना जाता था, लेकिन समाज में उनकी स्थिति सम्मानित थी और वे केवल द्विजों की सेवा में ही निरत न रहकर स्वतन्त्र रूप से अपने–अपने कारोबार भी किया करते थे। मौर्य युग में एक वर्ग ऐसा भी था जिनकी स्थिति शूद्रों से भी हीन थी और उन्हें 'अन्तावसायी' कहते थे। वर्तमान समय में जिन लोगों को अछूत माना जाता है, सम्भवतः वे इन्ही अन्तवसायियों के वंशज है।

मौर्य युग में चारों वर्णों की समाज में स्थिति एकसमान नहीं थी। न्यायालयों द्वारा अपराधियों को दण्ड देते समय तथा साक्षी लेते हुए वर्ण को ध्यान में रखा जाता था। यदि

उच्च वर्ण का व्यक्ति नीचे वर्ण के व्यक्ति को कुवचन कहे तो उसे कम दण्ड दिया जाता था, जबकि निचले वर्ण का व्यक्ति उच्च वर्ण के व्यक्ति को कुवचन कहे तो उसे अधिक दण्ड दिया जाता था। यदि क्षत्रिय, ब्राह्मण को कुवचन कहे तो उसे तीन पण जुर्माना देना पड़ता था, लेकिन यदि यही अपराध वैश्य करता तो उसे छः पण जुर्माना देना पड़ता था और शूद्र द्वारा यही अपराध किये जाने पर नौ पण जुर्माना देना पड़ता था। यदि ब्राह्मण किसी शूद्र को कुवचन कहे तो उसे केवल दो पण जुर्माना देना पड़ता था, ब्राह्मण द्वारा वैश्य को कुवचन कहने पर चार पण और क्षत्रिय को कुवचन कहने पर छः पण जुर्माने की व्यवस्था थी। कुछ अपराध ऐसे भी थे जिनके लिए उच्च वर्ण के व्यक्तियों को कठोर दण्ड प्रदान किया जाता था। यदि कोई शूद्र अपने किसी अवयस्क अथवा नाबालिक स्वजन को दास के रूप में विक्रय करे या रहन रखे, तो उसके लिये बारह पण दण्ड का विधान था, किन्तु यदि यही अपराध वैश्य द्वारा किया जाय तो उस पर चौबीस पण तथा क्षत्रिय व ब्राह्मण द्वारा यही अपराध किये जाने पर क्रमशः अड़तालीस और छियानवे पण दण्ड की व्यवस्था की गई थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में अन्य अनेक ऐसे अपराधों का उल्लेख मिलता है, जिनमें विविध वर्णों के व्यक्तियों के लिये भिन्न-भिन्न दण्ड की व्यवस्था की गई है। न्यायालय में ब्राह्मण द्वारा साक्षी देने पर उसे केवल साधारण सत्य बोलने की शपथ लेनी पड़ती थी, जबकि अन्य वर्ण के व्यक्तियों के लिये अधिक कठोर शपथ लेने की व्यवस्था की गई थी।

इस प्रकार मौर्य युग में भारतीय समाज का मुख्य आधार चातुर्वण्य था। चारों वर्णों के 'स्वधर्म' निश्चित थे और प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपने 'स्वधर्म' में स्थिर रहना उपयोगी एवं आवश्यक माना जाता था। समाज में ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च और सम्मानित थी तथा राज्य-शासन पर उनका प्रभाव था। मन्त्री, पुरोहित आदि राजकीय पदाधिकारी प्रायः ब्राह्मण वर्ण के व्यक्ति ही हुआ करते थे और वे राजा को धर्म और मर्यादा में रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य करते थे। लेकिन मौर्य युग में वर्ण-व्यवस्था सूत्र-ग्रन्थों के काल जैसी कठोर नहीं थी।

मौर्योत्तर युग में वर्ण-व्यवस्था

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद बौद्ध एवं जैन धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया का काल प्रारम्भ होता है, जिसमें प्राचीन वैदिक धर्म का नये परिवर्तित रूप में पुनरुत्थान हुआ था। बौद्ध और जैन धर्म ब्राह्मणों की सर्वोच्चता स्वीकार नहीं करते थे तथा जन्म के स्थान पर गुण-कर्म को अधिक महत्त्व देते थे। अतः जब प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तब यह स्वाभाविक ही था कि ब्राह्मणों की उत्कृष्टता की बात प्रबल रूप से प्रतिपादित की जाती। इस युग के साहित्य से ज्ञात होता है कि भारत के सामाजिक जीवन में वर्ग-भेद को पुनः महत्त्व प्राप्त हुआ तथा ब्राह्मणों की उत्कृष्टता पुनः स्वीकार की जाने लगी थी। मौर्यों के बाद भारत की राजशक्ति शुङ्ग, कण्व तथा सातवाहन राजाओं के हाथ में चली गई थी। ये राजा प्रायः जन्म से ब्राह्मण थे। शुङ्ग व कण्व वंशों के शासनकाल में ही मनु, याज्ञवल्क्य, नारद और बृहस्पति-स्मृतियों ने अपने वर्तमान रूप को प्राप्त किया। वाल्मीकि कृत रामायण और वेदव्यास द्वारा रचित महाभारत में संकलित अनुश्रुतियाँ, यद्यपि प्राचीनकाल की है, तथापि इन महाकाव्यों का जो स्वरूप अब उपलब्ध है, उसे भी इसी काल में प्राप्त हुआ था। पाणिनि की अष्टाध्यायी पर 'महाभाष्य' लिखने वाले पतञ्जलि भी शुङ्ग काल में हुए थे। भास के संस्कृत नाटकों का प्रणयन भी इसी काल में हुआ था। इस सम्पूर्ण साहित्य में

भारतीय समाज का जो स्वरूप स्पष्ट होता है, उसमें वर्ण-भेद व ब्राह्मणों का महत्त्व पुनः परिलक्षित होने लगता है।

मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में ब्राह्मणों को अन्य वर्णों से श्रेष्ठ माना गया है। ब्राह्मणों का प्रधान कार्य वेदों का अध्ययन-अध्यापन यज्ञ करना और कराना तथा दान देना और दान ग्रहण करना बताया गया है। अन्य वर्णों के लोग न तो वेदों का अध्यापन कर सकते थे, न यज्ञ करा सकते थे और न दान ग्रहण कर सकते थे। मनु के अनुसार यदि ब्राह्मण के अलावा कोई व्यक्ति ये कार्य करे तो उसकी सम्पत्ति छीन कर उसे कारावास का दण्ड भोगना पड़ता था। यदि ये कार्य केवल ब्राह्मणों को ही करने हो तो उन्हें अत्यन्त विद्वान, तपस्वी और त्यागी होना चाहिये। ब्राह्मणों का जीवन आदर्शयुक्त होने पर ही समाज में उनकी उच्च स्थिति स्वीकार की जा सकती है। मनु ने ब्राह्मण के लिये यह आदर्श प्रस्तुत किया है कि वह खेतों में बचे रह गये दानों को बीन कर अपना जीवन निर्वाह करे, वह केवल इतना ही अन्न संचित करे जो एक कुम्भी में भरने के लिये पर्याप्त हो या जिससे उसके परिवार का तीन दिन के भोजन का काम चल सके और ब्राह्मण को दान में भी अधिक धन ग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि अधिक धन से उसकी वह अलौकिक शक्ति समाप्त हो जाती है जिसके कारण उसे समाज में प्रतिष्ठित स्थिति प्राप्त होती है। बौद्ध और जैन धर्मों ने ब्राह्मणों की उत्कृष्टता का इसी आधार पर विरोध किया था कि ब्राह्मण लोग आम लोगों की तरह जीवन व्यतीत किया करते थे तथा लोभ आदि से विरहित भी नहीं थे। अतः ब्राह्मणों की उत्कृष्टता पुनः स्थापित करने के लिये स्मृतिकारों ने इस बात पर बहुत अधिक बल दिया कि ब्राह्मणों का जीवन लोभ रहित हो, अकिञ्चनवृति को अपनाने वाले हो और त्यागी या तपस्वी बने। ऐसे ब्राह्मणों को ही समाज में विशिष्ट स्थिति प्राप्त होनी चाहिये। इसीलिए मनु ने व्यवस्था दी है कि वेदाध्ययन के बाद स्नातक होकर जब ब्राह्मण, गुरु के पास से लौट रहा हो, तो राजा को भी उसके लिये मार्ग छोड़ देना चाहिये। चूँकि ब्राह्मण अकिञ्चनवृति वाला होता है और उसके पास कोई सम्पत्ति संचित नहीं होती, अतः ब्राह्मणों से न केवल कर न लिया जाय, बल्कि राजा उनके भरण-पोषण का भी ध्यान रखे। समाज में ब्राह्मणों की उच्च स्थिति के कारण उन्हें कुछ विशेष प्रकार के दण्डों से मुक्त रखा गया था। किन्तु यदि ब्राह्मण व्यभिचार, सुरापान तथा चोरी जैसा अपराध करे, तो उसे दण्ड दिया जाय। बौद्धायन धर्मसूत्र के अनुसार ऐसे अपराध करने वाले ब्राह्मण के सिर (ललाट) पर जलते हुए लोहे से दाग लगा कर उसे देश से बहिष्कृत कर देना चाहिये। यद्यपि स्मृतिकारों ने ब्राह्मणों के लिए अत्यन्त उच्च आदर्श प्रस्तुत किये हैं तथा उन्हें कुछ विशेषाधिकार भी दिये हैं, किन्तु मौर्योत्तर युग में अनेक ऐसे ब्राह्मण थे जिनका जीवन उन आदर्शों से काफी दूर था।

मनुस्मृति में ऐसे ब्राह्मणों की सूची दी गई है, जिन्हें विद्वान् व सदाचारी ब्राह्मणों की पंक्ति में बैठने का अधिकार नहीं था। उस समय ऐसे ब्राह्मण भी विद्यमान थे, जो चोरी किया करते थे, जुआरी होते थे, मांस बेचा करते थे, वाणिज्य से अपना जीवन-निर्वाह करते थे, सूदखोरी करते थे, नट, गायक व नर्तक के पेशे करते थे, खेती करते थे, भीख मांगते थे, पशुओं का क्रय-विक्रय करते थे, इमारतें बनाने का पेशा करते थे, चिकित्सक या पुजारी का धन्धा करते थे और वृत्ति ग्रहण करके शिक्षक के रूप में कार्य करते थे। मनु ने ऐसे ब्राह्मणों को शूद्रों के समकक्ष माना है और कहा है कि ऐसे ब्राह्मण सीधे नरक में जाते हैं। स्मृति-ग्रन्थों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मौर्योत्तर युग में वर्ण, गुण-कर्म पर

आधारित न होकर जन्म पर आधारित हो चुका था। स्मृति-ग्रन्थों में ब्राह्मणों के जिन विशेषाधिकारों का उल्लेख किया गया है, वे केवल उन ब्राह्मणों के लिये है जो वास्तव में विद्वान् और तपस्वी हो। सामान्य काम-धन्धा करने वाले ब्राह्मण न तो करों से मुक्त थे और न अदण्डय माने जाते थे। इसीलिए महाभारत में लिखा है कि जो ब्राह्मण 'अश्रोत्रिय' (जो वेदों के विद्वान् न हो) और जो 'अनाहिताग्नि' (यज्ञ न करने वाले) हो, उनसे कर और बेगार ली जानी चाहिये। स्मृति-ग्रन्थों के अनुसार जो ब्राह्मण ज्ञानी और तपस्वी न हो उनसे अन्य प्रजाजनों के समान ही कर वसूल किया जाना चाहिये।

पतञ्जलि के 'महाभाष्य' से भी ज्ञात होता है कि ब्राह्मण वर्ण जन्म पर आधारित था। उसमें लिखा है कि ब्राह्मणों की जातिगत पहचान उनका गौर वर्ण का होना है तथा कपिल रंग के बालों का होना तथा पिंगल रंग की आँखों वाला होना है। मगध प्रदेश में जहाँ कृष्ण कर्ण के अनार्यों की प्रधानता थी, वहाँ शरीर के बाह्य रूप को देखकर ब्राह्मणों को पहचानना अत्यन्त सरल था। जन्म से ये ब्राह्मण सदाचारी, विद्वान् और तपस्वी भी हो सकते थे, लेकिन ऐसे भी जो विद्या व सत्कर्मों से विरहित हो। ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न व्यक्ति के लिये पतञ्जलि ने 'जाति-ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग किया है। विद्वान् और मूर्ख, सदाचारी और कुकर्मी सभी ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न व्यक्ति 'जाति ब्राह्मण' माने जाते थे। किन्तु ब्राह्मण वर्ण में सम्मिलित होने के लिये ब्राह्मणोचित विद्या प्राप्त करना अनिवार्य था तथा साथ में कर्म भी ब्राह्मणों के अनुरूप होने चाहिये थे। इस प्रकार जो व्यक्ति गुण और कर्म दोनों से ब्राह्मण हो, वहीं ब्राह्मण वर्ण में माना जाता था।

मौर्योत्तर युग में क्षत्रियों और वैश्यों की स्थिति प्रायः वही थी, जो प्राचीन समय में थी। क्षत्रियों का कार्य अध्ययन करना, यज्ञ करना, शस्त्र धारण करना, दान देना तथा बाह्य एवं आन्तरिक शत्रुओं से रक्षा करना माना जाता था तथा समाज में उनकी स्थिति सर्वसाधारण की तुलना में ऊँची समझी जाती थी। ब्राह्मणों की तरह क्षत्रिय वर्ण भी अब जन्म पर आधारित हो गया था। अतः मौर्योत्तर युग में ऐसे क्षत्रिय भी हो गये थे जो वैश्यों का कार्य कर जीविकोपार्जन करते थे। मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों में संकटकालीन परिस्थितियों में क्षत्रियों को वैश्यों के कर्म करने की अनुमति दी गई है। वैश्यों के कार्य पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना, खेती, पशुपालन, व्यापार, व्यवसाय और महाजनी थे। किन्तु संकटकालीन परिस्थितियों में वैश्यों को शस्त्र धारण करने का भी अधिकार दिया गया था, ताकि वे आत्मरक्षा कर सकें। बौद्ध युग की भाँति मौर्योत्तर युग में भी बहुत से वैश्य श्रेष्ठी तथा सार्थवाहों के रूप में अपार धन अर्जित कर समृद्ध होते थे। साधारण किसानों, पशुपालकों व वणिजों की तुलना में इनकी सामाजिक स्थिति थोड़ी ऊँची होती थी। इस युग के अभिलेखों में ऐसे अनेक धनी श्रेष्ठियों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने अपने धन द्वारा मन्दिर आदि धर्मस्थानों का तथा सार्वजनिक उपयोगी इमारतों का निर्माण करवाया था।

शूद्रों की सामाजिक स्थिति सर्वाधिक हीन थी। वे वेदाध्ययन नहीं कर सकते थे और न उन्हें याज्ञिक कर्मकाण्ड के अनुष्ठान की अनुमति थी। वे केवल इतिहास-पुराण का श्रवण कर अपनी ज्ञानपिपासा शान्त कर सकते थे। उनके लिए यज्ञों का निषेध था। उनके लिए यही पर्याप्त था कि वे देवताओं का स्मरण कर उनके प्रति नमस्कार निवेदित कर दे। तीनों उच्च वर्णों की सेवा करना ही शूद्रों का एकमात्र कर्म था। साधारणतया, उनकी अपनी कोई सम्पत्ति

नहीं होती थी। उनके लिए दण्ड-विधान भी कठोर था। यदि कोई शूद्र ब्राह्मण स्त्री के साथ सम्भोग करे, तो उसके लिये प्राणदण्ड की व्यवस्था थी, किन्तु यदि किसी ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिय या वैश्य स्त्री से सम्भोग करने पर केवल अर्थ-दण्ड का विधान था। यदि कोई शूद्र ब्राह्मण को गाली दे तो उसकी जीभ काट ली जाती थी, किन्तु यदि कोई ब्राह्मण किसी शूद्र को गाली दे तो उसे केवल 12 पण जुर्माने की सजा दी जाती थी। यद्यपि मौर्योत्तर युग में शूद्रों की स्थिति अत्यन्त हीन थी, फिर भी वे अस्पृश्य नहीं माने जाते थे। मनु के अनुसार ब्राह्मण ऐसे शूद्र के यहाँ भोजन कर सकता था, जो उसकी सेवा में पशुपालक का कार्य करता हो। बौद्ध युग से पूर्व तो शूद्र, उच्च वर्ण के घरों में भोजन बनाने का कार्य भी करते थे, किन्तु कालान्तर में रसोइये का कर्म शूद्रों से ले लिया गया। पाराशर स्मृति के समय तक यह स्थिति आ गई थी कि ब्राह्मण, शूद्र के द्वारा पकाया हुआ ऐसा भोजन करे, जिसे घी, तेल और दूध में बनाया गया हो। वर्तमान प्रचलित परिभाषा में इसे ऐसा भी कहा जा सकता है कि शूद्रों द्वारा निर्मित पक्का भोजन तो उच्चवर्ण के लिए ग्राह्य था, किन्तु कच्चा भोजन नहीं। शूद्रों में उपनयन संस्कार नहीं होता था, अतः वे ब्रह्मचारी रहकर विद्याध्ययन नहीं कर सकते थे। वे वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में प्रवेश नहीं कर सकते थे।

पतञ्जलि के महाभाष्य में ऐसे लोगों की सूची मिलती है, जिन्हें शूद्रों के अन्तर्गत माना जाता था। रथकारों, धीवरों (कहारों), तन्तुवायो (जुलाहे), कुम्भकारों (कुम्हारों), अयस्कारों (लुहारों), नापितों (नाइयों), चर्मकारों (चमारों), आमीरों और धोबियों को पतञ्जलि ने शूद्र माना है। ये सभी विविध प्रकार के शिल्पी थे, जो प्राचीनकाल में सर्वसाधारण 'विशः' के अन्तर्गत होते थे। किन्तु मौर्योत्तर युग में इन्हें शूद्र माना जाने लगा था। शूद्रों का एक वर्ग तो ऐसा था जिनकी स्थिति और भी अधिक हीन मानी जाती थी। इस वर्ग में चाण्डालों को शामिल किया जाता था, जो नगरों एवं गाँवों के बाहर रहते थे। पतञ्जलि के अनुसार शूद्रों के दो वर्ग थे—निरवसित और अनिरवसित। नाई, धोबी, लुहार आदि शिल्पी अनिरवसित थे अर्थात् ये उच्च वर्ण के लोगों के भोजन-पात्रों को छू सकते थे। किन्तु निरवसित शूद्र (चाण्डाल) यदि किसी पात्र को छू दें, तो वह अपवित्र हो जाता था और अग्नि द्वारा शुद्ध कर लेने पर भी उच्च वर्ण के व्यक्ति उस प्रयोग में नहीं ला सकते थे।

वर्णसंकर जातियाँ—प्राचीन आर्य-जनों (कबीलों) का जब पूर्वी तथा दक्षिणी भारत के अनार्यों से सम्पर्क हुआ और उनमें पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्ध होने लगे तब इन अनार्यों के साथ हुए विवाहों से उत्पन्न सन्तान को चातुर्वण्य में क्या स्थान दिया जाय, इस प्रश्न को हल करने के लिए या तो इन्हें 'व्रात्य' (व्रत द्वारा समाज में सम्मिलित) मान लिया गया या वर्णसंकर। अनार्यों में जो सैनिक थे, वे, विशुद्ध क्षत्रिय न होकर 'व्रात्य' ही थे। वज्जि, मल्ल, लिच्छवि आदि सब व्रात्य ही थे। दक्षिण और पूर्वी भारत के इन जनपदों में न केवल क्षत्रिय, अपितु ब्राह्मण भी वर्णसंकर थे। सातवाहन राजा जन्म से ब्राह्मण समझे जाते थे, किन्तु उनमें अनार्य रक्त विद्यमान था। जब मगध-साम्राज्य का उत्कर्ष हुआ और मगध की अनार्य सेनाओं ने सारे भारत को जीत लिया, तो प्राचीन आर्य-जनों के शुद्ध ब्राह्मणों व क्षत्रियों की उत्कृष्टता कैसे कायम रह सकती थी। बौद्धों और जैनों ने ब्राह्मणों व क्षत्रियों की उत्कृष्टता न मानते हुए व्यक्ति के गुणों व चरित्र को महत्त्वपूर्ण बताया। नई परिस्थितियों में मगध साम्राज्य के विकास में यह सिद्धान्त सर्वथा समयानुकूल था।

मौर्योत्तर युग में शक, यवन आदि विदेशी आक्रान्ताओं ने एक नई परिस्थिति पैदा कर दी। इन आक्रान्ताओं ने भारत के बहुत बड़े भाग को जीत कर अपने अधीन कर लिया था। ये लोग भारत के विविध जनपदों में विजेता के रूप में बस गये थे। इनकी सामाजिक और राजनैतिक स्थिति ऊँची थी। बौद्ध और जैन विचारधारा के अनुसार उनके आगमन के कारण सामाजिक जीवन में कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं हुई। भारत में आकर इन्होंने बौद्ध या जैन धर्म को अपना लिया। वर्ण-भेद के विचारों से शून्य इन धर्मों के लिये इन म्लेच्छ विजेताओं को अपने समाज का अंग बना लेने में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। किन्तु सनातन आर्य धर्म के पुनरुत्थान काल में इन शक्तिशाली अनार्य यौद्धाओं को चातुर्वण्य में किस प्रकार स्थान दिया जाय कि इस युग की नई भावना से चातुर्वण्य का सिद्धान्त पुनः अनुप्राणित हो जाय। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के नेताओं ने इस सम्बन्ध में जिस नीति का प्रतिपादन किया, वह अत्यन्त महत्त्व की है। उन्होंने कहा—यवन, शक, पल्हव, द्रविड़, पौण्ड्रक आदि सभी जातियाँ मूलतः क्षत्रिय थी, किन्तु ब्राह्मणों का सम्पर्क न रहने के कारण ये वृषलत्व (म्लेच्छत्व) को प्राप्त हो गयी। किन्तु अब जब इन्हें फिर ब्राह्मणों का सम्पर्क मिल गया और इन्होंने वैदिक सम्प्रदायों को अपना लिया है, तब इन्हें क्षत्रिय क्यों न समझ लिया जाय? भारत में जो विदेशी आक्रान्ता आये, वे सब क्षत्रियों में शामिल कर लिये गये। जो म्लेच्छ आक्रान्ता भारत पर आक्रमण कर यहाँ अपनी राजनीतिक शक्ति को स्थापित करने में सफल हुए थे, वे सभी मनु के सिद्धान्त के अनुसार क्षत्रिय वर्ण में शामिल हो गये। ब्राह्मणों के सम्पर्क से अब उन्होंने वासुदेव कृष्ण और शिव की उपासना प्रारम्भ कर दी थी। इसलिए अब उनमें वृषलत्व शेष नहीं रह गया था। इन विदेशी म्लेच्छों के पुरोहित ब्राह्मण वर्ण में सम्मिलित कर लिये गये, क्योंकि उन्होंने भी प्राचीन आर्य-विचारधारा को स्वीकार कर लिया था।

मगध, अंग, बंग आदि जनपदों में अनार्यों की संख्या अधिक थी, अतः वहाँ के आर्य अपने रक्त की शुद्धता को कायम रखने में असमर्थ थे। उन्होंने अनार्यों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिये और उनसे जो सन्तान उत्पन्न हुई, उन्हें 'व्रात्य' या 'वर्णसंकर' कहा गया। मनुस्मृति के अनुसार भूर्जकंटक और आवन्त्य, व्रात्य ब्राह्मणों की सन्तान थे और मल्ल, झल्ल तथा लिच्छवियों की उत्पत्ति व्रात्य क्षत्रियों से हुई थी। कारुष और सात्वत, व्रात्य वैश्यों की सन्तान थे। वैश्य और क्षत्रियों के सम्मिश्रण से 'मागध' और वैश्य तथा ब्राह्मणों के सम्मिश्रण से 'वैदेह' लोगों की उत्पत्ति हुई थी। मनु का यह कथन कहाँ तक सही है, यह तो कहना अत्यन्त कठिन है, किन्तु वैदिक पुनरुत्थान के इस युग के विचारक इस तथ्य को प्रकट अवश्य कर रहे थे कि मागध, वैदेह, आवन्त्य, लिच्छवि आदि शुद्ध आर्य नहीं थे। चूँकि उन्होंने भारतीय समाज में महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त करली थी, इसलिए वे उन्हें व्रात्य ब्राह्मण, व्रात्य क्षत्रिय, व्रात्य वैश्य और वर्णसंकर के रूप में निरूपित कर उन्हें चातुर्वण्य की परिधि में लाने का प्रयास कर रहे थे। शनैः शनैः वे चातुर्वर्ण्य के अन्तर्गत ऐसे घुलमिल गये कि उनका पृथक् अस्तित्व ढूँढ़ना भी असम्भव हो गया।

गुप्त युग तथा मध्य युग में वर्ण-व्यवस्था

मौर्योत्तर काल में चातुर्वण्य का जो रूप विकसित हुआ था, वह गुप्त युग और मध्य युग में भी विद्यमान रहा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के चार वर्ण समाज में विद्यमान थे तथा उन्हें उसी वर्ण का माना जाता था, जिस वर्ण में उनका जन्म हुआ था। यही कारण है कि

इस युग में अनेक ऐसे राजा हुए, जो जन्म से क्षत्रिय नहीं थे। शुङ्गों और कण्वों के बाद भी ब्राह्मण कुल में उत्पन्न अनेक व्यक्तियों ने राजसिंहासन प्राप्त किये तथा क्षत्रिय कर्म करते हुए भी उन्हें ब्राह्मण वर्ण में ही माना गया। मयूर शर्मा नामक एक ब्राह्मण ने कांची के पल्लव राजा को पराजित कर पल्लव राज्य के एक प्रदेश पर अधिकार कर लिया तथा बनवासी नगरी को राजधानी बनाकर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। मयूर शर्मा ने अपनी विजयों के उपलक्ष में अठारह बार अश्वमेघ यज्ञ किये। मयूर शर्मा का समय चौथी शताब्दी का मध्य भाग माना जाता है। मयूर शर्मा ने एक नया वंश प्रारम्भ किया, जो इतिहास में कदम्ब वंश के नाम से विख्यात हुआ। ह्वेनसांग के समय (सातवीं शताब्दी) उज्जैन, जिहोती और महेश्वरपुर के राजा, ब्राह्मण वर्ण के थे। केवल ब्राह्मण ही नहीं, बल्कि वैश्य और शुद्र भी क्षत्रिय वर्ण के गुण-कर्म अपना कर राजा बनने में सफल हुए थे। कहा जाता है कि गुप्त वंश के प्रतापी राजा सम्भवतः जन्म से वैश्य थे। थानेश्वर के वर्धन-वंशी राजाओं को वैश्य वर्ण का माना जाता है। सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग ने सिन्ध के शूद्र राजाओं का उल्लेख किया है। इन तथ्यों से प्रमाणित होता है कि गुप्त-युग और उसके बाद भी वर्ण का आधार जन्म को ही माना जाता था, गुण-कर्म को नहीं।

इस युग में भी चातुर्वण्य के वे ही कर्म माने जाते थे, जो प्राचीन स्मृतिकारों ने निरूपति किये थे। ह्वेनसांग ने भी चारों वर्णों का उल्लेख करते हुए उनके वे ही कर्म बताये है जो परम्परागत रूप से प्रतिपादित थे। हर्षवर्धन के ताम्रलेख में उसे (हर्षवर्धन को) 'वर्णाश्रम-व्यवस्थापन-प्रवृत्तचक्र' (वर्णाश्रम धर्मो को व्यवस्थापित करने वाला) कहा गया है। इसमे ज्ञात होता है कि इस युग में भी सभी वर्णों को अपने-अपने धर्म व कार्यों में स्थिर रखना राजा का कर्त्तव्य माना था। महाकवि बाण ने भी 'हर्षचरितम्' में राजा हर्षवर्धन को वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वाला कहा है। दसवी शताब्दी के अन्त में भारत आया अरबी विद्वान् अलबरुनी ने भी लिखा है कि इस देश में समाज के विभिन्न वर्गों के अपने-अपने कर्म नियत थे तथा राजा का यह कर्त्तव्य माना जाता था कि वह किसी वर्ग को अपने कार्यों का अतिंक्रमण न करने दे। जो कोई अपने वर्ग के कर्म का अतिक्रमण करने का प्रयास करता था, उसे दण्ड दिया जाता था। चातुर्वण्य का आधार जन्म होने के कारण ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च हो गयी थी, चाहे वह अयोग्य या भ्रष्ट ही क्यों न हो। महाकवि बाण ने भी लिखा है कि 'असंस्कृत ब्राह्मण' भी अपनी जाति के कारण 'माननीय' होता है। अलबरुनी ने भी समाज में ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च बताई है। वैश्य वर्ण के लोगों में दो भेद स्पष्ट रूप से प्रगट होने लग गये थे। जैसाकि पूर्व में बताया जा चुका है कि वैश्यों का एक वर्ग समृद्ध श्रेष्ठियों व सार्थवाहों का था तथा शिल्पियों व कृषकों का। पतञ्जलि के अनुसार शिल्पी शूद्र वर्ण में माने जाते थे और कौटलीय अर्थशास्त्र में शूद्रों द्वारा किये जाने वाले कार्यों में कृषि को भी सम्मिलित किया है। इस प्रकार जब वैश्य और शूद्र दोनों वर्ण शिल्प तथा कषि कर्म को अपना ले तब उनकी सामाजिक स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता। अतः शिल्प और कृषि द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले वैश्य, शूद्रों के समान हो गये हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये। प्राचीनकाल में पढ़ना और यज्ञ करना भी वैश्यों के कार्य थे, किन्तु कालान्तर में वैदादि के अध्ययन की वे उपेक्षा करने लगे और उनकी शिक्षा उस पढ़ाई तक सीमित रह गई जो व्यापार और शिल्प आदि के लिए आवश्यक थी। अलबरुनी ने भी लिखा है कि पिछले दो वर्षों (वैश्य और शूद्र) में कोई अन्तर नहीं है।

गुप्त काल के बाद मध्ययुगीन भारत में वर्ण का आधार जन्म रह गया था। जन्म के आधार पर ही किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र माना जाता था। अब यह कदापि सम्भव नहीं था कि कोई व्यक्ति विद्वता एवं कर्मों के आधार पर ब्राह्मण वर्ण में या वीरता और राजसत्ता के आधार पर क्षत्रिय वर्ण में सम्मिलित हो सके। यदि किसी व्यक्ति का जन्म वैश्य कुल में हुआ है तो विद्वान् व याज्ञिक कर्मकाण्डी होने पर भी वह वैश्य ही कहलायेगा और यदि अपनी सैनिक शक्ति से राजसत्ता प्राप्त करने पर भी वह वैश्य ही समझा जायेगा। गुप्त काल में चातुर्वर्ण्य इसी रूप में प्राप्त हो चुका था और आज भी भारत में यही स्थिति विद्यमान है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग पाँच पृष्ठों में दीजिए—

1. ऋग्वैदिक एवं उत्तर-वैदिक काल की वर्ण-व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
2. मौर्य युगीन वर्ण-व्यवस्था, वैदिककालीन वर्ण-व्यवस्था से किस तरह भिन्न थी? विवेचना कीजिए।
3. मौर्योत्तर युग में वर्ण-व्यवस्था के स्वरूप की विवेचना कीजिए।
4. "गुप्तकालीन वर्ण-व्यवस्था जन्म पर आधारित थी।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए—

1. वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के बारे में आप क्या जानते हैं?
2. उत्तर-वैदिक युग में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का उल्लेख कीजिए।
3. बौद्ध एवं जैन धर्म के काल में वर्ण-व्यवस्था में क्या परिवर्तन आये? समझाइये।
4. मेगस्थनीज के यात्रा विवरण में वर्ण-व्यवस्था के बारे में क्या लिखा गया है?
5. वर्णसंकर जातियों के बारे में आप क्या जानते हैं?

अध्याय-7

आश्रम-व्यवस्था

भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यहाँ के सामाजिक जीवन में आश्रम-व्यवस्था थी। भारतीय समाज में मनुष्य के जीवन को सुसंस्कृत, सुगठित और सुव्यस्थित करने के लिए 'आश्रम-व्यवस्था' जैसी संस्था की नियोजना की गई थी। प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने मानव-जीवन को समग्रतापूर्वक व्यवस्थित रूप प्रदान करने के लिए तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए उसे आश्रमों के अन्तर्गत विभाजित किया था। उनकी दृष्टि में मनुष्य के लौकिक और पारलौकिक, दोनों जीवनों की महत्ता थी। उन्होंने मनुष्य की कार्यपद्धतियों का समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके जीवन के मूलभूत कर्त्तव्यों का विभाजन किया था। उन्होंने यह स्वीकार किया कि जीवन का लक्ष्य केवल भोग और जीना ही नहीं है, बल्कि योगमय आदर्शात्मक आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करते हुए मोक्ष की ओर प्रवृत्त होना भी है। इसलिए उन्होंने आश्रम-व्यवस्था में ज्ञान और विज्ञान, लौकिक और पारलौकिक, कर्म और धर्म तथा भोग और त्याग का अद्भुत समन्वय किया है। वस्तुतः पुरुषार्थ की अवधारणा आश्रम के माध्यम से की गई थी। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति विभिन्न आश्रमों के सहयोग से ही मानी गई है। उन्होंने जीवन की वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए ज्ञान, कर्त्तव्य, त्याग और आध्यात्म के आधार पर मानव जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास नामक चार आश्रमों में विभाजित किया है, जिसका अन्तिम लक्ष्य था—मोक्ष की प्राप्ति। भारतीय चिन्तकों ने मनुष्य के जीवन को सौ वर्षों का मानकर, उन्होंने पच्चीस-पच्चीस वर्षों के चार बराबर भागों में बाँटकर आश्रम की व्यवस्था की थी।

आश्रम की अभिव्यक्ति—आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत मनुष्य अपने जीवन में श्रमपूर्वक विभिन्न आश्रमों के कार्य सम्पन्न करता था तथा प्रत्येक आश्रम के पश्चात् आगामी आश्रम के लिए प्रवृत्त होता था। मनुष्य चार स्तरों (आश्रमों) से होकर अपनी जीवन-यात्रा पूर्ण करता था। यह सम्पूर्ण योजना श्रमयुक्त थी, जो मनुष्य के जीवन को परिश्रम के आधार पर विकसित करती थी। आश्रमों को जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए, मनुष्य द्वारा की जाने वाली जीवन-यात्रा के मध्य का विश्राम-स्थल माना गया है। प्रत्येक आश्रम का अपना अलग महत्त्व है। यह महत्त्व उसकी विशेष स्थिति को स्पष्ट करता है। आश्रम की अभिव्यक्ति में व्यक्ति की निष्ठायुक्त क्रिया और सर्वोत्तम प्रयास सहायक होता है। आश्रम का पालन लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विधिपूर्वक किया जाता था। ब्रह्मचर्य आश्रम की अभिव्यक्ति ज्ञान-प्राप्ति से है। व्यक्ति इस आश्रम में रहकर संयम और नियम से शिक्षा और ज्ञान ग्रहण करता है। गृहस्थ आश्रम में वह सांसारिक उत्तरदायित्वों और ग्राहस्थ्य कर्त्तव्यों का

निर्वाह करता है। समस्त सुखों और सुविधाओं का उपभोग इसी आश्रम में माना गया है। मनुष्य अपने समस्त धार्मिक, आर्थिक और कामजनित कार्य इसी आश्रम में रहकर करता है। गृहस्थ आश्रम ही सभी आश्रमों का मूल है। सांसारिकता और भौतिकता से मनुष्य को धीरे-धीरे छुटकारा मिलता है। इसलिए वानप्रस्थ आश्रम में वह घर-बार छोड़कर वन में आरण्यक आश्रमों में निवास करता है और ईश्वर की आराधना करते हुए आत्म-चिन्तन में अपना समय लगाता है। यह आश्रम ईश्वर की प्राप्ति के निमित्त एक अभ्यास था। संन्यास आश्रम में मनुष्य को तप, त्याग और संयम का चरम आदर्श अपने समक्ष रखना होता था। वह पूर्णतया अकिंचन होकर भिक्षावृति द्वारा जीवन-निर्वाह करता था और सभी इच्छाओं, वासनाओं और आकांक्षाओं से ऊपर उठकर मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता था। सभी प्रवृत्तियों का त्याग कर संन्यासी निवृत्ति मार्ग को अपनाता है और इस प्रकार वह उस लक्ष्य की प्राप्ति करने में समर्थ होता था, जिसे प्राचीन भारतीय चिन्तक मानव-जीवन का परम और अन्तिम उद्देश्य मानते थे, जिसे वे 'मोक्ष' कहते थे।

आश्रम-व्यवस्था का विकास—आश्रम-व्यवस्था का उद्भव उत्तर-वैदिक काल में हो चुका था। कुछ विचारकों का मत है कि आश्रम-व्यवस्था का प्रचलन महात्मा बुद्ध के बाद अथवा पिटक की रचना के बाद हुआ था, क्योंकि इन रचनाओं में इनका उल्लेख नहीं मिलता। इन विचारकों का यह भी मत है कि उपनिषदों में भी चारों आश्रमों के नाम नहीं मिलते। किन्तु इस मत में कोई सत्यता प्रतीत नहीं होती। यद्यपि वैदिक साहित्य में चार आश्रमों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, तथापि वहाँ 'ब्रह्मचारी' तथा 'ब्रह्मचर्य' शब्द का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता है। 'यति' का 'संन्यासी' के अर्थ में दो या तीन स्थानों पर उल्लेख हुआ है। ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों के रूप में जो उत्तर-वैदिक साहित्य है, उसमें चारों आश्रमों का सत्ता का संकेत विद्यमान है। अतः आश्रम-व्यवस्था से सम्बन्धित शब्दों का उल्लेख उत्तर-वैदिक-कालीन अनेक ग्रन्थों में हुआ है। यद्यपि 'ब्रह्मचारी', गृहस्थ' (गृहपति) और 'मुनि' या 'यति' के उदाहरण ऋग्वेद में मिलते है, किन्तु व्यक्ति से सम्पूर्ण जीवन का चार भागों में विभाजित होने का सन्दर्भ उत्तर-वैदिककालीन है। उपनिषदों में अनेक स्थानों पर आश्रम-सूचक शब्दों का उल्लेख हुआ है। इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि उस युग तक आश्रम-व्यवस्था का प्रचलन हो चुका था। ऐतरेय ब्राह्मण के एक सन्दर्भ में यह कहा गया है कि ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण कर 'गृही' (गृहस्थ) बने, गृही जीवन बिताकर 'वनी' (वानप्रस्थ) बने और फिर वनी होने के बाद 'परिव्राजक' (संन्यासी) बन जाए। वृहदारण्यकोपनिषद् में महर्षि याज्ञवलक्य ने अपनी मैत्रेयी से कहा है कि "मैं अब गृहस्थी से प्रव्रज्या ग्रहण करने जा रहा हूँ।" किन्तु जिन संज्ञाओं द्वारा बाद में चार आश्रमों का प्रतिपादन किया जाने लगा उनका सर्वप्रथम उल्लेख जाबालोपनिषद में मिलता है। याज्ञवल्क्य ने राजा जनक को विभिन्न आश्रमों की व्याख्या करके सुनाई थी। सम्भवतः प्राचीन भारत में चार आश्रमों की कल्पना धीरे-धीरे विकसित हुई थी और उपनिषदों के रचना काल तक आश्रम-व्यवस्था पूर्ण रूप से विकसित होकर सूत्रकाल में आकर पूर्ण रूप से व्यवस्थित हुई। आश्रम के विभिन्न विभागों के नाम तथा उनके नियमों आदि का निर्धारण सूत्रकाल तक होता रहा। सूत्र-युग में ही आश्रमों के पारस्परिक सम्बन्धों और उनकी कर्मगत व्यवस्थाएँ स्थिर हुई, विभिन्न आश्रमों के भिन्न-भिन्न नियम और व्यवस्थाएँ बनी तथा उनके पालन हेतु विभिन्न मार्गोंका निर्देश हुआ। यही

कारण है कि सूत्र-ग्रन्थों पुराणों, महाभारत और स्मृतियों में चारों आश्रमों का स्पष्ट तथा विशद् रूप से प्रतिपादन किया गया है और यह भी बताया गया है कि चारों आश्रमों के क्या-क्या धर्म व कर्त्तव्य है।

आश्रमों की प्रतिष्ठा—बौधायन धर्मसूत्र के अनुसार आश्रम-व्यवस्था का प्रारम्भ प्रह्लाद के पुत्र कपिल द्वारा किया गया था। उसमें उल्लेख किया गया है कि देवताओं की स्पर्धा में मनुष्यों ने इसका सूत्रपात किया था। देवता यह मानते थे कि आश्रम-व्यवस्था उन्नत और विकसित समाज के लिए आवश्यक है, अतः दूसरों को भी उसे अपनाना चाहिए। चातुर्वण्य के समान चार आश्रमों का उद्गम भी प्राचीन चिन्तकों ने ब्रह्मा से माना। सम्भवतः इनका उद्गम ब्रह्मा से मानकर इन्हें दैवी अभिव्यक्ति इसलिए दी गई ताकि लोगों की रुचि इसे स्वीकार करने में हो, न कि अस्वीकार करने में। महाभारत, ब्रह्माण्ड-पुराण और वायु-पुराण में आये एक श्लोक के अनुसार ब्रह्मा द्वारा चार वर्णों के समान चार आश्रमों की भी स्थापना की गई थी। इन आश्रमों के नाम वहाँ गृहस्थ, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और भिक्षुक दिये गये हैं। संन्यासी के लिए ही वहाँ भिक्षुक शब्द का प्रयोग किया गया है। ब्रह्मा द्वारा चार आश्रमों की स्थापना का संकेत, सम्भवतः इसलिये भी दिया गया कि आश्रम-व्यवस्था जीवन की अत्यन्त उन्नत और विकसित व्यवस्था थी, जिससे जगत् में उसकी महत्ता और प्रतिष्ठा स्थापित हुइ थी। इस महत्ता की स्पर्धा में असुरों ने भी अपने समाज में आश्रम-व्यवस्था प्रारम्भ की थी।

पुराणों के अनुसार आश्रमों का चिन्तन इसलिये किया गया कि समाज के विभिन्न सदस्य अपने कर्म निष्ठापूर्वक सम्पादित कर सके। ब्रह्माण्ड-पुराण के अनुसार महाराज सगर के राज्य में आश्रम-व्यवस्था का पूर्णतः पालन किया जाता था। छान्दोग्य-उपनिषद के अनुसार आश्रम धर्म का पालन करने वालों को पुण्य-लोक की प्राप्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि समाज में आश्रम-व्यवस्था पूर्णतः स्थापित हो चुकी थी तथा यह व्यवस्था समाज की अभिन्न अंग बन चुकी थी। मत्स्य-पुराण के अनुसार इसका पालन न करने वाले अथवा निरादर करने वाले यातना के भागी होते थे। वायु-पुराण के अनुसार इसका पालन न करने वालों को नरक की प्राप्ति होती थी। इस प्रकार आश्रम-व्यवस्था का पालन द्विज लोगों के लिए आवश्यक माना गया था। इसका पालन करने वाले प्रशंसनीय और उल्लंघन करने वाले निन्दनीय माने जाते थे।

प्रारम्भ में आश्रमों की संख्या तीन थी—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ और संन्यास को एक ही आश्रम के अन्तर्गत रखा गया था, क्योंकि दोनों (वानप्रस्थ और संन्यास) का आधार आध्यात्म, सत्य की खोज और मोक्ष था। व्यक्ति को संन्यास में जो कुछ करना होता था, उसी की तैयारी वह वानप्रस्थ आश्रम में करता था। सम्भवतः इसलिए दोनों में भेद करना उचित नहीं समझा गया। इस प्रकार प्रारम्भ में केवल तीन आश्रम थे, चार आश्रमों का विकास बाद में हुआ। छान्दोग्य उपनिषद में धर्म के तीन स्कन्ध (आधार स्तम्भ) बताये गये हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान। प्रथम स्कन्ध में तप, द्वितीय में ब्रह्मचारी का आचार्य-कुल में निवास और तृतीय में अपने शरीर को क्षीण कर देना। इन स्कन्धों का अनुगमन करने वाले सभी को पुण्यलोक की प्राप्ति होती थी तथा ब्रह्मसंस्थ अमरत्व प्रदान करता था। मनु ने भी एक स्थान पर तीन आश्रमों का उल्लेख किया है। किन्तु बाद में उसने कहा है कि सौ वर्ष के चारों आश्रमों को पच्चीस-पच्चीस वर्ष के चार भागों में विभाजित किया जा सकता है। गौतम

धर्मसूत्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, विष्णु पुराण, वसिष्ठ आदि शास्त्रकारों ने भी चार आश्रमों की चर्चा की है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास अथवा परिव्राजक (यति)। मनुष्य अपने जीवन की किस आयु में किन-किन कर्मों का सम्पादन करे, उसका स्पष्ट रूप से निरूपण करने के लिये ही मानव-जीवन को इन चार भागों में विभाजित किया गया और उनके कर्म निर्धारित कर दिये गये थे। राजा का यह कर्त्तव्य माना जाता था कि मनुष्यों को अपने-अपने वर्ण-धर्मों का पालन करने के साथ-साथ आश्रम-धर्मों के पालन के लिये भी प्रेरित करे, ताकि सभी लोग अपने-अपने आश्रमधर्मों में स्थिर रहे। ब्रह्माण्ड-पुराण में कहा गया है कि राजा सगर के राज्य में आश्रमधर्मों का अविकल रूप से पालन किया जाता था। इसमें सन्देह नही कि उत्तर-वैदिक काल तक भारत में आश्रम-व्यवस्था भलिभाँति स्थापित हो चुकी थी और भारतीय चिन्तकों की सम्पत्ति में समाज के लिए वर्ण-धर्म के समान आश्रम-धर्म का पालन भी बहुत आवश्यक हो गया था।

आश्रम-व्यवस्था का मूल आधार सामाजिक व्यवस्था रही है। आश्रमों की नियोजना में व्यवस्थित और नियमित जीवन का अधिक महत्त्व था। अव्यवस्थित जीवन से आश्रम का विकास नहीं हो सकता था और न ही कोई आदर्श उपस्थित हो सकता था, इसलिए शास्त्रकारों ने व्यवस्थित जीवन का पालन करने का निर्देश दिया था। ब्रह्मचर्य मनुष्य का ऐसा प्रारम्भिक जीवन था, जो शायद उचित और निश्चित मार्गदर्शन के अभाव में भटक सकता था तथा अपना बौद्धिक और शैक्षणिक उत्कर्ष नहीं कर सकता था। ब्रह्मचारी के लिए सही मार्ग-दर्शन उस निश्चित व्यवस्था से ही सम्भव था, जो उसके लिए धर्मशास्त्रकारों द्वारा निर्दिष्ट की गई थी। इसी प्रकार गृहस्थ के लिए भी गार्हस्थ्य जीवन के नियमों और व्यवस्थाओं का पालन करना वांछनीय था। सुखी और समृद्ध गृहस्थ जीवन व्यवस्थित निर्देशों का पालन करने पर ही सम्भव था। परिवार के प्रति विभिन्न कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वाह ही सही गृहस्थ जीवन का लक्षण था। सन्तानोत्पत्ति के साथ-साथ विभिन्न यज्ञ करना एक गृहस्थ के लिए अनिवार्य था। वस्तुतः सभी आश्रमों में गृहस्थ आश्रम को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया था, क्योंकि सभी आश्रम गृहस्थाश्रम पर निर्भर करते थे। मनु ने तो यहाँ तक कह दिया है कि जिस प्रकार प्राणवायु का आश्रम प्राप्त कर सभी जीव जीवित रहते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रम प्राप्त कर सभी आश्रम (ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास) चलते हैं। वानप्रस्थ आश्रम त्याग, निर्लिप्तता, योग और तपश्चर्या का जीवन था। इस आश्रम में मनुष्य इन्द्रिय-निरोध, मोह-ममता से दूर, विरक्ति का जीवन जीता था, जहाँ उसे संन्यास का कठोर और संयमित जीवन व्यतीत करना पड़ता था। यही संन्यास आश्रम मनुष्य को मोक्ष प्राप्ति की ओर उत्प्रेरित करता था। अतः आश्रम-व्यवस्था मनुष्य के जीवन को सुव्यवस्थित करने वाली ऐसी वैज्ञानिक व्यवस्था थी, जिसका पालन कर व्यक्ति लौकिक और पारलौकिक दोनों सुख प्राप्त करता था।

किन्तु प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या आर्य जनपदों के सभी निवासी आश्रम-धर्मों का पालन किया करते थे ? प्राचीन भारतीय साहित्य के आधार पर इस प्रश्न का समुचित उत्तर देना सम्भव नहीं है। धर्मसूत्रों और स्मृतियों आदि में वर्णाश्रम धर्म पर आधारित एक आदर्श समाज का चित्र प्रस्तुत किया है। परन्तु प्राचीन भारतीय समाज का वास्तविक स्वरूप क्या था, इसकी कुछ जानकारी बौद्ध साहित्य से प्राप्त होती है। जातक कथाएँ और गौतम बुद्ध के संवाद तत्कालीन समाज पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। बौद्ध साहित्य में गृहस्थ के

लिए 'गहपति' (गृहपति) शब्द का प्रयोग किया गया है। गहपति सभी स्थिति के होते थे, जैसे अतुल धन के स्वामी भी और साधारण गृहस्थ भी, जो विविध प्रकार के व्यवसायों, कृषि व व्यापार आदि से अपना जीवन-निर्वाह किया करते थे। महात्मा बुद्ध की शिक्षाएँ स्वीकार करने वाले गृहपति 'उपासक' कहलाते थे और जब तक वे गृहस्थ के उत्तरदायित्व को त्याग कर भिक्षु-व्रत ग्रहण नहीं कर लेते थे, तब तक उन्हें गृहपति ही माना जाता था। बौद्धकालीन समाज में दो अन्य वर्गों की भी सत्ता थी, जिन्हें भिक्षुक (भिक्षु) और परिब्बाजक (परिव्राजक या संन्यासी) कहा जाता था। बुद्ध ने भिक्षु-संघ का संगठन किया था। कोई भी व्यक्ति भिक्षुव्रत ग्रहण कर संघ का सदस्य बन सकता था। यह आवश्यक नहीं था कि ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रमों के धर्मों का पालन करने के पश्चात् ही भिक्षु बना जाय। किशोर-वय के और युवा व्यक्ति भी भिक्षु बन सकते थे। स्त्रियों को भी भिक्षु बनने का अधिकार था और वे भिक्षुणी-संघ में सम्मिलित हो सकती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि सभी आयु के स्त्री पुरुष, आर्थिक उत्पादन व धन-उपार्जन की चिन्ता को त्याग कर बहुत बड़ी संख्या में भिक्षु का जीवन बिताने के लिए तत्पर होने लगे और प्राचीन आश्रम मर्यादा कायम नहीं रह सकी। परिव्राजक भिक्षुओं से भिन्न थे। ये अनेक सम्प्रदायों के होते थे और प्राचीन परम्परा के अनुसार ऐसे परिव्राजकों की भी सत्ता थी जिन्होंने कि गृहस्थ व वानप्रस्थ आश्रमों के बाद प्रव्रज्या ग्रहण की थी।

मौर्य युग में आश्रम-व्यवस्था के स्वरूप की जानकारी कौटिल्य के अर्थशास्त्र और ग्रीक यात्रियों के विवरणों से प्राप्त होती है। कौटिल्य ने चारों आश्रमों के 'स्वधर्म' इस प्रकार बताये हैं—ब्रह्मचारी का स्वधर्म स्वाध्याय, अग्निकर्म (यज्ञ), अभिषेक, भैक्षव्रत (भिक्षा द्वारा निर्वाह), आचार्य के प्रति सेवा या भक्ति है। आचार्य के अभाव में ब्रह्मचारी अपने गुरु पुत्र व अपने सब्रह्मचारी के प्रति सेवा या भक्ति रखता था। गृहस्थ के स्वधर्म अपने कर्म (पेशे या धन्धे) द्वारा आजीविका कमाना, अपने से समान स्थिति वाले ऐसे परिवार में विवाह करना जिसका ऋषि (गोत्र) अपने परिवार के ऋषि से भिन्न हो, ऋतुगामित्त्व (पत्नी के साथ मासिक धर्म के पश्चात् सहवास), और देवता, पितर, अतिथि तथा भृत्यों के प्रति कर्त्तव्यों का पालन करने में अपनी आमदनी खर्च करना, और शेष बची हुई राशि से अपना जीवन निर्वाह करना। वानप्रस्थ का स्वधर्म ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना, भूमि पर शयन करना, जटा धारण करना, अजिन (मृगचर्म) ओढ़ना, अग्निहोत्र तथा अभिशेष करना, देवता, पितर तथा अतिथियों की पूजा करना और वन्य आहार (जंगल से प्राप्त होने वाले भोज्य पदार्थ) द्वारा निर्वाह करना है। परिव्राजक के स्वधर्म इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखना, अनारम्भ (कोई भी पेशा या धन्धा न करना) निष्किंचनत्व (कोई भी सम्पत्ति न रखना), सङ्गत्याग (किसी की भी संगति न करना या अन्य लोगों के साथ मिलकर न रहना), अनेक स्थानों से भिक्षा ग्रहण कर निर्वाह करना, जंगल में निवास करना तथा बाह्य व आन्तरिक पवित्रता रखना है। कौटिल्य के चारों आश्रमों का स्वधर्म, अनेक अंशों में स्मृति-ग्रन्थों से भिन्न है। कौटिल्य ने सर्वप्रथम गृहस्थ का स्वधर्म प्रतिपादित किया। इसलिए कौटिल्य की दृष्टि में गृहस्थ आश्रम का महत्त्व सर्वाधिक था। कौटिल्य की सम्मति में स्वधर्म का पालन करना बहुत उपयोगी है, और राज्य संस्था का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह सबको वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म में स्थिर रखे। प्रत्येक मनुष्य के लिए यह आवश्यक समझा जाता था कि वह सोलह वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर विद्याध्ययन करे, तथा अपने शरीर, मन और बुद्धि को भलिभाँति विकसित

कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करे। गृहस्थ का कर्त्तव्य न केवल अपनी पत्नी और सन्तान का पालन करना था, बल्कि अपनी माता, पिता, नाबालिग भाई-बहिन और अपने परिवार की विधवा स्त्रियों का भरण-पोषण करना भी उसका दायित्व था। जो व्यक्ति ऐसा न करे उसके लिए बारह पण दण्ड का विधान था।

कौटिल्य ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि कोई भी मनुष्य अपने इन कर्त्तव्यों की उपेक्षा न करे। उसने यह भी व्यवस्था दी कि यदि कोई मनुष्य अपनी पत्नी और सन्तान के भरण-पोषण की समुचित व्यवस्था किये बिना ही प्रव्रज्या ग्रहण करले तो उसे पूर्वसाहस दण्ड दिया जाय। यही दण्ड उस व्यक्ति के लिए भी है, जो किसी स्त्री को प्रव्रज्या दे। केवल ऐसे मनुष्य ही परिव्राजक बने जिनमें सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो गयी हो और जिन्होंने धर्मस्थों (धर्मस्थ न्यायालयों के न्यायधीशों) से परिव्राजक होने की अनुमति प्राप्त करली हो। जो ऐसा न करे, उसे दण्ड दिया जाय। कौटिल्य ने यह भी व्यवस्था दी कि किसी ऐसे परिव्राजक को जनपद में न आने दिया जाय, जिसने वानप्रस्थ ग्रहण किये बिना ही प्रव्रज्या ग्रहण करली हो। मौर्य-काल के पूर्व छठी शताब्दी ईसा पूर्व में भारत में अनेक धार्मिक सम्प्रदायों का अभ्युदय हुआ था, जिनमें बौद्ध और जैन धर्म प्रमुख थे। इन धर्मों के अनुयायी प्राचीन आश्रम-मर्यादा का पालन नहीं करते थे। प्राचीन आर्य शास्त्रों के अनुसार ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने के बाद ही युवक और युवतियां गृहस्थ होने का अधिकार प्राप्त करते हैं, किन्तु मनुष्य को अपना सारा जीवन गृहस्थ आश्रम में ही नहीं बिता देना चाहिये। परिवार के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के बाद मनुष्य को वानप्रस्थी भी बनना चाहिये और अन्त में संन्यास लेकर अकिंचनवृत्ति भी स्वीकार करनी चाहिये। किन्तु बौद्ध सदृश सम्प्रदायों के अनुयायी इस आश्रम मर्यादा का पालन नहीं करते थे। बौद्ध लोग किसी भी आयु में प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षु बन सकते थे। फलस्वरूप, हजारों लाखों किशोर-वय के व्यक्ति भिक्षु बनने लगे तथा गृहस्थ धर्म की उपेक्षा करने लगे। प्राचीन सनातन पौराणिक धर्म के अनुयायियों पर भी इसका प्रभाव पड़ा, और धर्मसूत्रों के आचार्यों ने व्यवस्था दी कि जब भी व्यक्ति को वैराग्य उत्पन्न हो जाय, वह परिव्राजक बन जाए, चाहे वह ब्रह्मचर्य आश्रम में हो और चाहे गृहस्थ या वानप्रस्थ में। किन्तु कौटिल्य को यह व्यवस्था पसन्द नहीं थी। इसीलिए उसने यह व्यवस्था की थी कि केवल ऐसा व्यक्ति ही परिव्राजक बने जिसने अपनी पत्नी, सन्तान और परिवारजनों के भरण-पोषण की व्यवस्था न कर दी हो, जिनमें सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो चुकी हो और जिसने प्रव्रज्या के लिए धर्मस्थों से अनुमति प्राप्त करली हो। मौर्य युग के पूर्व बहुत सी स्त्रियों ने प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षुणी बनना प्रारम्भ कर दिया था तथा भिक्षुणियों के पृथक् संघ भी स्थापित हो गये थे। किन्तु कौटिल्य को स्त्रियों का परिव्राजिका बनना पसन्द नहीं था। इसलिए कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी कि यदि कोई स्त्रियों को परिव्राजक बनाये तो उसे पूर्वसाहस दण्ड दिया जाय। लेकिन ऐसी व्यवस्था होते हुए भी मौर्य युग में परिव्राजिकाओं का सर्वथा अभाव नहीं था। कौटलीय अर्थशास्त्र में ऐसी परिव्राजिकाओं का उल्लेख आया है जिनका उपयोग गूढ़ पुरुषों या गुप्तचरों के रूप में किया जाता था।

ग्रीक यात्रियों के विवरणों से भारत के संन्यासियों का जो जीवन परिचय मिलता है वह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। जब सिकन्दर भारत पर आक्रमण कर तक्षशिला तक आ पहुँचा तब उसने वहाँ पन्द्रह ऐसे संन्यासियों को देखा जो सांसारिक जीवन को त्याग कर ध्यान, तपस्या

और समाधि में अपना समय व्यतीत कर रहे थे। सिकन्दर इन संन्यासियों की साधना-विधि जानना चाहता था। अत: जब सिकन्दर की ओर से ओनेसिक्रितस इन संन्यासियों से मिला, तो उनमें से एक संन्यासी ने कहा, "अश्वारोहियों के लम्बे चोगे और ऊँचे बूट पहन कर कोई व्यक्ति साधना-विधि नहीं जान सकता। यदि सचमुच इसे जानना चाहते हो तो अपने सभी वस्त्र उतार कर गर्म चट्टानों पर हमारे साथ बैठना होगा। ग्रीक लेखकों ने एक दण्डी नामक वृद्ध संन्यासी का उल्लेख किया है, जो जंगल में पर्णकुटी में निवास करता था और बहुत से लोग उसके शिष्य थे। सिकन्दर ने ओनेसिक्रितस को उसे बुलाने भेजा। ओनेसिक्रितस ने दण्डी के पास जाकर कहा, "परमशक्तिसम्पन्न द्यौ-देवता के पुत्र सिकन्दर ने तुम्हें बुलाया है। वह सभी मनुष्यों का स्वामी व अधीश्वर है। यदि तुम उसके आदेश को स्वीकार कर उसके पास चलोगे तो वह बहुमूल्य उपहारों से तुम्हें सन्तुष्ट कर देगा, किन्तु यदि तुमने उसके आदेश का पालन नहीं किया तो वह तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर देगा।" दण्डी पहले तो उसकी बात शान्तिपूर्वक सुनता रहा, फिर उपेक्षापूर्ण हंसते हुए कहा कि सबका अधिपति ईश्वर हैं वह कभी किसी का बुरा नहीं करता। ज्योति, जीवन, शान्ति, जल, शरीर और आत्मा का वही स्रष्टा है। मैं उस ईश्वर का उपासक हूँ, जो युद्ध नहीं करता और जिसे हत्या से घृणा है। सिकन्दर ईश्वर नहीं है, क्योंकि उसे भी एक दिन मरना है, वह अपने को संसार का स्वामी कैसे समझ सकता है। सिकन्दर मुझे जिन उपहारों का लालच दिखा रहा है, मेरी दृष्टि में उनका कोई महत्त्व नहीं है, मेरे लिए वे सर्वथा निरुपयोगी है। संसार के लोग जिन वस्तुओं का संग्रह करते है, मेरे लिए उसका कोई भी प्रयोग नहीं है। उनसे मनुष्य को केवल चिन्ता और दु:ख की प्राप्ति होती है। मैं पर्णशटया पर निश्चिंत होकर सोता हूँ, क्योंकि मेरे पास ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी रक्षा के लिए मुझे चिंता करनी पड़े। यदि मेरे पास भी सोना होता तो मुझे ऐसी सुख की नींद कैसे आ सकती। सिकन्दर मेरा सिर तो काट सकता है, किन्तु मेरी आत्मा को नष्ट करने की शक्ति उसमें नहीं है। सिकन्दर अपना डर उन लोगों को दिखायें, जिन्हें सोने और सम्पत्ति की चाह हो और जो मौत से डरते हो। हम ब्राह्मण न तो मौत से डरते है और न हमें सम्पत्ति से कोई प्रेम है। इसलिए तुम सिकन्दर से कहो कि जो कुछ तुम्हारे पास है, जो तुम दूसरों को दे सकते हो, दण्डी को उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसलिए वह सिकन्दर के पास नहीं जायेगा, किन्तु यदि सिकन्दर दण्डी से कुछ प्राप्त करना चाहे तो वह मेरे पास आ सकता है। ओनेसिक्रितस से दण्डी का उत्तर सुनकर सिकन्दर दण्डी से भेट करने को उत्सुक हो उठा। कितने ही देशों को जीतने वाला सिकन्दर एक वृद्ध और नग्न ब्राह्मण संन्यासी से परास्त हो गया और उसने अनुभव किया कि भारत में संन्यासी महात्माओं का एक ऐसा वर्ग विद्यमान है जो न तो मौत से डरता है और न धन-सम्पत्ति के लालच में आ सकता है। संन्यासी की दृष्टि में मिट्टी और सोने में कोई अन्तर नहीं होता, अकिंचन को ही वह अपनी सम्पत्ति मानता है, सांसारिक सुखों का परित्याग कर वह तप, योगाभ्यास और आध्यात्मचिन्तन में ही अपना समय व्यतीत करता है और मोक्ष प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाता है। इस उदाहरण से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि चौथी शताब्दी ईसा पूर्व में भारत में दण्डी के समान बहुत से संन्यासी विद्यमान थे।

बौद्ध और जैन धर्मों के कारण भारत में ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक हो गई थी, जो गृहस्थाश्रम में प्रवेश न कर सीधे भिक्षुव्रत ग्रहण कर लेते थे और अपनी आजीविका के लिए दूसरों पर निर्भर रहते थे। इसीलिए कौटिल्य को नई व्यवस्था करनी पड़ी थी।

मौर्यवंश के पतन के बाद बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और जब वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तब उस काल के चिन्तकों ने गृहस्थाश्रम को महत्त्व दिया। जिस रूप में महाभारत आज उपलब्ध है उसका प्रणयन शुंङ्ग काल में हुआ था। अतः उस युग की आश्रम-व्यवस्था पर महाभारत में अच्छा विवेचन मिलता है। महाभारत के शान्तिपर्व के अनुसार जिस प्रकार सभी प्राणी अपने जीवन के लिए माता पर आश्रित होते हैं वैसे ही अन्य सभी आश्रमों की स्थिति का आधार गृहस्थ आश्रम है। शान्तिपर्व के ही एक प्रकरण में विदेह के राजा जनक और उसकी पत्नी के बीच वार्तालाप संकलित है। जिस समय राजा जनक संन्यास लेने का विचार कर रहे थे, जनक की पत्नी ने अपने पति को यह समझाने का प्रयास किया कि वे संन्यास ग्रहण करके अपने कर्त्तव्यों से विमुख हो रहे है। कर्त्तव्यपालन से विमुख होकर संन्यासी होने वाले व्यक्तियों की उपमा उन कुत्तों से की गई जो भोजन की आशा में सबके मुँह की ओर देखते रहते हैं। शान्तिपर्व में ही एक कथा दी गई है जिसमें किशोर-वय के भिक्षुओं ने इन्द्र के समझाने पर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करना स्वीकार कर लिया था। महाभारत-युद्ध की समाप्ति के बाद युधिष्ठिर को अपने बन्धु-बान्धवों के विनाश पर बड़ा संताप हुआ और उसने वैरागी होकर भिक्षुवृत्ति ग्रहण करने का विचार किया। इस पर अन्य पाण्डवों ने उसे समझाया कि यह पापिष्ठावृत्ति है। जो मनुष्य अकेला रहकर पुत्रों, पौत्रों, देवताओं, ऋषियों और अतिथियों का भरण-पोषण नहीं करता, उसमें और जंगली पशुओं में कोई अन्तर नहीं है। जंगली पशु और पक्षी कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। वृक्ष और पहाड़ सांसारिक झंझटों से दूर अकेले खड़े रहते हैं, वे भी मोक्ष-सिद्धि नहीं कर पाते। मनुष्य को अपने सामाजिक कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक होना चाहिये, तभी वह पितृऋण, देव-ऋण और ऋषि-ऋण से मुक्त हो सकता है। यह गृहस्थ आश्रम द्वारा ही सम्भव है। जो लोग केवल मोक्ष को अपना लक्ष्य मानकर गृहस्थ धर्म की उपेक्षा करते है, महाभारत के अनुसार वे निन्दनीय है। ये विचार बौद्ध और जैन धर्मों के विरुद्ध हुई तीव्र प्रतिक्रिया के परिचायक है। लेकिन बौद्धों के भिक्षु जीवन का प्रभाव वैदिक धर्म के अनुयायियों पर पड़ना भी स्वाभाविक था। यही कारण है कि आपस्तम्ब धर्मसूत्र में प्रतिपादित किया गया कि जिस दिन भी वैराग्य हो जाय उसी दिन परिव्राजक बन जाएँ, चाहे उस समय मनुष्य गृहस्थ आश्रम में हो या ब्रह्मचर्य आश्रम में या वानप्रस्थ आश्रम में। आपस्तम्ब धर्मसूत्र की व्यवस्था प्राचीन आश्रम मर्यादा के अनुरूप नहीं थी, क्योंकि प्राचीन शास्त्रकारों के अनुसार पहले तीन आश्रम-धर्मों का पालन करने के बाद ही व्यक्ति संन्यासी बनने का अधिकारी होता है। संन्यास आश्रम केवल ब्राह्मण के लिए था, न कि सभी वर्णों के लिए। वैदिक धर्म के इस पुनरुत्थान काल में समाज का नेतृत्व जिन ब्राह्मणों के हाथ में आ गया था, वे भिक्षु या संन्यासी बने बिना गृहस्थ आश्रम में रहते हुए अपने धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन किया करते थे। उस समय बौद्धों में यह विचार प्रबल था कि भिक्षु जीवन सर्वश्रेष्ठ है तथा गृहस्थ सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए मोक्ष या निर्वाण को प्राप्त नहीं कर सकते। इस समय इस विचारधारा के विरुद्ध भी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। अब इस युग में यह भावना जागृत हुई कि गृहस्थ आश्रम ही सर्वश्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण है, गृहस्थ रहते हुए मनुष्य धर्म और समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पूर्ण रूप से पालन कर सकता है।

केवल महाभारत में ही नहीं, बल्कि पुराणों, स्मृतियों तथा अन्य प्राचीन साहित्य में भी गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई। मनु ने तो यहाँ तक कहा कि जिस प्रकार वायु

को पाकर ही सभी प्राणी जीवन धारण करने में समर्थ होते हैं, वैसे ही सभी आश्रम गृहस्थ पर आधारित होकर अपनी सत्ता को कायम रख सकते हैं। ब्रह्मण्ड-पुराण और विष्णु-पुराण के अनुसार अन्य सभी आश्रम, गृहस्थ आश्रम में ही प्रतिष्ठित है, अतः वही सबसे श्रेष्ठ है। वायु-पुराण में गृहस्थ आश्रम को शेष तीनों आश्रमों की 'प्रतिष्ठायोनि' कहा गया है। मौर्योत्तर युग में भारतीय चिन्तकों के ये विचार निश्चित रूप से बौद्ध धर्म के भिक्षु-जीवन के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया के ही परिणाम थे।

चार आश्रम और उनके धर्म व कर्त्तव्य

मनुष्य के जीवन को कर्म के अनुसार व्यवस्थित करने के लिए चार आश्रमों की व्यवस्था की गई थी—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। धर्मसूत्रों और महाकाव्यों में इन चारों आश्रमों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है पतंजलि ने चारों आश्रमों को 'चातुराश्रम्य' कहा है। मनु ने भी चारों आश्रमों का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्राह्मणों के लिए चारों आश्रम अत्यन्त आवश्यक थे और जो ब्राह्मण इन चारों आश्रमों का शास्त्रानुसार पालन करता था, वह परमगति को प्राप्त करता था। ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य तीनों वर्णों के लिए तीन आश्रम थे, लेकिन उनके लिए संन्यास आश्रम का विधान नहीं था। पुराणों ने भी चार आश्रमों का महत्त्व प्रदर्शित किया है। मत्स्य-पुराण, ब्रह्माण्ड-पुराण और वायु-पुराण के अनुसार गृहस्थ, भिक्षु, आचार्यकर्मा (ब्रह्मचारी) तथा वानप्रस्थ, चार आश्रमजीवी है तथा वर्णों के धर्म को प्रतिष्ठित करने के उपरान्त ब्रह्मा ने चार आश्रमों को स्थापित किया। 11वीं शताब्दी के लेखक अलबरुनी ने भी चार आश्रमों की चर्चा की है और लिखा है कि ब्राह्मण (द्विज) का जीवन सात वर्ष की आयु के पश्चात् चार भागों (आश्रमों) में विभाजित है। इन विवरणों से स्पष्ट है कि उत्तर-वैदिक युग से पूर्व-मध्य युग तक चार आश्रमों का अस्तित्व था तथा विभिन्न कालों और परिस्थितियों से प्रभावित होने के बावजूद वे उसी प्रकार चार ही बने रहे। ऐसा प्रतीत होता है कि आश्रम-व्यवस्था का आधार अत्यन्त सुदृढ़ और सुनियोजित था।

(1) ब्रह्मचर्य आश्रम

प्राचीन भारतीय समाज में मनुष्य के बौद्धिक और शिक्षित जीवन के लिए ब्रह्मचर्य आश्रम की व्यवस्था की गई थी। इसी आश्रम में रहते हुए विद्या और शिक्षा की प्राप्ति होती थी, जिससे मनुष्य की ज्ञान-गरिमा बढ़ती थी। ब्रह्मचर्य दो शब्दों,'ब्रह्म' और 'चर्य' से मिलकर बना है। ब्रह्म का अर्थ है 'वेद' अथवा महान् और 'चर्य' का अर्थ है। 'विचरण करना' या 'अनुसरण करना'। इन दोनों का सम्मिलित अर्थ है 'ब्रह्म के मार्ग पर चलना'। ब्रह्मचर्य का अभिप्राय केवल इन्द्रिय-निग्रह ही नहीं है, बल्कि इसके साथ विद्या एवं वेदाध्ययन भी है। 'ब्रह्म' और 'वेद' का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ब्रह्मचर्य का दूसरा अर्थ है 'वेद' मार्ग पर चलना अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान। उपनिषद् युग में ब्रह्म-ज्ञान की श्रेष्ठतम प्रतिष्ठा थी। अपने तप और संयम से ब्रह्मचारी ज्ञान और विज्ञान का अर्जन करता था। महाभारत के अनुसार ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने वाले ब्रह्मचारी को आन्तरिक एवं बाह्य शुद्धि और वैदिक संस्कारों का पालन करते हुए अपने मन को वश में रखना चाहिए। प्रातः और सायं दोनों समय सन्ध्योपासना, सूर्योपासना और अग्निहोत्र (यज्ञ) द्वारा अग्निदेव की आराधना करनी चाहिये।

तन्द्रा और आलस्य को त्याग कर प्रतिदिन गुरु को प्रणाम करना और वेदों के अभ्यास तथा श्रवण से अपनी अन्तरात्मा को पवित्र करना चाहिए। प्रातः, दोपहर और शाम तीनों समय स्नान करना चाहिए। नित्य भिक्षा मांग कर लाना और उसे गुरु की सेवा में समर्पित कर देना चाहिये। गुरु जो कुछ कहे, जिसके लिए संकेत करे और जिस कार्य के लिए स्पष्ट आदेश दे, उसके विपरीत आचरण नहीं करना चाहिए। गुरु के कृपा-प्रसाद से मिले हुए स्वाध्याय में तत्पर रहना चाहिए।

कोई व्यक्ति उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार के पश्चात् ही ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश कर सकता था। इस संस्कार द्वारा ब्रह्मचारी गुरु का सान्निध्य प्राप्त करता था और उसके पास रहते हुए ज्ञानोपार्जन किया करता था। ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करने के बाद बालक को ब्रह्मचारी कहा जाता था। वह ब्रह्म विद्या के लिए व्रत का पालन करता था। मनु के अनुसार वह सूर्योपासना के बाद भिक्षाटन के लिए निकलता था। ब्रह्मचारी के लिए भिक्षावृत्ति का निर्देश इसलिए किया गया था कि वह निरभिमान होकर संयम और नियम का पालन कर सके। ब्रह्मचारी को भिक्षा प्रदान न करने वाली स्त्रियों से, दान-यज्ञ से उत्पन्न पुण्य, उनके पशुओं, उनके कुलों की विद्या और अन्न छीन लिया जाता है। इसलिए ब्रह्मचारी को भिक्षा दिये बिना लोटाया नहीं जा सकता था। अतः प्रत्येक गृहस्थ का परम कर्त्तव्य था कि वह ब्रह्मचारी को भिक्षा प्रदान करे। ब्रह्मचारी के दो बार प्रातः और सायं भोजन करता था, बीच में भोजन करना उसके लिए निषिद्ध था। उसका जीवन अत्यन्त व्यवस्थित, संयमित और नियमबद्ध होता था। शील, साधना और अनुशासन का वह मन से अनुसरण करता था। वह गुरु के पशुओं की देखभाल करता था, समिधा एकत्रित करता था, भिक्षा माँगता था, यज्ञ करता था और निष्ठापूर्वक गुरु की सेवा करता था और ऐसा करने वाला ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय होकर स्वर्ग को प्राप्त करता था। ब्रह्मचारी का जीवन सभी धर्मों में अत्यन्त श्रेष्ठ, ब्रह्मस्वरूप और आदरयुक्त था। उसके लिए नृत्य, गायन, वाद्य, सुगंधित वस्तुएँ, माला, जूता, छाता, अंजन, हंसना, नग्न स्त्री को देखना, स्त्री को मुख से सूंघना, उसकी मन से कामना करना तथा उसे अकारण स्पर्श करना आदि निषिद्ध था तथा सत्य बोलना, अहंकारहीनता और गुरु से पहले जागना आवश्यक था। कौटिल्य के मतानुसार भी ब्रह्मचारी का कर्त्तव्य वेद का अध्ययन करना, अग्नि अभिषेक करना, भिक्षावृत्ति करना, गुरु की अनुपस्थिति में गुरु पुत्र या ज्येष्ठ ब्रह्मचारी की सेवा करना है। मनु का कहना है कि गुरु विनयी, सेवारत और हितैषी विद्यार्थी को ही शिक्षा प्रदान करता है।

सदाचार और सच्चरित्रता का पालन करना ब्रह्मचारी की अनुपम साधना थी। अपनी इच्छाओं को अपने वश में करना तथा अपनी क्रियाओं को धर्म-समन्वित करना उसका श्रेष्ठ आचरण था। वह अपनी विचरणशील इन्द्रियों को संयमित रखता था, जिससे उसे सिद्धि की प्राप्ति होती थी। इस प्रकार वह मनसा, वाचा और कर्मणा संयमशील होकर प्रतिष्ठित होता था। तप, स्वाध्याय और ईश्वर-आराधना उसके मुख्य नियम थे, जिससे ब्रह्मचारी की मनः स्थिति का विकास होता था। यमों का अनुपालन करने से ब्रह्मचारी का आत्मिक विकास होता था। यमों के अन्तर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि का निवेशन था। ब्रह्मचारी ज्ञान-पिपासु, अहिंसक, सत्यभाषी, सच्चरित्र, गुरुसेवक तथा काम-क्रोध, लोभ-मोह, ईर्ष्या द्वैष से आसक्तिहीन होकर ब्रह्मचर्य का सात्विक जीवन व्यतीत करता था। वह अपना स्वभाव सदैव मृदुल रखता था। 11वीं शताब्दी के भारत में भी ब्रह्मचारी का जीवन

कुछ इसी प्रकार था। अलबरुनी ने लिखा है कि, ''वह दिन में तीन बार स्नान करता है। वह सुबह और शाम होम करता था। होम के पश्चात् वह गुरु की पूजा करता है। वह एक दिन उपवास करता हैं और एक दिन उपवास तोड़ता है। वह गुरु-गृह में ही निवास करता है। भिक्षाटन के लिए जाते समय ही वह गुरु-गृह छोड़ता है। एक बार में वह पांच से अधिक घर से भिक्षा नहीं माँगता। जो कुछ उसे भिक्षा में मिलता है वह गुरु के समक्ष समर्पित कर देता है, इसलिए कि वह इच्छानुसार ले ले, तब गुरु शेष भाग को उसे देकर खाने के लिए आज्ञा देता है। इस प्रकार विद्यार्थी अपने गुरु के बचे भोजन से अपना पोषण करता है। फिर वह यज्ञ के लिए दो तरह के वृक्षों-पलास और दर्भ, की लकड़ी लाता है, इसलिए कि हिन्दू यज्ञ होम की अधिक पूजा करते और फूल चढ़ाते हैं।''

ब्रह्मचारी के अध्ययन की अवधि—ब्रह्मचर्य आश्रम की अवधि प्रायः बारह वर्ष की होती थी, तब तक उसकी आयु लगभग पच्चीस वर्ष हो जाती थी। वैसे कुछ ब्रह्मचारी 12, 24, 36 और 48 वर्ष तक अध्ययनकर्त्ता का जीवन अनुसरित करते थे। शिक्षा समाप्त करने के बाद वह गुरु की आज्ञा प्राप्त कर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता था। ब्रह्मचर्य आश्रम की अवधि के सम्बन्ध में मनु ने लिखा है कि ब्रह्मचारी गुरु के समीप 36 वर्ष तक (तीन वेदों का अध्ययन) या उसका आधा 18 वर्ष तक अथवा उसका चतुर्थांश 9 वर्ष तक या वेदों के ग्रहण करने की अवधि तक अध्ययनरत रहे। निश्चय ही वेदों के अध्ययन में ब्रह्मचारी को अनेक वर्ष लगाने पड़ते थे। वेदों का अध्ययन कम से कम 9 वर्ष में हो पाता था। तीन वेद या दो वेद अथवा एक वेद में ब्रह्मचारी का पारंगत होना अनिवार्य था। एक वेद का सम्यक् ज्ञान कम से कम नौ या बारह वर्ष में ही हो पाता था। छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार प्रजापति के निकट इन्द्र ने 101 वर्षों तक रहकर ज्ञान प्राप्त किया था। तैतिरीय ब्राह्मण के अनुसार भारद्वाज 75 वर्षों तक वेदों का अध्ययन करते रहे।

ब्रह्मचारी के प्रकार—प्राचीनकाल में गुरु-आश्रम में रहकर शिक्षा ग्रहण करने वाले कई प्रकार के ब्रह्मचारी होते थे, जिनमें उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। कुछ ब्रह्मचारी पढ़ने में बहुत अच्छे होते थे तथा उनका आचरण और व्यवहार उत्तम होता था। कुछ अध्ययन में मध्यम होते थे, जो न तो बहुत तीव्र होते थे और न बिल्कुल मन्द होते थे और कुछ ऐसे होते थे जो पढ़ने में अत्यन्त मन्द और हीन रहते थे। इस प्रकार ये तीन प्रकार के छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे। शिक्षार्थियों के दो वर्ग होते थे—उप कुर्वाण और नैष्ठिक। उप-कुर्वाण विद्यार्थी वे होते थे जो विवाह होने के पहले तक गुरुकुल में रहकर दस-पन्द्रह वर्ष बाद गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने के लिए अपने घर लौटते थे। ऐसा ब्रह्मचारी यथाशक्ति गुरुदक्षिणा प्रदान कर गुरु से आज्ञा लेकर घर लौटता था। उप-कुर्वाण विद्यार्थियों में भी तीन प्रकार के स्नातक होते थे—वेद स्नातक, व्रत स्नातक और वेद-व्रत स्नातक। नैष्ठिक ब्रह्मचारी वे होते थे जिनका आठ वर्ष की आयु में उपनयन संस्कार होकर अड़तालीस वर्ष का ब्रह्मचर्य-व्रत रखते हुए छप्पन वर्ष तक अध्ययनरत रहते थे। कभी-कभी वे जीवनपर्यप्त गुरु आश्रम में रहकर अध्ययन करते रहते थे और अन्त में उन्हें ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती थी। उनका पुनर्जन्म नहीं होता था। जो गुरु के आश्रम में रहकर शिक्षा ग्रहण करते थे, वे 'अन्तेवासी' कहे जाते थे। किसी विशेष विषय का अध्ययन करने के लिए दीक्षित हुआ विद्यार्थी गुरुकुल अवधि के अनसार द्वादश वार्षिकी, वार्षिक, मासिक और

अर्धमासिक विद्यार्थी कहा जाता था। कभी-कभी विशेष ऋचा अथवा शास्त्र का अध्ययन करने के लिए विद्यार्थी प्रवेश लेता था।

ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति की मानसिक, बौद्धिक, चारित्रिक और आध्यात्मिक उन्नति होती थी। ज्ञान एवं शिक्षा प्राप्त करने से उसका मस्तिष्क विकसित होता था। अनुशासन और संयम के अभ्यास से उसका भावी जीवन निर्धारित एवं सुनियोजित मार्ग पर अग्रसर होता था। उसके अंतस् की तामसी वृत्तियाँ और भ्रमित इन्द्रियाँ, उसके ब्रह्मचर्य और सच्चरित्रता के समक्ष शमित हो जाती थी। उसका ब्रह्मचर्य-जीवन निर्मल और बाधाहीन हो जाता था। उसके ब्रह्मचर्य का तप उसके मन के उद्वेग और तूफान को उत्तेजित होने से रोकता था। उसका मन और मस्तिष्क संतुलन बनाये रखने में समर्थ होते थे। इस आश्रम के माध्यम से वह शरीर और मस्तिष्क के श्रम के महत्त्व को समझ जाता था। इस प्रकार वह भौतिक और सांसारिक जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक और बौद्धिक जीवन का अनुगामी बन जाता था।

(2) गृहस्थ आश्रम

भारतीय समाज में गृहस्थ आश्रम का अत्यधिक महत्त्व रहा है। ब्रह्मचारी के समावर्तन समारोह के बाद, गुरु से आज्ञा प्राप्त कर वह घर लौटता था तथा विवाह करके गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। इस व्यवस्था का पालन न करने वाले को ब्रह्मचर्य व्रत को खण्डित करने वाला माना जाता था। पुराणों के अनुसार गृहस्थ आश्रम ही अन्य सभी आश्रमों का जनक था। कुछ धर्मशास्त्रकारों ने आश्रमों के वर्णन में सर्वप्रथम गृहस्थ आश्रम की चर्चा की है। यह इस बात का प्रमाण है कि गृहस्थ आश्रम का समाज में अत्यधिक महत्त्व था। मनु ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि जिस प्रकार सभी नदी-नाले सागर में समाहित हो जाते हैं, उसी प्रकार सभी आश्रम ग्रहस्थ आश्रम में समाहित हो जाते हैं। इस आश्रम में पति और पत्नी एक-दूसरे के प्रति सहयुक्त होकर धर्मानुसार व्यवहार करते थे। गृहस्थ आश्रम से ही अन्य आश्रमों का विस्तार और विकास होता था और उसी के अनुग्रह पर अन्य आश्रम निर्भर करते थे। व्यास स्मृति में कहा गया है कि गृहस्थ धर्म का अनुसरण करने वाले को अपने घर में ही कुरुक्षेत्र, नेमिषारण्य, हरिद्वार और केदार तीर्थ की प्राप्ति हो जाती है, जिनसे उसके सभी पाप धुल जाते हैं। महाभारत में गृहस्थ आश्रम की गरिमायुक्त प्रतिष्ठा की गई है तथा उसे अन्य सभी आश्रमों से उत्कृष्ट माना गया है। गृहस्थ का त्याग कर संन्यास आश्रम का अनुगमन करने वालों की निन्दा की गई है। गृहस्थ आश्रम में ही देवताओं, पितरों और अतिथियों के लिए आयोजन होते हैं तथा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की प्राप्ति होती है। वस्तुतः गृहस्थ आश्रम मनुष्य की कर्म-परायणता का काल था, जिसके अन्तर्गत वह अपने विभिन्न कर्मों का पालन करता था।

गृहस्थ के कर्त्तव्य—गृहस्थ आश्रम में रहकर गृहपति अपने व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक, आर्थिक आदि विभिन्न प्रकार के कर्त्तव्यों का पालन करता था। सत्य, अहिंसा, सब भूतों के प्रति दया, शम, सामर्थ्यानुसार दान आदि गृहस्थ के उत्तम कर्म थे। मनु के अनुसार वह दस धर्मों का सेवन करता था—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य और क्रोध-त्याग। महाभारत के अनुसार परायी स्त्री के साथ सम्पर्क न करना, अपनी पत्नी तथा घर की रक्षा करना, न दी गई वस्तु को न लेना, मधु का सेवन न करना तथा मांस न ग्रहण करना, ये पाँच प्रकार के कर्म गृहस्थ को सुख प्रदान करने वाले थे।

इस आश्रम का पालन करने से मनुष्य धर्म अर्जित करता था, क्योंकि परलोक में सहायता के लिए माता, पिता, पुत्र, पत्नी और सम्बन्धी नहीं होते। प्राणी अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है तथा अकेला ही अपने पाप-पुण्य का फल भोगता है। केवल धर्म ही उसके साथ जाता है। अतः परलोक में अपनी सहायता के लिए धर्म का उत्तरोत्तर संचय करना चाहिए। इस प्रकार गृहस्थ आश्रम में ज्ञानयोग की अपेक्षा कर्मयोग को अधिक प्रधानता दी गई है। गृहस्थ के लिए एक साधक की भाँति आचरण करना अनिवार्य था, क्योंकि साधक के रूप में क्रियायोग से ही ज्ञानयोग की सम्भावना थी।

गृहस्थ को अपने परिवार के भरण-पोषण हेतु धार्मिक आधार पर अर्थोपार्जन का निर्देश दिया गया है। दूसरे के अर्थ और सहयोग से अपनी गृहस्थी यदा-कदा चलाना निन्दनीय था। अतः धर्मानुसार उसे धनार्जन की अनुमति दी गई थी। उसके लिए यथाशक्ति दान देने की भी व्यवस्था की गई थी। अतिथि-सत्कार हेतु वह तत्पर रहता था तथा उन्हें भोजन-आसन प्रदान कर प्रसन्न करता था। यदि कोई गृहस्थ किसी अतिथि को असन्तुष्ट या अप्रसन्न कर लौटा देता था तो उसके सारे पुण्य समाप्त हो जाते थे। केवल अपने लिए ही भोजन बनाना अनुचित माना जाता था, बल्कि साथ में अतिथि के लिए भोजन बनाकर उसे सन्तुष्ट करना उसका परम कर्त्तव्य समझा जाता था। मनु के अनुसार जिस गृहस्थ के घर में सामर्थ्यानुसार आसन, भोजन, शैया, जल, फल-फूल से अतिथि की पूजा नहीं होती, वहाँ कोई अतिथि निवास न करे। किन्तु साथ ही मनु ने पाखण्डी, स्वार्थी, विरुद्धकर्मी, बकवृति जैसे अतथियों की सेवा न करने का भी निर्देश दिया है। कौटिल्य के अनुसार स्वधर्म के अनुरूप जीविका चलाना, विधानानुसार विवाह करना, अपनी भार्या से ही सम्पर्क रखना, देवताओं, पितरों और भृत्यों को सन्तुष्ट करने के उपरान्त अवशिष्ट भोजन स्वयं ग्रहण करना गृहस्थ का प्रधान धर्म था। प्रायः सभी धर्मशास्त्रकारों द्वारा सदाचरण, सच्चरित्रता, पवित्रता, सत्यनिष्ठा, सदाशयता आदि गृहस्थ के स्वाभाविक आचरण माने गये हैं। अपने परिवार के अतिरिक्त उसे समाज के अन्य अंगों की आवश्यकताओं को भी पूरा करना होता था। उसके अपने बच्चे आठ, ग्यारह या बारह वर्ष की आयु में गुरुकुलों में चले जाते थे। उनके पालन-पोषण का दायित्व अब उस पर नहीं रह जाता था। किन्तु जो भी ब्रह्मचारी भिक्षा के लिए उसके घर पर आ जाएँ, उनको यथाशक्ति भिक्षा देना उसका कर्त्तव्य हो जाता था। वह ब्रह्मचारियों को प्रसन्नतापूर्वक भिक्षा देता था, क्योंकि वह जानता था कि उसकी अपनी सन्तान भी किसी अन्य गृहस्थ के पास भिक्षा के लिए गई होगी।

गृहस्थ द्वारा संस्कारों की सम्पन्नता—व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक के संस्कार गृहस्थ आश्रम में ही सम्पन्न किये जाते थे। संस्कारों के माध्यम से ही व्यक्ति के जीवन को शुद्ध, पवित्र और सुसंस्कृत बनाया जाता था, जिससे वह अपना नैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक विकास करने में समर्थ होता था। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णछेदन, उपनयन, विवाह, अन्त्येष्टि आदि विभिन्न संस्कार गृहस्थ आश्रम के माध्यम से ही सम्पन्न किये जाते थे। विवाहोपरान्त ही व्यक्ति गृहस्थ बनता था और तत्पश्चात् गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक सभी संस्कार गृहस्थ आश्रम में ही रहकर कार्यान्वित करने के लिए निर्देशित किया गया था। केवल समावर्तन संस्कार ही ब्रह्मचर्य आश्रम में शिक्षा समाप्त करने के बाद ब्रह्मचारी के लिए

सम्पन्न कराया जाता था। अतः सभी संस्कारों का गृहस्थ आश्रम से अटूट सम्बन्ध था। कुछ संस्कार तो आज भी गृहस्थ आश्रम में सम्पन्न किये जाते हैं

गृहस्थ आश्रम के अन्तर्गत व्यक्ति कई ऋणों से मुक्ति प्राप्त करता था। प्रायः सभी व्यवस्थाकारों ने तीन ऋणों की चर्चा की है—देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण। इन ऋणों से मुक्ति पाना मनुष्य का एच्छिक नहीं, बल्कि अनिवार्य कर्त्तव्य होता था। मनु के अनुसार उक्त तीनों ऋणों को पूरा करके मन को मोक्ष (संन्यास) में लगाये बिना मोक्ष-आकांक्षी व्यक्ति नरक में जाता है। मनु ने इन ऋणों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि विधिपूर्वक वेदों का अध्ययन कर, धर्मानुसार पुत्रों को उत्पन्न कर और शक्ति के अनुसार यज्ञों का अनुष्ठान कर (द्विज) मोक्ष में मन लगाये। महाभारत में भी कहा गया है कि विधिपूर्वक किये गये यज्ञों से पितृगणों को, यज्ञ द्वारा देवताओं को और स्वाध्याय द्वारा ऋषियों को पूजित करें तदन्तर अन्य आश्रमों के माध्यम से सिद्धि को प्राप्त करे। इन ऋणों से मुक्ति के मूल में भाव यह था कि समाज से लाभ उठाने वाले व्यक्ति अपने देवों, पितरों, पूर्वजों, ऋषियों आदि के प्रति श्रद्धावनत और विनयशील रहे तथा कुल और समाज के प्रति सदाशयता का दृष्टिकोण रखे। देव ऋण से मुक्ति पाने के लिए देव-यज्ञ की व्यवस्था की गई थी। मनुष्यों पर देवी-देवताओं की अपार अनुकम्पा रही है। इस अनुकम्पा को देव ऋण माना गया है। उससे उऋण होना गृहस्थ का प्रधान लक्ष्य था। वेदों का अध्ययन देव ऋण से मुक्ति पाना था, यज्ञों का अनुष्ठान करना ऋषि ऋण से मोक्ष प्राप्त करना था और पुत्रों का उत्पन्न करना पितृ ऋण से मुक्ति मानी जाती थी। अतः देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण तीनों से मुक्ति पाना गृहस्थ के लिए अनिवार्य था।

गृहस्थ द्वारा पंचमहायज्ञ—गृहस्थ के लिए यज्ञ करना अनिवार्य था। यज्ञ के अनुष्ठान से व्यक्ति लौकिक और पारलौकिक, दोनों जीवनों को सुखी करना चाहता था। प्राचीन भारतीय चिन्तकों का मत था कि प्रत्येक मनुष्य देवताओं, पितरों, ऋषियों और अपने साथ के अन्य मनुष्यों का ऋणी होता है। इन ऋणों से उऋण होना सभी मनुष्यों का अनिवार्य कर्त्तव्य है। इसी प्रयोजन हेतु पाँच महायज्ञों का विधान किया गया था, ताकि मनुष्य इन ऋणों से उऋण हो सके। कुछ विचारकों की मान्यता थी कि अग्नि जलाने में, पीसने में, गृह-सज्जा में और कूटने आदि में होने वाले पापों के प्रायश्चितस्वरूप इन पंचमहायज्ञों को सम्पादित करने का विधान था। इसके अलावा अनेक छोटे-छोटे कीट-पतंगे सर्वत्र उड़ा करते हैं, जब कूटने-पीसने का कोई काम होता है तो ये जीव अनजाने में ही मारे जाते हैं और मनुष्य पाप का भागी बन जाता है। अतः इस पाप से छुटकारा प्राप्त करने के लिए पंच महायज्ञों का विधान किया गया था। भारतीय विचारकों का यह अहिंसात्मक ज्ञान-दर्शन विश्व की अनूठी दर्शन-क्रिया है। पांच महायज्ञ थे—ब्रह्मयज्ञ,पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ। इन पंचमहायज्ञों का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण और पुराणों में भी मिलता है। मनु ने भी पाँच पापों (चुल्ली, पेषणी, उपस्कर, कण्डनी और जलकुम्भ) से मुक्ति के लिए पांच यज्ञों का विधान किया है। मनु के अनुसार वेद का अध्ययन-अध्यापन करना, ब्रह्मयज्ञ था, तर्पण करना पितृयज्ञ, हवन करना देवयज्ञ बलिवैश्वदेव करना भूतयज्ञ तथा अतिथियों का भोजन-सत्कार करना नृयज्ञ था।

ब्रह्मयज्ञ द्वारा मनुष्य अपने प्राचीन विद्वान् ऋषियों के प्रति श्रद्धा और आदर व्यक्त करता था। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर मनुष्य जो ज्ञान प्राप्त करता है, गृहस्थ होकर वह उसे

भुला नहीं देता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—तीनों वर्णों के 'स्वधर्म' में अध्ययन को भी सम्मिलित किया गया है। गृहस्थ के लिए यह आवश्यक था कि वह वेदशास्त्रों के अध्ययन में निरन्तर तत्पर रहे और स्वाध्याय से कभी प्रमाद न करे। इसी के माध्यम से वह वेदों का अध्ययन ही नहीं करता था, बल्कि मौखिक स्मरण भी रखता था। इसी को ब्रह्मयज्ञ कहते थे। इसके दैनिक अनुष्ठान से जहाँ गृहस्थ वेदशास्त्रों की शिक्षाओं को स्मरण रखता था, वहाँ साथ ही वह अपना बौद्धिक उत्कर्ष भी करता था। वेदशास्त्रों का अध्ययन करना जीवन का प्रधान ऋण माना जाता था।

पितृयज्ञ के अन्तर्गत मनुष्य पितरों अर्थात् पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता था। मनुष्य अपने पूर्वजों का ऋणी होता है, क्योंकि वह उन्हीं के द्वारा जीवन प्राप्त करता था। इस ऋण से उऋण होने का एक उपाय यह है कि वह स्वयं भी सन्तान उत्पन्न कर वंशतन्तु को टूटने न दे और अपनी वंश-परम्परा को कायम रखे। प्रत्येक मनुष्य का गृहस्थ आश्रम में प्रवेश इसी कारण आवश्यक था। यह यज्ञ पितृयज्ञ के सम्पादन के बाद ही समाप्त होता था। इसके लिए श्राद्ध का विधान किया गया था। श्राद्ध के अवसर पर पितरों को पिण्ड, तर्पण आदि प्रदान किया जाता था। श्राद्ध और पिण्डदान करने का अधिकार पुत्र को ही था। इसलिए पितृऋण श्राद्ध पितृयज्ञ गृहस्थ आश्रम में ही सम्भव था। पितरों का तर्पण, बलिहरण अथवा श्राद्ध पितृयज्ञ के अन्तर्गत सम्पन्न किया जाता था।

सूर्य, वायु अग्नि, पृथ्वी आदि प्राकृतिक शक्तियों व प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों को प्राचीन भारतीय देवता के रूप में मानते थे। मनुष्य इन देवताओं का ऋणी होता है, क्योंकि सूर्य से उसे प्रकाश प्राप्त होता है, अग्नि उसे उष्मा प्रदान करती है, वायु उसके प्राण का आधार है और पृथ्वी से वह जीवन के लिए आवश्यक अन्न-जल प्राप्त करता है। प्रायः यह भी विश्वास किया जाता रहा है कि गृहस्थ के पास जो भी सुख-सुविधा के साधन है, सब ईश्वर-प्रदत्त है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह देवताओं के प्रति आभारी रहे। अतः देवयज्ञ में देवताओं की पूजा-अर्चना की जाती थी तथा बलि और अग्नि की आहुति देकर उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की जाती थी। निष्ठा और विधिपूर्वक अग्नि में छोड़ी हुई आहुति सूर्य को प्राप्त होती थी, सूर्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा प्राप्त होती थी। यह यज्ञ पत्नी के बिना सम्भव नहीं था, इसलिए विवाहित होकर गृहस्थ बनना आवश्यक था। यज्ञ में आहुति देते समय इन्द्र, अग्नि, प्रजापति, सोम, पृथ्वी आदि देवी-देवताओं के नाम के साथ 'स्वाहा' किया जाता था। प्राकृतिक शक्तियों से मनुष्य जो ग्रहण करता है, देवयज्ञ द्वारा वह उसका प्रतिदान करने का प्रयत्न करता है।

भूतयज्ञ के माध्यम से समस्त प्राणियों के प्रति बलि-प्रदान की व्यवस्था की गई थी। प्राचीन भारतीय विचारक प्राणिमात्र में आत्मभावना रखा करते थे। जो विविध प्रकार के जीव-जन्तु और पशु-पक्षी संसार में विद्यमान है, वे मनुष्य के लिए केवल भोग्य ही नहीं, अपितु उनमें भी उसी विश्वात्मा का निवास है, जो मनुष्यों में है। यदि मनुष्य पशुओं और अन्य प्राणियों का अपने सुख के लिए उपयोग करता है, तो उनके प्रति भी उसके कुछ कर्त्तव्य हो जाते है। इन्हीं कर्त्तव्यों का स्मरण कराने के लिए भूतयज्ञ का विधान किया गया था। इसके अतिरिक्त विघ्नकारी और अनिष्टकारी प्रेतात्माओं की तुष्टि के लिए भूतयज्ञ सम्पन्न किया जाता था। इसमें बलि अग्नि में न डालकर विभिन्न दिशाओं में रख दी जाती

थी। घर में जो भी भोजन बने, उसका एक अंश विधि प्राणियों के लिए पृथक् रख दिया जाता था। और उन्हें अर्पित करके ही गृहस्थ स्वयं भोजन किया करता था। सबके साथ भोजन करना श्रेयस्कर कहा गया है और अकेले भोजन करना पाप समझा गया है।

नृयज्ञ को अतिथि यज्ञ भी कहते थे। अतिथि-सत्कार गृहस्थ का प्रधान कर्त्तव्य ही नहीं, बल्कि धर्म भी माना जाता था। अतिथि चाहे किसी भी जाति या वर्ण का क्यों न हो, उसे देवता के रूप में देखा जाता था। अतिथि के लिए यह कहा गया था कि वह गृहस्थ का भोजन नहीं करता, बल्कि उसके पापों का भक्षण करता है। अतिथि चाहे प्रिय हो या अप्रिय, उसका सत्कार व्यक्ति को स्वर्ग पहुँचाने वाला होता था। कुछ शास्त्रकारों के अनुसार जो व्यक्ति अतिथि को एक रात अपने घर में ठहराता था, वह पृथ्वी के सुखों को प्राप्त कर लेता था, अगर दो रात ठहराता था तो अन्तरिक्ष लोकों की विजय प्राप्त करता था, अगर तीन रात ठहराता था तो वह स्वर्गीय लोकों को प्राप्त करता था और अगर चार रात ठहराता था तो असीम आनन्द को प्राप्त करता था। अगर अतिथि को अनेक रात ठहराता था तो वह अनेक सुखों को प्राप्त करता था। यह उक्ति नृयज्ञ के महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है। प्राचीन समय में संन्यासी या परिव्राजक किसी एक स्थान पर न रहकर सदा भ्रमण करते रहते थे। उनके पास अपनी कोई सम्पत्ति नहीं होती थी। उनका एकमात्र कार्य परोपकार तथा सभी को सन्मार्ग का प्रदर्शन करना होता था। किन्तु उनकी भौतिक आवश्यकताएँ भी होती थी, जो गृहस्थों द्वारा ही पूरी की जा सकती थी। ऐसे संन्यासी जिस किसी भी गृहस्थ के घर आ जाएँ उनकी सेवा करना, आदरपूर्वक उन्हें घर पर ठहराना और उनके भोजन आदि की व्यवस्था करना गृहस्थ का कर्त्तव्य था।

इस प्रकार पंचमहायज्ञ नैतिक और धार्मिक धरातल पर स्थित थे, जो जीवन के सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पक्ष को विकसित करने वाले थे। मनुष्य को धर्म के प्रति सचेष्ट करना इसकी मुख्य भावना थी। व्यक्तिगत सुख और समृद्धि के अतिरिक्त मनुष्य का यह प्रधान धर्म था कि वह अपने समाज और धर्म की भी सेवा करे। अतः गृहस्थ को उसकी पूर्ति के लिए त्रि-ऋण से उऋण होने के साथ-साथ पंचमहायज्ञ सम्पन्न करने का भी विधान किया गया था।

गृहस्थों के विविध प्रकार—प्राचीन स्मृतियों में गृहस्थों का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार गृहस्थों के चार वर्ग है—(1) कुसूल धान्य—जो अपने कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिए बारह दिनों का भोजन संचित करके रखे। (2) कुम्भ धान्य—जो अपने परिवार के लिए छः दिनों का भोजन संचित करके रखे। (3) त्र्यहिक—जो केवल तीन दिन का भोजन अपने पास रखे। (4) अश्वस्तनिक—जिसके पास केवल आज के योग्य ही भोजन हो और कल का भोजन संचित करने का जो कोई प्रयत्न न करे। मनुस्मृति में भी इसी प्रकार से कुसूल धान्य, कुम्भ धान्य, अश्वस्तनिक और त्र्यहिक अथवा एकारिक गृहस्थों का उल्लेख किया गया है। मनु के अनुसार गृहस्थ ब्राह्मण सद्य प्रक्षालिक (प्रतिदिन भोजनोपरान्त बर्तन साफ कर देने वाला) हो अथवा एक मास तक अन्न संचित करने वाला हो या छः मास अथवा एक वर्ष तक के लिए अन्न संचय करने वाला हो। महाभारत में भी चार प्रकार के गृहस्थ निर्दिष्ट किये गये हैं—कुसूल धान्य गृहस्थ वे थे जो षट् कर्मो-यजन, याजन, पठन, पाठन, दान और प्रतिग्रह—को सम्पन्न करते थे; कुम्भ धान्य उनको कहा जाता था जो यज्ञ, अध्ययन और दान में निष्ठावान रहते थे;

अश्वस्तन वे गृहस्थ थे जो अध्ययन और दान में अत्यधिक व्यस्त रहते थे तथा कपोतिमाश्रित उस गृहस्थ को कहा गया जिसकी रुचि केवल स्वाध्याय में ही थी। गृहस्थों के ये प्रकार सम्भवतः ब्राह्मण गृहस्थों के है, क्योंकि त्याग और अपरिग्रह का आदर्श ब्राह्मणों के लिए बड़े महत्त्व का था। प्राचीन भारतीय विचारक धन के अपरिग्रह को बहुत ही आवश्यक समझते थे। वे मनुष्य में धन-संचय की प्रवृत्ति को अनुचित मानते थे। गृहस्थ जो भोजन सामग्री उत्पन्न करे और जिस धन का उपार्जन करे, वह केवल अपने या अपने कुटुम्ब के लिए ही नहीं अपितु सम्पूर्ण समाज के लिए है, यह भावना प्राचीन समय में बहुत प्रबल थी। सम्भवतः इसीलिए गृहस्थों के इन चार प्रकारों को आदर्श रूप में निरूपित किया गया था। यह कल्पना तो सहज ही की जा सकती है कि वैश्यों के लिए यह आदर्श क्रियात्मक नहीं था, यद्यपि उनसे भी यह अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने धन या अन्न आदि को समाज की धरोहर समझकर ही अपने पास संचित रखें।

प्राचीनकाल में गृहस्थ के लिए जो नियम और आचरण निर्दिष्ट किये गये थे, उनका झुकाव त्याग और आध्यात्मिक जीवन की ओर अधिक था। गृहस्थ के लिए भौतिक और सांसारिक सुखों को स्वीकार करते हुए भी उसको सीमाबद्ध कर दिया गया था तथा उसका अतिक्रमण करने वाले गृहस्थ के लिए विभिन्न शुद्धियों का निर्देश किया गया था। गृहस्थ आश्रम का मूल उद्देश्य था—धर्म, संतान और काम की उपलब्धि। किन्तु इसके साथ ही गृहस्थ के सामाजिक कर्त्तव्य भी थे, जो उसके पारिवारिक और सामाजिक जीवन को उन्नत करते थे। पुरुषार्थों की पूर्णता, ऋणों से मुक्ति, महायज्ञों का सम्पादन, भौतिक सुखों की तुलना में आध्यात्मिक सुख की श्रेष्ठता, सर्वांगीण व्यक्तित्त्व का निर्माण, मानवतावादी जीवन-दर्शन की उपलब्धि आदि गृहस्थ आश्रम में ही सम्भव थी। इसीलिए गृहस्थ आश्रम से अनेकानेक नैतिक, व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक कर्त्तव्य सम्बद्ध किये गये थे। वस्तुतः निष्काम कर्मयोग की साधना गृहस्थ आश्रम में ही सम्भव थी।

(3) वानप्रस्थ आश्रम

जब मनुष्य अपने समस्त गृहस्थ के कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों को सम्पन्न कर लेता था और उनसे मुक्त हो जाता था तब वह सांसारिक मोह-माया को त्याग कर वानप्रस्थ आश्रम की ओर मुड़ता था। पूर्ववर्ती समस्त स्थितियों को त्याग कर वन की ओर प्रस्थान करना ही वानप्रस्थ था। वैदिकयुगीन आरण्यक साहित्य की रचना ऐसे ही वानप्रस्थी तपस्वियों ने की थी, जो अरण्य में रहा करते थे। उपनिषद् युग में वानप्रस्थ जीवन का विस्तार हुआ। गृहस्थ जीवन के पश्चात् लोग वन में जाकर एकान्त का जीवन व्यतीत करते थे और अपने ज्ञान और विचार की अभिवृद्धि करते थे। कुछ धर्मसूत्रों के अनुसार मनुष्य ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद प्रव्रज्या ग्रहण कर सीधे वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर सकता था। मनु के अनुसार जब व्यक्ति के सिर के बाल सफेद होने लगे, शरीर पर झुर्रियाँ पड़ने लगे और उसके पौत्र हो जाएँ तब वह वानप्रस्थ होकर जंगल की ओर चल दे। यह उसके जीवन की निर्लिप्तता पर निर्भर करता था कि वह अकेला वानप्रस्थ आश्रम में जाय अथवा सपत्नीक। इस सम्बन्ध में मनु ने व्यवस्थ दी थी कि ग्राम-आहार (धान, यव आदि ग्राम सुलभ भोजन) तथा परिच्छद (गौ, घोड़ा, हाथी, शैया आदि गृह-सम्पत्ति) को त्याग कर वन में जाने की इच्छा न करने वाली पत्नी को पुत्रों के उत्तरदायित्व में सौंपकर अथवा वन में साथ जाने वाली

पत्नी को साथ लेकर वन की ओर प्रस्थान करना चाहिए। महाभारत में भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया गया है। धर्मशास्त्रकारों ने यह व्यवस्था संभवतः इसलिए की थी कि व्यक्ति धीरे-धीरे त्याग और वैराग्य का जीवन अपना सके तथा मोह-माया से अपने को अलग कर सके। विष्णु पुराण में गृहस्थ जीवन के बाद वानप्रस्थ का जीवन नहीं अपनाते थे, उन्हें पापकर्मा कहा गया है। बौद्ध और जैन साहित्य से भी ज्ञात होता है कि वन जैसे एकान्त स्थल में रहकर व्यक्तित्व का विकास किया जा सकता था। वानप्रस्थ जीवन में व्यक्ति त्याग, तप, अहिंसा और ज्ञान का अर्जन करता था। वानप्रस्थ आश्रम का मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिक उत्कर्ष तथा समस्त भौतिक सुखों से मुक्ति पाने का उपक्रम था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह संयमित औरकठोर जीवन का अनुपालन करता था। वह सर्दी और गर्मी सहन करते हुए तपश्चर्या करता था।

वानप्रस्थी का जीवन—वानप्रस्थी का जीवन अत्यन्त त्याग, साधना और तप का था। वह ब्रह्मचर्य और इन्द्रिय-निग्रह के साथ-साथ सत्य और अहिंसा का अनुपालक होता था। मनु के अनुसार उसके लिए आवश्यक था कि वह सर्वदा वेदाध्ययन में लगा रहे, ठंड़ा, गर्म, सुख-दुःख्र, मान-अपमान आदि को सहन करे, सबसे मित्र-भाव रखे, मन को वश में रखे, दानशील बने, दान न ले और सभी जीवों पर दया करें। इन नियमों का अनुसरण करते हुए व्यक्ति वानप्रस्थ का जीवन पचास से पचहत्तर वर्ष की अवस्था तक व्यतीत करता था। दिन में दो बार स्नान और होमानुष्ठान करना, इन्द्रिय-निग्रह तथा भिक्षा पर जीविकोपार्जन करना वानप्रस्थी का प्रधान धर्म था। पंचमहायज्ञ और अतिथि सत्कार करना उसका प्रधान कर्त्तव्य था। मनु के अनुसार जो भोज्य पदार्थ हो उसी से बलि करे, भिक्षा (जल, कन्द-मूल-फल) दे और अतिथियों को इससे सन्तुष्ट करे। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार उसे मूल-फल खाना चाहिए, अपने शरीर को तप से पूर्ण करना चाहिए, पंचमहायज्ञ सम्पन्न करना चाहिए, अगम्य अतिथियों को छोड़कर अन्य अतिथियों का स्वागत करना चाहिए। उसे बाल, दाढ़ी और नख नहीं काटने चाहिए। उसे वन-सुलभ चर्म, कुश तथा काश से अपना परिधान और उत्तरीय बनाना चाहिए। निश्चय ही वानप्रस्थ आश्रम का जीवन अत्यन्त साधना, संयम और तप का जीवन था। मोक्ष की ओर उसकी उन्मुक्तता इन्हीं आचरणों के अनुगमन से हो सकती हैं। गाँव में प्रवेश करना उसके लिए वर्जित था। वह सत् और असत् के भेद को जानता था। दुख और तृष्णा से मुक्त था। आसक्ति से दूर रहकर वह आध्यात्म और ब्रह्म-ज्ञान में तल्लीन रहता था। उसे समाज के लोगों से अलग रहने तथा नगर में प्रवेश न करने का निर्देश दिया गया था।

महाभारत के अनुशासन पर्व में उल्लिखित है कि गृहस्थ को अपने समस्त दायित्वों और कर्त्तव्यों से निवृत होकर आयु के तीसरे भाग में वन की ओर प्रस्थान करना चाहिए। वन में रहते हुए उसे वन में उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ खानी चाहिए, भूमि को शैया बनाना चाहिए, जटा, दाढ़ी और नख रखना चाहिए, वल्कल धारण करना चाहिए, देवता और अतिथि का सत्कार करना चाहिए, अग्निहोत्र सम्पन्न करना चाहिए तथा सनातन धर्म का पालन करना चाहिए। इन नियमों का पालन करने वाले को देवलोक की प्राप्ति होती है। मनु ने भी वानप्रस्थी के लिए व्यवस्था दी है कि वह भूमि पर शयन करे, टहले अथवा पैर के अगले भाग पर दिन में कुछ समय तक खड़ा या बैठा रहे (बीच-बीच में टहले या घूमें) तथा प्रातः, मध्यान्ह और सायं स्नान करे। वह अपनी तपस्या का समय बढ़ाते हुए ग्रीष्म ऋतु में

पंचाग्नि ले, वर्षा ऋतु में खुले मैदान में रहे और शीत ऋतु में गीला कपड़ा धारण करे। इस प्रकार उसे कठोर और अस्वाभाविक जीवन व्यतीत करने का निर्देश दिया गया था। पूर्व-मध्ययुगीन लेखक अलबरुनी ने लिखा है कि वह गृहस्थी को छोड़ देता है, ब्रह्मचर्य का पालन करता है। अगर उसकी पत्नी उसके साथ वानप्रस्थ नहीं अपनाती तो उसे अपनी सन्तति को सौंप देता है। वह जन-सभ्यता से बाहर रहता है और उस जीवन को पुनः अपनाता है जिसे वह सबसे पहले वाले आश्रम में अपना चुका होता है। वह छाजन की छाया के नीचे आश्रय नहीं लेता और न कोई परिधान धारण करता है। केवल कटि भाग को ढ़कने के लिए वृक्ष की छाल मात्र पहनता है। वह पृथ्वी पर बिना किसी बिछावन के सोता है और केवल कन्द-मूल-फल खाकर अपना पोषण करता है। वह बाल बढ़ा लेता है और तेल नहीं मलता। हमें ऐसे पूर्व-मध्ययुगीन शासकों के नाम भी मिलते है जिन्होंने अपना राज्य-सुख त्याग कर वानप्रस्थ आश्रम का जीवन ग्रहण किया था। प्रतिहार, पाल, सेन आदि राजवंशों के कुछ अभिलेखों से इसकी पुष्टि होती है।

वानप्रस्थ आश्रम मोक्ष के मार्ग का दिग्दर्शन कराता तथा मनुष्य को साधना और तपस्या की ओर प्रेरित करता था। कठोर व्यवस्थाओं और नियमबद्ध कर्त्तव्यों द्वारा वह अपने चरित्र और व्यक्तित्व को तपाता था। ब्रह्मचर्य और सदाचारिता का जीवन उसके मन और मस्तिष्क को पूर्णतः पवित्र और निर्मल रखता था। बौद्धिक और आध्यात्मिक उन्नति उसका परम लक्ष्य था। नैतिक और धार्मिक कर्त्तव्यों को सम्पन्न कर वह केवल अपने को ही नहीं बल्कि समाज को भी प्रांजल बनाता था। उसके वानप्रस्थ का यह त्याग और ज्ञान-सम्पन्न जीवन उसके निवृत्ति-मूलक व्यक्तित्व को उत्कर्षित करते हुए उसे मोक्ष के मार्ग की ओर अग्रसर करता था।

(4) संन्यास आश्रम

मनुष्य के जीवन का अन्तिम भाग, पचहत्तर वर्ष की आयु से सौ वर्ष अथवा इसके बाद तक संन्यास आश्रम के अन्तर्गत रखा गया था। वानप्रस्थ आश्रम के बाद संन्यास आश्रम प्रारम्भ होता था। पुरुषार्थ के अन्तिम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति संन्यास आश्रम के माध्यम से ही सम्भव थी। संन्यासी को भिक्षु भी कहा गया है ओर 'यति' थी। विष्णु-पुराण में उसे 'परिवाट्' तथा धर्मसूत्रों में 'परिव्राजक' कहा गया है। वैदिक ग्रन्थों में उसके लिए 'यति' शब्द का प्रयोग किया गया है। सूत्रकाल में 'संन्यास' और 'भिश्रु' शब्द का प्रचलन होने लगा। सन्यासी का अर्थ पूर्ण त्याग से है, भिक्षु का भिक्षुवृत्ति से और 'यति' का तपस्वी से। मनु के अनुसार अपनी वय के तीसरे भाग को वानप्रस्थ में बिताकर परिव्राजक बनाना चाहिये। मोक्ष प्राप्ति के लिए संन्यास आश्रम की आवश्यकता थी। किन्तु अनुत्तरदायी व्यक्ति गृहस्थ जीवन के कर्त्तव्यों का पूर्णतः पालन न करने वाला संन्यास आश्रम को अपनाने का अधिकारी नहीं था।

संन्यासी का जीवन—संन्यास आश्रम का मूल उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति थी। अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिए अत्यन्त साधना और तपस्या की आवश्यकता थी। संन्यास आश्रम में व्यक्ति पूर्ण रूप से निर्लिप्त भाव होकर मोक्ष प्राप्ति के कार्यक्रम में लगता था और अपनी आत्मा को ब्रह्म की ओर लगाता था। संन्यासी का जीवन समस्त राग-द्वेष और मोह-माया से विलग, पूर्णतया एकाकी था। संग्रह करने पर उस पर प्रतिबन्ध था। वेद के अलावा अन्य

कर्मों के प्रति वह विरक्त रहता था। विष्णु-पुराण में उसके लिए यह व्यवस्था की गई थी कि वह सम भाव रखे, जरायुज, अण्डज आदि सभी जीवों से कभी द्रोह न करे। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि समस्त दुर्गुणों को त्याग दे। महाभारत के अनुसार वह अग्नि, धन, पत्नी और सन्तान के प्रति हमेशा अनासक्त रहे। वस्त्र, आसन, शैया आदि सुख के साधनों का त्याग करे तथा इधर-उधर घूमता रहे। कांचन और पाषाण, शत्रु और मित्र आदि सब उसकी दृष्टि में समान हो। मनु ने उसके लिए निरपेक्ष और एकाकी जीवन व्यतीत करने के लिए निर्देश दिया है। शास्त्रकारों की मान्यता थी कि सांसारिक वस्तुओं से अनासक्त होने पर ही उसे ज्ञान की प्राप्ति हो सकती थी। वह चलते समय इधर-उधर दृष्टि नहीं डालता था, बल्कि वह अपने पैरों की ओर ही दृष्टि गड़ाकर (कुक्कुटीपाद) भूमि की ओर देखता हुआ चलता था। अतः वह 'कौक्कुटिक' कहा जाता था। मनु ने वास्तविक और सही संन्यासी उसे स्वीकार किया है जो लौकिक अग्नि से रहित, गृहहीन, शरीर के रोगग्रस्त होने पर भी अपनी चिकित्सा का प्रबन्ध न करने वाला, स्थिर बुद्धि, ब्रह्म का मनन करने वाला और ब्रह्म में भाव रखने वाला हो। इन्हीं गुणों से सम्पन्न संन्यासी गाँव में भिक्षा के लिए जा सकता था। महाभारत के अनुसार उसके लिए यह अनिवार्य था कि वह क्रोध-मोह का परित्याग कर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्राणिधान नियमों का पालन करें। कौटिल्य के अनुसार इन्द्रिय-निग्रह के साथ उसके लिए जितेन्द्रिय होना भी आवश्यक था। मत्स्य पुराण में भी लिखा है कि जितेन्द्रिय ही वास्तविक भिक्षु था। मनु का कथन है कि संन्यासी के लिए इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना आवश्यक था। अतः वह विषयों की ओर आकृष्ट होती हुई इन्द्रियों को अल्प भोजन और एकान्तवास से रोके। इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोकने से, राग और द्वैष के त्याग से तथा जीवों की अहिंसा से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता था। मत्स्य पुराण में उसे उतना ही भोजन करने का निर्देश दिया गया है, जितने से उसकी प्राणशक्ति बनी रहने में समर्थ होती है। मनु ने उसे दिन में केवल एक बार भिक्षा ग्रहण करने का निर्देश दिया है, क्योंकि भिक्षा में आसक्त रहने वाला व्यक्ति विषयों में भी आसक्त हो सकता था। भ्रमणशीलता भिक्षु का प्रधान गुण था तथा 'परिव्राजक' इसी श्रेणी में आते थे। वह गाँव में एक रात्रि और नगर में पाँच रात्रि से अधिक निवास नहीं करता था। यह नियम इसलिए था कि वह मोह-पाश और सांसारिक प्रपंच में फिर न फँस जाय। सही अर्थों में भिक्षु वही था जो बिना घर-बार के विभिन्न स्थानों का भ्रमण करता था। शारीरिक कष्ट होने के बावजूद उसे भ्रमण करना अनिवार्य था।

संन्यास का प्रचलन प्रायः ब्राह्मणों में ही अधिक था, वैसे बौद्ध और जैन धर्म से सम्बन्धित भिक्षु संन्यासी के रूप में विद्यमान थे। रामायण और महाभारत में क्षत्रिय और वैश्य संन्यासियों के विषय में कोई विवरण नहीं मिलता। शूद्रों के लिए तो केवल गृहस्थ आश्रम ही विहित था। महाकाव्य काल के प्रायः सभी संन्यासी ब्राह्मण थे। महाभारत में तो ब्राह्मण और संन्यासी को पर्यायवाची अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। पुराण-काल में सम्भवतः ब्राह्मणेत्तर वर्ण के लोग भी संन्यास ग्रहण करने लगे थे, किन्तु ऐसे उदाहरण बहुत ही कम मिलते हैं।

पूर्व-मध्य युग में भी संन्यास का प्रचलन था। भारत आये अरव यात्रियों ने संन्यासी-जीवन के बारे में विस्तार से लिखा है। अरब यात्री सुलेमान ने लिखा है कि, "भारत में ऐसे

लोग भी है जो सदा पहाड़ों और जंगलों में घूमा करते हैं और लोगों से बहुत कम मिलते-जुलते हैं। जब भूख लगती है तब वे लोग जंगल के फल या घास-पात खा लेते हैं। उनमें से कुछ लोग पूर्णत: नग्न रहते हैं। हाँ, चीते की खाल का एक टुकड़ा उन पर अवश्य पड़ा रहता है। मैने इसी प्रकार के एक यात्री को धूप में बैठे हुए देखा था। सोलह वर्ष बाद जब मैं फिर उस ओर से गुजरा तब भी मैंने उसको उसी प्रकार और उसी दशा में देखा। मुझे आश्चर्य है, धूप की गर्मी से उसकी आँखें क्यों न बह गई।'' सुलेमान का अचम्भित होना स्वाभाविक था, क्योंकि संन्यासियों की साधना, तपश्चर्या और योगक्रिया भारत के अलावा अन्यत्र दुर्लभ थी। एक दूसरा परवर्ती अरब यात्री अलबरुनी लिखता है कि, ''चौथा काल जीवन के अन्त तक चलता है। मनुष्य लाल वस्त्र और हाथ में एक दण्ड धारण करता है। सदैव ध्यानस्थ रहता है। वह अपने मस्तिष्क को शत्रुता ओर मित्रता से तथा काम, क्रोध और लालसा से रहित कर लेता है। वह किसी से एकदम संभाषण नहीं करता। किसी स्वर्गीय पुरुस्कार प्राप्ति के निमित्त जब वह विशेष गुण युक्त स्थानों का भ्रमण करता है तब वह मार्ग के गाँव में एक दिन से अधिक और नगर में पाँच दिन से अधिक नहीं ठहरता। अगर कोई उसे कुछ देता है तो वह दूसरे दिन के लिए उसमें से नहीं बचाता। मुक्तिमार्ग की चिन्ता करने और जहाँ से इस संसार में लौटना नहीं होता, उस मोक्ष तक पहुँचने के अतिरिक्त उसके पास दूसरा कोई कार्य नहीं था।'' अलबरुनी का यह कथन भारतीय धर्मशास्त्रकारों के विचारों से मिलता-जुलता है।

संन्यासी का जवन अत्यन्त तपस्या और कठोरता का था। वह प्रवृत्तियों से पूर्णत: उदासीन होकर निवृत्ति मार्ग का अनुगमन करता था। समस्त भौतिक और सांसारिक पदार्थों के प्रति अनासक्त होकर वह मनोनिवेशपूर्वक अपने उद्देश्य-मोक्ष की प्राप्ति के लिए साधनारत रहता था। आत्म-ज्ञान और परम पद की प्राप्ति के लिए वह संयमपूर्वक संलग्न रहता था। वह समाज से पूर्णत: अलग होकर भी अपने दृढ़ अनुशासन, संयम, तपश्चर्या, निवृत्ति, अहिंसा और विराग से समाज को सही मार्ग का निर्देशन करता था। वह अपनी उन्नत बुद्धि, आध्यात्मिक चिन्तन-वृत्त और मानवतावादी चिन्तन से वह केवल अपना व्यक्तित्व ही नहीं निखारता था बल्कि सम्पूर्ण समाज को भी सन्मार्ग पर उन्नत करता था।

आश्रम-व्यवस्था में स्त्री का स्थान

जिस प्रकार आश्रम-व्यवस्था पुरुषों के लिए आवश्यक थी, उसी प्रकार स्त्री के लिए नहीं थी। स्त्री के लिए आश्रम-व्यवस्था का विधान अपेक्षाकृत कम आवश्यक था। यद्यपि आश्रमों के कर्त्तव्य निर्वाह में पुरुषों के साथ उसका समुचित सहयोग था, तथापि वह अनेकानेक अधिकारों से वंचित कर दी गई थी तथा अनेक प्रतिबन्धों में बाँध दी गई थी। वैदिक युग में उसे ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए निर्दिष्ट किया गया था। उपनयन संस्कार से ब्रह्मचर्य आश्रम प्रारम्भ होता था। ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए कन्या शिक्षा ग्रहण करती थी तथा 16-17 वर्ष की आयु तक शिक्षा प्राप्त करने वाली कन्या 'सद्योवधू' कही जाती थी। इसके बाद उसका विवाह कर दिया जाता था। जो कन्या आजीवन शिक्षा ग्रहण करने में लगी रहती थी तथा वैवाहिक-बन्धन में नहीं फँसती थी, उसे 'ब्रह्मवादिनी' कहा जाता था। स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य जीवन बहुत कम व्यतीत करती थी। वैदिक युग के परवर्ती काल से स्त्रियों का ब्रह्मचर्य जीवन प्राय: समाप्त हो गया। बाल्यावस्था में उसका विवाह कर दिया जाता था। जिस प्रकार ब्रह्मचारी गुरु की सेवा करता था उसी प्रकार स्त्री को पति-सेवा करने का निर्देश

दिया गया था। स्त्रियों के लिए विवाह अनिवार्य था। स्त्री के सहयोग और सहायता के बिना गृहस्थ जीवन प्रयोजनहीन और उद्देश्यहीन था। मनु के अनुसार प्रजननार्थ ही स्त्री की सृष्टि हुई थी। ऐसी स्थिति में उसका गृहस्थ आश्रम में रहना अपेक्षित था। गृहस्थ आश्रम में रहकर स्त्री अपने सामाजिक-धार्मिक कर्त्तव्यों का संपादन करती थी। वह यज्ञादि के साथ अतिथि-सत्कार का भी व्रत करती थी। उसका परम कर्त्तव्य था कि गृहस्थ जीवन सुखी और सम्पन्न रहे। अथर्ववेद में उसे 'गृह-साम्राज्ञी' कहा गया है। अतः स्त्री के लिए गृहस्थ का जीवन व्यतीत करना तथा गार्हस्थ्य उत्तरदायित्वों को निभाना अनिवार्य था।

गृहस्थ आश्रम की समाप्ति के बाद वह अपनी इच्छानुसार अपने पति के साथ वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर सकती थी। निश्चय ही, यह उसकी इच्छा पर निर्भर करता था कि वह वानप्रस्थ आश्रम में अपने पति के साथ रहे या गृहस्थ आश्रम में ही अपने पुत्रों आदि के साथ जीवन निर्वाह करे। अतः वानप्रस्थ आश्रम उसके लिए उस प्रकार अनिवार्य नहीं था, जिस प्रकार उसके पति के लिए। इस प्रकार हमें कुछ उदाहरण मिलते है जब कभी-कभी स्त्री अपने पति के साथ वानप्रस्थ में प्रवेश करती थी। किन्तु उनका वन-गमन वैकल्पिक होता था, जो कालान्तर में आकर पूर्णतः व्यवहार से हट गया। साधारणतया स्त्रियाँ आजीवन गृहस्थ आश्रम में ही रहा करती थी। प्रायः सभी धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री के लिए संन्यास आश्रम का कोई उल्लेख नहीं किया है। संन्यास आश्रम की व्यवस्था पुरुषों के लिए थी, स्त्रियों के लिए नहीं स्त्रियों के प्रव्रज्या ग्रहण करने के विषय में प्रायः सभी बुद्धिजीवी विरुद्ध रहे है, क्योंकि उनके प्रव्रज्या ग्रहण करने से समोज और धर्म में अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हो सकती थीं। नारी न अपनी सुरक्षा कर सकने में समर्थ थी, न धर्म की, प्रत्युत नैतिक आदर्शों से च्युत होने की ही उससे आशंका थी। अपना शील-रक्षण कर सकना भी उसके लिए समस्या थी। बौद्ध युग में तो युवतियाँ भी भिक्षुणियाँ बनने लगी, जिससे नैतिक पतन प्रारम्भ हो गया। सम्भवतः इन्हीं समस्याओं की आशंका से धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री के लिए संन्यास का जीवन स्वीकार नहीं किया तथा उन्हें पिता, पति और पुत्र द्वारा रक्षित माना और परिवार के वरिष्ठ सदस्य के संरक्षण में रहने का निर्देश दिया।

आश्रम-व्यवस्था का महत्त्व

आश्रम-व्यवस्था व्यक्ति के जीवन और व्यक्तित्व के उत्थान का महत्त्वपूर्ण आधार थी। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन इसी के माध्यम से समग्रता और गतिशीलता प्राप्त करता था। मनुष्य के जीवन की चार अवस्थाएँ वैज्ञानिक ढंग से निर्मित की गई थी। जीवन का चार भागों में विभाजन कोई साधारण बात नहीं थी। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने आश्रम-व्यवस्था की योजना तैयार करने में अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया। इस व्यवस्था के पीछे मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय दृष्टि दिखाई देती है। मानव स्वभाव एवं प्रकृति के विकास का सूक्ष्म अध्ययन करने के पश्चात् ही इस व्यवस्था को कार्यरूप में लाया गया था। व्यवस्थाकारों ने जीवन को व्यवहारिकता के धरातल पर चार भागों में विभाजित किया था। यह विभाजन व्यक्ति की अवस्था में सम्बद्ध था—बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था। इन अवस्थाओं की अर्थव्यंजना आश्रमों में ध्वनित होती है। बाल्यावस्था ब्रह्मचर्य के लिए थी, युवावस्था गृहस्थ के लिए, प्रौढ़ावस्था वानप्रस्थ के लिए द्वारा वृद्धावस्था संन्यास के लिए। विद्या और शिक्षा का अर्जन बाल्यकाल में ही सम्भव है,

क्योंकि इस अवस्था में जो भी नियम, संयम, आचार, विचार, विद्या और बुद्धि की शिक्षा दी जाती है, वह उसे बड़ी शीघ्रता से ग्रहण कर अपने मन और मस्तिष्क को उसी के अनुरूप बना लेता है। बाल्यकाल में उसे दिया गया ज्ञान ही उसके भावी जीवन का आधार बनता है तथा उसके व्यक्तित्व के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। इसीलिए हमारे प्राचीन चिन्तकों ने मनोविश्लेषण के आधार पर जीवन का विभाजन करते हुए बाल्यकाल को ब्रह्मचर्य आश्रम माना है। बाल्यकाल से जब व्यक्ति युवावस्था में पदार्पण करता है तब उसमें रागात्मक वृत्तियाँ संचालित होती है। वह यौवन के स्वाभाविक आकर्षण से आबद्ध हो जाता है। अतः उसकी यौन-वृत्तियों और आकर्षण को समुचित मार्गदर्शन के लिए गृहस्थ आश्रम की व्यवस्था की गई थी। गृहस्थ आश्रम के माध्यम से ही अपने व्यक्ति पुरुषार्थों तथा विभिन्न कर्त्तव्यों को सम्पन्न करता है। अनेक नियमों और धार्मिक मर्यादाओं के साथ वह अपने गृहस्थ के कर्म सम्पन्न करता है। फलस्वरूप उसके व्यक्तित्व के विकास के साथ-साथ परिवार और समाज का भी विकास होता है।

गृहस्थ के समस्त उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य सम्पन्न करने के बाद वह वानप्रस्थ आश्रम के अन्तर्गत इन्द्रिय-निग्रह के साथ अपने मन और मस्तिष्क को एकाग्र करने का अभ्यास करता था। अपने सात्विक और अनुशासित जीवन से वह समाज को आदर्श जीवन का दिग्दर्शन कराता था तथा अपने ज्ञान और बुद्धि से लोगों को सन्मार्ग की ओर चलने की प्रेरणा देता था। तप, संयम और मर्यादापूर्वक अपने कर्म सम्पन्न करने के उपरान्त वह संन्यास आश्रम की ओर उन्मुख होता था। संन्यासी का जीवन तप, अहिंसा, दया, संयम और नियम का रहता था। मोक्ष प्राप्ति का यह अन्तिम चरण माना गया है। आत्मा और परमात्मा के बीच का अन्तर संन्यासी के ज्ञान और शिक्षण से समाप्त हो जाता था। मनुष्य की स्वाभाविक लालसा और इच्छाओं पर क्रमशः प्रतिबन्ध लगाकर उसे सत्य, अहिंसा और सदाचरण के मार्ग पर चलने के लिए वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम का नियमन किया गया, क्योंकि गार्हस्थ्य के प्रपंच और सांसारिक आकर्षण से मुक्त होने का एकमात्र यही माध्यम था। सांसारिक आकर्षण से मुक्ति, इन्द्रिय-निग्रह तथा तपश्चर्या से ही उसे परमगति की प्राप्ति हो सकती थी। किन्तु संन्यासियों ने समाज़ को नेतृत्व भी प्रदान किया है। प्रारम्भिक भारत में जाति की कटुता और विरोध के बीच उनका कार्य उल्लेखनीय रहा। बौद्ध युग में संन्यासियों, भिक्षुओं और गृहस्थों के सम्बन्ध समाज में प्रशंसनीय रहे हैं, जिनकी अलग-अलग जीवन-पद्धति थी। व्यक्ति की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न वृत्तियों को ध्यान में रखते हुए ही प्राचीन चिन्तकों ने चार आश्रमों की व्यवस्था की थी। कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व के आधार पर ही आश्रम-व्यवस्था को आश्रम-धर्म भी कहा गया है। जिस प्रकार वर्ण-धर्म था, उसी प्रकार आश्रम भी। दोनों को समवेत रूप में वर्णाश्रम धर्म भी कहा जाता है। आश्रम-धर्म विभिन्न आश्रमों के कर्त्तव्यों और कर्मों को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार आश्रम के विभिन्न कर्म आश्रम धर्म के अन्तर्गत आते थे। आज के युग में चाहे आश्रम-व्यवस्था का कोई महत्त्व न रहा हो परन्तु प्राचीनकाल में लोग इसके प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखते थे तथा आश्रम-व्यवस्था की मर्यादाओं में रहकर अपना जीवन संचालित करने का प्रयास करते थे।

प्राचीनकाल में आश्रम-व्यवस्था ने व्यक्ति और समाज को ज्ञान-गरिमा से मंडित किया था, विभिन्न सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक क्रियाओं के लिए प्रेरित किया तथा सांसारिक मोह-माया के पाश से मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त किया, ताकि परमब्रह्म तथा

'मोक्ष' की प्राप्ति हो सके। आश्रम-व्यवस्था सिद्धान्तः प्राचीन भारतीय समाज का प्रधान आधार थी तथा वैदिक युग से लेकर बारहवीं शताब्दी तक के साहित्य में इस व्यवस्था का वर्णन मिलता है तथा यह साहित्य द्विजों को इसका अनुपालन करने का निर्देश देते है। वैदिक युग में कुछ लोग इस व्यवस्था के नियमों को व्यवहारिक रूप से मानते भी रहे। यह व्यवस्था उत्तर-वैदिक युग की देन है, जिसे समाज के कुछ लोग स्वीकार करते रहे और कुछ लोग स्वीकार नहीं भी करते थे। महाभारत में आश्रम-व्यवस्था का अधिकाधिक उल्लेख मिलता है, किन्तु समाज में इसका पालन करने वालों की संख्या बहुत ही कम थी। हमें केवल कुछ ऋषि, मुनि और कुछ शासकों के सन्दर्भ मिलते हैं, जिन्होंने आश्रम धर्म का पूर्णतः पालन किया था। कालान्तर में इस व्यवस्था का पूर्ण रूप से पालन करने वालों का यदा-कदा ही सन्दर्भ मिलता है, जो इस बात को प्रमाणित करती है कि ऐतिहासिक रूप से आश्रम-व्यंवस्था समाज में अवश्य प्रचलित थी, किन्तु व्यवहारिक रूप में इसका अनुपालन नाममात्र का ही रह गया था।

अभ्यास के लिए प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग पाँच पृष्ठों में दीजिए—

1. आश्रम-व्यवस्था से आप क्या समझते हैं ? भारत में आश्रम-व्यवस्था के विकास का विवेचन कीजिए।
2. मौर्ययुगीन आश्रम-व्यवस्था का उल्लेख कीजिए।
3. भारतीय संस्कृति में ब्रह्मचर्य आश्रम के महत्त्व की विवेचना कीजिए।
4. "गृहस्थाश्रम सभी आश्रमों का जनक है।" इस कथन के आधार पर गृहस्थाश्रम की विवेचना कीजिए।
5. वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम में भेद स्पष्ट करते हुए दोनों आश्रमों में व्यक्ति की दिनचर्या का उल्लेख कीजिए।
6. भारतीय संस्कृति में आश्रम-व्यवस्था का महत्त्व बताइये।

लघूत्तरात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए—

1. आश्रम-व्यवस्था के उद्भव की विवेचना कीजिए।
2. कौटलीय अर्थशास्त्र में उल्लिखित वर्ण-व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
3. बौद्ध और जैन धर्म के काल में आश्रम-व्यवस्था में क्या परिवर्तन आये ?
4. उप-कुर्वाण और नैष्ठिक ब्रह्मचारी में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
5. पंचमहायज्ञ से आप क्या समझते हैं ? गृहस्थों के लिए इन यज्ञों का करना क्यों आवश्यक माना गया है?
6. प्राचीन स्मृतियों में वर्णित गृहस्थों के विविध वर्गों का उल्लेख कीजिए।
7. आश्रम-व्यवस्था में स्त्री का क्या स्थान था ?

◆

अध्याय-8

उपनयन एवं विवाह संस्कार

प्राचीनकाल में भारतीय समाज में व्यक्ति के व्यक्तित्व के उत्थान के लिए संस्कारों का संयोजन किया गया था। शुद्धता, आस्तिकता, धार्मिकता और पवित्रता संस्कार की मुख्य विशेषताएँ मानी गई। धर्म, यज्ञ और कर्मकाण्ड इसका मूल आधार रहा। मनुष्य का आध्यात्मिक और सांस्कृतिक जीवन संस्कारों की निष्पन्नता से प्रभावित होता रहा है। अत: संस्कार का आधार धर्म है, जिसके माध्यम से मनुष्द अपने जीवन को उन्नत, परिष्कृत और सुसंस्कृत बनाता है। प्राचीनकाल से आज तक अनेक परिवर्तनों के बाद भी हिन्दू समाज में संस्कारों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। संस्कारों के विभिन्न रूप मनुष्य के जन्म के पहले से ही आरम्भ होकर उसकी मृत्यु के पश्चात् तक निरन्तर बने रहे। व्यक्ति अपने विभिन्न सामाजिक और धार्मिक कार्यों को इन्हीं के माध्यम से कर सकने में समर्थ होता था। संस्कारों के माध्यम से ही व्यक्ति का सामाजीकरण होता है और वह अपने दायित्वों के प्रति जागरूक होता है। संस्कार सम्पन्न करने हेतु अनेक प्रकार के यज्ञ सम्पन्न किये जाते हैं तथा अनेक देवी-देवताओं का स्मरण और पूजन किया जाता है। अग्नि के समक्ष मंत्रोच्चार तथा धार्मिक अनुष्ठान से अपने को परिशुद्ध किया जाता है। इन कार्यों का मनुष्य पर यह मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है कि वह संस्कारों द्वारा सौंपे गये दायित्वों का निर्वाह करने में समर्थ है और उस पर देवी-देवताओं की असीम कृपा है। सभी संस्कृतियों में संस्कारों का होना अनिवार्य, क्योंकि संस्कारों से ही किसी संस्कृति के सामाजिक और धार्मिक अवस्था तथा कार्यप्रणाली अभिव्यक्त होती है। अत: भारतीय समाज और संस्कृति में संस्कारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

संस्कार का अर्थ—'संस्कार' शब्द 'कृअ' धातु में 'ध' प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ शुद्धता अथवा पवित्रता है। अंग्रेजी का 'सैक्रामेंट' शब्द 'संस्कार' के लिए प्रयुक्त होता है। अत: संस्कार का साधारण अर्थ शुद्धि, परिष्कार अथवा स्वच्छता से है। मनुष्य का जीवन संस्कार से ही परिशुद्ध होता है। जन्म से मनुष्य पूर्णत: असंस्कृत होता है, किन्तु संस्कारों की सम्पन्नता से वह मणि की तरह देदीप्यमान और धवल हो जाता है। उसका भौतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक जीवन निखर उठता है। अत: संस्कार व्यक्ति के शारीरिक, सामाजिक, बौद्धिक और धार्मिक परिष्कार के निमित्त वह धार्मिक क्रिया है जो विशुद्ध-पवित्र अनुष्ठापन में आस्था रखती है। संस्कारों की विविध क्रियाओं को निष्ठापूर्वक करने से व्यक्ति समाज का पूर्णत: अभिन्न अंग बन जाता है। अत: संस्कार हिन्दू समाज के सदस्यों के लिए अत्यन्त अनिवार्य धार्मिक विधान है। जीवन में नैतिक, आध्यात्मिक और धार्मिक प्रवृत्तियों के निर्माण और उनसे अपने व्यक्तित्व को उत्कर्षित करना भी संस्कार-सम्मत मनुष्य का अभिलाषित लक्ष्य रहा है। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए तथा अपने

जीवन को सुखमय बनाने के लिए विभिन्न संस्कारों की प्रतिष्ठा की गई। संस्कारों की सम्पन्नता शास्त्र के निर्देशानुसार मानी गई है। व्यक्ति के जीवन की शुद्धि और परिष्करण इसी आधार पर होता रहा। संस्कारों के माध्यम से ही व्यक्ति को विद्यार्थी, गृहस्थी आदि जीवन के व्यवहारिक रूप प्राप्त होते थे तथा उसका सामाजिक और धार्मिक जीवन उन्नत होता था।

मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन संस्कारों से आवृत रहा है। जन्म से लेकर मृत्यु तक सारा जीवन विभिन्न संस्कारों से शुद्ध और पवित्र होता रहा है। संस्कारों को सम्पन्न किये बिना व्यक्ति का जीवन अपवित्र, अपूर्ण और अव्यवस्थित था। शरीर और आत्मा की शुद्धि संस्कारों के सम्पादन से ही सम्भव थी। इन संस्कारों को सम्पन्न करने में हवन और अग्नि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रही है। संस्कार के अन्तर्गत देवताओं की स्तुति, प्रार्थना, कामना और उनके निमित्त यज्ञ किया जाता था। पुरोहित द्वारा मंत्रोच्चारण के साथ संस्कारों का विधिपूर्वक निष्पादन देवताओं को प्रसन्न करना और व्यक्ति के लिए सुभाशंसा प्राप्त करना था। अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति को जो बाधाएँ घेरी होती थीं, उन्हें दूर करना तथा भावी जीवन को निर्विघ्न बनाना संस्कारों का प्रधान उद्देश्य था। ऐसा माना जाता है कि मनुष्य का जीवन अनेक बाधाओं और विघ्नों के कारण सुव्यवस्थित ढंग से संचालित नहीं हो पाता। उसे विभिन्न प्रकार के सांसारिक कष्ट उठाने पड़ते हैं। अतः इनसे मुक्ति पाने के लिए और जीवन को मंगलमय बनाने के लिए संस्कारों का विधान किया गया था।

यद्यपि भारत में संस्कारों का प्रचलन वैदिक काल से ही रहा है, तथापि इनका विवरण वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। सूत्र-ग्रन्थों और स्मृति ग्रन्थों में इनके विषय में विस्तार से विवरण मिलता है। मनुष्य के जीवन में कितने संस्कार सम्पन्न होने चाहिए, इस विषय पर धर्मशास्त्रकार एकमत नहीं है। गौतम ने संस्कारों की संख्या 40 दी है और वैखानस ने 18 दी है। कुछ शास्त्रकारों ने संस्कारों की संख्या 13 दी है। किन्तु प्रायः सभी धर्मशास्त्रकार संस्कारों की संख्या 16 मानते हैं—(1) गर्भाधान (2) पुंसवन (3) सीमन्तोन्नयन (4) जातकर्म (5) नामकरण (6) निष्क्रमण (7) अन्नप्राशन (8) चूड़ाकर्म (9) कर्णवेध (10) विद्यारम्भ (11) उपनयन (12) वेदारम्भ (13) केशांत अथवा गोदान (14) समावर्तन (15) विवाह (16) अन्त्येष्टि। वस्तुतः संस्कारों की संख्या उनकी मान्यता पर निर्भर थी। प्राचीन भारतीय समाज में जितने संस्कार स्वीकार किये गये तथा समयानुसार जिनका पालन किया गया, वे संस्कार ही अधिक प्रचलित हुए। मनुष्य जीवन गर्भाधान से शुरू होता है और श्मशान में उसका अन्त होता है। अतः मनुष्य को स्वस्थ तथा दीर्घायु और मन को शुद्ध तथा अच्छे संस्कारों वाला बनाने के लिए गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक सोलह संस्कारों की व्यवस्था की गई। ये संस्कार स्त्री और पुरुष दोनों के लिए है। स्त्रियों के संस्कार (विवाह को छोड़कर) मन्त्रहीन होते हैं। शूद्रों के कुछ संस्कार होते हैं, परन्तु उनकी क्रियाएँ भी मन्त्रहीन होती है। संस्कार विशेषतया द्विज जातियों के लिए ही थे। धर्मशास्त्रकारों ने जिन सोलह संस्कारों की व्यवस्था की, उनमें उपनयन एवं विवाह संस्कार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उपनयन संस्कार के द्वारा व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करता है तथा गुरु के सानिध्य में रहकर अपना बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास करता है। गुरु से शिक्षा ग्रहण करने के बाद तथा गुरु से आज्ञा प्राप्त कर ब्रह्मचारी पुनः घर लौटकर आता था, तब विवाह संस्कार के द्वारा वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। अतः मनुष्य के जीवन में उपनयन

एवं विवाह संस्कार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माने गये हैं, जिनका विस्तृत विवेचन करना समीचीन होगा।

उपनयन संस्कार

सोलह संस्कारों में उपनयन संस्कार अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। अन्य संस्कार अप्रत्यक्ष रूप से मानव के सांस्कृतिक विकास में योग देने वाले हैं, किन्तु उपनयन संस्कार उस प्रकार का नहीं है। यह प्रत्यक्ष रूप से मानव को सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रविष्ट कर देता है। 'उप' का अर्थ है 'समीप' तथा 'नयन' का अर्थ है 'ले जाना' अर्थात् समीप ले जाना। यह वह संस्कार है जिसके द्वारा बालक को शिक्षा के लिए गुरु के समीप ले जाया जाता था। गुरु अथवा आचार्य कौन है ? महर्षि दयानन्द के शब्दों में आचार्य उसको कहते है जो सांगोपांग वेदों के शब्द-अर्थ-सम्बन्धी क्रिया का जानने वाला, छल-कपट रहित, अत्यन्त प्रेम से सभी को विद्या देने वाला, परोपकारी, तन, मन और धन से सबका सुख बढ़ाने में तत्पर रहने वाला, किसी का पक्षपात न करने वाला और सत्योपदेष्टा, सबका हितेषी, धर्मात्मा और जितेन्द्रिय होता है। आचार्य को वेद में निष्ठावान 'धर्मज्ञ' कुलीन और पवित्र होना चाहिए। जो सत्यवादी है, धृति-सम्पन्न, दक्ष, आस्तिक और सर्वभूतों पर दया दृष्टि रखने वाला है, जो चरित्र-सम्पन्न, उत्साही तथा जितेन्द्रिय है वही सांस्कृतिक विकास का प्रतीक है। उसी के चरणों में बैठकर, उसी के ज्ञान-गर्भ में प्रविष्ट होकर, उसी के आचार-धन को ग्रहण करके शिष्य सुसंस्कृत बन जाता है और जीवन के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

उपनयन के लिए 'यज्ञोपवीत' शब्द का भी प्रचलन हुआ, जिसका अर्थ है यज्ञ का उपवीत। प्राचीन भारतीय समाज में उपनयन संस्कार का सर्वाधिक महत्त्व रहा है, जिसका सम्बन्ध व्यक्ति के बौद्धिक उत्कर्ष से है। इस संस्कार की सम्पन्नता से बालक वर्ण अथवा जाति का सदस्य बनता था और 'द्विज' कहलाने लगता था। यह संस्कार केवल शूद्र को छोड़कर अन्य तीनों वर्णों के लिए अनिवार्य था। डॉ. राजबली पाण्डेय के अनुसार यह संस्कार इस बात का प्रमाण था कि अनियमित और अनुत्तरदायी जीवन समाप्त होकर नियमित, गम्भीर और अनुशासित जीवन प्रारम्भ हुआ। शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस संस्कार की उल्लेखनीय महत्ता थी। इसके माध्यम से व्यक्ति गुरु, वेद, यम, नियम और देवता के निकट पहुँचता था, ताकि वह ज्ञान प्राप्त कर सके। वस्तुतः उपनयन संस्कार का प्रधान उद्देश्य वेदों का अध्ययन करना था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों के लिए यह विधान था कि जन्म से वे समाज के सदस्य नहीं माने जाते थे, बल्कि जब उनका उपनयन संस्कार सम्पन्न हो जाता था, तब वे समाज सदस्य माने जाते थे। उपनयन संस्कार के बाद ही बालक 'द्विज' अर्थात् दुबारा जन्म लिया हुआ कहा जाता था। इस संस्कार के सम्पन्न हुए बिना कोई भी बालक अपने वर्ण का सदस्य नहीं माना जाता था। वह शूद्र समझा जाता था और समाज के बाहर का माना जाता था। किन्तु यह संस्कार सम्पादित हो जाने पर वह 'द्विज' नाम से अभिहित होता था।

उपनयन संस्कार विधि—बुद्धि के विभिन्न स्तरों के कारण उपनयन के लिए आयु और समय भिन्न-भिन्न था। गृह्य सूत्रकारों ने ब्राह्मण के बालक का अष्टम वर्ष की आयु में और बसंत ऋतु में, क्षत्रिय बालक के लिए जन्म से ग्यारहवें वर्ष में तथा ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य बालक का बारहवें वर्ष में तथा शरद ऋतु में यज्ञोपवीत करना लिखा है। गौतम और मनु

के अनुसार ब्राह्मण बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय बालक का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य बालक का गर्भ से बारहवें वर्ष में यज्ञोपवीत संस्कार करना चाहिए। शतपथ ब्राह्मणकार ने समय के सम्बन्ध में छूट दे दी और लिखा है कि यज्ञोपवीत सभी ऋतुओं में हो सकता है। महाभारत काल में ब्राह्मण परिवार में यह संस्कार प्रायः बालक के आठवें वर्ष में किया जाता था। ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार अपेक्षाकृत पहले कम आयु में होने का मुख्य कारण यह था कि अधिकतर ब्राह्मणों का परिवार शिक्षित होता था तथा उसके पिता ही प्रायः आचार्य होते थे। इसलिए उनके बालकों का उपनयन जल्दी हो जाता था। विभिन्न वर्ण के बालकों के उपनयन की आयु के लिए पारस्कर ने भी मनु जैसे ही विचार व्यक्त किये है। यह संस्कार सम्पन्न करते समय बालक को यज्ञोपवीत धारण करने के लिए दिया जाता था। नव-तन्तुओं से निर्मित तीन डोरों वाला यज्ञोपवीत ब्राह्मण बालक पहनता था। विभिन्न वर्णों के बालकों का यज्ञोपवीत विभिन्न प्रकार का होता था। मनु के अनुसार ब्राह्मण का यज्ञोपवीत कपास का, क्षत्रिय का सन का और वैश्य का ऊन का बना हुआ तीन लड़ी का होता था। यज्ञोपवीत की ये तीन लड़ियाँ सत्, रज और तम गुणों की प्रतीक थी तथा ये तीनों धागे उसे ऋषि-ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण का स्मरण दिलाते थे।

जिस दिन बालक का यज्ञोपवीत करना होता था, उससे तीन दिन अथवा एक दिन पूर्व बालक को व्रत रखना पड़ता था। इस व्रत में ब्राह्मण बालक पयोव्रती अर्थात् केवल दूध पीकर रहता था, अन्नादि का सेवन नहीं करता था। क्षत्रिय बालक यवागूव्रती अर्थात् केवल जौ के दलिये में गुड़ मिलाकर खाता था। वैश्य बालक आमिक्षाव्रती अर्थात् केवल श्रीखण्ड का सेवन करता था। श्रीखण्ड में एक भाग दूध और चार भाग दही रहता था तथा उसमें यथायोग्य शर्करा और केशर डाली जाती थी। उपनयन के दिन बालक आचार्य के समीप जाता है। उस दिन क्षौर करा कर बालक स्नानादि करके कौपीन (लंगोट) धारण करता था तथा कमर में मूंज की मेखला पहनता था। गुरु द्वारा दिये गये उत्तरीय को उपयोग में लाता था। तत्पश्चात् यज्ञ वेदि के पश्चिमी भाग में सुन्दर आसन पर पूर्वाभिमुख होकर बैठता था। चूँकि यज्ञोपवीत यज्ञ से सम्बद्ध था, इसलिए यज्ञ और वेद तथा कर्मकाण्ड एक-दूसरे से आबद्ध थे। वेद की प्रतिष्ठा वेदज्ञों अथवा वेदाधिकारियों से थी, जो द्विज थे। अतः यज्ञोपवीत समग्र रूप से इन अर्थों को समाहित करता था। यज्ञ वेदि के समक्ष बैठकर बालक आचार्य से कहता था, "मैं ब्रह्मचर्य के लिए आपके पास आया हूँ। आप कृपा करें, जिससे मैं ब्रह्मचारी हो जाऊँ।" आचार्य उत्तर में कहता था, "वृहस्पति ने जिस रूप में इन्द्र को अमृत वस्त्र पहनाये थे, उसी प्रकार मैं तुझे दीर्घायु, बल और वर्चस्व के लिए वस्त्र पहनाता हूँ।" ऐसा कहकर आचार्य यज्ञोपवीत हाथ में लेकर मन्त्र पढ़ता था, जिसका अर्थ था—यह यज्ञोपवीत परम पवित्र है और प्रजापति के सम्मुख तुम्हें सहज भाव से पहुँचाने वाला है। यह आयुष्य-प्रदायक है, आगे बढ़ाने वाला है, शुभ हैं। तुम इसे धारण करो। यह तुम्हे बल और तेज प्रधान करे। तुम आज यज्ञोपवीत धारण करके यज्ञ के योग्य बन गये हो। इस यज्ञोपवीत से मैं तुम्हें यज्ञोपवीती बनाता हूँ, यज्ञ कर्म में आबद्ध करता हूँ। जो व्यक्ति यज्ञ के लिए समर्पित हो गया, उसी का जीवन, जीवन है। माता-पिता से जो जन्म होता है, उसका होना न होना इस जीवन के सामने नगण्य है। तत्पश्चात आचार्य उसे उपवीत धारण करने के लिए देता था और उसे मृगचर्म तथा दण्ड प्रदान किये जाते थे। फिर आचार्य बालक का नाम पूछकर उसकी दक्षिण हस्तांजलि को शुद्ध जल से भरता है और फिर अपनी हस्तांजलि जल से भरकर उस जल को

बालक की अंजलि में छोड़ देता था और बालक की हस्तांजलि को अंगुष्ठ सहित पकड़ कर मंत्र पढ़ता था तथा बालक का नाम सम्बोधन में लेकर हस्तांजलि के जल को नीचे पात्र में छुड़ा देता था। इसी प्रकार तीन बार जल छुड़ाया जाता था। मंत्र के अनुसार आचार्य बालक के हाथ को पकड़ता था और अपने को सविता तथा अग्नि के रूप में उपस्थित करता था। इसका भाव यह है कि जैसे सविता प्रकाशप्रद है, प्रेरक है, उसी प्रकार मैं भी बालक को प्रेरणा तथा प्रकाश देता रहूँगा। आचार्य का ज्ञान तथा सदाचरण दोनों ही ऐसे होने चाहिये, जिनसे बालक सदाचार की प्रेरणा प्राप्त करे और ज्ञान के कोष को अपने मस्तिष्क में भरे। आचार्य को अग्नि का रूप भी दिया जाता है। अग्नि में भी वही तत्त्व है, जो सविता में है। बालक को सूर्य का दर्शन भी कराया जाता है और कहा जाता है—"हे देव सविता, यह बालक तेरा ही ब्रह्मचारी है, तू इसकी रक्षा कर।" बालक को सूर्य के व्रत का अनुसरण करने की आज्ञा दी जाती है। सूर्य, परम देव की आज्ञा का निरन्तर बिना किसी आपत्ति के पालन करता रहता है। वह इस कल्याण पथ पर सृष्टि के प्रारम्भ से चल रहा है। ब्रह्मचारी को भी इस कल्याण पथ का पथिक बनना चाहिए।

उपनयन का कार्य सम्पन्न होने पर आचार्य और विद्यार्थी परस्पर हृदय का स्पर्श करके अपनत्व का परिचय देते थे। अश्मारोहण (प्रस्तर-खण्ड पर आरूढ़ होना) और हस्तग्रहण (आचार्य द्वारा बालक को अपना शिष्य स्वीकार करना) के पश्चात् आचार्य शिष्य को सावित्री मंत्र के साथ उपदेश देता था। सावित्री मंत्र बुद्धि और ज्ञान के उत्कर्ष का प्रमुख प्रेरक तत्त्व था, जिससे व्यक्ति आध्यात्मिक विकास करता था। यह कार्य सम्पादित किये जाने के बाद बालक विद्यार्थी को भिक्षा-याचना के लिए निर्देश दिया जाता था, जो उसकी नम्रता और सदाचारिता का प्रतीक था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि विद्यार्थी सम्पूर्ण समाज पर आश्रित है। उपनयन की विधि समाप्त होने पर ब्रह्मचारी को संयम का जीवन व्यतीत करना पड़ता था। वह भूमि पर शयन करता था, क्षार-रहित भोजन करता था, मांस और मद्य से पृथक रहता था और दिन का शयन उसके लिए वर्जित था।

आचार्य ब्रह्मचारी को अपने समीप रखकर जिस व्रत से दीक्षित करता है, वह मानों शिष्य का गर्भ में निवास करना है। इस संस्कार के लिए एक मंत्र है जिसमें तीन रात्रियों का उल्लेख है। ब्रह्मचारी तीन रात्रियों तक आचार्य के उदर में रहता है। उदर या गर्भ में तीन रात्रि-पर्यन्त रहने का विशेष अर्थ है। तीन रात्रियाँ तीन समिधायें, प्राण, अपान और व्यान, वाणी, मन और हृदय, घी, मेधा और प्रज्ञा, ऋक्, यजु और साम, ज्ञान-कर्म-उपासना अथवा भूर्भुवः स्वः का त्रिक ॐ की तीन मात्राओं का ही व्याख्यात रूप है। ब्रह्मचारी को इस त्रिक् से निकल कर अपनी यात्रा पूरी करनी है। तीन रात्रियों तक गर्भ में रहकर, ज्ञान, कर्म और भक्ति की धारा में स्नात होकर जब वह स्नातक के रूप में बाहर आता है, तब देवता भी उसके इस उत्पन्न हुए नवीन रूप को देखने के लिए एकत्र हो जाते हैं। उसका शरीर स्वस्थ होता है, उसका मन उत्साही होता है और उसकी प्रज्ञा ज्योतिष्मती होती है। अपने इसी साधन सम्पादन द्वारा वह बाहर के भी इनसे सम्बद्ध तीनों लोकों को तृप्त करता है। उसका संयम, उसका ज्ञान और उसका आचार, उसकी उत्तम वाणी, पवित्र आत्मा और शुद्ध हृदय प्राणी मात्र के लिए हितकारी सिद्ध होते हैं।

उपनयन के सम्बन्ध में अलबरुनी लिखता है, "जब आचार्य उसे शिक्षा देने, उसे उसके कर्त्तव्य सिखलाने, उन पर स्थिर रहने तथा जीवनपर्यन्त उन पर चलने के लिए

निर्देशित करने आते हैं, तब वे उसकी कमर में सूत्र (करधनी) बांधते है और उसे यज्ञोपवीत का एक जोड़ा अर्थात् नौ इकहरे तन्तुओं (सूत्र) से इकट्ठी बंटी गई मजबूत डोरी तथा कपास से निर्मित यज्ञोपवीत देते है। यह यज्ञोपवीत पहनने पर बायें कन्धे से दायें कूल्हे तक जाता है।'' अलबरुनी आगे लिखता है, ''विद्यार्थी तिहरे यज्ञोपवीत की एक डोरी से और कपास की इकहरी दूसरी डोरी से अपने को लपेटता है। यह कार्य तब सम्पन्न होता है जब उसकी आयु का बारहवाँ वर्ष समाप्त हो चुका होता है। तदनन्तर उसे दण्ड (छड़ी) प्रदान किया जाता है, जिससे वह संग्राम कर पाये और दायें हाथ की अंगूठी पहनने वाली उँगली में अंगूठी (पवित्री) पहनने का ध्येय यह है कि जो उस हाथ से दान प्राप्त करे, उन सबके लिए यह मंगलमय हो।'' अलबरुनी के ये विचार भारतीय धर्मशास्त्रकारों के विचारों अथवा मतों से पूर्णतः साम्य रखते है। उसने यज्ञोपवीत के महत्त्व के बारे में लिखा है कि, ''यदि वह खाते समय या किसी प्राकृतिक आवश्यकता को पूरा करते समय यज्ञोपवीत उतार देता है तब वह ऐसा पाप करता है जो प्रायश्चित के किसी कर्म और दान-उपवास के बिना नहीं छूट सकता।'' मिताक्षरा ने स्पष्ट लिखा है कि अगर प्राकृतिक आवश्यकता के समय यज्ञोपवीत नहीं है तो प्रायश्चित करना पड़ता है। अपरार्क ने लघुहारीत को उद्धृत करते हुए विचार व्यक्त किया है कि ब्राह्मण अगर बिना यज्ञोपवीत पहने भोजन करता है तो उसे प्रायश्चित करना चाहिये। निश्चय ही यज्ञोपवीत की महत्ता और पवित्रता आज भी हिन्दू समाज में विद्यमान है।

उपनयन संस्कार का मुख्य प्रयोजन यह था कि बालक को आचार्य के ले जाना तथा संस्कार की सम्पन्नता के बाद आचार्य के सानिध्य में विद्याध्ययन करना। उपनयन में ब्रह्मचारी को यज्ञ अथवा वेद के रक्षक बनने की प्रेरणा मिलती थी। वह वृहद् जात वेदस् अग्निदेव के लिए हाथ में समिधा लेकर खड़ा होता था और उससे मेघा तथा सांस्कृतिक वर्चस्व को प्राप्त करने हेतु प्रार्थना करता था कि प्रकाश स्वरूप प्रभु उसे आयु दे, वर्चस्व दे और जो कुछ उसके अन्दर न्यूनता है, उसे पूर्ण करे। सबका प्रेरक प्रभु सविता उसे मेघावी बनादे। रसवती सरस्वती देवी उसे धारणावती बुद्धि प्रदान करे। हिरण्य गर्भ रूपी कमल से उत्पन्न अश्विन्देव अथवा द्याव पृथ्वी उसे मेघा से ओत-प्रोत करे। उसकी वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, यश तथा बल पुष्ट हों। इसके पश्चात् ब्रह्मचारी यज्ञ-कुण्ड की प्रदक्षिण करता था और माता-पिता, मामा, मौसी आदि से भिक्षा मांगता था। भिक्षा मांगने में भी वर्णानुसार ब्राह्मण बालक कहता था, ''भवान् वा भवती भिक्षाम् ददातु'', क्षत्रिय बालक कहता था, ''भिक्षां भवान् वा भवती ददातु'' और वैश्य बालक कहता था, ''भिक्षां ददातु भवान् वा भवती''। इसके पश्चात् अग्नि कुण्ड में गायत्री आदि मंत्रों से आहुतियाँ दी जाती थी। अन्त में बालक आचार्य का अभिनन्दन करता था और आचार्य उसे आशीर्वाद देकर उसका विद्याध्ययन प्रारम्भ करवाता था। पुराणों में भी हमें ऐसे उदाहरण मिलते है जिन से स्पष्ट होता है कि उपनयन के उपरान्त ही विद्याध्ययन प्रारम्भ होता था। विष्णु पुराण के अनुसार राजा सगर को उसके उपनयन संस्कार के बाद ही औैर्व ने वेदाध्ययन कराया था इसी पुराण में उल्लिखित है कि जडभरत का उपनयन संस्कार होने के पश्चात् ही उसे गुरु से शिक्षा ग्रहण करने का निर्देश दिया गया था। उपनयन संस्कार सम्पन्न होने के बाद कृष्ण और बलराम सान्दीपनि ऋषि के सानिध्य में शिक्षा ग्रहण करने गये थे। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार शिवदत्त ने अपने पुत्रों का उपवीत सम्पन्न करने के पश्चात् सांगोपांग वेदाध्ययन प्रारम्भ कराया था। अतः इन उद्धरणों से स्पष्ट

है कि समाज में उपनयन संस्कार का बहुत महत्त्व था। समाज में जीवन को अनुशासित और बुद्धिसंवलित बनाने में उपनयन संस्कार का बहुत बड़ा योगदान था। इससे दायित्व-निर्वाह तथा निस्पृह और निर्लिप्त जीवन विकसित होता था। मनुष्य की सामाजिक और शैक्षणिक उपलब्धियाँ इस संस्कार की सम्पन्नता के पश्चात् ही सम्भव थी। आज भी हिन्दू परिवारों में उपनयन संस्कार की वही महत्ता है। बड़े आह्लाद और प्रफुल्लता के वातावरण में इसको सम्पन्न किया जाता है। इस संस्कार का आध्यात्मिक और सांस्कृतिक महत्त्व भी है। इस संस्कार को सम्पन्न किये बिना किसी भी विद्यार्थी को वेद पढ़ने अथवा गायत्री मंत्र के उच्चारण का अधिकार प्राप्त नहीं होता। इस संस्कार के बाद आचार्य उसका आध्यात्मिक पिता और गायत्री उसकी माता बन जाती है। इस संस्कार को दूसरा जन्म भी कहा गया है, क्योंकि इसके साथ ही बालक के लिए एक-दूसरी दुनियाँ—ज्ञान और विद्या की दुनिया का द्वार खुल जाता है और उसका विद्वान् तथा गुणी पुरुषों से सम्पर्क स्थापित होता है।

सूत्र साहित्य के अनुसार स्त्रियों को भी उपनयन एवं वेदाध्ययन का अधिकार था। किन्तु बाद में जब कन्याओं के विवाह कम उम्र में होने लगे तब उनकी शिक्षा प्रायः बन्द कर दी गई। फलस्वरूप धीरे-धीरे उनके उपनयन की प्रथा भी लुप्त हो गई। कन्याओं का उपनयन विवाह के समय केवल धार्मिक विधान की पूर्ति के लिए किया जाने लगा। मनु का कहना है कि कन्याओं का उपनयन बिना मंत्र पढ़े ही किया जाना चाहिए।

विवाह संस्कार

भारतीय संस्कृति में विवाह का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसे एक धार्मिक संस्कार के रूप में ग्रहण किया गया है। यह एक विधि का बन्धन नहीं है, बल्कि धार्मिक बन्धन है, जिसे तोड़ना सामाजिक मूल्यों के विरुद्ध है। इसे एक संस्कार माना गया है, जिसका उद्देश्य उन विभिन्न पुरुषार्थों को पूरा करना है, जिनकी प्राप्ति में पति और पत्नी दोनों का सहयोग होता है। गृहस्थ जीवन का प्रारम्भ ही विवाह से माना गया है। इससे अन्तर्गत स्त्री-पुरुष का मात्र यौन-सम्बन्ध ही नहीं आता बल्कि उनकी धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्रियाएँ भी आती है, जिनके माध्यम से मनुष्य का विकास होता है। इसीलिए भारतीय हिन्दू समाज में विवाह मात्र शारीरिक सम्बन्ध का प्रयोजन न बनकर सन्तानोत्पति का धर्मगत आधार बना। यज्ञ, होम, मन्त्रपाठ, देवताओं का आह्वान तथा वेद मंत्रों के साथ वैवाहिक क्रिया सम्पन्न करना विवाह संस्कार के मुख्य अंग है। इस धार्मिक संस्कार ने विवाह को अत्यन्त पवित्र स्वरूप प्रदान किया है। हिन्दू समाज में कोई भी धार्मिक कार्य पत्नी के बिना सम्भव नहीं होता, इसीलिए उसे 'धर्मपत्नी' अथवा 'सहधर्मिणी' कहा गया है। अतः विवाह गार्हस्थ्य जीवन का मूल है और सभी आश्रम गार्हस्थ्य जीवन पर निर्भर करते हैं। पुरुष और स्त्री के व्यक्तित्व का विकास, वंश का उत्थान और कुटुम्ब का संयोजन विवाह से ही सम्भव है। विवाह ही स्त्री और पुरुष की पूर्णता तथा उनकी सामाजिक और आध्यात्मिक अभिव्यंजना का आधार है।

साधारणतया 'विवाह' शब्द का अर्थ है वधू को उसके पिता के घर से विशेष रूप से ले जाना अथवा किसी विशेष कार्य के लिए अर्थात् पत्नी बनाने के लिए ले जाना। संस्कृत साहित्य में और भी अनेक शब्द प्रचलित है, जैसे उद्वाह, परिणय, उपयम, पाणिग्रहण आदि। 'उद्वाह' का अर्थ है, वधू को उसके पिता के घर से ले जाना, 'परिणय' का अर्थ है, चारों

ओर घूमना यानि अग्नि की परिक्रमा अथवा प्रदक्षिणा करना; 'उपयम' का अर्थ है, किसी को निकट लाकर अपना बनाना, तथा 'पाणिग्रहण' का अर्थ है, वधू का हाथ ग्रहण करना। हेमचन्द्र ने लिखा है कि 'पाणिग्रहण' के द्वारा पुरुष, स्त्री का वरण करता है। विवाह संस्कार सम्पन्न हो जाने पर पत्नी को 'पाणिगृहीता' कहा जाता है। संस्कार की विधि के अनुसार 'पाणिगृहीता' शब्द परिणीता स्त्री के लिए प्रयुक्त होता था।

विवाह के उद्देश्य—भारतीय हिन्दू समाज में विवाह एक अनिवार्य संस्कार है। धर्म का पालन, पुत्र की प्राप्ति एवं रति का सुख, विवाह का प्रधान उद्देश्य माने गये हैं। चूँकि भारतीय हिन्दू समाज में धर्म का अत्यधिक महत्त्व है, अतः विवाह संस्कार भी धर्मानुसार सम्पन्न किया जाता है। विवाह का सर्वप्रथम उद्देश्य है—धार्मिक कार्यों का सम्पादन, जो पत्नी के रहने पर ही व्यक्ति कर पाता है। यज्ञों को सम्पन्न करने में मनुष्य के साथ उसकी पत्नी का होना अनिवार्य बताया गया है। ऋग्वेद में, देवताओं के पूजन में पति-पत्नी एक-दूसरे के सहायक माने गये है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार पत्नी-रहित व्यक्ति यज्ञ सम्पन्न करने का अधिकारी नहीं होता। याज्ञवल्क्य का कहना है कि पत्नी के मरने के बाद धार्मिक कार्यों के लिए दूसरा विवाह करना चाहिए। पद्म-पुराण में कहा गया है कि गुणवती सहधर्मिणी पत्नी को त्याग कर जो व्यक्ति धार्मिक कृत्य करता है, उसका समस्त धर्म निष्फल हो जाता है। अतः धार्मिक कार्यों को सम्पादित करने हेतु विवाह संस्कार अनिवार्य माना गया है।

विवाह का दूसरा उद्देश्य है पुत्र प्राप्ति। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि पाणिग्रहण उत्तम सन्तान के लिए है। हिन्दू समाज में पुत्र का अत्यधिक महत्त्व है। पुत्र उत्पन्न होने से पिता अमर बनता है, पुत्र से ऋण-मुक्त होता है तथा पुत्र संसार-सागर से पार करने की 'अतितारिणी' (नौका) है। मनु के अनुसार पिता पुत्र से स्वर्ग आदि उत्तम लोकों को प्राप्त करता है, पौत्र से उन लोकों में अनन्त काल तक निवास करता है तथा प्रपौत्र से सूर्य लोक को प्राप्त करता है। महाभारत में भी पुत्रवान व्यक्ति की प्रशंसा और पुत्रहीन व्यक्ति की निन्दा की गई है। ब्रह्म-पुराण के अनुसार पुत्र उत्पन्न होने से पिता को दस अश्वमेघों के स्नान का फल प्राप्त होता है। मृत्युपरान्त सम्पन्न किये जाने वाले संस्कार को पुत्र ही पूरा करता है। अतः शास्त्रकारों ने पुत्रोत्पत्ति को धार्मिक क्रिया के अन्तर्गत रखकर विवाह की अनिवार्यता बतायी है।

विवाह का एक उद्देश्य रति-सुख अथवा यौन इच्छाओं की सन्तुष्टि भी थी, जिसे प्राचीन व्यवस्थाकारों ने आवश्यक बताया, क्योंकि काम-सन्तुष्टि से व्यक्ति का मानसिक और शारीरिक सन्तुलन बना रहता है तथा वह स्वस्थ और सच्चरित्र आधार पर समाज का निर्माण करता है। निश्चय ही यौनपरक इच्छाओं की पूर्ति के लिए विवाह एक सुसभ्य और सुसंस्कृत माध्यम है। वैदिक युग में सम्भोग को आनन्द की पराकाष्ठा माना गया था। मनु ने भी रति की महत्ता स्वीकार की है तथा विवाह के उद्देश्यों में इसे प्रधान माना है। वात्स्यायन ने भी रति के महत्त्व पर विस्तार से विचार किया है तथा कामपरक सुक्ष्मातिसुक्ष्म भावों का विवेचन किया है। किन्तु हिन्दू दर्शन में काम-भावना का स्थान धर्म से नीचा माना गया है। कौटिल्य का मत है कि धर्म और अर्थ से विरोध न रखने वाले काम का सेवन करना चाहिए। मनु ने भी धर्मविरुद्ध काम का परित्याग करने की सलाह दी है। भारतीय समाज में धर्मपत्नी

के अतिरिक्त अन्य स्त्री से रतिक्रिया करना धर्मविरुद्ध और घोर पाप माना गया है। अतः विवाह के उद्देश्यों में काम-सुख सर्वोपरि नहीं, बल्कि गौण है।

विवाह के उपर्युक्त उद्देश्य व्यक्ति को शालीन और सदाचारी बनाते हैं। यदि व्यक्ति को यौन स्वतन्त्रता मिल जाय तो समाज अनियंत्रित हो जायेगा तथा उसका नैतिक पतन हो जायेगा। अतः विवाह संस्कार व्यक्ति को सन्मार्ग का दिग्दर्शन कराता है। स्त्री-पुरुष दोनों के व्यक्तित्वों का उत्थान इन्हीं उद्देश्यों के आधार पर होता है। विवाह से दो व्यक्तियों के पवित्र सम्बन्ध-स्थापन के साथ-साथ एक परिवार का भी निर्माण होता है। परिवार में रहकर पति और पत्नी अनेक पारिवारिक उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हैं। अतः परिवार और समाज में विवाह, सुनियोजित और सुव्यवस्थित जीवन का प्रतीक रहा है। यज्ञ के अनुपालन, याज्ञिक कार्य, सन्तानोत्पति, वंशोत्थान, तथा पितरों के लिए पिंडदान आदि के लिए विवाह अनिवार्य माना गया है। महाभारत से ज्ञात होता है कि जरत्कारु नामक एक ब्राह्मण ने आजीवन विवाह न करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था, लेकिन उसके पितरों को महान् कष्ट था और वे नरक का जीवन जी रहे थे। अतः अपने पितरों की दुर्दशा देखकर उसे अपना प्रण तोड़ना पड़ा और अपने पितरों की सद्गति के लिए नागराज वासुकी की बहन से विवाह कर तत्सम्बन्धी कृत्य किया। मार्कण्डेय पुराण के अनेक उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि पुरुष के लिए विवाह अनिवार्य था। इसी प्रकार धर्मशास्त्रों ने स्त्रियों को भी अविवाहित न रहने का निर्देश दिया है। बिना विवाह के स्त्रियों को सद्गति और मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता और न ही उसे स्वर्ग मिल सकता है। महाभारत की एक कथा के अनुसार ऋषि कुणिगर्ग की मानसी कन्या ने अपनी सारा यौवन तपस्या में लगा दिया। अपने जैसा तपस्वी न मिलने के कारण उसने विवाह नहीं किया। अन्त में उसने परलोक की कामना की। किन्तु अविवाहिता के लिए परलोक वर्जित था। ऐसी स्थिति में उसने गालव के पुत्र शृंङ्गवान को अपना आधा तप प्रदान कर विवाह किया और तत्पश्चात् स्वर्ग गई। यह साक्ष्य इस बात का प्रमाण है कि पुरुषों की तरह स्त्रियों के लिए भी विवाह अनिवार्य हो गया था। स्मृति ग्रन्थों में तो यह स्पष्ट उल्लिखित है कि रजोदर्शन से पूर्व कन्या का विवाह कर देना चाहिए।

विवाह का निर्धारण—विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने से पहले वर-वधू के कुल का निर्धारण किया जाता था। वर और कन्या का उत्तम कुल और परिवार का होना आवश्यक माना गया था। जब दोनों पक्ष एक-दूसरे पक्ष के कुलगत गुणों और विशेषताओं के विषय में आश्वस्त तथा सन्तुष्ट हो जाते थे, तब विवाह की व्यवस्था की जाती थी। प्राचीनकाल में विवाह के लिए अनेक प्रकार की जाँचपड़ताल होती थी। जाति, पिंड, गोत्र आदि के अतिरिक्त वर और वधू की व्यक्तिगत गुणात्मक योग्यताओं पर भी विचार किया जाता था। वर-वधू के गुण-अवगुण की चर्चा प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों में की गई है। मनु, यम आदि स्मृतिकारों के अनुसार उत्कृष्ट (श्रेष्ठ), अभिरूप (सुन्दर) और योग्य वर मिल जाय तो कन्या की अवस्था विवाह योग्य न होने पर भी, उसका विवाह कर देना चाहिए। धर्मसूत्रों में वर के लिए उसका अखण्ड ब्रह्मचारी होना भी एक गुण स्वीकार किया गया है, जो सम्भवतः उसके प्रधान गुण के रूप में था। वर में पुरुषत्व का होना भी वांछनीय था। मनु के अनुसार स्त्री क्षेत्र तुल्य है और पुरुष बीज तुल्य। क्षेत्र और बीज के संसर्ग से ही सभी प्राणियों की उत्पत्ति होती है। अतः बीज श्रेष्ठ होना चाहिए। शास्त्रकारों के अनुसार शरीर, मन और बुद्धि सो रोग-ग्रस्त तथा नपुंसक और पतित वर विवाह के लिए अयोग्य समझे जाते थे। किन्तु मनु

ने इस सम्बन्ध में उदार विचार व्यक्त किये है कि नपुंसक और पतित वर से विवाह किया जा सकता है तथा सन्तान के लिए नियोग अपना सकते है। अति निकटस्थ और अति-दूरस्थ, अत्यन्त बलिष्ठ और अत्यन्त दुर्बल, जीविकारहित और मूढ़ को भी कन्या नहीं दी जाती थी।

प्राचीनकाल में विवाह के लिए कन्या की योग्यता पर भी विचार किया जाता था। साधारणतया कन्या में तीन प्रकार की योग्यताएँ देखी जाती थीं—पहली शरीरगत, दूसरी बुद्धिगत और तीसरी आचरणगत। इन तीनों आधारों पर विवाह के लिए कन्या का चुनाव किया जाता था, हालांकि कभी-कभी इन नियमों का कड़ाई से पालन नहीं भी किया जाता था। मिताक्षरा ने कन्या में तीन गुणों का होना आवश्यक माना है—कन्या (1) यवीयसी (वर से आयु में कम) हो, (2) अनन्यपूर्विका (पहले से किसी अन्य के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित न किया हो), और (3) स्त्री (मां बनने योग्य) हो। कन्या की वर से आयु कम इसलिए रखी गई कि प्रायः कन्या का शारीरिक विकास वर की तुलना में शीघ्रता से अल्पवय में ही हो जाता था। यौन सम्बन्ध की पवित्रता बनाये रखने के लिए उसमें दूसरे गुण का होना आवश्यक माना गया। स्त्री जैसे गुण का अर्थ था कि कन्या में सन्तान उत्पन्न करने की क्षमता होनी चाहिए। विवाह के वर्जित वधू का उल्लेख करते हुए मनु ने लिखा है कि भूरे वर्ण वाली, न्यूनाधिक अंगों वाली, नित्य रोगिणी रहने वाली, पूर्णतः रोमरहित अथवा अत्यधिक रोम-युक्त, वाचाल तथा भूरी आँखों वाली कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए। प्रायः यह माना गया कि अधिक या कम केश वाली, अति सांवली या पांडुवर्णी, अपवित्र, रोमयुक्त, रोगिणी, दुष्ट स्वभाव वाली, कटुभाषिणी, मूंछयुक्त, पुरुष के समान आकार वाली, अतिमंद या कौए के समान स्वर वाली, गोल नेत्र वाली, जिसकी जांघों पर बाल हो, हंसते-हंसते जिसके गाल पर गड्ढे पड़ जाते हो, नख पांडुवर्ण (पीले) और नेत्र रक्तवर्ण हो, हाथ-पैर भारी हो, अति नाटी हो, दांतों के बीच काफी अन्तर हो और जिसके दांत बाहर निकले हुए हो, ऐसी कन्या विवाह के लिए वर्जित कही गई है। ऐसे अनेक दोषों का विवेचन वात्स्यायन ने भी किया है।

वर-वधू का विवाह तय करते समय उनके सामाजिक वर्ग, वंश, गोत्र, प्रवर, पिण्ड आदि का विशेष ध्यान रखा जाता था। समान गोत्र रखने वाले वर्ग से विवाह नहीं किया जाता था। अपने गोत्र से बाहर, दूसरे गोत्र में विवाह करने की प्रथा प्रचलित थी। गोत्र उस आदि पुरुष के लिए प्रयुक्त किया गया, जिन्हें 'कुल' या 'वंश' की संज्ञा दी गई, जो विद्या, धन, शौर्य, औदार्य आदि गुणों के लिए विख्यात हुआ और कालान्तर में जिसके नाम से 'वंश' अथवा 'कुल' का विकास हुआ। उत्तर-वैदिक काल तक गोत्र का पूर्ण विकास हो चुका था और उसके बाद से धर्मशास्त्रकारों ने सगोत्र विवाह वर्जित कर दिया था। ब्राह्मणों का अपना वास्तविक गोत्र होता था तथा क्षत्रियों एवं वैश्यों का गोत्र उनके पुरोहितों के गोत्र पर आधारित होता था। शूद्रों का गोत्र नहीं होता। गौतम धर्मसूत्र का कथन है कि द्विजातियों को अपने गोत्र के बाहर विवाह करना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि छठी शताब्दी ई.पू. के बाद से सगोत्र विवाह के प्रति समाज में प्रतिबंध बढ़ता गया, जो कालान्तर में और कठोर होता गया। पूर्व-मध्य युग में भी सगोत्र विवाह पूर्ववत् वर्जित था। अगर कोई व्यक्ति सगोत्र कन्या से विवाह करता था तो उसे अनेक प्रकार के प्रायश्चित, व्रत आदि करने पड़ते थे। मनु ने फूफी, मौसी एवं नाना की कन्या से विवाह करने वाले को नरकगामी कहा है। इससे स्पष्ट

है कि सगोत्र विवाह हिन्दू समाज में निन्दनीय माने जाते थे। आज भी समान गोत्र में विवाह नहीं किया जाता।

यद्यपि प्राचीन भारतीय समाज में सगोत्र, सप्रवर और सपिण्ड विवाह वर्जित थे, तथापि ऐसे बन्धन कभी-कभी राज परिवार नहीं मानते थे। कोशल नरेश प्रसेनजित् की बहन का विवाह मगध सम्राट बिम्बिसार से हुआ था तथा प्रसेनजित की पुत्री वाजिरा का विवाह बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु से हुआ था। जातक ग्रन्थों एवं बौधायन में मामा की पुत्री से विवाह के उल्लेख भी मिलते है, किन्तु ऐसी प्रथा केवल दक्षिण में ही प्रचलित है, यद्यपि महाभारत में भी ऐसे कई विवाहों के उल्लेख मिलते है। अर्जुन ने अपने मामा की कन्या सुभद्रा से विवाह किया था। ऐसे ही अभिमन्यु और सहदेव ने किया था। कृष्ण ने अपने मामा की पुत्री रुक्मिणो से विवाह किया था तथा अपने पिता की बहन की कन्याओं मृदा और मित्रविन्दा से भी विवाह किया था। यदुवंशियों का सम्बन्ध गुजरात से रहा है। अतः गुजरात-सौराष्ट्र में रहने वालों की तीसरी पीढ़ी में विवाह बिना गोत्र का ध्यान रखे सम्पन्न किया जाता रहा है। पिता से सात पीढ़ी और माता से पाँच पीढ़ी के भीतर के लोग सपिण्ड कहे जाते हैं। इनके बीच विवाह नहीं हो सकता था। किन्तु महाभारत में सपिण्ड विवाह के कतिपय वर्णन मिलते है। धर्मसूत्रों में सपिण्ड विवाह का स्पष्ट निषेध किया है। याज्ञवल्क्य तथा अन्य स्मृतियों में भी सपिण्ड विवाह का निषेध किया है। पूर्व-मध्य युग में स्मृतियों पर भाष्य लिखने वाले लेखकों के दो वर्ग हो गये, एक उत्तर के, दूसरे दक्षिण के। उत्तर के टीकाकारों ने सपिण्डता का विरोध किया तथा दक्षिण के टीकाकारों ने समर्थन किया। चूँकि दक्षिण में सपिण्ड विवाह बहुत पहले से प्रचलित था, इसलिए देवण्य भट्ट, पाराशर और माधव जैसे भाष्णकारों ने इसका समर्थन किया, जबकि मेघातिथि, विश्वरूप और विज्ञानेश्वर आदि भाष्यकारों ने सपिण्डता का प्रबल विरोध किया। अलबरुनी का कथन है कि सपिण्ड सम्बन्धी—बहन, भतीजी, मौसी या फूफी और उनकी पुत्रियाँ विवाह के लिए निषिद्ध है। यह निषिद्धता उस स्थिति में नहीं रहती जब विवाह सम्बन्ध स्थापित करने वाले व्यक्ति पाँच पीढ़ी तक एक-दूसरे से अलग रहे हों। किन्तु इतना होने पर भी ऐसा विवाह उनमें पसन्द नहीं किया जाता। गोत्र, प्रवर और पिण्ड से बाहर विवाह करना जैविकीय और रक्तीय दृष्टिकोण से उत्तम व्यवस्था रही है, जिससे स्वस्थ, सुन्दर और बुद्धिमान सन्तान की प्राप्ति होती है। आज अनेक जीवशास्त्रियों ने भी इस व्यवस्था की सराहना की है तथा यह मत व्यक्त किया है कि निकट सम्बन्धियों के बीच विवाह करने से सन्तानों में शारीरिक दोष आ जाते हैं जिनसे उनका स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो जाता है। वस्तुतः ऐसी व्यवस्था समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी और लाभकारी रही है।

विवाह संस्कार विधि—समाज में विवाह संस्कार सम्पन्न करने के लिए अनेक आचारों और विधियों का अनुसरण किया जाता रहा है। विभिन्न जातियों और वर्गों के वैवाहिक आचार विधियाँ भिन्न-भिन्न रही है। प्राचीनकाल से उसका प्रचलन धर्मशास्त्रीय आधार पर होता रहा है, जो समय के साथ-साथ विभिन्न रीति-रिवाजों को अपने में समाहित करके लोक-प्रतिष्ठित हुआ है। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त गृह्यसूत्रों ने इस संस्कार का विशद् और लोक-समन्वित स्वरूप प्रस्तुत किया है। उपयुक्त वधू और वर एक-दूसरे से मिलें, इसके लिए दोनों ओर से खोज की जाती थी और इसके पूर्ण होने पर विवाह का प्रस्ताव स्वीकार किया जाता था, जिसे हिन्दू धर्मशास्त्र में 'वाग्दान' कहा जाता था। विधान के

अनुसार वर और वधू दोनों को अपने-अपने घर पर सुगन्धित एवं शुद्ध जल से स्नान कराई जाती थी। फिर उत्तम वस्त्रालंकार धारण करके उत्तम आसन पर पूर्वाभिमुख बैठ कर प्रभु की स्तुति और उपासना की जाती थी। इसी के साथ अग्निहोत्र की क्रिया करके वर तथा वर-पक्ष के पुरुष समान सहित वधू के घर की ओर प्रस्थान करते थे। जब वर, वधू के घर में प्रवेश करता था, तब वधू तथा वधू-पक्ष के लोग वर का आदर-सत्कार करते थे। वधू के द्वार पर वर पूर्वाभिमुख खड़ा रहता था और वधू-पक्ष के लोग उत्तराभिमुख खड़े होकर कुछ सम्मान शब्दों का उच्चारण करते थे तथा वर को आसन पर बैठाकर उसकी अर्चना की जाती थी। इसके पश्चात् पाद्य पद-प्रक्षालन के लिए और अर्घ्य मुख-प्रक्षालन के लिए दिया जाता था। तीन बार आचमन कराके वर को मधुपर्क दिया जाता था। इस मधुपर्क में दही, घी और शहद सम्मिश्रित होते थे। इसमें यदि 12 तोला दही होता था तो चार तोला शहद और चार तोला घी मिलाया जाता था। मधुपर्क कांसे के पात्र में रखा जाता था, ताकि उसमें धातु विकार न आ सके। वर मधुपर्क को अपने दाहिने हाथ में लेता था फिर वामहस्त में लेकर दाहिने हाथ की अनामिका और अंगुष्ठ से उसे तीन बार विलोता था, फिर क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशाओं में उसके छींटे देता था। इसके उपरान्त तीन बार ऊपर की ओर फेंक कर उसके तीन भाग करता था और तीनों में से थोड़ा-थोड़ा खाता था। शेष बचे हुए को या तो सेवक को दे देता था या जल में डाल देता था। इसके पश्चात् दो आचमन तथा इन्द्रिय स्पर्श करके गोदान ग्रहण करता था। गोदान के पश्चात् कन्यादान की विधि होती थी, जिसमें वर के हाथ में हथेली ऊपर किये हुए कन्या का दक्षिण हाथ रख दिया जाता था। इस अवसर पर वधू का पिता वर से यह आश्वासन प्राप्त करता था कि वह पत्नी का कभी परित्याग नहीं करेगा। ये सभी कृत्य अग्नि के समक्ष सम्पन्न किये जाते थे, जो साक्षी के रूप में विवाह को अटूट और अविच्छेद्य रूप प्रदान करती थी। इसके अन्तर्गत होम किया जाता था तथा आहुति द्वारा अग्नि का आशीर्वाद प्राप्त किया जाता था। वर के हाथ में कन्या का दक्षिण हाथ रखने पर दोनों एक-दूसरे का हाथ पकड़ लेते थे, जिसे पाणिग्रहण कहा जाता था। इसी समय शंखोच्चारण होता था। तत्पश्चात वर-वधू द्वारा चार बार अग्नि की प्रदक्षिणा की जाती थी। इसके पश्चात् शिलारोहण और लाजा होम का विधान होता था। वधू का भाई हाथ में धान की खीले लेकर दाहिने हाथ से अपनी बहिन का दक्षिण पैर पत्थर की शिला पर रखवाता था। उस समय वर कहता था, ''इस पत्थर पर चढ़ो और पत्थर के समान स्थिर हो जाओ, शत्रुओं को दबा दो और जो शत्रुता की इच्छा रखते है, उन्हें नीचे गिरा दो।'' इसी समय वधू, वर की हस्तांजलि पर अपनी हस्तांजलि रखती है और वधू का भाई धान की खीले दो बार बहिन की हस्तांजलि के ऊपर रख देता था। फिर वर और वधू दोनों अपनी सम्मिलित हस्तांजलि को झुका कर मन्त्रोचारण के साथ धान की तीन आहुतियाँ देते थे। यह क्रिया लाजाहोम कहलाती है। तत्पश्चात अग्नि में घृताहुति देकर वर एकान्त में वधू की आबद्ध दो लटें खोलता था। यह क्रिया केशमोचन कही जाती है। तत्पश्चात वर, वधू को पूर्व की ओर सात पग ले जाते हुए गृहस्थधर्म के सात नियमों का स्मरण करता था, जो सप्तपदी के नाम से अभिहित था तथा वर-वधू का ग्रन्थि-बन्धन कराया जाता था। इसका पहला पग अन्न की कामना करता था, दूसरा शारीरिक-मानसिक वल की कामना, तीसरा धन की कामना, चौथा सुख की कामना, पाँचवाँ सन्तान की कामना, छठा प्राकृतिक सहायता की कामना और सातवाँ पारस्परिक सहयोग की कामना करता था। इसके पूर्ण होने पर वर और वधू के सिर पर आचार्य जल

छिड़कता था, जिसे मूर्धाभिषेक कहते थे। सात पग चलने के बाद दोनों अपने-अपने आसन पर बैठ जाते थे। परन्तु इस बार वधू वर के वामांग की ओर बैठती है। ग्रन्थि-बन्धन का भाव है वर और वधू का दाम्पत्य सूत्र में दृढ़ता से आबद्ध होना और दोनों का एक होकर गृहस्थ धर्म का निर्वाह करना। दोनों अपने-अपने पृथक् अस्तित्व को खोकर इस विधान द्वारा एक होते है। धर्मानुसार वर और वधू दोनों उठकर सूर्य का दर्शन करते थे और दोनों अपने-अपने दक्षिण हाथ से एक-दूसरे के हृदय का स्पर्श करते थे तथा वर-वधू सौ-वर्ष की आयु पाने की कामना करते थे। वर, वधू के सिर पर हाथ रख कर सिन्दूर से उसकी माँग भरता था। तत्पश्चात ध्रुव और अरुन्धति के भी दर्शन कराये जाते थे। ध्रुव दर्शन का भाव यह था कि जीवन-दृढ़ता और स्थिरता लाना तथा वधू पति के कुल में ध्रुव होकर निवास करे। यह पद्धति तलाक या पति-पत्नी परित्याग का प्रबल खण्डन करती है। अन्त में सभा मण्डप में बैठे हुए सभी स्त्री-पुरुष वधू को अखण्ड सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद देते थे। ये सभी विधियाँ सम्पन्न होने के बाद वधू की विदाई कराके वर उसे अपने घर ले आता था। आज भी विवाह संस्कार धर्मशास्त्रों के आधार पर ही सम्पन्न किये जाते हैं। मध्य युग तक थोड़े-बहुत *समयानुकूल आंशिक परिवर्तन के साथ यही विधि प्रचलित थी।*

सांस्कृतिक विकास के लिये विवाह संस्कार अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। भारतीय संस्कृति में कन्यादान एक पुनीत आदर्श की प्रतिष्ठा करता है। कन्या जिस घर में जन्म लेती है, वह उस घर में न रहकर पराये घर का सर्वस्व बन जाती है। वह जिस घर की दुहिता है, उसका हित उस घर में नहीं बल्कि किसी दूसरे घर में है। कन्या का हित-साधन पिता के लिए दुःसाध्य होता है। उसके दिल का टुकड़ा किसी दूसरे घर में जाकर अपरिचित परिवार के सदस्यों में धुल-मिल सकेगा या नहीं, इसकी उसे हमेशा चिन्ता लगी रहती है। किन्तु विधि का विधान कितना विचित्र है! कन्या इस अपरिचित परिवार के स्नेह-बन्धन में ऐसी आबद्ध हो जाती है कि उसे अपने पितृ-कुल का प्रायः विस्मरण ही हो जाता है। सन्तान होने पर तो उसका सारा मोह सब ओर से खिंचकर उसी में केन्द्रित हो जाता है।

विवाह के प्रकार—वैदिक काल से लेकर सूत्र काल तक भारत में आठ प्रकार की विवाह प्रणालियाँ विकसित हो चुकी थी। धर्मशास्त्रकारों ने ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर, राक्षस और पैशाच नामक आठ विवाह के प्रकार बताये हैं। इनमें से प्रारम्भिक चार प्रकार के विवाह समाज में अत्यन्त सम्मानित और स्वीकृत थे और अन्तिम चार निन्दनीय माने जाते थे। इन सभी प्रकार के विवाहों का स्वरूप समय और परिस्थितियों के अनुसार विकसित होता गया। लोगों ने अपनी सुविधा और इच्छा के अनुसार जिन विवाह प्रणालियों को चला दिया और समय के साथ-साथ जिनका प्रचलन हो गया, वे ही आगे चलकर विवाह के अलग प्रकार बन गये। किन्तु इन विवाह प्रकारों में नैतिक और धार्मिक मूल्यों के विवाह समाज में अधिक प्रचलित हुए, जबकि अनैतिक और अधार्मिक वृतियों के विवाह बहुत ही कम स्वीकार किये गये। ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में विभिन्न प्रकार के लोग थे जो अपनी परिस्थितियों से प्रेरित होकर अपनी इच्छा के अनुरूप विवाह कर लिया करते थे।

(1) ब्राह्म विवाह—इस प्रकार का विवाह उत्तम कोटि का माना जाता था। इस प्रणाली के अन्तर्गत कन्या के विवाह का उत्तरदायित्व उसके पिता अथवा अभिभावक का

होता था। वह अपनी कन्या के लिए सुयोग्य, सुच्चरित्र और वेदज्ञ वर की तलाश करके विधिपूर्वक कन्या को वस्त्र एवं आभूषणों से सज्जित करके अपनी कन्या का दान उस सुयोग्य वर को करता था। वर पक्ष की ओर से कोई वस्तु नहीं ली जाती थी। समस्त विवाह प्रणालियों में श्रेष्ठ होने के कारण ही इसे ब्राह्म विवाह का नाम दिया गया है। कालान्तर में यही प्रणाली में सबसे अधिक प्रतिष्ठित मानी गई।

(2) **देव विवाह**—अपनी कन्या का विवाह करने के प्रयोजन से कन्या का पिता यज्ञ का आयोजन करता था जो व्यक्ति उस यज्ञ को विधिपूर्वक सम्पन्न कर लेता था, उसी से उस कन्या का विवाह कर दिया जाता था, जो सम्भवतः दक्षिणा के रूप में विवाह के निमित्त प्रदान की जाती थी। मनु के अनुसार ज्योतिष्टोमादि यज्ञ में विधिपूर्वक कर्म करते हुए ऋत्विज के लिए वस्त्र और अलंकार-युक्त कन्या का दान करना दैव विवाह है। चूँकि दोनों पक्ष याज्ञिक क्रियाओं के उत्साही समर्थक होते थे, अतः विवाह की इस प्रणाली को दैव विवाह की संज्ञा प्रदान की गई। आगे चलकर जब वैदिक यज्ञ प्रायः समाप्त हो गये तब इस प्रकार के विवाहों का अन्त हो गया।

(3) **आर्ष विवाह**—जब कन्या का पिता धर्म कार्य की सिद्धि के लिए वर पक्ष से एक गाय और एक बैल अथवा इनकी दो जोड़ी लेकर विधिपूर्वक कन्यादान करता था, तब वह आर्ष विवाह कहलाता था। वर पक्ष से प्राप्त यह उपहार कन्या का मूल्य नहीं, बल्कि भेंट होता था तथा इस प्रकार प्राप्त गाय-बैल का प्रयोग वह अपने याज्ञिक कर्मों में किया करता था। महाभारत से ज्ञात होता है कि शल्य ने अपनी बहिन माद्री के विवाह के लिए कुल-प्रथा के अनुसार अत्यन्त संकोच के साथ भीष्म से विक्रय-मूल्य ग्रहण किया था। किन्तु यह कन्या का विक्रय नहीं था, बल्कि पूर्वगामी परम्परा का निर्वाह मात्र था। मेगस्थनीज के विवरण से भी ज्ञात होता है कि भारत में विवाह के अवसर पर वर पक्ष द्वारा कन्या पक्ष को एक गाय और एक बैल भेंट में दिये जाते थे।

(4) **प्राजापत्य विवाह**—यह विवाह प्रणाली ब्राह्म विवाह के ही अनुरूप है। इस प्रणाली के अन्तर्गत वर की विधिपूर्वक पूजा करके कन्या का दान किया जाता था तथा वर-वधू को निर्देश दिया जाता था कि गृहस्थ जीवन में दोनों मिलकर आजीवन धर्माचरण करें। जीवन-पर्यन्त पत्नी के साथ धर्म की अभिवृद्धि की कामना बिना पत्नी को अनुमति के दूसरा विवाह न करना तथा प्रजा (सन्तान) की उत्पत्ति करना प्राजापत्य विवाह का मूल आधार थी। प्राचीन-काल में यही विवाह प्रणाली अधिक प्रचलित हुई थी। 'प्रजापति' शब्द से 'प्राजापत्य' बना है, जो इस बात का प्रमाण है कि वर-वधू प्रजापति के प्रति अपने ऋण अर्थात् सन्तान उत्पन्न करने और उनके पालन-पोषण के उत्तरदायित्व का भलिभाँति निर्वाह करने में रुचि लें।

(5) **गान्धर्व विवाह**—आज के युग में हम इसको 'प्रेम-विवाह' या 'प्रणय विवाह' कह सकते हैं। जब युवक-युवती परस्पर प्रेमवश काम के वशीभूत होकर अपने माता-पिता की उपेक्षा करके विवाह कर लें तब इस प्रणाली को गान्धर्व विवाह कहा जाता है। वैदिक साहित्य में इस प्रकार के विवाहों का विवरण मिलता है। कन्याएँ प्रायः अपने प्रेमी से मिलने के लिए आतुर रहती थी तथा समारोहों में अपना पति स्वयं चुन लेती थी। दुष्यन्त और शकुन्तला का विवाह, गान्धर्व विवाह था। बौद्ध साहित्य में भी गान्धर्व विवाह के विवरण

मिलते है। एक जातक में उल्लिखित है कि वाराणसी के आचार्य के एक शिष्य ने स्थानीय युवती से प्रेम हो जाने पर उससे परिणय कर लिया। वायु पुराण के अनुसार शतरूपा ने प्रेम के वशीभूत होकर मनु को पति के रूप में स्वीकार किया था। मनु के अनुसार गान्धर्व विवाह सभी वर्षों के लिए धर्म सम्मत था तथा वात्स्यायन के अनुसार तो यही विवाह अनुरागमय, सुखद और श्रेष्ठ है। किन्तु आपस्तम्ब और वशिष्ठ जैसे विचारकों ने इस प्रणाली को अधर्म्य माना है।

(6) आसुर विवाह—इस प्रकार की विवाह प्रणाली में क्रय-विक्रय की प्रधानता है। जब कन्या के माता-पिता कन्या प्रदान करने के बदले में वर से धन लेते हैं तो इसे आसुर विवाह कहा जाता है। आर्ष और आसुर विवाह में अन्तर यह था कि आर्ष विवाह में परम्परा के अनुसार गाय-बैल का जोड़ा भेंट स्वरूप वर पक्ष द्वारा कन्या पक्ष को प्रदान किया जाता था, किन्तु आसुर विवाह में कन्या पक्ष को कन्या का मूल्य धन के रूप में चुकाया जाता था। मनु के अनुसार कन्या के पिता या अभिभावक को कन्या के लिए यथाशक्ति धन देकर स्वेच्छा से कन्या स्वीकार करना आसुर विवाह है। प्राचीनकाल में असीरियों में विवाह-प्रथा क्रय-विक्रय पर आधारित थी। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि 'आसुर' शब्द किसी न किसी रूप में असीरियों से सम्बद्ध है। यह विवाह प्रणाली समाज में अधिक उन्नत नहीं मानी जाती थी। वैदिक काल में यदा-कदा आसुर विवाह सम्पन्न हो जाया करते थे, किन्तु समाज में इसका आदर नहीं था। महाभारत में भीष्म ने पाण्डु का दूसरा विवाह मद्र नरेश को अपार धन, कन्या के क्रय-मूल्य के रूप में प्रदान करके किया था। राजा दशरथ ने कैकयी को क्रय करके ही अपनी पत्नी बनाया था। किन्तु प्राचीन साहित्य में ऐसे उदाहरण बहुत ही कम मिलते है। विवाह के लिए द्रव्य देकर क्रय की गई स्त्री को 'पत्नी' नहीं कहा जाता था। बौधायन ने भी शुल्क देकर क्रय की गई स्त्री को वैध पत्नी नहीं माना है। मनु ने भी कन्या के क्रय-विक्रय का विरोध किया है। इस प्रकार के विवाह अधिकतर निम्न जातियों में प्रचलित थे, जिनमें नैतिकता का सर्वथा अभाव था।

(7) राक्षस विवाह—मनु के अनुसार कन्यापक्ष वालों को मारकर अथवा उनको घायल करके, गृह के द्वार आदि को तोड़कर तथा रोती-चिल्लाती कन्या का बलात् हरण करके लाना राक्षस विवाह है। यह विवाह प्रणाली संभवतः आदिम जातियों में प्रचलित थी, जो बाद में भी चलती रही। चूँकि यह विवाह क्रूरता और निर्दयता पर आधारित था, इसलिए इसे राक्षस विवाह कहा गया है। चूँकि इसमें शक्ति और शूरवीरता की प्रधानता थी, अतः क्षत्रियों में यह प्रणाली अधिक लोकप्रिय बन गई। प्राचीनकाल में राक्षस विवाह के अनेक उदाहरण मिलते है। भीष्म ने काशी-नरेश को पराजित कर उसकी कन्या से अपने अनुज विचित्रवीर्य का विवाह कराया था। श्रीकृष्ण ने रुक्मी को पराजित कर उसकी पुत्री रुक्मिणी से शादी की थी। अर्जुन ने श्रीकृष्ण की सहमति से उसकी बहिन सुभद्रा का बलात् हरण किया था। बौद्ध साहित्य में राक्षस विवाह के कुछ उदाहरण मिलते है। पूर्व-मध्य युग में पृथ्वीराज चौहान और संयोगिता का विवाह इसी आधार पर हुआ था। परन्तु सूत्रकारों ने इस विवाह प्रणाली का घोर विरोध किया है।

(8) पैशाच विवाह—विवाह की आठों प्रणालियों में सबसे निम्न कोटि की प्रणाली पैशाच विवाह है। इसके अन्तर्गत सोती हुई, बेहोश, पागल, मदहोश, उन्मत्त,

मदिरापान की हुई अथवा मार्ग में जाती हुई कन्या को जब व्यक्ति कामयुक्त होकर जबरदस्ती उसके साथ सम्भोग करके उसे अपनाता है, तब वह पैशाच विवाह कहलाता है। स्मृतियों ने ऐसे विवाह की भर्त्सना की है। धर्मशास्त्रकारों ने भी इसे अत्यन्त जघन्य, अधर्म्य और निन्दित माना है। व्यक्ति अपने बल और शौर्य पर भरोसा रखते हुए कामवासना की पूर्ति के लिए ऐसे मार्ग का अनुसरण करता था। यद्यपि ऐसे विवाह असम्भ और असंस्कृत जातियों में ही अधिक होते थे, फिर भी शास्त्रकारों ने इसे विवाह प्रणाली में स्थान दिया है। आपस्तम्ब और विशिष्ट जैसे धर्मशास्त्रकार तो ऐसे विवाह के बिल्कुल विरुद्ध थे। इसलिए उन्होंने तो इसे विवाह प्रणाली में स्थान ही नहीं दिया है।

विवाह की उपर्युक्त आठों प्रणालियों के अतिरिक्त प्राचीनकाल में स्वयंवर-विवाह-प्रथा भी प्रचलित थी। इसमें वधू स्वयं अपने वर का चुनाव करती थी। विशेषकर शासक वर्ग में इसका अधिक प्रचलन था। लेकिन धर्मशास्त्रों में स्वयंवर विवाह जैसा कोई संस्कार उल्लिखित नहीं है। ऋग्वेदिक युग में कन्या स्वयं अपने पति को चुनती थी, जो स्वयंवर-प्रथा के प्रारम्भिक स्वरूप की ओर संकेत करता है। कालान्तर में यह प्रथा समाज में काफी प्रचलित हो गयी। रामायण में सीता-स्वयंवर का तथा महाभारत में द्रोपदी-स्वयंवर का उल्लेख मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों मे भी स्वयंवर-प्रथा का वर्णन मिलता है। महाकवि कालीदास कृत 'रघुवंश' में इन्दुमती के स्वयंवर का विशद वर्णन है। पूर्व-मध्य युग में भी स्वयंवर का भव्य आयोजन होता था। 'विक्रमांक देव चरित' के अनुसार करहाट के शिलाहार राजा की पुत्री चन्द्रलेखा ने कल्याण-नरेश चालुक्य विक्रमांकदेव को अपना पति चुना था। धर्मशास्त्रकारों ने साधारणत: इस बात का अनुमोदन किया है कि अगर पिता अपनी कन्या के लिए वर नहीं चुन पाता तो वह तीन ऋतुकाल बीत जाने पर स्वयं अपना पति चुन ले।

अन्तर्जातीय विवाह—यद्यपि समाज में सवर्ण विवाह ही उचित और श्रेष्ठ माने जाते थे, तथापि प्राचीन समाज में अन्तर्जातीय विवाह भी प्रचलित थे। अन्तर्जातीय विवाह दो प्रकार के होते थे—अनुलोम और प्रतिलोम। अनुलोम विवाह वे होते थे जिनमें पुरुष अपने से नीचे वर्ण की कन्या के साथ विवाह करता था, जैसे ब्राह्मण पुरुष का क्षत्रिय अथवा वैश्य कन्या के साथ विवाह और क्षत्रिय पुरुष का वैश्य कन्या के साथ विवाह। वैदिक युग में वर्ण का कठोर बन्धन नहीं था, इसलिए ऐसे विवाह बहुधा हुआ करते थे। भृगुवंशी ब्राह्मण ऋषि च्यवन ने क्षत्रिय राजकुमारी सुकन्या से विवाह किया था। वशिष्ठ के पुत्र शक्ति का विवाह वैश्य कन्या अदृश्यन्ती से हुआ था। गुप्तकाल में भी ऐसे अनुलोम विवाहों के उदाहरण मिलते हैं। पूर्व-मध्ययुगीन भाष्यकारों ने स्वीकार किया है कि ब्राह्मण अपने से नीचे वर्ण की कन्या से शादी कर सकता था। 11वीं सदी के बाद अनुलोम विवाह सिद्धान्त मात्र रह गये। क्योंकि शास्त्रकारों ने ऐसे विवाह को प्रशस्त नहीं कहा है। मनु के अनुसार अनुलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को पिता की सम्पत्ति में बहुत कम सम्पत्ति मिलती थी।

प्रतिलोम विवाह वे होते थे जिनमें कोई पुरुष अपने से ऊँचे वर्ण की कन्या से विवाह करता था, जैसे क्षत्रिय पुरुष और ब्राह्मण कन्या अथवा वैश्य पुरुष और क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण कन्या। वैदिक-युगीन समाज में प्रतिलोम विवाह के कुछ उदाहरण मिलते हैं। ऋग्वेद के अनुसार ब्राह्मण कन्या अंगिरसी क्षत्रिय भावयव्य की पत्नी थी। विष्णु-पुराण के अनुसार ब्राह्मण ऋषि शुक्राचार्य की कन्या देवयानी, राजा ययाति की पत्नी थी। लेकिन गौतम धर्म सूत्र

में ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तान को वर्णसंकर और अस्पृश्य कहा गया है। पुराणों में भी प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तान को धर्मच्युत कहा गया है। समाज में साधारणतः निम्न वर्ण को अपने से ऊँचे वर्ण की कन्या से विवाह करने का अधिकार नहीं था, हालांकि यदा-कदा समाज में ऐसे विवाह हो जाया करते थे। पूर्व-मध्य युग में भी प्रतिलोम विवाह बहुत कम स्वीकृत थे। अलबरुनी ने ऐसे विवाह की भर्त्सना की है। भाष्यकारों और टीकाकारों ने भी ऐसे विवाह की निन्दा और आलोचना की है। समाज में प्रतिलोम विवाह का कोई स्थान नहीं था। अपने कुल और वंश को बनाये रखने के लिए एसे अन्तर्वर्णीय विवाहों के प्रति उच्च वर्णो का कोई आकर्षण नहीं था। क्योंकि उच्च वर्ण के लोग अपने रक्त की पवित्रता बनाये रखना चाहते थे।

अन्तर्जातीय विवाह के नियंत्रण को युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। अनुलोम विवाह को ब्राह्मणों द्वारा मान्यता दी गई, जबकि प्रतिलोम की भर्त्सना की गई। इससे केवल ब्राह्मणों की सर्वोच्चता सिद्ध होती है। लेकिन आधुनिक समाजशास्त्रियों ने अन्तर्जातीय विवाहों का समर्थन किया है। धुर्ये जैसे समाजशास्त्री ने मत व्यक्त किया है कि, "अन्तर्जातीय विवाह के द्वारा एक जाति का दूसरी जाति में रक्त का सम्मिश्रण होना, सम्बन्धों को दृढ़ बनाने तथा राष्ट्रीयता का पोषण करने में सबसे प्रभावशाली साधन सिद्ध हुआ है।" निश्चय ही राष्ट्रीय और सांस्कृतिक एकता के निर्माण में अन्तर्जातीय विवाह का महत्त्वपूर्ण योगदान है। फिर भी भारतीय समाज में आज भी कुछ ऐसे परिवार है जो अन्तर्जातीय विवाह को अच्छा नहीं समझते। प्रगतिशील विचारक ऐसे परिवारों को रूढ़िवादी अथवा दकियानूसी परिवार के नाम से सम्बोधित करते हैं।

नियोग और विधवा विवाह—धर्मशास्त्रों ने विशेष परिस्थितियों में नियोग प्रथा को मान्यता दी है। वैसे नियोग की प्रथा वैदिककालीन है। वैदिक काल में विधवा विवाह पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। ऋग्वेद में देवर को पति के रूप में वरण करने के लिए विधवा को परामर्श दिया गया है। उत्तर-वैदिककालीन अनेक ग्रन्थों में ऐसी पुत्रहीन विधवाओं का उल्लेख है, जो पुत्र-प्राप्ति के लिए अपने देवर को पति बनाती है। वैदिककालीन इस प्रकार के विवरण नियोग-प्रथा की ओर संकेत करते हैं। गौतम धर्म-सूत्र में कहा गया है कि पतिविहिन स्त्री यदि पुत्र की कामना करती है तो उसे देवर से प्राप्त करे। देवर के न होने पर सगोत्र, सपिण्ड, सप्रवर आदि से पुत्र उत्पन्न किया जा सकता है। मनु ने भी लिखा है कि सन्तान की इच्छा रखने वाली विधवा मृत पति के भाई अथवा सपिण्ड से गमन कर सकती है। इसके अतिरिक्त पति के नपुंसक या रोगी होने पर भी स्त्री, सजातीय पुरुष के साथ समागम करके पुत्र उत्पन्न कर सकती थी। इस प्रकार से उत्पन्न पुत्र को स्मृतियों में 'क्षेत्रज' कहा गया है तथा जिस पुरुष से पुत्र उत्पन्न हुआ, उस पुरुष को 'नियोगी' कहा गया है। महाभारत में नियोग-प्रथा को धर्मसम्मत माना है, लेकिन नियोग से अधिक से अधिक तीन पुत्र प्राप्त किये जा सकते थे। लगभग सभी धर्मशास्त्रकार ऐसा मत व्यक्त करते हैं। लेकिन जातकों से ज्ञात होता है कि बौद्धयुगीन समाज का नैतिक पतन हो चुका था। स्त्रियों कोई वन्धन नहीं था तथा उनका सम्बन्ध मात्र यौन रह गया था। अतः बौद्ध युग के बाद मनु और याज्ञवल्क्य जैसे व्यवस्थाकारों ने नये नियमों से आदर्श समाज का निर्माण किया। आपस्तम्ब, बौधायन और मनु जैसे विचारकों ने इस व्यवस्था को निरर्थक बताया। मनु ने तो इसे 'पशु-धर्म' की संज्ञा दे दी। महानिर्वाणतंत्र में कहा गया कि यदि स्त्री का पति विवाह के तुरन्त बाद

मर जाय और उस स्त्री ने अपने पति से समागम न किया हो तो वह पुनः विवाह कर सकती है। किन्तु अलबरुनी ने लिखा है कि विधवा स्त्री पुनर्विवाह नहीं कर सकती थी। पूर्व-मध्ययुगीन भारत में गुजरात प्रदेश में विधवा विवाह के कुछ उदाहरण मिलते हैं। लेकिन समाज में विधवा स्त्री के लिए ब्रह्मचर्य का जीवन ही आदर्श माना गया तथा व्यवहारिक रूप से स्वयं स्त्री ही नियोग को अस्वीकार कर अपना जीवन धार्मिक और नैतिक मार्ग पर अग्रसर करती रही।

विवाह-विच्छेद—पति-पत्नी के सम्बन्ध-विच्छेद का तात्पर्य है कि पति और पत्नी के वैवाहिक सम्बन्ध को सामाजिक, धार्मिक और वैधानिक रूप से समाप्त कर दिया जाय और उन पर किसी प्रकार का एक-दूसरे का नियन्त्रण न रह जाय। वैदिक युग में स्त्री अपने पति को छोड़ सकती थी। जातिभ्रष्ट और नपुंसक पति को धर्मसूत्रों ने भी त्याग देने के लिए कहा है। बौद्ध साहित्य में सम्बन्ध-विच्छेद के अनेक उदाहरण मिलते हैं। मज्झिम निकाय से ज्ञात होता है कि एक स्त्री के निकट-सम्बन्धियों ने उसका विवाह अन्य पुरुष से करने का निश्चय किया, क्योंकि वह स्त्री अपने पति को नहीं चाहती थी। एक जातक से विदित होता है कि मद्र देश की राजकुमारी ने अपने कुरूप पति का परित्याग कर दिया था। नारद जैसे शास्त्रकारों का मत है कि पति और पत्नी को एक-दूसरे के विरुद्ध अभियोग लगाने का अधिकार नहीं था। किन्तु विशेष परिस्थितियों में और पारस्परिक मतभेद होने पर, पुरुष द्वारा एक स्त्री के रहते हुए दूसरी स्त्री से विवाह करने पर पत्नी अथवा पति का त्याग सम्भव हो सकता था। यदि पत्नी बांझ हो, केवल कन्या उत्पन्न करने वाली हो या उसकी सन्तान उत्पन्न होकर मर जाती हो तब उस स्त्री की अनुमति से अथवा स्वतः पुरुष को दूसरी पत्नी करने का अधिकार था। यदि पुरुष दूसरी पत्नी कर लेता था तो उसे पहली पत्नी के लिए भरण-पोषण की समुचित व्यवस्था करनी पड़ती थी। याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ आदि धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री के प्रति उदारता दिखाते हुए व्यवस्था दी है कि यदि स्त्री पहली बार किसी अन्य पुरुष के साथ व्यभिचार करती है तो उसको दूसरे ऋतुकाल तक अथवा गर्भ रह जाने पर सन्तान-प्रसव तक घर के एकान्त कक्ष या बाहरी घर में रहने का दण्ड दिया जाता था और प्रायश्चित करने के बाद वह शुद्ध मानी जाती थी। इस प्रकार पहली बार व्यभिचार करने वाली स्त्री का त्याग न करने की सलाह दी गई है, किन्तु यह उदारता दुबारा प्रदान नहीं की गई थी। दुबारा व्यभिचार करने पर स्त्री का त्याग किया जा सकता था। नारद और पाराशर ने तो स्त्री को भी विशेष परिस्थितियों में अपने पति का त्याग करने का अधिकार दिया है। इस सम्बन्ध में कौटिल्य का मत उल्लेखनीय है। कौटिल्य के अनुसार ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष तथा दैव नामक चार प्रकार के विवाहों का विच्छेद नहीं हो सकता, किन्तु गान्धर्व, आसुर, राक्षस तथा पैशाच विवाहों में परस्पर द्वेष उत्पन्न हो जाने पर एक-दूसरे की सहमति से विवाह-विच्छेद हो सकता है। गुप्त युग में भी स्त्रियाँ अपने पति को छोड़ सकती थी। मध्य युग में भी पति, स्त्रियों के लिए त्याज्य थे।

विवाह-विच्छेद की उपर्युक्त व्यवस्था नियम के अन्तर्गत होने के बावजूद स्त्रियों के लिए इसका अनुसरण करना अत्यन्त दुष्कर और कष्टसाध्य था। स्त्री को पुरुषों के साथ समानता का अधिकार प्राप्त नहीं था। जो स्त्रियाँ विवाह-विच्छेद का अनुसरण करती थी, समाज उन्हें बड़ी हेय दृष्टि से देखता था तथा ऐसी स्त्रियों का समाज में कोई आदर या सम्मान नहीं होता था। धर्मशास्त्रकारों ने पुरुषों के अधिकार स्वीकार करके तथा स्त्रियों के

अधिकार को अस्वीकार करके एक पक्षीय नियम बनाये। धीरे-धीरे इस क्षेत्र में पुरुषों का एकाधिकार बढ़ता गया और स्त्रियों से सभी सुविधाओं को छीन लिया गया। समय के साथ-साथ विवाह-विच्छेद के निषेध स्त्री के लिए कठोर होते गये और उनके साथ धार्मिक धारणाओं को जोड़ दिया गया। स्मृतिकारों ने ऐसी स्त्रियों की भर्त्सना की है जो अपने पतियों का त्याग करके दूसरे पति करती थी। मनु ने व्यवस्था दी कि चाहे स्त्री का पति दुश्चरित्र, परस्त्रीगामी, अवगुणी ही क्यों न हो, पत्नी को उसकी देवता के समान पूजा करनी चाहिए। परवर्ती शास्त्रकारों ने तो स्त्रियों के लिए कठोर नियम बनाये, किन्तु पति के लिए स्वतन्त्र नियमों का सन्निवेश किया। पाराशर और व्यास स्मृति में तो पत्नी को दासी कहा गया तथा उसे निर्देश दिया कि वह दरिद्र, व्याधिग्रस्त, धूर्त पति का अपमान न करे, नहीं तो उसका जन्म पुनःपुनः कुतिया और सुअरी के रूप में होता है। अतः कन्याओं को बचपन से ही पति को परमेश्वर स्वरूप मानने के उपदेश दिये जाने लगे, जिसकी सेवा करना और आज्ञा पालन करना स्त्री का परम धर्म बताया गया। पति और पत्नी का जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध माना गया। धर्मशास्त्रकारों की ये सारी व्यवस्थाएँ एक पक्षीय और भेद-भाव से प्रेरित थी। अतः विवाह-विच्छेद या तलाक भारतीय संस्कृति में विदेश तत्व है। अधिकांश लोग अपने को प्रगतिशील बताने के लिए तलाक के पक्ष में कितने ही तर्क प्रस्तुत क्यों न करे, किन्तु हिन्दू समाज ने अपने मन से तलाक की व्यवस्था को कभी स्वीकार नहीं किया।

अभ्यास के लिए प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग पाँच पृष्ठों में दीजिए—

1. संस्कार का अर्थ समझाइये। उपनयन संस्कार विधि की विवेचना कीजिए।
2. विवाह संस्कार की विधि की विस्तृत विवेचना कीजिए।
3. धर्मशास्त्रों में कितने प्रकार के विवाह बतलाये गये हैं ? प्रत्येक का विवेचन कीजिए।
4. विवाह-विच्छेद किन परिस्थितियों में सम्भव था ? विस्तार पूर्वक समझाइये।

लघूत्तरात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए—

1. उपनयन संस्कार से क्या तात्पर्य है?
2. हिन्दू धर्मशास्त्रों में विवाह के क्या उद्देश्य बतलाये गये हैं?
3. प्राचीनकाल में विवाह का निर्धारण कैसे होता था?
4. विवाह के विभिन्न प्रकारों में श्रेष्ठ समझे जाने वाले विवाह और उनकी विधि बतलाइये।
5. प्राचीनकाल में किन परिस्थितियों में नियोग एवं विधवा विवाह स्वीकृत था?
6. अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों से क्या तात्पर्य है ? उदाहरण सहित उत्तर दीजिए।

◆

अध्याय-9

पुरुषार्थ

प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने मनुष्य के जीवन को आध्यात्मिक, भौतिक और नैतिक दृष्टि से उन्नत करने के लिए 'पुरुषार्थ' के नाम से अपने दार्शनिक विचारों की नियोजना की थी। इन चिन्तकों के अनुसार जीवन में सुख के दो आधार है—एक भौतिक सुख और दूसरा आध्यात्मिक सुख। भौतिक सुख के अन्तर्गत सांसारिक आकर्षण एवं ऐश्वर्य प्रधान माना गया है तथा आध्यात्मिक सुख के अन्तर्गत त्याग और तपस्या। भौतिक सुख क्षणिक और अस्थिर है, जो असत्य है तथा आध्यात्मिक सुख स्थायी और परमानन्द है, जो सत्य है। भौतिक सुखों के नष्ट होने में कोई समय लगता है और न उनका मनुष्य के साथ कोई स्थायी सम्बन्ध ही हो पाता है। सांसारिक मोह-माया और भोग-विलास मनुष्य को सन्मार्ग की ओर न ले जाकर दिग्भ्रमित करते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य का संयमित और नियमित आचार तथा आध्यात्मिक विचार ही उचित निर्णय प्रदान करने में समर्थ होता है। अतः मनुष्य के जीवन का लक्ष्य भौतिक सुख न होकर आध्यात्मिक सुख होना चाहिए तथा उसकी कार्य पद्धतियाँ विलासपरक न होकर धर्मपरक होनी चाहिए। आध्यात्मिक वृतियाँ मनुष्य को ऐसे जीवन-दर्शन का वास्तविक अर्थ समझाती है, जिसमें सांसारिकता के साथ-साथ आध्यात्मिकता भी है, भोग के साथ योग भी है तथा कामना के साथ साधना भी है। वस्तुतः जीवन में भौतिक सुख और आध्यात्मिक सुख दोनों का महत्त्व है तथा जीवन की सार्थकता इसी में है कि दोनों का समन्वित और संतुलित रूप ग्रहण किया जाय। अतः भारतीय जीवन-दर्शन इन दोनों प्रवृत्तियों का संतुलित, सम्मिलित और समन्वित स्वरूप है, 'पुरुषार्थ' कहते है। भौतिक सुख के अन्तर्गत अर्थ और काम है तथा आध्यात्मिक सुख के अन्तर्गत धर्म और मोक्ष है।

मनुष्य का सर्वांगीण विकास 'पुरुषार्थ' के माध्यम से होता है। पुरुषार्थ से मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास तो होता ही है, साथ ही समाज का भी उत्कर्ष होता है। धर्म, अर्थ, का और मोक्ष मनुष्य के चार पुरुषार्थ माने गये हैं, जिन्हें शास्त्रकारों ने 'चतुर्वग' कहा है। पुरुषार्थो से ही मनुष्य बौद्धिक, नैतिक, शारीरिक, भौतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष करता है। भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि के मध्य का संतुलित दृष्टिकोण ही पुरुषार्थ का सही स्वरूप है। धर्म मनुष्य को सन्मार्ग का दिग्दर्शन कराता है। धर्म के माध्यम से मनुष्य नैतिक सिद्धान्तों, विवेकशील प्रवृत्तियों और न्याय-प्रधान क्रियाओं को सही रूप में समझ सकने और उनका अनुगमन कर सकने में समर्थ होता है। 'अर्थ' मनुष्य की संतुष्टि और विभिन्न वस्तुओं को प्राप्त करने की उसकी उत्कंठा व्यक्त करता है। जीवन में भौतिक सुखों की पूर्ति 'अर्ध, के उपार्जन और संग्रह से ही सम्भव है। अतः भारतीय विचारकों ने 'अर्थ' को 'पुरुषार्थ' के अन्तर्गत रखकर मानव मन की सहज आकांक्षाओं और वृत्तियों का मनोवैज्ञानिक

विश्लेषण किया है। 'काम' मानव जीवन की सुखद और सहज अनुभूति से सम्बद्ध है, जिसके माध्यम से वह अपनी कामजनित प्रीति रूप भावना और वृत्तियों की तुष्टि करता है। यौन भावना के साथ सौन्दर्यानुभूति की तुष्टि 'काम' के माध्यम से होती है। काम और अर्थ से प्रभावित होकर मनुष्य केवल इन्ही दो का ही सेवन न करे, इसलिए उच्च आदर्शों और नैतिक कर्त्तव्यों की नियोजना की गई है। 'मोक्ष' का सम्बन्ध आत्मा और परमात्मा से तथा मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन से है। जीवन का चरम लक्ष्य 'मोक्ष' है। किन्तु मोक्ष की प्राप्ति सरल और आसान नहीं है। इसके लिए मन और मस्तिष्क की शुद्धि और पवित्रता अनिवार्य मानी गई है। इस दृष्टि से 'पुरुषार्थ' मानव-जीवन के समग्र स्वरूप का उन्नयन करता है तथा उसे नियमित और संयमित मार्ग का दिग्दर्शन कराता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से समन्वित पुरुषार्थ व्यक्ति के समग्र व्यक्तित्व का निर्माण करता है।

(1) धर्म

पुरुषार्थ में धर्म का स्थान सर्वोपरि है। परन्तु यह धर्म मात्र धार्मिक विश्वासों अथवा ईश्वर की उपासना तक ही सीमित नहीं है। यहाँ इसका प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में किया गया है। यहाँ धर्म से अभिप्राय कोई सम्प्रदाय विशेष भी नहीं है, बल्कि उन प्रेरक आदर्शों से है, जिन पर समाज आधारित है। इससे व्यक्ति की सामाजिक स्थिति और सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था निर्धारित होती है। नियमबद्ध, संयमित और सात्विक जीवन ही धार्मिक जीवन है। वस्तुतः 'धर्म' व्यक्ति के आचरण और व्यवहार की एक संहिता है जो उसके कार्यों को देश, काल और परिस्थिति के अनुसार व्यवस्थित, नियमित और नियंत्रित करता है तथा उसे स्वस्थ और उज्जवल जीवन-यापन के लिए ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करता है। जिन कर्मों के आचरण से मनुष्य, मनुष्यत्व को प्राप्त करता है, उसी को धर्म कहते है। वेदों में भी ईश्वर ने मनुष्यों के लिए जिन कर्त्तव्य कर्मों को करने की आज्ञा दी है, वही धर्म है। बौद्ध और जैन साहित्य में भी शुद्ध और सात्विक आचरण पर जोर दिया गया है। महाभारत में आचार अथवा सदाचार को धर्म का लक्षण माना गया है तथा आचार से ही धर्म को फलीभूत होने वाला कहा गया है। आचार और धर्म को एक-दूसरे का पूरक मानकर आचार को ही परम धर्म स्वीकार किया गया है। मनु का कथन है कि वेद और स्मृतियों में विवृत है कि आचार ही श्रेष्ठ धर्म है। धर्म आचरण की वह संहिता है, जिसके माध्यम से व्यक्ति समाज के सदस्य के रूप में और एक व्यक्तित्व के रूप में नियंत्रित होता हुआ क्रमशः विकसित होता हुआ, अन्त में चरम उद्देश्य की प्राप्ति करता है। धर्म के तीन मूल कार्य है— (1) नियन्त्रण (2) व्यक्तित्व का उत्थान और (3) जीवन के अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' के लिए व्यक्ति को सन्नद्ध करना। धर्म द्वारा मनुष्य अपने कर्त्तव्यों और व्यवहारों को संवर्धित करता है तथा वांछित कामनाओं की पूर्ति करता है। मनुष्य का कर्त्तव्य, कार्य और स्वभाव धर्म से संचालित होता है। ऐसी स्थिति में हिन्दू धर्म व्यक्ति के उन सभी गुणों, परिस्थितियों और कार्यों को अभिव्यक्त करता है, जिनसे वह एक सुसंस्कृत मार्ग का अनुगमन करता है। जिन सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्ति अपना दैनिक जीवन व्यतीत करता है, जिसके द्वारा सामाजिक बन्धनों की स्थापना होती है, वही धर्म है। महाभारत के अनुसार, यह जीवन का सत्य है और हमारी प्रकृति को निर्धारित करने वाली शक्ति है। इससे व्यक्ति के जीवन को पूर्णता प्राप्त होती है। धर्म वही है जो किसी को क्लेश नहीं पहुँचाता, बल्कि लोक कल्याण करता है।

समाज के संयत संगठन के लिए धर्म अपेक्षित है। ऐसे कर्त्तव्यों और नैतिक नियमों के पालन से व्यक्ति का व्यवहार नियन्त्रित होता है, जिससे उसे लौकिक और पारलौकिक सुख मिलता है। स्पष्ट है कि धर्म का सम्बन्ध मनुष्य के विश्वास, नैतिक आचरण, व्यवहार और उसकी आस्तिकता से है, जिसमें मनुष्य का सामाजिक जीवन नियन्त्रित और विकसित होता है।

मनु के अनुसार धर्म के आधारस्रोत श्रुति (वेद), स्मृति (धर्मशास्त्र), सदाचार (अच्छे लोगों के व्यवहार) और आत्मतुष्टि है। धर्मसूत्रों में वेदों, स्मृतियों तथा शीलगत व्यवहार को धर्म का मूल स्वीकार किया है। वशिष्ट के अनुसार मनुष्य के सदाचार से अधिक महत्त्वपूर्ण वेद और स्मृतियाँ है। निश्चय ही धर्म नैतिक आचरणों को अधिक महत्त्व देता है, किन्तु परम्परा से चली आ रही धर्मशास्त्रीय व्यवस्था को भी स्वीकार करता है। वेदों और स्मृतियों में मनुष्य के लिए जो कर्त्तव्य निर्देशित किये गये हैं, उनका निष्ठापूर्वक पालन ही धर्म है। सदाचार, परिस्थिति और काल के अनुसार परिवर्तित होकर मनुष्य के गुणों का अंग बन जाता है। यह आवश्यक नहीं कि भिन्न-भिन्न देशों और वर्गों के आचार अभिन्न हो। कुछ अर्थों में ये आचार भिन्न हो सकते हैं और अभिन्न भी। सम्भव है आचारों के नाम भिन्न-भिन्न हों, किन्तु उनका मूलभूत अर्थ और नियम समान होता है। सदाचार के अन्तर्गत सत्यता, हितकर प्रथाएँ, आचरण और नैतिक व्यवहार का सामावेश होता है। यह सही है कि वेद और स्मृतियों के निर्देश विभिन्न युगों के लिए सर्वमान्य नहीं रहे है। किन्तु निश्चय ही ये निर्देश मनुष्य के अभ्युदय, निःश्रेयस, और कर्त्तव्य-भावना को जागृत करने के लिये थे, जिससे उसकी कार्यक्षमता, मानसिक योग्यता और आचारगत क्रिया विकसित हो सके।

प्राचीन विचारकों ने सामान्य धर्म और विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत धर्म के कई विभेद किये है। विशिष्ट धर्म से सम्बन्धित देश-धर्म, जाति-धर्म और कुल-धर्म के अतिरिक्त शास्त्रकारों ने कई प्रकार के अन्य स्मार्त धर्मों का उल्लेख किया है, जैसे वर्णधर्म आश्रमधर्म, वर्णाश्रम धर्म, गुणधर्म और नैमित्तिक धर्म। साधारण धर्म मनुष्य के मानवता-युक्त नैतिक धर्म से सम्बन्धित है। मानव मूल्यों का नियोजन साधारण धर्म के अन्तर्गत होता है, जो प्रायः सभी के लिए अनुकरणीय होता है। समाज के सभी व्यक्तियों के लिए, चाहे वे कैसे भी हों, इस धर्म का अनुसरण करना अपेक्षित माना गया है। यह धर्म समस्त मानवजाति से सम्बन्धित था तथा उसके कल्याण के लिये क्रियाशील था। सभी धर्मों का लक्ष्य एक ही था—मोक्ष प्राप्त करना। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए मनुष्य के सद्गुणों का विकास करना भी आवश्यक था। सामान्य धर्म के तीस लक्षण निर्देशित किये गये हैं। किन्तु साधारणतः सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दम, क्षमा, शुश्रूषा, शील, मधुर वचन, शरणागत रक्षा, अतिथि सेवा आदि मनुष्य के साधारण धर्म कहे गए हैं।

सत्य—मनुष्य के जीवन में सत्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। सत्य से व्यक्ति और समाज दोनों की उन्नति होती है। सत्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं। सभी वस्तुओं का आधार सत्य है, जो समृद्धि की वृद्धि करता है। असत्य से जीवन और मन कलुषित तथा समाज दूषित होता है। इसीलिए वेद में कहा गया है कि 'सत्यम् वद धर्मम् चर', अर्थात् सत्य बोलो और धर्म का आचरण करो। अतः विकट से विकट परिस्थिति में भी मनुष्य को सत्य बोलना चाहिये। सत्य के विभिन्न रूपों में दान, ध्यान, सहिष्णुता, लज्जा, दया, अहिंसा, निष्पक्षता, इन्द्रिय-निग्रह, सहर्ष कष्ट सहना, विवेक आदि माना गया है। मनु के अनुसार, सत्य बोले, प्रिय बोले, सत्य भी अप्रिय न बोले और प्रिय भी असत्य न बोले, यही सनातन धर्म है।

ब्रह्मचर्य—अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना और ब्रह्म के मार्ग का अनुसरण करना ही ब्रह्मचर्य है। संयम और अनुशासन का जीवन समाज में प्रशंसनीय होता है। अनुशासन और सन्मार्ग का अनुसरण ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत आता है। ब्रह्मचर्य का पालन करने से मनुष्य शरीर और मन से श्रेष्ठ तथा समाज के संयमित आदर्श में सहायक होता है।

अहिंसा—किसी को अपनी वाणी और कार्यों से हानि न पहुँचाना ही अहिंसा है। मनसा, वाचा और कर्मणा से किसी को चोट न पहुँचाना ही मनुष्य का उत्तम कार्य और धर्म माना गया है। मनु के अनुसार जो जीवों का वध तथा बंधन नहीं करना चाहता, वह सबका हिताभिलाषी होकर अत्यन्त सुख प्राप्त करता है। 'अहिंसा' को ही परमधर्म कहा गया है। मनुष्य अपने अहिंसात्मक व्यवहार से सभी लोगों का प्रिय बनता है।

इन्द्रिय-निग्रह—अपनी कर्मेन्द्रियों को पूर्ण रूप से अपने वश में करना ही इन्द्रिय-निग्रह (दम) है। जो अपने कर्मों को तो अनुशासित रखता है, किन्तु मन से संयमित नहीं है, वह मिथ्याचारी है। जो पूर्ण रूप से तथा प्रत्येक दृष्टि से अपने कर्म पर संयम रखता है, वह प्रशंसा का पात्र होता है। इन्द्रियों और कर्मों पर नियन्त्रण न रहने से विषयों में आसक्ति बढ़ती है, विषय-कामनाओं की पूर्ति न होने से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से मूढ़ता आती है, मूढ़ता से स्मृति लुप्त होती है, स्मृति के लुप्त होने से बुद्धि नष्ट होती है और बुद्धि के नष्ट होने से व्यक्ति का विनाश हो जाता है। अतः मनुष्य को अपने मन, मस्तिष्क और शरीर पर समान रूप से संयम रखना चाहिये। जो ऐसा नहीं कर पाते वे जन्म और मृत्यु के बंधन से कभी मुक्त नहीं हो पाते।

क्षमा—जिस व्यक्ति में क्षमा की भावना होती है, वही व्यक्ति महान् होता है; विशेषकर वीर पुरुष में क्षमा का होना प्रशंसनीय यश कहा गया है। शास्त्रों में भी कहा गया है कि 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' अर्थात् क्षमा वीर पुरुषों का आभूषण होता है। वीरता में क्षमा, मणि और कंचन के योग के समान है। निर्बल व्यक्ति के प्रति तो क्षमा की भावना होनी ही चाहिये। मनुष्य का क्षमा-धर्म उसके आकर्षक व्यक्तित्व तथा विनम्रता और महानता का द्योतक है। अपशब्दों का प्रयोग और अव्यवहार करने वाले व्यक्ति के प्रति भी क्षमा की भावना होनी चाहिये।

श्रद्धा—मनुष्य के लिए श्रद्धा और आदर की भावना रखना श्रेष्ठ गुण माना गया है। माता, पिता और गुरु के प्रति श्रद्धा और आदर से नत रहना चाहिये। जो अपने माता, पिता और गुरु का निरादर करते हैं, वे बहुत बड़े पाप के भागी होते हैं। उनके प्रति आदर और श्रद्धा व्यक्त करके ही व्यक्ति लोक और परलोक में विख्यात होता है। श्रवणकुमार अपने माता-पिता का पूर्ण भक्त था तो एकलव्य अपने गुरु द्रोणाचार्य का अत्यधिक आदर करता था। महाभारत के अनुसार माता, पिता और गुरु का कभी वध नहीं करना चाहिए, चाहे वे किसी का कितना ही बुरा क्यों न करे। जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक इन तीनों की सेवा करता है, वह प्रमादहीन गृहस्थ तीनों लोकों को विजित कर लेता है और अपने शरीर से देदीप्यमान होता हुआ सूर्यादि देवताओं के समान स्वर्ग का आनन्द प्राप्त करता है। अपने से बड़े सभी लोगों का आदर करना सुसंस्कृत व्यक्ति का कर्त्तव्य और धर्म माना गया है।

मधुर वचन—अपनी मधुर वाणी और प्रिय वचन से सबको प्रभावित कर अपनी ओर आकर्षित कर लेना ही मनुष्य की सार्थकता है। मनु ने तो कटु सत्य को भी मधुरवाणी में

कहने का निर्देश दिया है। किसी से वार्तालाप करते समय अथवा किसी को दान देते समय भी मधुर वाणी का ही प्रयोग करना चाहिये। मधुर वाणी लोगों को आकर्षित करती है। मधुर वाणी और मधुर-वार्तालाप से तो कभी-कभी विरोधी शत्रु भी प्रिय बन जाते हैं।

शील—जो व्यक्ति विचार, वाणी और कार्यों में शीलवान या शीलयुक्त होता है तथा अनुग्रह और दान में अपना शील बनाये रखता है, वही व्यक्ति शीलसम्पन्न माना जाता है। शीलवान व्यक्ति प्रशंसनीय होता है। वस्तुतः धर्म और सत्य, शील पर ही निर्भर करते हैं। मनुष्य का चरित्र, व्यवहार और आचरण शील से ही उत्पन्न होता है। जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए शील का होना अनिवार्य है। शीलवान व्यक्ति अपने कार्यों से लोगों का प्रियपात्र बन जाता है।

अतिथि-सेवा—मनु ने लिखा है कि अतिथि का पूजन करने से व्यक्ति को धन, आयु, यश और स्वर्ग मिलता है। बहुत से अतिथियों के एक साथ आ जाने पर आसन, विश्राम-स्थान, शैया, अनुगमन और सेवा, ये सभी सत्कार, बड़ों का अधिक, मध्य श्रेणी वालों का मध्यम तथा निम्न श्रेणी वालों का कम करना चाहिये। महाभारत और भागवत पुराण के अनुसार तो यदि कभी शत्रु भी अपने द्वार पर आ जाए तो उसकी भी सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये। गृहस्थ द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले पंचमहायज्ञों में अतिथि-सेवा का आदरपूर्वक उल्लेख हुआ है। अतिथि का आदरपूर्वक सत्कार करना व्यक्ति का परम कर्त्तव्य माना गया है, जिसे 'अतिथि-धर्म' भी कहा जाता है।

उपर्युक्त सामान्य धर्म के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट धर्म भी है। विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत मनुष्य के सामाजिक धर्मों का उल्लेख हुआ है, जिन्हें 'स्वधर्म' भी कहा गया है। जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित ये नियम और कर्त्तव्य परिवार और समाज में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने गये हैं। भिन्न-भिन्न समयों और परिस्थितियों में मनुष्य अपने विभिन्न कर्त्तव्यों का निर्वाह करता है, जो उसके विशिष्ट धर्म से सम्बन्धित माने जाते हैं।

वर्ण-धर्म—वर्ण-धर्म का तात्पर्य विभिन्न वर्णों के कर्त्तव्यों और नियमों से है। प्रत्येक वर्ण के लिए अलग-अलग कर्त्तव्य और नियम निर्धारित किये गये है। उनका पालन करना सभी वर्णों के लिए अनिवार्य माना गया है। इसी को वर्ण-धर्म कहा जाता है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में चार वर्णों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का उल्लेख हुआ है। इन चारों वर्णों के अलग-अलग कर्त्तव्य और नियम निर्धारित किये गये हैं। ब्राह्मणों के लिये वेद पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, और कराना, दान देना और लेना; क्षत्रियों के लिए प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना और विषयों में आसक्त न रहना; वैश्य के लिए पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेद पढ़ना, व्यापार करना, ब्याज लेना और कृषि कर्म करना तथा शूद्रों के लिए तीनों वर्णों की सेवा करना मुख्य कर्त्तव्य बताये गये है। विभिन्न वर्णों के ये कर्त्तव्य ही वर्ण-धर्म के अन्तर्गत माने गये है। इसी वर्ण-धर्म के माध्यम से सभी वर्णों के लोग धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कार्य निष्ठापूर्वक कर सकते है।

आश्रम-धर्म—प्राचीनकाल से ही मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को संयमित और अनुशासन में रखने के लिए 'आश्रम-व्यवस्था' की गई थी। मनुष्य सम्पूर्ण जीवन-बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक चार आश्रमों में विभाजित किया गया है—ब्रह्मचर्य,

गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम। यह आश्रम-व्यवस्था हिन्दू विचारधारा के जीवन-दर्शन की एक अभूतपूर्व व्यवस्था थी, जिसका पालन करके मनुष्य अपना सम्पूर्ण जीवन नियमित और संयमित रख सकता था। इस व्यवस्था के माध्यम से मनुष्य अपना नैतिक, आत्मिक और शारीरिक विकास कर सकता था। मनु के अनुसार इन चारों आश्रमों का विधिवत पालन करके मनुष्य परम मोक्ष को प्राप्त करता है तथा ब्रह्मलोक का भागी बन जाता है। अतः आश्रम- धर्म का पालन सभी द्विज वर्ग के लिए श्रेयस्कर माना गया है। मनुष्य के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करने का यही एक सुगम और सुनियोजित मार्ग था। प्रत्येक आश्रम के अलग-अलग नियम और संयम निर्धारित किये गए थे। ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्तर्गत ब्रह्मचारी के लिए यह धर्म निर्देशित किया गया है कि वह गुरु के सानिध्य में रहकर वेदाध्ययन करे, सूर्योदय से पूर्व उठे, स्नानादि से निवृत्त होकर सन्ध्योपासना और गायत्री मंत्र का जाप करे, शाकाहारी रहते हुए प्रसाधन सामग्री, स्त्री-स्पर्श, संगीत, नत्य आदि से दूर रहे, अपनी इन्द्रियों को वश में रखे, गुरु की सेवा करे तथा भिक्षा मांग कर अपना तथा गुरु का पोषण करे आदि। गृहस्थ का यह परम कर्त्तव्य माना गया है कि वह त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का पालन करता हुआ गृहस्थी के कार्यों का सम्पादन करे। मनु के अनुसार गृहस्थ आश्रम समुद्र के रूप में है, जिसमें अन्य आश्रम नदी के रूप में मिलते है। गृहस्थ के लिए अहिंसा, सत्य वचन, दान आदि उत्तम धर्म बताये गये हैं। पंच महायज्ञों की पूर्ति तथा सन्तानोत्पत्ति ग्रहस्थ आश्रम में रहकर की जाती रही हैं। देव-ऋण और पितृ-ऋण से मुक्ति भी गृहस्थ आश्रम का पालन करने से ही संभव थी। गृहस्थ जीवन से अवकाश लेकर व्यक्ति वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करता है। वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति सांसारिक मोह-माया को त्याग कर वन में रहते हुए संयम, त्याग, अनुशासन, धर्माचरण, सेवाभाव, तपस्या, विषय-वासनाओं पर नियन्त्रण रखते हुए आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करता था, जो संन्यास का प्राम्भिक रूप था। वानप्रस्थ आश्रम में पच्चीस वर्ष रहने के बाद वह संन्यास आश्रम में प्रवेश करता था। संन्यास आश्रम में वह संसार से पूर्णतः विरक्त रहकर अपने को ईश्वर भक्ति में लगा देता था। उसे मोह, लोभ, क्रोध आदि से दूर रहकर सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, तप, स्वाध्याय आदि का पालन करना पड़ता था। इस प्रकार आश्रम-धर्म का पालन कर प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्त्तव्य था, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने जीवन को उन्नत बनाता था।

कुल-धर्म—पारिवारिक और वंशगत नियमों तथा आचारों का अनुपालन ही व्यक्ति का कुल-धर्म माना गया है। व्यक्ति का परिवार के सदस्यों के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिये और क्या कर्त्तव्य होने चाहिये, कुल-धर्म में इसका अधिक ध्यान रखा जाता है। अतः पिता-धर्म, माता-धर्म, पति-धर्म, पुत्र-धर्म, भ्रातृ-धर्म आदि कुल-धर्म के ही अंग है। पिता का धर्म अपनी सन्तान और परिवार के अन्य सदस्यों की आवश्यकताओं का ध्यान रखना है। माता का धर्म अपनी सभी सन्तानों के प्रति प्रेम और परिवार के अन्य सदस्यों की सुविधाओं आदि का ध्यान रखना है। पति का धर्म अपनी पत्नी, सन्तान, माता-पिता आदि के साथ यथोचित व्यवहार तथा विनम्रता और सहानुभूति प्रगट करना है। पत्नी का धर्म पति की सेवा, यौनिक पवित्रता, सम-व्यवहार, बड़ों का आदर और छोटों से प्रेम तथा अपने उत्तरदायित्वों का निवाह करना हैं। पुत्र का धर्म अपने से बड़ों का आदर-सत्कार करना, माता-पिता की आशाओं को पूरा करना और देव-ऋण, ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण से मुक्त होना है। कन्या के

प्रति माता-पिता का कर्त्तव्य तथा कन्या का माता-पिता एवं परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति कर्त्तव्य कुल-धर्म का ही अंग है।

युग-धर्म—चूँकि युग और काल के अनुसार धर्म परिवर्तित होता है, इसलिए युग अथवा काल के अनुरूप भी धर्म की नियोजना की गई थी। नैतिक आदर्श और नियम, युग के अनुसार परिवर्तित और स्थिर होते रहते है। सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के ये नियम विभिन्न युगों के भिन्न-भिन्न धर्म के रूप में विख्यात हैं। सतयुग, त्रैतायुग, द्वापरयुग और कलयुग अपने-अपने युग के धर्म और आदर्श को व्यक्त करते हैं। सतयुग तप-धर्म के लिए, त्रैतायुग ज्ञान-धर्म के लिए, द्वापरयुग यज्ञ-धर्म के लिए और कलयुग दान-धर्म के लिए विख्यात रहा है। अतः युग के अनुसार युग-धर्म का नियमन होता है। समाज की नैतिकता, कार्य-प्रणाली, आचार-विचार, व्यवहार और सांस्कृतिक प्रतिमान में समय के अनुसार परिवर्तन होता रहता है, जिससे युग-धर्म प्रभावित होता है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक युग के अपने धर्म थे, जो दूसरे युग से भिन्न थे।

राज-धर्म—राजा के लिए निर्धारित किए गये नियम और निर्देश राजा-धर्म के अन्तर्गत आते हैं। राजा के विभिन्न कर्त्तव्य, व्यवहार और उसके शासन के आधारभूत नियम राज-धर्म के ही अंग है। राजा को अपनी प्रजा के हित में अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करना चाहिए। राजा अपनी प्रजा को अपनी सन्तान के रूप में मानकर कार्य करना चाहिए। धर्मशास्त्रकारों ने राजा के विभिन्न कार्यों पर नियन्त्रण और प्रतिबन्ध इसलिए लगा दिये कि राजा निरंकुश न हो जाय तथा प्रजा के अहित में कार्य न करे। राजा के प्रायः तीन मुख्य धर्म (कर्त्तव्य) थे—बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा करना, देश और समाज को नियंत्रित रखना और समाज के लोगों को वर्णाश्रम धर्म का अनुगमन करने के लिए निर्देशित करना। राजा के लिए धर्म और नीति का ज्ञान होना अनिवार्य था। राजा का धार्मिक होना श्रेयस्कर था। महाभारत के अनुसार धर्म का अनुपालन करने से राजा स्वर्ग का भागी होता है और अधर्म का अनुगमन करने पर नरक का। सज्जन लोगों की रक्षा करना तथा दुर्जन लोगों को दण्डित करना राजा का परम कर्त्तव्य माना गया है। राजा दण्ड-शक्ति पाकर शक्ति-सम्पन्न और गौरवशाली होता है, किन्तु यह दण्ड-शक्ति पाकर उसका दुरुपयोग करते हुए उसे निरंकुश नहीं होना चाहिए। राज्य में सुख-शान्ति और समृद्धि बनाये रखना उसका मुख्य कर्त्तव्य था।

स्वधर्म—परिवार और समाज में व्यक्ति की स्थिति के अनुसार उसका धर्म निश्चित है। उसके कर्त्तव्य, उत्तरदायित्व और तत्सम्बन्धी आचरण उसकी स्थिति के अनुरूप ही निर्धारित है। पिता, माता, पुत्र, पुत्री आदि की स्थितियाँ धर्म के अनुसार भिन्न है, इसलिए उनके कर्त्तव्य भी भिन्न है। अपने-अपने कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करना तथा परिवार के सदस्यों के प्रति यथोचित लगाव रखना ही स्वधर्म है। वर्ण और आश्रम-जीवन के अन्तर्गत मनुष्य अपने-अपने नैतिक कर्त्तव्यों का पालन करता है, जो स्वधर्म का ही एक भाग माना जा सकता है। भगवद् गीता के अनुसार दूसरे का धर्म चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो, उसकी अपेक्षा अपना धर्म (स्वधर्म) ही अधिक श्रेयस्कर और श्रेष्ठ होता है, चाहे वह स्वधर्म दोष-युक्त ही क्यों न हो। अतः अपने धर्म का निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिये तथा दूसरे धर्म के प्रति आकर्षित नहीं होना चाहिए।

आपद्धर्म—आपत्ति और परिस्थितियों के प्रतिकूल होने पर शास्त्रकारों ने व्यक्ति को आपद्धर्म अपनाने का निर्देश दिया है। विपत्ति और कठिनाई उत्पन्न होने पर मनुष्य को अपेक्षित धर्म का पालन करना चाहिए। एक वर्ण का सदस्य आपत्तिकाल में दूसरे वर्ण के धर्म को अपना सकते थे। ब्राह्मण क्षत्रिय का, क्षत्रिय वैश्य का, और वैश्य शूद्र का धर्म अपना सकता था। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का मूलभूत वर्णगत कर्त्तव्य छूट जाता था तथा वह दूसरे वर्ण के धर्म का पालन कर अपना जीविकोपार्जन करना आरम्भ कर लेता था। आपत्ति के समय अपने तथा अपने परिवार के अन्य सदस्यों के जविकोपार्जन एवं पोषण के लिए व्यक्ति अपने वर्ण-धर्म को त्याग कर सामान्य धर्म स्वीकार कर लेता था। इस प्रकार व्यक्ति विशेष धर्म के स्थान पर साधारण धर्म का पालन कर सकता था।

(2) अर्थ

पुरुषार्थ में दूसरा स्थान अर्थ का है। यद्यपि भारतीय संस्कृति त्याग पर बल देती है, तथापि भोग के महत्त्व का निषेध भी नहीं करती। इसीलिए पुरुषार्थ में धर्म के पश्चात् अर्थ का स्थान आता है। यजुर्वेद की स्पष्ट उक्ति है कि, "अर्थ ही सब लोक-व्यवहारों का मूल है।" इसके बिना मनुष्य का लौकिक या पारलौकिक कोई भी कृत्य सम्पन्न नहीं होता। वैदिक स्तुतियों में भी अर्थ की कामना की गई है। वस्तुतः अर्थ का अभिप्राय उन सभी उपकरणों अथवा भौतिक साधनों से है जो व्यक्ति को समस्त सांसारिक सुख उपलब्ध करते हैं तथा तत्सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं और साधनों की पूर्ति करते है। मनुष्य की सभी आवश्यकताएँ और उसकी भौतिक इच्छाएँ अर्थ के माध्यम से ही पूरी होती है। मनुष्य को अपने जीवन में अनेक प्रकार के कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व पूरा करने के लिए अर्थ की आवश्यकता होती है। इस अर्थ का उपार्जन धर्म के माध्यम से ही करने का निर्देश दिया गया है। साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति सुख-सुविधाओं और यश-ऐश्वर्य का आकांक्षी होता है। वह भौतिक सुख के प्रति अत्यधिक आकर्षित होता है। ऋग्वैदिक आर्य भी धन-सम्पत्ति, गाय-अश्व आदि की वृद्धि के लिए भगवान से प्रार्थना करते थे। अतः अर्थ का अभिप्राय अत्यन्त विस्तृत है। व्यक्ति में प्राप्त करने की प्रवृत्ति की तुष्टि ही अर्थ है। परिवार के भरण-पोषण तथा उसे समृद्ध एवं उन्नतिशील बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान है। गृहस्थ जीवन में विभिन्न धार्मिक कार्यों और कर्त्तव्य का पालन अर्थ के बिना सम्भव नहीं है। सुप्रसिद्ध नीति-ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' के लेखक आचार्य कौटिल्य ने भी मानव जीवन में अर्थ की महत्ता को ही सर्वोपरि मान्यता दी है और स्पष्ट शब्दों में कहा है कि धर्म और काम दोनों अर्थमूलक ही होते हैं, अर्थात् इन दोनों का अस्तित्व अर्थ पर ही निर्भर है। लोक निर्वाह भी अर्थ के माध्यम से हो सकता है। स्पष्ट है कि अर्थ सामाजिक लक्ष्य प्राप्ति का साधन है, जिससे भौतिक सुख की प्राप्ति होती है। जब याज्ञवल्क्य राजा जनक के यहाँ पहुँचे तब जनक ने उनसे पूछा कि आपको धन और पशु अथवा शास्त्रार्थ और विजय चाहिये। उन्होंने उत्तर दिया कि दोनों चाहिए। निश्चय ही याज्ञवल्क्य की दृष्टि में अर्थ का भी महत्त्व था। कौटिल्य के अनुसार काम से धर्म और धर्म से अर्थ श्रेष्ठ समझना चाहिए। यद्यपि मनुष्य जीवन में अर्थ की प्रधानता अपरिहार्य है, किन्तु पुरुषार्थ में स्वीकृत 'अर्थ' का स्वरूप इस दृष्टि से भिन्न है कि यहाँ केवल अर्थ को नहीं अपितु धर्मपूर्वक अर्जित अर्थ को महत्त्व दिया गया है।

भारतीय शास्त्रकारों ने अर्थ की महत्ता और आवश्यकता पर समान बल दिया है। महाभारत में कहा गया है कि अर्थ उच्चतम धर्म है। प्रत्येक वस्तु उस पर निर्भर करती है। अर्थ-सम्पन्न लोग सुख से रह सकते है। अर्थहीन (निर्धन) लोग मृत समान है। किसी एक के धन का क्षय करते हुए उसके त्रिवर्ग को प्रभावित किया जा सकता है। धन को काम और धर्म का आधार माना गया है। इसी से स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त होता है। धर्म-स्थापन के लिए अर्थ अनिवार्य है, क्योंकि इसी से प्राप्त सुविधा द्वारा धार्मिक कृत्य सम्पन्न किये जा सकते हैं। जो व्यक्ति धन से क्षीण है, वह धर्म से भी क्षीण है, क्योंकि समस्त धार्मिक कार्यों में धन की आवश्यकता होती है। अर्थविहीन व्यक्ति ग्रीष्म की सूखी सरिता के समान माना गया है। वृहस्पति-सूत्र में कहा गया है कि अर्थ-सम्पन्न व्यक्ति के पास मित्र, धर्म, विद्या, गुण आदि सब-कुछ होता है, जबकि अर्थहीन व्यक्ति मृतक अथवा चाण्डाल के समान है। इस प्रकार अर्थ ही जगत् का मूल है। मनुष्य के जीवन की अर्थ सम्बन्धी मनःतृष्णा एवं भौतिक आनन्द के प्रति उन्मुख होने वाली प्रवृत्ति व्यक्ति को अर्थ की ओर उत्प्रेरित करती है। कुछ शास्त्रकारों ने तो अर्थ को जीवन का प्रधान साधन माना है तथा किसी भी स्थिति में अर्थ का जीवन से अलगाव स्वीकार नहीं किया है। धनी व्यक्ति अच्छे कुल और उच्च स्थिति का माना जाता है। वह पण्डित, वेदज्ञ (वेदों का ज्ञाता), वक्ता, गुणज्ञ व दर्शनीय माना जाता है। इस प्रकार धन में सभी गुण समाहित हो जाते हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्र ने मनुष्य को धर्मानुकल सभी सुखों का उपभोग करने के लिए निर्दिष्ट किया है। इससे स्पष्ट है कि व्यक्ति के जीवन में सुख की सर्वोपरि महत्ता है।

संस्कृत वाङ्मय में और विशेष रूप से धर्मशास्त्र में अर्थ-शक्ति की निन्दा भी की गई है। मनु ने भी लिखा है कि जो व्यक्ति अर्थ और काम के प्रति अनासक्त है, उसी के लिए धर्म का विधान है। वैराग्य-प्रधान बौद्ध मत तथा ईसाई मत इसी प्रकार की उक्तियाँ कहते रहे हैं। बाइविल का तो स्पष्ट संकेत है कि, "ऊँट सूई के छिद्र में से भले ही निकल जाये, किन्तु धनी व्यक्ति स्वर्ग में प्रवेश नहीं कर सकते।" अर्थ के सम्बन्ध में इस प्रकार के कथन एक विशेष दिशा की ओर संकेत करते हैं। वह दिशा है—येन केन प्रकारेण अर्थ-साधन की लिप्सा। जब अर्थोपार्जन के साधन दूषित हो जाते है, जब अर्थ प्राप्ति के लिए हिंसा का आश्रय लेना पड़ता है, प्राणियों को पीड़ित किया जाता है, अन्यों के स्वत्व का अपहरण किया जाता है और शोषण-पद्धति द्वारा अर्थ-संचय की पाप-युक्त प्रवृत्ति उग्र रूप धारण कर लेती है, तव निःसन्देह अर्थ गर्हित और अवांछनीय रूप धारण कर लेता है। ऐसे धनी व्यक्ति मद-मत्त हो जाते है और हिंसा पर उतर आते है। वेद इन्हें असुर की संज्ञा देता है। किन्तु जिस अर्थ को हम चतुर्वर्ग या पुरुषार्थ में ले रहे है, वह गर्हित नहीं प्रशंसनीय है, त्याज्य नहीं उपादेय है और अपवित्र नहीं, पवित्र है। यदि अर्थ निन्दनीय होता, सर्वथा परित्याज्य समझा गया होता, तो वेद के अनेक मंत्रों में, जो इसे उपलब्ध करने की कामनाएँ प्रगट की गई है, वे निरर्थक समझी जाती। वेदों के अनुसार धर्मानुसार धन अर्जनीय है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि यह धन मानव के उत्कर्ष करने का साधन हो, उसे पतन के पथ से खींच कर उन्नति के मार्ग पर लगाने वाला हो और मोक्ष के मार्ग में विघ्न-रूप न हो। मानव को कदम-

कदम पर धन की आवश्यकता पड़ती है। शरीर का निर्वाह धन के बिना नहीं हो सकता। प्राणवता, मानसिकता, बौद्धिकता आदि सब धन के अभाव में, शरीर को पुष्टि न मिलने के कारण दुर्बल पड़ जाती है। यह दुर्बलता मानव के पुरुषार्थ पर पानी फेर देती है और परिणामतः मानव पापी बन जाता है।

जब तक शरीर है तब तक शारीरिक आवश्यकतायें है और जब तक आवश्यकताएँ हैं, तब तक इनकी पूर्ति के लिए धन की भी आवश्यकता है। मानव की सर्व-सामान्य आवश्यकताएँ आयु और प्राण है। वेद मंत्रों में प्रार्थना की गई है—मैं दीर्घायु प्राप्त करू और वह आयु प्राण-शक्ति से परिपूर्ण रहे। प्रजा अथवा सन्तति की कामना सबको होती है। इसकी पूर्ति के साधन पशु और धन है। पशु दूध देते हैं, घी देते हैं और कृषि के काम आते हैं। अग्नि को समृद्ध करने के लिए उनके गोबर से उपले बनते हैं। गोबर कृषि में खाद का काम भी देता है। पशु भारवाहक का कार्य भी करते हैं। धन ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त होती है। आयु-बल से सम्पन्न, पशु एवं धन से परिपूर्ण मानव कीर्ति का भाजन बनता है। यह कीर्ति उसकी समृद्धि में चार चांद लगा देती है और वह समृद्ध से समद्धत्तर बन जाता है। इस प्रकार भौतिक ऐश्वर्य से मण्डित पुरुष ब्रह्मवर्चस जैसे अमूल्य धन को भी प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है, जो मोक्ष का द्वार है।

धन और ऐश्वर्य सभी मानवों के पास एकसमान नहीं है। समाज में वणिक् वृत्ति प्रधान वैश्य को ही इसका विशिष्ट अधिपति समझा गया है। वही इसके अर्जन एवं विवर्द्धन में विशेष रूप से भाग लेते हैं। अन्य तीनों वर्णों में धन का विविध रूपों में विविध प्रकारों से विभाजन होता रहता है। इस विभाजन का प्रमुख आधार कर्म है और वह भी कर्मफल के रूप में सर्व-प्रेरक प्रभु के अधीन है। धन प्राप्त तो सबको है, किन्तु ब्राह्मण वर्ग इस धन में से भी चुने हुए धन का ही प्रयोग करता है। एक प्रकार से ब्रह्म का प्रतिनिधि होने के कारण ब्राह्मण धन पर अपना अधिकार रखता है, और उसी के द्वारा दिये हुए धन पर सभी पालित-पोषित होते हैं तथा धनी बनते हैं। फिर भी, ब्राह्मण निःस्व होकर जीवन व्यतीत करता है। अधिक से अधिक वह ऋत तथा अमृत कहलाने वाली शिलोंच्छ वृत्ति द्वारा अपना नितान्त आवश्यक भरण-पोषण मात्र करता है। यही ब्राह्मी-वृत्ति का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। मनुस्मृति में भी ब्राह्मी-वृत्ति के इस रूप का उद्घाटन किया गया है और लिखा है कि स्वाध्याय के विरोधी सभी अर्थों को ब्राह्मण परित्याग कर देता है। उसके पास जो सम्पदा है उससे किसी प्राणी को ईर्ष्या नहीं होती, न उसके साथ कोई द्रोह करता है। अपने प्रशस्त कर्मे द्वारा जीवन-निर्वाह मात्र के लिए वह यज्ञ-शिष्ट अन्न का सेवन करता है, जिससे किसी भी प्राणी को क्लेश न पहुँचे। हमारे संस्कारों में यज्ञोपवीत संस्कार के विधान के अन्तर्गत ब्राह्मण जौ का सत्तू खाकर तीन दिन तक व्रत रखता है। इसके स्थान पर वैश्य खांड और कैशर मिश्रित खीर का सेवन करता है। वैश्य का यज्ञोपवीत बहुमूल्य रेशम का बना होता है, परन्तु ब्राह्मण का यज्ञोपवीत सन अथवा सूत का होता है। यह विधान वर्ण मर्यादा में अर्थ के विभाजन पर प्रकाश डालती है।

धन भी कई प्रकार का है। अन्न धन है। फल,फूल, मेवा, रत्न, हीरा, माणिक्य, स्वर्णादि धन है। गो धन है। गो के अतिरिक्त अन्य पशु भी धन है। बुद्धि विद्या तथा ज्ञान भी

धन है, किन्तु ये धन तभी सार्थक है जब इनके द्वारा हम धन्य कहे जा सकें। वेदों ने पार्थिव धन से लेकर दैवी धन तक की चर्चा की है। अनेक लोग बाह्य धन की अपेक्षा आन्तरिक धन की अधिक चिन्ता करते है। परन्तु आन्तरिक धन भी बाह्य धन की उपेक्षा नहीं करता, उसे वह अपना सहायक समझता है। इन समस्त विचारों से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य के जीवन में अर्थ का वहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(3) काम

मनुष्य का तीसरा पुरुषार्थ 'काम' है, जिसका जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। काम के प्रधान दो लक्षण है—कामभावना और इन्द्रिय-सुख। व्यक्ति की समस्त कामनाएँ वासनाजन्य प्रवृत्तियाँ तथा आसक्तिमूलक वृत्तियाँ काम के अन्तर्गत आती है। अतः 'काम' मनुष्य जीवन की सहज प्रवृत्ति है, जो इन्द्रिय-सुख से सम्बद्ध है। परिवार तथा समाज का उत्कर्ष तथा एक-दूसरे के प्रति आकर्षण काम द्वारा ही सम्भव है। काम के वशीभूत होकर व्यक्ति एक-दूसरे से प्रेम और सम्भोग करता है तथा अपने प्रियजनों के प्रति आकर्षित होता है। वह पत्नी और सन्तान की कामना करता है। वस्तुतः 'काम' में कामना और वासना दोनों शामिल है। दोनों ही मनुष्य की प्रवृत्तियों को उद्वेलित करती है। कामना और वासना की ये दोनों प्रवृत्तियाँ मनुष्य की स्वाभाविक और सहज स्थितियाँ है, जिनमें क्रमशः स्नेह, प्रेम, वात्सल्य, अनुराग, सौन्दर्य-प्रियता और आकर्षण है तथा इन्द्रिय -ुख और यौन सम्बन्धी इच्छाओं की तृप्ति है। परिवार और वंश की निरन्तरता तथा पितृ-ऋण से मुक्ति 'काम' के माध्यम से ही सम्भव है। किन्तु 'काम' का अतिरेक भी महान् दुर्गुण है। काम के वशीभूत होकर धर्म नहीं छोड़ना चाहिए। अतः काम धार्मिक नियमों, संयमों के अनुरूप होना चाहिए। महाभारत में कहा गया है कि धर्म सदा ही अर्थ का प्राप्ति का कारण है और काम, अर्थ का फल है। कौटिल्य ने तो काम को अन्तिम श्रेणी में रखा है तथा बिना धर्म और अर्थ को बाधा पहुँचाये इसका पालन करने का निर्देश दिया है। मनु ने काम को तमोगुण लक्षण वाला माना है। काम को मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य मानकर, धर्म और अर्थ की प्राप्ति के बाद ही इसकी ओर दृष्टिपात करना चाहिए। फिर भी काम को धर्म का सार माना गया है। व्यक्ति की समस्त अन्तर्वृत्तियाँ 'काम' से संचालित होती रही है। काम के मुख्य तीन आधार माने गये हैं—जैविकीय, सामाजिक और धार्मिक। व्यक्ति अपनी इच्छाओं की पूर्ति जैविकीय आधार पर करता है। इच्छाओं की तृप्ति न होने पर मनुष्य में तनाव, आक्रोश और क्रोध का बीजारोपण होता है तथा निराशा की अभिव्यक्ति होती है, जिससे मनुष्य का विकास अवरुद्ध हो जाता है। अतः इच्छाओं की संतुष्टि से व्यक्ति का तनाव और क्रोध कम हो जाता है। काम का सामाजिक आधार भी महत्त्वपूर्ण है। काम के माध्यम से मनुष्य अपनी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। विवाह के माध्यम से पति-पत्नी के सम्बन्ध तथा प्रजनन के माध्यम से पारिवारिक और सामाजिक निरन्तरता, काम के सामाजिक आधार है। प्रेम, स्नेह, अनुराग और सौन्दर्य-प्रियता से मनुष्य के मन और मस्तिष्क में कोमल भावनाएँ उद्दीप्त होता है, जिससे उसका व्यक्तित्व निखरता है तथा वह अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति उन्मुख होता है। काम का धार्मिक आधार व्यक्ति को उसकी इन्द्रिय सन्तुष्टि और अदम्य इच्छाओं से विरत करता है तथा वह आत्मिक उत्थान की ओर अग्रसर होकर धार्मिक होता है। व्यक्ति का प्रेम, स्नेह अनुराग और आकर्षण ऐसे उच्च स्तर तक पहुँच जाता है, जहाँ वह ईश्वर के प्रति आकर्षित

होता है, जो मोक्ष का मार्ग है। जब विषय-भोग के प्रति उसकी तृष्णा समाप्त हो जाती है तब वह ईश्वर के प्रति अनुरक्त होने लग जाता है।

मनुष्य जीवन का उत्थान पुरुषार्थों के साथ तो होता ही है, साथ ही काम के अनुराग से ही होता है। यौन सम्बन्धी सुख के अतिरिक्त सन्तानोत्पत्ति भी व्यक्ति का मुख्य उद्देश्य रहा है। यह सही है कि हिन्दू विचारकों ने काम को अन्य पुरुषार्थों के क्रम में तीसरा स्थान दिया है, किन्तु यह प्रमाणित है कि मनुष्य के जीवन में काम का उल्लेखनीय स्थान रहा है। गृहस्थ जीवन की सार्थकता काम के माध्यम से सन्तान उत्पन्न करके मानी गई है, जिससे अश्रय स्वर्ग और ऐहिक सुख प्राप्त होता है। कौटिल्य के अनुसार धर्म और काम स्वरूप त्रिवर्ग का समान भाव से सेवन करना चाहिए, क्योंकि धर्म, अर्थ और काम इन तीनों में यदि एक व्यसन के रूप में अत्यधिक सेवन हो जाता है तो उनमें से दो को पीड़ा पहुँचती है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति में यौनपरक इच्छाएँ न्यूनाधिक रूप में बराबार मिलती है, किन्तु ऐसी इच्छाओं पर नियन्त्रण और नियमन अपेक्षित है। मनुष्य अपनी कामजनित इच्छाओं के अनुसार सृजनात्मक कार्य भी प्रारम्भ करता है, जिसके अन्तर्गत सौन्दर्य-बोध, आकर्षण और अभिव्यक्तिकरण है। अपनी सृजनात्मक प्रवृत्तियों और विवेकशील अभिव्यक्तियों से ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है तथा जीवन को विकासशील बनाता है।

काम को मात्र यौन-सुख मानने पर इसकी कटु आलोचना हुई है। वस्तुतः काम सृष्टि का मूल है और कामना जीवन का आधार है, क्योंकि कामनारहित जीवन, जीवन नहीं होता। कामना से ही सभी प्रकार के प्रयत्न प्रारम्भ होते है। अतः कामना का मूल सूक्ष्म शरीर में कामरूप से विराजमान है। काम से ही मन में त्रिविध कामनाएँ उत्पन्न होती है। हम अपने संकल्प-विकल्पों द्वारा जो करते हैं, उसकी उत्पत्ति का कारण कामनाएँ ही है और उनका फल या परिणाम भी कामनाओं की पूर्ति-रूप ही होता है। अतः हमारी कामनाएँ या 'काम' रूप पुरुषार्थ ही सभी क्रियाओं का मूल है। महाभारत में काम ही महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि जिसके मन में 'काम' (कामना) नहीं है, उसे न तो धन कमाने की इच्छा होती है और न धर्माचरण की। कामनाहीन पुरुष तो काम या भोग भी नहीं चाहता, इसलिए त्रिवर्ग में काम ही सबसे बढ़कर है। काम के विविध रूप है तथा सोर कार्य कामना से ही व्याप्त है, क्योंकि कामनाहीन प्राणी न तो कभी था, न है और न कभी होगा। प्राचीन ऋषिगण किसी न किसी कामना से संयुक्त होकर तपस्या करते थे। कामना से ही लोग वेदों का स्वाध्याय करते हुए उसमें पारंगत विद्वान् हो जाते थे। कामना से ही श्राद्धकर्म, यज्ञकर्म, दान और प्रतिग्रह में लोगों की प्रवृत्ति होती है। व्यापारी, कृषक, शिल्पी तथा कर्मकार भी किसी न किसी कामना से ही अपने-अपने कर्मों से प्रवृत होते है। बिना कामना के ब्राह्मण भी अच्छे अन्न का भोजन नहीं कते और न ही कोई बिना कामना के ब्राह्मणों को दान देता है। मनु ने न तो कामात्मता को ही प्रशस्त माना है और न निरी अकामता को। यदि केवल अकामता को ही प्रश्रयं दिया जाता है तो सत् कार्यों के मूल में निहित काम का भी परित्याग करना पड़ता है। मनु के अनुसार वही काम श्रेयस्कर है जो मानव के विकास में सहायक वन सके। कामना मोक्ष की भी हो सकती है और उन साधनों की भी जो साधक को मोक्ष तक पहुँचाते है। कामात्यता उस समय परित्याज्य समझी जाती है जब वह मानव के उत्थान में बाधक तथा उसके पतन का कारण बनती है। काम-लिप्तता से कामवासना का जन्म होता है और काम-

तृप्ति में व्यवधान उत्पन्न होने से क्रोध और मोह की उत्पत्ति होती है। मोह से स्मृतिभ्रम, स्मृतिभ्रम से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से मनुष्य का सर्वनाश होता है। अतः काम को धर्म या सदाचरण अथवा आध्यात्मिक रूप में रखा जाना चाहिये।

यद्यपि काम यौन-प्रधान सुख का निर्माण करता है, किन्तु धर्म के नियमों के आधार पर उसका सांस्कृतिक रूप बन जाता है। गृहस्थ जीवन की आनन्दानुभूति तथा परिवार के सदस्यों का उदय, पोषण और विकास काम के माध्यम से ही सम्भव है। काम की अतृप्तावस्था में व्यक्ति के मन और मस्तिष्क में अस्वाभिकता आ जाती है तथा उसका व्यवहार अनजाने ही रुखा और कठोर हो जाता है, जिससे उसके मन और मस्तिष्क का विकास अवरुद्ध हो जाता है। मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण तथा उसकी मनःस्थितियों का आकलन काम के विवेकशील धरातल पर होता है। उसके सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का विकास भी इसी से सम्भव माना गया है। अतः काम का अनुसरण करते समय उसके फल-प्रतिफल और गुण-अवगुण का भी ध्यान रखना आवश्यक है। उसी काम को प्रशंसनीय माना जाता है जो धर्म पर अवलम्बित होता है। जो व्यक्ति बिना धर्म की सहायता लिए काम का अनुसरण करता है, वह अपनी बुद्धि को समाप्त कर देता है और अपने को हास्यास्पद बना लेता है। काम में अत्यधिक अनुरक्त रहने वाले व्यक्ति की स्थिति बड़ी दयनीय होती है। ऐसा कामी व्यक्ति न तो परिवार के योग्य होता है और न समाज के। वह धर्म और अर्थ का उपार्जन करने में भी असमर्थ होता है। बुद्धिमान और विवेकशील व्यक्ति काम का अनुगमन सदैव धार्मिक परिपेक्ष्य में करता है। अतः पुरुषार्थ के लिए बुद्धि और विवेक वांछनीय है। जिसकी इन्द्रियाँ वश में होती है, उसी की बुद्धि स्थिर होती है। बुद्धि के स्थिर रहने पर ही मनुष्य सत्कर्म करता है। भ्रमित और अस्थिर बुद्धि व्यक्ति को पुरुषार्थ प्राप्ति में बाधा पड़ती है। इसीलिए भारतीय चिन्तकों ने धर्मानुसार काम की अपेक्षा की है। काम की अतिवादिता और मनुष्य की कामुकता को अवरुद्ध करने के लिए उस पर धर्म का अंकुश लगाया गया है ताकि मनुष्य अपने जीवन में नैतिकता, सदाचारिता और शुद्धता का निर्माण कर सके।

(4) मोक्ष

चतुर्वग का साध्य और मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' है। मोक्ष आध्यात्मिक जीवन का अन्तिम और उच्चतम आदर्श माना गया है। अपने जीवन के समस्त कार्य धर्मानुसार एवं सात्विकतापूर्वक सम्पन्न करने के वाद मनुष्य वृद्धावस्था में इस चरम उद्देश्य—मोक्ष प्राप्ति में संलग्न होता है। मनुष्य का धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर होकर तभी प्रकाशवान होता है, जब उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है। जीवन को पूर्णतः धार्मिक और आध्यात्मिक बना पाना अत्यन्त कष्टप्रद और दुर्गम है। उसके लिए मानवीय प्रवृत्तियों का एकनिष्ठ होना आवश्यक है। अनेक मानवीय प्रवृत्तियाँ मनुष्य के व्यक्तित्व को आवृत किये रहती है तथा उस पर अपना भिन्न-भिन्न प्रभाव बनाये रखती है। इन प्रवृत्तियों से छुटकारा मिलने पर ही मनुष्य को निवृत्ति का मार्ग मिल पाता है। मनुष्य में जब सहजता, स्वाभाविकता, आत्म-चिन्तन, आध्यात्मिकता और बौद्धिकता का उदय होता है, तब ये भावनाएँ मनुष्य को मानवीय सुखों से अलग करके आध्यात्मिक सुख की ओर उत्प्रेरित करती है तो दूसरी ओर भौतिक अभिव्यक्तियाँ और आकांक्षाएँ उनका प्रतिरोध करती है। प्रवृत्तियों का यह संघर्ष, वर्षों तक व्यक्ति के मन में चलता रहता है। जब उसमें ज्ञान, बौद्धिकता और

विवेकशीलता का उदय होता है, तब वह प्रवृत्तियों से अलग होने की चेष्ठा करता है। उसका यह प्रयास ही उसे निवृत्ति की ओर अग्रसर करता है तथा व्यक्ति धीरे-धीरे संयमित और नियमित वृत्तियों के सहारे निवृत्ति मार्ग पर चलकर आध्यात्मिक जीवन को अपनाता है। आध्यात्मिकता और सात्विकता के सहारे वह मोक्ष की ओर प्रवृत्त होता है। वह लौकिक सुखों को त्याग पर पारलौकिक सुख की ओर अग्रसर होता है। धार्मिक और आध्यात्मिकता के आधार पर वह परमब्रह्म की प्राप्ति की ओर बढ़ता है। जीव परम ब्रह्म में लीन होकर तथा आवागमन के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य ही मोक्ष तथा परम आनन्द की चरमानुभूति है। आत्मा सीमित है तथा परमात्मा असीम। मोक्ष असीम और असीम की एकात्मकता स्थापित करता है। इसकी प्राप्ति मनुष्य का परम उद्देश्य होता है। आत्मा का यही सच्चा ज्ञान मोक्ष है। अतः मोक्ष परम ज्ञान और आनन्द की वह अवस्था है जिसमें जीव (आत्मा) अपने परम ब्रह्म (परमात्मा) को प्राप्त कर लेता है तथा संसार के आवागमन के चक्कर से मुक्त हो जाता है।

साधारणतः 'मोक्ष' का अर्थ जीवन से मुक्ति प्राप्त करने से लिया जाता है किन्तु वास्तव में मोक्ष का अर्थ है आत्मा की मुक्ति। मनुष्य का अन्तिम उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना होता है। मोक्ष की प्राप्ति उसे उसी स्थिति में हो सकती है, जब उसमें सात्विकता का विकास होता है। सत्व, रज और तम प्रवृत्तियाँ मनुष्य को प्रभावित करती रहती है। जब मनुष्य की बुद्धि सात्विक वृत्ति से आविल होती है तब वह विभिन्न विरोधी प्रवृत्तियों से छुटकारा पाकर सात्विकता के मार्ग का अनुसरण करती है। यही सात्विक मार्ग मनुष्य को मोक्ष की ओर आकर्षित करता है। मनुष्य की बुद्धि और मन प्रकृति से संचालित होते हैं। यह प्रकृति ही माया है, जो मनुष्य को आवृत्त करती है। जब मनुष्य को सात्विक ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब उस पर से माया का आवरण हट जाता है और उसकी 'कैवल्य' की स्थिति हो जाती है। यही प्रकृति मनुष्य को मुक्ति प्रदान करती है। यही प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध है। मनुष्य जब प्रकृति की शोभा और सुन्दरता से आकर्षित होकर मोहबद्ध हो जाता है तब वह प्रकृति की स्वाभाविकता को नहीं पहचान पाता। इस अज्ञानता के कारण वह जगत् के आवागमन के चक्कर में ग्रस्त रहता है। जो व्यक्ति धार्मिक और आध्यात्मिक होकर ज्ञान चक्षु से इस अन्तर को जानकर व्यवहार करता है, वह तादात्म्य स्थापित कर कैवल्य प्राप्त करता है। जो पुरुष अपने ज्ञान-नेत्रों से मूल तत्त्व को जान लेता है वह परमब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। ब्रह्म अथवा परमात्मा से आत्मा का मिलन ही 'मोक्ष' है।

ज्ञान का सही और सार्थक भान होने पर ही ब्रह्म (ईश्वर) की प्राप्ति हो सकती है। निराकार ब्रह्मज्ञान ही आध्यात्मिकता की स्थिति है, जो उसके नियम-संयम का अनुपालन करके परम ब्रह्म की ओर ले जाती है। आत्माज्ञान की पूर्णता ही ब्रह्म की निकटता है, जो मोक्ष भी है। अज्ञानता और भ्रामकता मनुष्य के लिए ब्रह्म की प्राप्ति में अवरोध बनती है। अतः जब अज्ञानता के बादल छंट जाते है तब सही अर्थों में ज्ञान की प्राप्ति होती है और यही मोक्ष भी कहा जाता है। अपनी दुष्प्रवृत्तियों और अज्ञानताओं से रहित होने पर ही ज्ञान की सच्ची अनुभूति होती है और तभी परमब्रह्म का साक्षात्कार होता है। इससे साथ ही अपनी इन्द्रियों, मन और बुद्धि पर नियन्त्रण रखने वाले व्यक्ति को मोक्ष अपने आप ही मिल जाता है। इस प्रकार ब्रह्म को जानने वाला स्वयं ब्रह्म हो जाता है। जीव और ब्रह्म का ज्ञान, दोनों के

बीच का अन्तर समाप्त कर देता है। यह एकाकार की स्थिति परम आनन्दानुभूति होती है और मोक्ष की कल्पना साकार होती है।

मोक्ष-प्राप्ति का आधार—मोक्ष-प्राप्ति के तीन मुख्य आधार माने गये हैं—कर्म, ज्ञान और भक्ति। मनुष्य जब कर्म मार्ग को अपनाकर मोक्ष के लिए प्रयत्नशील होता है, तब वह कर्म-प्रधान मार्ग के माध्यम से मोक्ष प्राप्त करना चाहता है। शास्त्रकारों का मानना है कि मनुष्य अपने सामाजिक और धार्मिक कर्मों का निष्ठापूर्वक सम्पादन करने के पश्चात् ही मोक्ष की ओर प्रवृत्त होता है। वह अपने विभिन्न कर्त्तव्यों को, बिना किसी फल की आकांक्षा किए करता है। अतः उसमें त्याग और अनासक्ति की भावना रहती है। इसी कर्म मार्ग से उसे परम गति (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। आश्रम के अन्तर्गत अपने सभी कर्म यथोचित रूप से सम्पादित करने के बाद ही व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति में लगता है। मनु के अनुसार तीनों ऋणों (देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण) को पूरा करके ही व्यक्ति को मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए। उन ऋणों से उऋण हुए बिना मोक्ष का सेवन करने वाला व्यक्ति नरकगामी होता है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य को अपने सभी ऋणों से उऋण होना तथा अपने सभी कर्मों को धर्मानुसार पूरी तरह सम्पन्न करना आवश्यक था। अपने सभी कर्म पूरे किए बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक था कि वह वेदों का ज्ञान प्राप्त करे, धर्मानुसार पुत्रों को उत्पन्न करे, यथाशक्ति यज्ञों का अनुष्ठान करे और तत्पश्चात् मोक्ष की इच्छा करे। पुराणों के अनुसार भी सभी आश्रमों के कार्य सम्पादित करने के बाद ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। वायु-पुराण में कहा गया है कि अन्तिम आश्रम का अनुवर्ती व्यक्ति शुभ और अशुभ कर्मों को त्याग कर जब अपना स्थूल शरीर छोड़ता है तब वह जन्म-मृत्यु और पुनर्जन्म से पूर्णतः मुक्त हो जाता है। बुद्धिजीवी और विचारशील व्यक्ति ज्ञान और विचार के सन्दर्भ में ईश्वर के अव्यक्त और निराकार भाव के प्रति अपने को अनुरक्त करके ब्रह्मशक्ति से एकाकार होने का प्रयास करता है। ज्ञानी और विद्वान् व्यक्तियों का यही आधार ज्ञान-मार्ग है। कर्म और ज्ञान के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्त करने के लिए भक्ति भी की जाती थी। गीता में इस विषय पर विस्तृत चर्चा की गई है तथा भक्ति को कर्म और ज्ञान से श्रेष्ठ बताया गया है। भक्ति-मार्ग के अन्तर्गत मनुष्य ब्रह्म के सगुण रूप की परिकल्पना करके उपासना करता है और अपने को पूर्ण रूप से ब्रह्म की सेवा में समर्पित कर देता है। ब्रह्म (ईश्वर) तक पहुँचने के लिए अपार भक्ति की जाती है। मनुष्य अपनी समस्त इच्छाओं को त्याग कर, फल की आशा किए बिना अपने को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देता है। ऐसी स्थिति में वह सुख-दुख, ऊँच-नीच, अच्छा-बुरा और जन्म-मृत्यु सब-कुछ भूल जाता है। यही सच्ची और सार्थक भक्ति है।

मोक्ष-प्राप्ति के लिए कर्त्तव्य—मोक्ष के आकांक्षी व्यक्ति के लिए अपना मन शुद्ध, आचरण विशुद्ध और चरित्र सात्विक रखना आवश्यक था। वह दिन में एक बार भिक्षा मांगता था तथा भिक्षा न मिलने पर न तो वह दुखी होता था और मिलने पर न हर्षित होता था। जितनी भिक्षा से वह अपना जीवन-निर्वाह कर लेता था, उतनी ही माँगता था। वह आसक्ति से दूर रहता था। इन्द्रिय-निरोध भी उसके लिए आवश्यक था। इन्द्रियों को वश में किये बिना न तो व्यक्ति सही ज्ञान प्राप्त कर सकता है और न एकाग्रता हो सकती है। तपस्या एवं आध्यात्मिकता के लिए मन की एकाग्रता और इन्द्रिय-निरोध आवश्यक है। मनु के अनुसार

भी इन्द्रिय-निरोधी, राग-द्वैष का त्यागी और अहिंसा परायण व्यक्ति ही मुक्ति के योग्य होता है। नियंत्रणहीन इन्द्रियाँ मनुष्य के मन और मस्तिष्क को भ्रमित कर देती है, जिससे वह मोह-माया व सांसारिकता में फँसा रहता है। फलस्वरूप वह राग और द्वैष में लिप्त हो जाता है। राग और द्वैष से प्रभावित व्यक्ति दूसरों को कष्ट पहुँचाता है तथा हिंसा का भागी बनता है। अतः मोक्ष के आकांक्षी पुरुष के लिए इन्द्रिय-निरोध, राग-द्वैष पर नियंत्रण तथा अहिंसा का अनुसरण करने वाला होना चाहिए। पुराणों में भी मोक्ष के आकांक्षी व्यक्ति के लिए चारित्रिक और आचरणगत नियम का निर्देश किया गया है। विष्णु-पुराण के अनुसार ऐसे व्यक्ति को शत्रु और मित्र के प्रति सम-भाव रखते हुए किसी जीव की हिंसा नही करनी चाहिये तथा काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहं का त्याग करना चाहिये। वायु-पुराण के अनुसार मोक्ष के इच्छुक व्यक्ति के लिए दया, क्षमा, अक्रोध, सत्य आदि गुणों का पालन अनिवार्य है। मत्स्य-पुराण में काम का परित्याग भी अनिवार्य बताया गया है। मनु के अनुसार अहिंसा, विषयों में अनासक्ति, वेद-प्रतिपादित कर्म और कठोर तपस्या से इस लोक में उस पद (ब्रह्म पद) को साध लेता है। इन्द्रिय-निरोध, राग-द्वैष पर नियन्त्रण, अहिंसा का अनुसरण तथा सम-भाव रखने वाला व्यक्ति निश्चित रूप से आत्म-ज्ञान प्राप्त करता है और अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफल होता है। अन्ततोगत्वा उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

पुरुषार्थ की समीक्षा—किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का उत्कर्ष पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) से ही सम्भव रहा है। सांसारिक और आध्यात्मिक नियमों का अनुसरण करके मनुष्य अपने जीवन को ऊँचा और आदर्शमय बनाता है। संयम, नियम और [redacted]रों पुरुषार्थ एक-दूसरे से सम्बन्धित है। पुरुषार्थ के अन्तर्गत व्यक्ति का सर्वांगीण और [redacted]मुखी विकास होता है। भारतीय चिन्तकों का यह जीवन-दर्शन विश्व का एकमात्र और [redacted]नुपम जीवन-दर्शन है जिसमें जीवन के प्रति मोह है तो योग भी है, बन्धन है तो मुक्ति [redacted], कामना है तो साधन भी है, आसक्ति है तो त्याग भी है। पाश्चात्य जीवन-दर्शन में [redacted] भौतिकता का प्रभाव दिखाई देता है, किन्तु भारतीय जीवन-दर्शन में भौतिकता और [redacted]सारिकता के अतिरिक्त आध्या[redacted] करना रहा है। नियम [redacted] करता है। कर्त्तव्यों का सुगम[redacted] सम्पादन और ईश्वर के प्रति सच्ची भक्ति-भावना [redacted]र्थ के माध्यम से ही सम्भ[redacted] है। इसलिए पुरुषार्थ में काम और अर्थ साधन-स्वरूप है [redacted] अन्य साध्य-रूप है। चारों [redacted] में धर्म को सर्वोच्च स्थान दिया गया है तथा यह सिद्ध किया गया है कि बिना धर्म [redacted] कर्त्तव्य का पालन [redacted] विचारकों ने मनुष्य को अपने समस्त कर्त्तव्य धर्मानुसार सम्पन्न करने का निर्देश दिया है। [redacted]श्चय ही पुरुषार्थ की नियोजना व्यक्ति के जीवन को व्यवस्थित और संतुलित आधार पर [redacted]कसित करने के लिए की गई है। प्राचीनकाल में भी ऐसे लोग थे जो भौतिकवादी थे तथा [redacted]त्र अर्थ और काम में ही व्यस्त रहते थे। अतः अर्थ और काम के प्रति मनुष्य की होने [redacted]ली स्वाभाविक उत्कंठा पर अंकुश लगाने के लिए धर्म की व्यवस्था की गई। आज भी [redacted]दि नियम, संयम और शास्त्रानुसार जीवन संचालित न किया जाय तो समाज में अर्थ औ[redacted] काम के लिए भयंकर संघर्ष छिड़ जायेगा। प्राचीनकाल में ऐसी प्रवृत्तियों पर 'धर्म' का [redacted]श था जो उसे निवृत्ति

की ओर प्रेरित करता था। मनुष्य के जीवन-दर्शन की यह परम्परा आधुनिक युग में भी अनेक बाधाओं के बावजूद किसी न किसी रूप में विद्यमान है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग पाँच पृष्ठों में दीजिए—

1. "पुरुषार्थ में धर्म का स्थान सर्वोपरि है।" इस कथन की विवेचना कीजिए।
2. लोक-व्यवहार में 'अर्थ' पुरुषार्थ का महत्त्व बताइये।
3. परिवार तथा समाज के उत्कर्ष में 'काम' की महत्ता प्रतिपादित कीजिए।
4. "मोक्ष आध्यात्मिक जीवन का उच्चतम आदर्श माना गया है।" विवेचना कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए—

1. पुरुषार्थ का अर्थ और महत्त्व समझाइये।
2. कुल-धर्म, युग-धर्म और राज-धर्म से आप क्या समझते हैं?
3. 'काम' के तीन आधार कौन-कौन से माने गये हैं ? उनका तात्पर्य क्या है ?
4. "काम को मात्र यौन-सुख नहीं कहा जाता।" इस कथन के सन्दर्भ में काम का सांस्कृतिक रूप बताइये।
5. मोक्ष-प्राप्ति के आधार क्या है?
6. हिन्दू धर्मशास्त्रों में मोक्ष प्राप्ति के लिए कौनसे कर्त्तव्य आवश्यक बताये गये हैं?
7. पुरुषार्थ की समीक्षा कीजिए।

◆

अध्याय-10

प्राचीन भारतीय शिक्षा के मुख्य केन्द्र

मनुष्य के जीवन में विद्या और ज्ञान का अत्यन्त विशिष्ट स्थान है। विद्या के विना मनुष्य का व्यक्तित्व संकुचित और जीवन बोझिल होता है। विद्या और ज्ञान से ही व्यक्ति का जीवन आलोकित होता है। इसीलिए ज्ञान को व्यक्ति का तीसरा नेत्र कहा गया है। विद्यार्जन से व्यक्ति आत्मनिर्भरता को प्राप्त करता ही है, साथ ही परिवार और समाज के निर्माण में भी योग प्रदान करता है। मनुष्य की धार्मिक वृत्तियों का उत्थान, उसके चरित्र का उत्थान, उसके व्यक्तित्व का उत्थान, उसके सामाजिक उत्तरदायित्वों का निष्पादन और उसके सांस्कृतिक जीवन का उन्नयन शिक्षा के प्रधान उद्देश्य हैं। अत: प्राचीनकाल से ही भारत में शिक्षा का अत्यधिक महत्त्व रहा है। प्राचीनकाल में यह माना जाता था कि बालक का विकास केवल माता-पिता के संरक्षण में रहने से ही नहीं होता, बल्कि उसे आचार्य के संरक्षण में रहकर विद्यार्जन करना भी आवश्यक है। अत: भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार बालक और बालिकाओं को उपनयन संस्कार के पश्चात् आचार्य-कुल में ही निवास करना होता था और वहाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते हुए शिक्षा प्राप्त करनी होती थी। आचार्यकुल में रहते हुए ब्रह्मचारी तप और साधना का जीवन बिताते थे और विद्याध्ययन में तत्पर रहते थे। उत्तरवैदिक काल में आचार्य कुलों में विद्यार्थी जिन विषयों का अध्ययन करता था, उनका उल्लेख हमें छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है। वे विषय थे—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, व्याकरण, पितृविद्या, राशिविद्या (गणित), देवविद्या, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या (ज्योतिष), सर्पविद्या और देवजन-विद्या। आचार्यकुल में शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यार्थियों से कोई शुल्क नहीं लिया जाता था। विद्यार्थी को भिक्षा में जो भोजन, वस्त्र आदि प्राप्त होते थे, उनसे विद्यार्थियों तथा गुरुओं का जीवन-निर्वाह होता था।

प्राचीनकाल में जीवन की आवश्यकताएँ बहुत अधिक नहीं होती थी। आचार्य-कुलों की स्थिति प्राय: आरण्यक आश्रमों में होती थी, जहाँ ईंधन, कन्द, मूल, फल, बाल्कल आदि सुलभ होते थे। ब्रह्मचारी इनका भी चयन करते थे। साथ ही आचार्य-कुलों में गायें आदि पशु भी बड़ी अच्छी संख्या में होते थे, जिनका पालन-पोषण भी ब्रह्मचारियों द्वारा किया जाता था। आचार्यकुल की दूध-घी की आवश्यकता इन पशुओं द्वारा पूरी हो जाया करती थी। अत: प्राचीन काल में पशुधन का बड़ा महत्त्व था। अत: यह स्वाभाविक ही था कि अरण्यों में स्थित आचार्यकुलों की अपनी गौशालाएँ हो और उनमें विद्यमान पशुओं के रक्षण तथा पालन का उत्तरदायित्व ब्रह्मचारियों का माना जाता था। इन आचार्यकुलों में जो शिक्षक ब्रह्मचारियों को विद्यादान करते थे, उनके अनेक वर्ग होते थे। इन शिक्षकों में सर्वोच्च स्थिति आचार्य की

होती थी। मनुस्मृति में आचार्य का लक्षण इस प्रकार बताया गया है, "जो द्विज शिष्य का उपनयन संस्कार कराके उसे वेद पढ़ाये और साथ ही कल्प वेदांग की उनके रहस्यों सहित शिक्षा दे, उसे आचार्य कहते हैं।" आचार्यकुल आचार्य के ही अधीन होता था, और वही वहाँ वेद तथा कल्प का अध्यापन करता था। आचार्य के अधीन जो शिक्षक आचार्यकुलों में अध्यापन कार्य करते थे, वे 'उपाध्याय' कहलाते थे। मनु के अनुसार जो द्विज वेद के 'एक देश' (एक भाग) तथा वेदांगों का अध्यापन करे, और उसके लिए वृत्ति (वेतन व पारिश्रमिक) भी ग्रहण करे, वह 'उपाध्याय' कहलाता है। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि आचार्यकुलों में कतिपय शिक्षकों को वृत्ति पर भी नियुक्त किया जाता था। सम्भवतः यह वृत्ति आचार्य द्वारा ही दी जाती थी। इनके अतिरिक्त आचार्यकुलों में ऋत्विक भी होते थे, जिनका कार्य विविध यज्ञों का अनुष्ठान कराना माना जाता था। उस युग में शिक्षक न केवल सदाचारी, त्यागी तथा विद्वान् होते थे, बल्कि अभिमान उनको छू तक नहीं जाता था। आचार्यकुलों में गुरु और शिष्य का सम्बन्ध बहुत महत्त्व का माना जाता था। शिष्य के लिए आचार्य ही पिता होता था और सावित्री (विद्या) उसकी माता होती थी। आचार्यकुल में जब विद्यार्थी शिक्षा को पूर्ण कर लेते थे तब उनका दीक्षान्त (समावर्तन) संस्कार होता था। समावर्तन के अवसर पर जो उपदेश आचार्य द्वारा शिष्यों को दिया जाता था, उनका विस्तृत विवेचन तैत्तिरीय उपनिषद् में मिलता है। अपने सम्पूर्ण शिक्षाकाल में विद्यार्थी आचार्य को कोई शुल्क तो नहीं देते थे, लेकिन शिक्षा की समाप्ति पर वे उन्हें अपनी सामर्थ्य के अनुसार दक्षिणा अवश्य देते थे, जो आचार्यकुल की आमदनी का महत्त्वपूर्ण साधन होती थी। समावर्तन संस्कार के बाद ही विद्याथी अपने घरों को वापस लौटते थे और गृहस्थाश्रम में प्रवेश के अधिकारी माने जाते थे।

महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं और उपदेशों से प्रभावित होकर बहुत से लोगों ने भिक्षुव्रत ग्रहण कर बौद्ध संघ में सम्मिलित होना प्रारम्भ कर दिया था। इससे प्राचीनकाल की आश्रम मर्यादा पर भारी आघात लगा, क्योंकि स्त्री और पुरुष किशोर आयु में ही सांसारिक जीवन का परित्याग कर भिक्षुओं के काषाय वस्त्र धारण कर विहारों में निवास करने लग गये थे। उस युग में बौद्ध विहारों का धनी गृहस्थ और राजा उदारतापूर्वक दान देते थे, जिसके परिणामस्वरूप बहुत-से वैभवपूर्ण विहार बौद्ध युग में देश के विभिन्न नगरों में स्थापित हो गये थे। ये विहार शिक्षा के भी महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे, जिनमें आचार्य और उपाध्याय अध्यापन का कार्य किया करते थे। बौद्ध युग में आचार्यकुलों या गुरुकुलों का स्थान अब विहारों ने ले लिया था। प्राचीनकाल में आचार्यकुल का स्वरूप एक परिवार के समान होता था, जिसमें गुरु और शिष्यों के बीच पिता-पुत्र का सम्बन्ध माना जाता था। किन्तु बौद्ध काल के विहारों में यह सम्भव नहीं था, क्योंकि उनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले भिक्षुओं या विद्यार्थियों की संख्या सैकड़ों-हजारों में हुआ करती थी। भिक्षुओं को अपने भोजन आदि के लिए भैक्षचर्या की भी आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि बौद्ध विहार प्रायः अत्यन्त समृद्ध तथा धन-धान्य से पूर्ण हुआ करते थे। इन विहारों में विद्यार्थी सामुदायिक जीवन व्यतीत करते थे और एक बड़े समुदाय में रहते हुए शिक्षा प्राप्त किया करते थे। उनके अध्यापन के लिए बहुत-से उपाध्याय और शिक्षक नियत होते थे और उन्हें उन नियमों का पालन करना पड़ता था, जिनका प्रतिपादन विनय पिटक में किया गया है। बौद्ध काल में केवल बौद्ध विहार ही शिक्षा के केन्द्र नहीं थे। उस समय तक्षशिला और काशी जैसे नगरों में बहुत-से ऐसे शिक्षा, केन्द्र या विद्यापीठ भी

विकसित हो गये थे, जिनमें विश्वविख्यात आचार्य कतिपय विशिष्ट विषयों की उच्च शिक्षा दिया करते थे और इन आचार्यों की अनुपम विद्वता तथा कीर्ति से आकृष्ट होकर दूर-दूर के प्रदेशों से विद्यार्थी उनके पास विद्याध्ययन के लिए आया करते थे। जातक कथाओं द्वारा इन शिक्षा-केन्द्रों के विषय में हमें महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती है।

बौद्ध शिक्षा-केन्द्रों का प्रबन्ध—महात्मा बुद्ध के बाद बौद्ध विहार या मठ शिक्षा-केन्द्रों के रूप में विकसित होने लगे। नालन्दा और विक्रमशीला विश्वविद्यालयों तथा श्रावस्ती और वलभी विहारों का उत्कर्ष इसी प्रकार हुआ था। बौद्ध शिक्षण-संस्था की सम्पूर्ण व्यवस्था बौद्ध भिक्षुओं के हाथ में रहती थी, चाहे वह छोटा बौद्ध-संघ हो अथवा बड़ा। विश्वविद्यालयों का प्रबन्ध किसी विशिष्ट विद्वान् के निर्देशन में होता था, जो संघ के सदस्यों के मतों से भिक्षुओं में से चुना जाता था। ऐसा प्रबन्धक अपने ज्ञान और विद्वता में अग्रणी होता था। नालन्दा विश्वविद्यालय, जो पहले बौद्ध-संघ था, कालान्तर में विश्वविख्यात शिक्षण-संस्था के रूप में विख्यात हुआ था। प्रधान आचार्य के प्रबन्ध में सहायता प्रदान करने के लिए कई समितियाँ होती थी, जिनमें दो समितियाँ प्रधान थी—एक शिक्षा समिति और दूसरी प्रबन्ध समिति। शिक्षा समिति के प्रबन्ध के अन्तर्गत विभिन्न पाठ्यक्रमों का निर्धारण और व्यवस्था का नियोजन होता था तथा प्रबन्ध समिति के अन्तर्गत शिक्षा-संस्थाओं की प्रशासनिक व्यवस्था, कार्यकर्ताओं की नियुक्ति तथा भवनों का निर्माण आदि सभी कार्य होते थे। इन शिक्षण संस्थाओं के अनुशासन और नियम हिन्दू शिक्षण-व्यवस्था के अनुसार ही थे। यहाँ प्राचीन भारतीय शिक्षा के मुख्य केन्द्रों का विवेचन करना समीचीन होगा।

नालन्दा विश्वविद्यालय—मगध में नालन्दा महाविहार शिक्षा का बड़ा केन्द्र था। इस विश्वविद्यालय के विषय में चीनी यात्रियों ने विशेष रूप से विस्तार पूर्वक लिखा है। वैसे, नालन्दा की ख्याति महात्मा बुद्ध के समय से थी। 500 श्रेष्ठियों ने मिलकर 10 करोड़ मुद्राओं से नालन्दा क्षेत्र को क्रय करके महात्मा बुद्ध को अर्पित किया था। बुद्ध के प्रमुख शिष्य सारिपुत्र की यह जन्मभूमि थी। तथागत ने यहाँ के आम्र-वन में कई दिन व्यतीत करके अपने शिष्यों को अपने धर्म की शिक्षा दी थी। कालान्तर में सम्राट अशोक ने वहाँ एक विशाल विहार का निर्माण कराया था। सम्भवतः यह स्थान अपने प्रारम्भिक काल में ब्राह्मण शिक्षा का केन्द्र होते हुए भी बौद्ध धर्म और शिक्षा का भी प्रचार केन्द्र था। इसकी ख्याति पांचवीं शताब्दी के मध्य से अधिक बढ़ी, जब बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग ने नालन्दा में जाकर वहाँ के विख्यात ब्राह्मण पंडित सुदुर्गम को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। बाद में समय-समय पर गुप्त राजाओं ने नालन्दा के विकास में सराहनीय योग प्रदान किया था। सर्वप्रथम कुमारगुप्त (414-455 ई.) ने इस बौद्ध संघ को दान दिया तथा वहाँ विद्या और शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए एक महाविद्यालय की स्थापना की। इस समय से नालन्दा की शिक्षा-केन्द्र के रूप में ख्याति बढ़ने लगी। उसके बाद बुद्धगुप्त, तथागतगुप्त, नरसिंहगुप्त बालादित्य आदि अनेक गुप्त राजाओं ने इसे अपना संरक्षण प्रदान कर यहाँ बहुत-सी इमारतें बनवायी और नालन्दा के शिक्षकों और विद्यार्थियों के खर्च के लिए बहुत-सा धन दिया। शीघ्र ही, शिक्षा और ज्ञान के केन्द्र के रूप में नालन्दा की ख्याति दूर-दूर तक पहुँच गई और देश-विदेश के हजारों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिए वहाँ आने लगे। अनेक चीनी विद्वान् उसकी कीर्ति सुनकर उसके प्रति आकृष्ट हुए। उन्होंने अपने देश लौटकर जो अपने यात्रा विवरण लिखे, उन्हीं से

हमें नालन्दा के भवनों, आचार्यों और शिक्षा-पद्धति आदि के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग के विवरण से ज्ञात होता है कि यहाँ अनेकानेक बौद्ध विहारों का निर्माण किया गया था। इन विहारों में कुछ तो काफी बड़े और भव्य थे, जिनके गगन-चुम्बी शिखर अत्यन्त आकर्षक थे। यहाँ का सबसे बड़ा विहार 203 फीट लम्बा और 164 फीट चौड़ा था। इसके कक्ष $9\frac{1}{2}$ फीट से 12 फीट लम्बे थे। यशोवर्मा के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि नालन्दा के विहारों की शिखर श्रेणियाँ गगनस्थ मेघों का चुम्बन करती थी। इनमें अनेक जलाशय थे, जिनमें कमल तैरते रहते थे। यहाँ अनेक विशालकाय भवन थे, जिनमें छोटे-बड़े अनेक कक्ष थे। खुदाई में मिले अवशेषों से उसकी भव्यता प्रमाणित होती है। विश्वविद्यालय भवन में व्याख्यान के लिए 7 विशाल कक्ष और 300 छोटे-बड़े कक्ष थे। विद्यार्थी छात्रावासों में रहते थे तथा प्रत्येक कोने पर कूपों का निर्माण किया गया था। नालन्दा विश्वविद्यालय के संचालन-खर्च हेतु 200 गाँव दान में प्राप्त थे। इन गाँवों की आय से यहाँ के भिक्षु कार्यकर्ताओं और भिक्षु विद्यार्थियों का पोषण होता था। इतना ही नहीं, इन गाँवों के निवासी प्रतिदिन कई मन चावल और दूध यहाँ भेजा करते थे। विद्यार्थियों से किसी प्रकार का शुल्क नहीं लिया जाता था। उनके भोजन और आवास की व्यवस्था विश्वविद्यालय द्वारा निःशुल्क की जाती थी। ह्वेनसांग ने लिखा है कि जब तक वह नालन्दा में रहा, उसे प्रतिदिन महासाली चावलों का एक निश्चित परिमाण, 20 पूग और 120 जम्बीर मिलते रहे। साथ ही प्रतिमास तेल, घी और अन्य खाद्य पदार्थ भी निश्चित मात्रा में दिये जाते थे।

नालन्दा शिक्षण-संस्था में प्रवेश पाने के इच्छुक विद्यार्थियों के लिए बड़े कठोर नियम थे। ऐसे प्रवेश के इच्छुक विद्यार्थियों के लिए पहले एक परीक्षा में उत्तीर्ण होना आवश्यक था। यह परीक्षा 'द्वार पण्डित' लेता था। महाविहार के प्रवेश द्वार को लांघने के लिए इस 'द्वार पण्डित' की परीक्षा में उत्तीर्ण होना अनिवार्य था। यह परीक्षा बहुत को कठिन होती थी। ह्वेनसांग के अनुसार प्रवेश द्वार पर 8-10 विद्यार्थी असफल हो जाया करते थे और केवल एक या दो सफल हो पाते थे। द्वार पण्डित को पराजित कर जो विद्यार्थी नालन्दा के महाविहार में प्रविष्ट होते थे, उन्हें वहाँ बहुत ही कड़ी मेहनत करनी पड़ती थी। ह्वेनसांग के अनुसार महाविहार में प्रविष्ट होकर भी बहुत-से विद्यार्थी वहाँ परास्त हो जाते थे। लेकिन जो वहाँ भी विजयी होकर (परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर) फिर बाहर आते थे, उनके ज्ञान और पाण्डित्य का सर्वत्र आदर होता था। अपने-अपने विषय के यहाँ अनेक विद्वान् थे।

इत्सिंग नाम का एक चीनी यात्री सातवीं सदी में भारत आया था। उसने 671 ई. में चीन से प्रस्थान किया और 673 ई. में वह ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह पर पहुँचा। इत्सिंग का मुख्य उद्देश्य भारत आकर बौद्ध धर्म का उच्च ज्ञान प्राप्त करना और यहा से धर्म की प्रमाणिक पुस्तकों को एकत्र कर चीन ले जाना था। अतः उसका अधिकांश समय नालन्दा में ही व्यतीत हुआ। यहाँ उसने चार सौ के लगभग ग्रन्थों का अध्ययन किया, जिनके श्लोकों की संख्या पांच लाख थी। इन पुस्तकों को वह अपने साथ चीन ले गया। इत्सिंग के समय यहाँ के विद्यार्थियों की संख्या 3,000 थी, किन्तु ह्वेनसांग के समय बढ़कर 10,000 हो गई थी। महाविहार में प्रवेश पाने के लिए व्याकरण, हेतुविद्या (न्याय) और अभिधर्मकोश का ज्ञान आवश्यक था। महाविहार में शिक्षा के लिए प्रवेश पा चुकने पर विद्यार्थी जहाँ बौद्ध धर्म के

विशाल साहित्य का अध्ययन करते थे, वहाँ साथ ही शब्द-विद्या, चिकित्सा-विद्या, सांख्यशास्त्र, तन्त्र, वेद आदि की पढ़ाई की भी व्यवस्था थी। यहाँ के शिक्षकों की संख्या 1,510 थी, जिनमें से 1,010 सूत्र निकायों में दक्ष थे और शेष पाँच सौ अन्य विषयों में। ह्वेनसांग के समय इस विश्वविद्यालय का प्रधान कुलपति शीलभद्र था, जो अनेकों विषयों में पारंगत था। शीलभद्र के पहले धर्मपाल इस विश्वविद्यालय का कुलपति था। ह्वेनसांग भी यहाँ के प्रधान शिक्षकों में था, जिसने अनेकानेक विषयों पर अधिकार प्राप्त किया था। यहाँ विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। सुदूर प्रदेशों और विदेशों से विद्यार्थी यहाँ आकर शिक्षा प्राप्त करते थे। चीन, तिब्बत, कोरिया आदि अनेक देशों के विदेशी शिक्षार्थी यहीं रहकर ज्ञान प्राप्त करते थे तथा अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न विषयों की शिक्षा ग्रहण करते थे। नालन्दा के शिक्षक भी अपने ज्ञान और विद्वता के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध थे। कई शिक्षक तो ऐसे थे कि उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। इन सबका चरित्र सर्वथा उज्ज्वल और निर्दोष था। सदाचार के सभी नियमों का वे पूर्ण तत्परता और सच्चाई से पालन करते थे। भारत के सब प्रदेशों में उनका आदर था और सर्वत्र उनका अनुसरण किया जाता था। इस महाविहार के नियम बड़े कठोर थे और यहाँ के निवासियों के लिए यह अनिवार्य था कि वे उनका पालन करें।

नालन्दा महाविहार में विद्यार्थियों के अध्ययन के लिए यहाँ धर्मयज्ञ नामक विशाल पुस्तकालय था। उसकी तीन विशाल इमारतें थी, जिनके नाम थे—रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरंजक। इन तीनों भवनों से मिलकर भव्य पुस्तकालय का निर्माण हुआ था। रत्नोंदधि-भवन नौ मंजिल ऊँचा था और उसमें धर्मग्रन्थों का संग्रह किया गया था। अन्य दोनों इमारतें भी इसी प्रकार विशाल व विस्तीर्ण थी, जिनमें जिज्ञासु और अध्ययनशील विद्यार्थियों की भीड़ रहा करती थी। यहाँ का एक अध्यापक नौ या दस विद्यार्थियों को पढ़ाता था। इस विश्वविद्यालय के अध्यापन-कक्ष बहुधा बड़े-बड़े थे। इनमें 7 विशाल व्याख्यान-भवन थे और 300 छोटे व्याख्यान कक्ष थे। सभी विषयों के मिलाकर नित्य लगभग 100 व्याख्यानों की आयोजना की जाती थी। यहाँ विशेष रूप से बौद्ध धर्म की महायान शाखा का अध्ययन किया और कराया जाता था यहाँ के अनेक विहार भी महायानी शाखा के थे। यहाँ पालि भाषा की शिक्षा अनिवार्य रूप से प्रदान की जाती थी। नागार्जुन, वसुबंधु, असंग, धर्मकीर्ति आदि ऐसे ही महायानी विद्वान् थे जिन्होंने इसी शिक्षा-केन्द्र से अपने को उन्नत किया था। ह्वेनसांग ने ऐसे अनेक विद्वान् आचार्यों का उल्लेख किया है, जो अपने अपने विषय के प्रकाण्ड पंडित थे तथा भारत के विभिन्न प्रदेशों से आकर यहाँ अध्ययन-अध्यापन करते थे। धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, आर्यदेव, दिङ्नाग, ज्ञानचन्द्र आदि ऐसे ही प्रतिभावान विद्वान् थे, जिनकी ख्याति और आकर्षण से दूरस्थ विद्यार्थी भी ज्ञानार्जन के निमित्त आते थे और अपने को सुबुद्ध और सुशिक्षित बनाने का प्रयास करते थे। उदाहरणार्थ, ऐसे विद्वानों के नामों का उल्लेख किया जा सकता है जो विभिन्न प्रदेशों के थे। आर्यदेव और दिङ्नाग दक्षिण भारत के थे, धर्मपाल काञ्ची का रहने वाला था, शीलभद्र समतट (बंगाल) का निवासी था तथा गुणमति एवं स्थिरमति वलभी के रहने वाले थे।

ह्वेनसांग और इत्सिंग के अतिरिक्त अन्य अनेक विदेशी विद्वान् नालन्दा में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए आये थे। श्रमण हिएनचिन सातवीं सदी में नालन्दा आया और तीन वर्ष तक यहाँ रहा। उसका भारतीय नाम प्रकाशमणि था। कोरिया का एक भिक्षु आर्यवर्मन बहुत

दिनों तक नालन्दा में रहा और उसकी मृत्यु भी वहीं हुई। चेहांग नाम का एक अन्य चीनी भिक्षु सातवीं सदी में नालन्दा आया और आठ वर्ष तक यहाँ अध्ययन करता रहा। विदेशी विद्यार्थियों के यहाँ आकर अध्ययन करने की परम्परा बहुत समय तक जारी रही। नालन्दा की कीर्ति सम्पूर्ण बौद्ध-संसार में फैली हुई थी। यही कारण है कि दूर-दूर से विद्वान् अपनी शिक्षा की पूर्णता के लिए यहाँ आते थे। आठवी सदी के प्रारम्भ में तिब्बत के राजा ने नालन्दा के एक प्रसिद्ध आचार्य शान्तरक्षित को इस उद्देश्य से निमन्त्रित किया था ताकि वह तिब्बत में बौद्ध धर्म की स्थापना अच्छी तरह से कर सके। तिब्बत पहुँचने पर शान्तरक्षित का बड़ी धूमधाम से स्वागत किया गया और उसे 'आचार्य बोधिसत्व' की उपाधि से विभूषित किया गया। शान्तरक्षित के कुछ समय बाद कमलशील नामक एक अन्य आचार्य को नालन्दा से बुलाया गया और इन दो भारतीय आचार्यों ने तिब्बत में धर्म की स्थापना की।

नालन्दा महाविहार ग्यारहवीं सदी तक भारत का प्रधान शिक्षा-केन्द्र रहा। इस समय विक्रमशिला नाम के एक अन्य विश्वविद्यालय की स्थापना हो गयी थी, जिसे पालवंशी राजाओं का संरक्षण प्राप्त था। विक्रमशिला के विकास के कारण नालन्दा की कीर्ति कुछ मन्द पढ़ने लग गई और उसमें ह्रास के चिन्ह प्रगट होने लग गये थे। बाद में जब मुहम्मद बिन बाख्तियार खिलजी ने बिहार पर आक्रमण किया, तब नालन्दा के इस प्राचीन विश्वविद्यालय का अन्तिम रूप से विनाश हो गया।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय—नालन्दा विश्वविद्यालय के समान ही विक्रमशिला विश्वविद्यालय भी मगध में ही था। इसकी स्थापना नवीं सदी में बंगाल के पालवंशी शासक धर्मपाल ने बिहार में भागलपुर से 25 मील दूर पर की थी। धर्मपाल बौद्ध-धर्म का अनुयायी था और अपने को 'परम परमेश्वर परम भट्टारक महाराजाधिराज' की उपाधि से विभूषित करता था। धर्मपाल ने विक्रमशिला में एक महाविहार बनवाकर यहाँ अध्यापन के लिए 108 आचार्यों की नियुक्ति की। इस शिक्षा-केन्द्र को पालवंशी शासकों का संरक्षण प्राप्त था। इसके खर्च के लिए अतुल धनराशि राजा धर्मपाल और उसके उत्तराधिकारियों द्वारा दी गई। फलस्वरूप बहुत-से विद्यार्थी यहाँ शिक्षा ग्रहण करने के लिए आने लगे। पूर्व-मध्य युग के शिक्षा-केन्द्रों में इस विश्वविद्यालय की सर्वाधिक ख्याति थी।

नालन्दा के समान विक्रमशिला में भी द्वार-पण्डित होते थे। यहाँ द्वार-पण्डितों की संख्या छः थी। ऐसा प्रतीत होता है कि विक्रमशिला विश्वविद्यालय में छः कॉलेज या महाविद्यालय थे और उनमें से प्रत्येक का द्वार-पण्डित पृथक्-पृथक् होता था। इन छः द्वार-पण्डितों की समिति द्वारा इस विश्वविद्यालय का संचालन होता था, जिसका प्रधान महास्थविर होता था। तिब्बती लेखक तारानाथ ने लिखा है कि विक्रमशिला के दक्षिण द्वार का द्वार-पण्डित प्रज्ञाकरमति था। इसी प्रकार पूर्वी द्वार का रत्नाकरशान्ति, पश्चिमी द्वार का बागीश्वर कीर्ति, उत्तरी द्वार का नारोपन्त, प्रथम केन्द्रीय द्वार का रत्नव्रज और द्वितीय केन्द्रीय द्वार का द्वार-पण्डित ज्ञानश्रीमित्र था। द्वार-पण्डित पद पर बहुत ही उच्च कोटि के विद्वानों को नियुक्त किया जाता था। विक्रमशिला विश्वविद्यालय के प्रत्येक कॉलेज में शिक्षकों की संख्या 108 रखी जाती थी, इस प्रकार विक्रमशिला में शिक्षकों की कुल संख्या 648 थी। यहाँ कितने विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे, इसका उल्लेख किसी विदेशी यात्री ने नहीं किया लेकिन विक्रमशिला का जो सभा-भवन था, उसमें 8,000 व्यक्ति एक साथ बैठ सकते थे। इससे यह

अनुमान लगाया जा सकता है कि यहाँ के विद्यार्थियों की संख्या भी हजारों में थी। देश के ही नहीं बल्कि विदेशों से भी विद्यार्थी यहाँ अध्ययन करने आते थे। विदेशी छात्रों में तिब्बत के छात्र अधिक होते थे, जो बौद्ध धर्म और दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यहाँ आते थे। प्रायः एक छात्रावास तिब्बत के ही छात्रों से भरा रहता था। इस विश्वविद्यालय के बाहर एक धर्मशाला भी बनाई गई थी, ताकि विद्यार्थी विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होने से पहले उसमें निवास कर सके। विश्वविद्यालय के चारों ओर एक प्राचीर थी, जैसी कि दुर्गों के चारों ओर होती है।

इस विश्वविद्यालंय के विहारों के कक्षों में व्याख्यान हुआ करते थे तथा सदैव धर्म और दर्शन की चर्चाएँ आयोजित की जाती थी। यहाँ के अनेक विद्वानों ने विभिन्न ग्रन्थों की रचना की थी, जिनका बौद्ध साहित्य और इतिहास में काफी महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन विद्वानों में जो प्रसिद्ध है, वे हैं—रक्षित, विरोचन, ज्ञानपाद, बुद्ध, जेतारि रत्नाकरशान्ति, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नवज्र, दीपंकर और अभ्रभंकर। दीपंकर नामक विद्वान् भिक्षु ने तो लगभग 200 ग्रन्थों की रचना की थी। वह इस शिक्षा-केन्द्र के महान् प्रतिभाशाली व्यक्तियों में अकेला था, जो गौड़ प्रदेश (बंगाल) का रहने वाला था। उसका जन्म 980 ई. में हुआ था। बचपन में ही उसे सांसारिक मोह-माया से वैराग्य उत्पन्न हो गया और वह कृष्णगिरी बिहार में चला गया। वहाँ उसे शीलरक्षित, चन्द्रकीर्ति और धर्मरक्षित जैसे बौद्ध आचार्यों ने शिक्षा दी। कालान्तर में वह बौद्ध धर्म और दर्शन का प्रकाण्ड पण्डित हुआ। बौद्ध धर्म के प्रचार हेतु वह तिब्बत भी गया था। विक्रमशिला में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों में से अनेकों ने विद्धता के क्षेत्र में ख्याति तो प्राप्त की ही थी, साथ ही इस विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य द्वारा अपनी विद्धता का डंका भी बजा दिया था। इनमें रत्नवज्र, आचार्य रत्नकीर्ति, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नाकरशान्ति और अतीश के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अतीश को तो तिब्बत में बौद्ध धर्म की पुनः स्थापना के लिए बुलाया गया था, और उसने वहाँ उस व्यवस्था को स्थापित किया, जो लामाओं की अधीनता में अब तक विद्यमान है। रत्नकीर्ति अतीश का गुरु था और ज्ञानश्रीमित्र अतीश का उत्तराधिकारी था। अतीश के तिब्बत चले जाने के बाद ज्ञानश्रीमित्र ही विक्रमशिला विश्वविद्यालय का प्रधान आचार्य बना था।

इस विश्वविद्यालय में बौद्ध धर्म और दर्शन के अतिरिक्त न्याय, तत्वज्ञान, व्याकरण आदि की भी शिक्षा दी जाती थी। यहाँ बौद्ध साहित्य के साथ-साथ वैदिक साहित्य की पढ़ाई भी होती थी। किन्तु यह विश्वविद्यालय बौद्धों के वज्रयान सम्प्रदाय के अध्ययन का सबसे प्रमाणिक केन्द्र था। इस युग के भारत में तन्त्र-विद्या का बहुत प्रचार हो गया था। बौद्ध और पौराणिक, दोनों धर्मों में तान्त्रिक साधना को बहुत महत्त्व दिया जाने लगा था। तन्त्रवाद, जो इस युग के धर्म का बहुत ही महत्त्वपूर्ण भाग बन गया था, उसका श्रेय मुख्य रूप से इसी विश्वविद्यालय को है। विद्यार्थियों की सुविधा के लिए पुस्तकें भी उपलब्ध की जाती थी तथा उनकी जिज्ञासाओं का समाधान आचार्य द्वारा किया जाता था। दसवीं सदी में यहाँ के विद्यार्थियों की संख्या काफी थी, जो नालन्दा विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की संख्या से किसी प्रकार कम नहीं थी। वास्तव में पूर्व-मध्ययुगीन भारत में इसे छोड़कर और कोई शिक्षा-केन्द्र इतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं था कि सुदूर प्रदेशों के विद्यार्थी वहाँ जायें। इसीलिए यहाँ विद्यार्थियों की संख्या अधिक होना स्वाभाविक था। यहाँ सभी विद्यार्थी और शिक्षक, यहाँ के विहारों और आवासों में रहते थे। गौड़ सम्राट धर्मपाल द्वारा यहाँ एक

अत्यन्त ही विशाल विहार का निर्माण कराया था। इसमें अनेक छोटे-बड़े बौद्ध मन्दिर थे। यहाँ के प्रबन्ध के लिए अनेक पदाधिकारी और कार्यकर्ता नियुक्त थे।

इस विश्वविद्यालय का समस्त व्यय बड़े-बड़े धनाढ्य दानदाताओं के दान एवं भेंट पर आधारित थी। आवास और भोजन का प्रबन्ध विश्वविद्यालय की ओर से किया जाता था। भिक्षु-अध्यापक विश्वविद्यालय के प्रबन्ध में हाथ बंटाते थे। पूर्व-मध्य युग में मुसलमानों के आक्रमण के कारण अनेक प्राचीन भारतीय शिक्षा-केन्द्रों का विनाश हुआ था। उनमें विक्रमशिला विश्वविद्यालय भी था, जिसे 1203 ई. में बाख्तियार खिलजी ने तोड़कर उसे जलाकर नष्ट कर दिया था। इस विश्वविद्यालय के चारों ओर दुर्गों जैसी प्राचीर देखकर उसने इसे दुर्ग समझ लिया था और इसी कारण उसने इसका विध्वंश किया था। ''तबकात-ए-नासिरी' में इसका विवरण दिया गया है, जिसके अनुसार यहाँ के अधिकांश निवासी ब्राह्मण (या बौद्ध भिक्षु) थे और वे सभी सिर मुंड़ाये हुए थे। इन सभी को मौत के घाट उतार दिया गया। हिन्दू धर्म से सम्बन्धित यहाँ सैकड़ों पुस्तकें थी, जिन्हें समझाने के लिए मुसलमानों ने बचे हुए पण्डितों को बुलाया, लेकिन कोई भी पण्डित पुस्तकों के अर्थ को न समझ सका, क्योंकि सभी विद्वान् मारे जा चुके थे।

वलभी विश्वविद्यालय—गुजरात-काठियावाड़ के समुद्र के निकट वलभी एक ध्वस्त अन्तर्राष्ट्रीय बन्दरगाह भी नहीं था बल्कि शिक्षा का भी एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, जो नालन्दा विश्वविद्यालय के साथ-साथ विकसित हुआ था। सातवीं सदी तक इस विश्वविद्यालय की ख्याति देश के विभिन्न भागों में फैल चुकी थी। इस विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम विहार का निर्माण राजकुमारी टड्डा ने कराया था। तत्पश्चात् दूसरा विहार राजा धरसेन ने 580 ई. में बनवाया था, जिसका नाम श्रीबप्पपाद था। इस विहार का निर्देशन और प्रशासन आचार्य स्थिरमति करते थे। इत्सिंग के अनुसार वलभी का महाविहार भी नालन्दा महाविहार के समान ही महत्त्वपूर्ण था। यहाँ अनेक विशाल बौद्ध विहार और मठ थे। ह्वेनसांग ने लिखा है कि यहाँ 100 विहार थे, जिनमें 6,000 भिक्षु निवास करते थे। बौद्ध शिक्षा का प्रदान केन्द्र होने के कारण दूर-दूर के स्थानों से विद्यार्थी यहाँ शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। न केवल बौद्ध अपितु पौराणिक हिन्दू सम्प्रदायों के विद्यार्थी भी यहाँ विद्याध्ययन के लिए आया करते थे। कथासरित्सागर के अनुसार अन्तर्वेदी (गंगा-यमुना का दोआब) के द्विज वसुदत्त का पुत्र विष्णुदत्त जब सोलह वर्ष का हो गया तो विद्या प्राप्ति के लिए वह वलभी पुरी गया।

वलभी विश्वविद्यालय के शिक्षकों की ख्याति भी काफी फैली हुई थी। स्थिरमति और गुणमति नामक विद्वान् इस विश्वविद्यालय की शोभा थे। बौद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त तर्क, व्याकरण, व्यवहार, साहित्य आदि विभिन्न विषयों की यहाँ शिक्षा दी जाती थी। इस विश्वविद्यालय की आर्थिक स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ थी। वलभी में लगभग 100 श्रेष्ठी रहते थे जो इन विहारों को उदारतापूर्वक धन प्रदान करते थे। अनेक राजाओं ने भी इसे दान और भेंट स्वरूप समुचित धन प्रदान किया था। ग्रन्थों के लिए भी यहाँ प्रभूत मात्रा में दान प्राप्त होते रहते थे। 12वीं सदी में जब मुस्लिम आक्रान्ताओं ने सौराष्ट्र को भी आक्रान्त करना प्रारम्भ किया तो वलभी के विहारों का ह्रास होने लगा तथा शिक्षा-केन्द्र के रूप में इस नगरी का भी महत्त्व धरने लगा।

तक्षशिला विश्वविद्यालय—प्राचीनकाल में तक्षशिला ज्ञान और विद्या के क्षेत्र में बहुत अधिक प्रसिद्ध था, लेकिन अब यह क्षेत्र और इसके अवशेष पाकिस्तान में स्थित है। शिक्षा-केन्द्र के रूप में इसकी प्रसिद्धि सातवीं सदी ईसा पूर्व में ही हो गयी थी। ऐसा उल्लेख मिलता है कि इसकी स्थापना भरत ने की थी और इसका प्रशासन तक्ष को सौंपा गया था। अत: तक्ष के नाम पर इस स्थान का नाम तक्षशिला हो गया। महाभारत से ज्ञात होता है कि जनमेजय ने अपना नागयज्ञ यहीं सम्पन्न किया था। इन प्रमाणों से यह भी स्पष्ट होता है कि उत्तरवैदिक काल में ही तक्षशिला एक नगर के रूप में विकसित हो चुका था। इसलिए यहाँ विद्वानों का होना स्वाभाविक था तथा जहाँ विद्वानों का निवास हो वहाँ ज्ञान-चर्चाओं का होना भी सम्भव था। जातकों से विदित होता है कि देश के विभिन्न स्थानों से छात्र वहाँ जाकर आचार्यों के सानिध्य में रहकर ज्ञान प्राप्त करते थे।

तक्षशिला में शिक्षा प्रारम्भ करने की आयु सोलह वर्ष की थी। इससे पूर्व विद्यार्थी अपने-अपने नगरों में ही शिक्षा प्राप्त किया करते थे। बाद में उच्च शिक्षा प्राप्त करने सोलह वर्ष की वायु में तक्षशिला आया करते थे। शिक्षा अपने नगरों में मिल सकती थी, किन्तु राजा तथा अन्य धनी लोग अपने लड़कों को तक्षशिला में शिक्षा के लिए भेजना उपयोगी समझते थे। एक जातक-कथा के उद्धरण से तक्षशिला की शिक्षा-विधि पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त करने का शुल्क एक हजार कर्षापण था। जो विद्यार्थी यह शुल्क दे सकते थे, वे आचार्य के घर में ज्येष्ठ पुत्र की तरह आचार्य ही के प्रबन्ध से पूरे आराम के साथ रहते थे। जिस प्रकार घर में बड़े लड़के का पूरा ख्याल रखा जाता था, उसी तरह आचार्यकुल में इन विद्यार्थियों के आराम आदि पर पूरा ध्यान दिया जाता था। उन्हें किसी तरह का श्रम करने की आवश्यकता नहीं थी। इस प्रकार शुल्क अदा करके शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को 'आचारिय भागदायक' कहा गया है। किन्तु जो विद्यार्थी निश्चित शुल्क नहीं दे सकते थे, उनके लिए भी तक्षशिला में स्थान था। ऐसे विद्यार्थी स्वावलम्बी बनकर दिन में काम किया करते थे और रात में पढ़ते थे। ऐसे विद्यार्थियों को 'धम्मन्तेवासिक' कहा गया है। तक्षशिला की कीर्ति के कारण जो निर्धन विद्यार्थी वहाँ आकृष्ट होकर आते थे, उनको आचार्य की ओर से काम दिया जाता था और इस तरह वे अपना खर्च अपने आप चला सकते थे। इन दो तरह के विद्यार्थियों के अतिरिक्त एक तीसरे प्रकार के विद्यार्थी भी होते थे। ये न तो आवश्यक शुल्क देते थे और न दिन में काम कर रात की पढ़ाई से सन्तुष्ट होते थे। वे यह प्रतिक्षा करते थे कि पढ़ाई समाप्त होने पर वे आवश्यक शुल्क चुका देंगे। 'दूतजातक' में एक ब्राह्मण की कथा आती है, जो गरीब घर में पैदा हुआ था। उसको शिक्षा ग्रहण करने की बड़ी लगन थी, किन्तु वह 'आचार्य भाग' अर्थात् विश्वविद्यालय का निश्चित शुल्क अदा नहीं कर सकता था। अत: उसने प्रतिक्षा की कि शिक्षा समाप्त होने पर वह सारा शुल्क चुका देगा। उसकी यह बात मान ली गई। वह 'आचारिय भागदायक' विद्यार्थियों की तरह आराम के साथ पढ़ता रहा और शिक्षा समाप्त कर चुकने के बाद उसने अपने प्रयत्नों से संचित कर, आवश्यक शुल्क अदा कर दिया।

देश के कोने-कोने से विद्यार्थी यहाँ आकर शिक्षा प्राप्त करते थे। इनमें वाराणसी, पाटलिपुत्र, राजगृह, मिथिला, उज्ज्यनि आदि नगरों के भी विद्यार्थी होते थे, जो यहाँ की ज्ञान-गरिमा से परिचित होने के लिए आते थे। पाटलिपुत्र के निवासी जीवक ने तक्षशिला में आकर अध्ययन किया था, जो कालान्तर में आयुर्वेद का महान् विद्वान् बना। वह महात्मा

बुद्ध का समकालीन था। यहाँ से शिक्षा-प्राप्त करने वाले बड़े-बड़े सम्राट और विख्यात विद्वान् थे। कोशल-शासक प्रसेनजित्, मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त, महान अर्थशास्त्री कौटिल्य, ख्याति प्राप्त वैद्य जीवक, वैयाकरण पाणिनि और पतंजिलि यहाँ शिक्षा ग्रहण करके अपने-अपने क्षेत्र में विख्यात हुए थे। महाभारत से ज्ञात होता है कि आचार्य धौम्य के शिष्य उपमन्यु, आरुषि और वेद ने तक्षशिला में ही शिक्षा ग्रहण की थी। जातक साहित्य में अनेक राजकुमारों के तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त करने की कथाएँ विद्यमान है। ऐसे कुछ विद्यार्थी वाराणसी (काशी) का राजकुमार ब्रह्मदत्त, मगधराज का लड़का अरिन्दम, कुरुक्षेत्र (इन्द्रप्रस्थ) का राजकुमार सुतसोम, मिथिला का राजकुमार विदेह, इन्द्रप्रस्थ का राजकुमार धनंन्जय, कम्पिल्लक देश का राजकुमार और मिथिला का राजकुमार सुरुचि थे। तक्षशिला में एक ऐसा विद्यापीठ भी था, जिसमें एक आचार्य के पास 101 राजकुमार शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। इस आचार्य के कॉलेज को 'राजकुमारों का कॉलेज' कहा जा सकता है। केवल यही कॉलेज ही नहीं बल्कि तक्षशिला के अन्य कॉलेज भी भारत-भर में प्रसिद्ध थे। यही कारण है कि 'धोनसाख जातक' में लिखा है कि भारत-भर से ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के लड़के तक्षशिला में पढ़ने जाया करते थे। वस्तुतः द्विजों के सभी सदस्य एक साथ शिक्षा प्राप्त करते थे। ब्राह्मण के साथ क्षत्रिय भी वेदाध्ययन करते थे और क्षत्रिय के साथ ब्राह्मण भी धनुर्विद्या सीखता था। जातकों से ज्ञात होता है कि एक ब्राह्मण राजपुरोहित ने अपने पुत्र को धनुर्विद्या की शिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला भेजा था। किन्तु क्षत्रिय, ब्राह्मण और वैश्य के साथ-साथ दर्जी और मछली मारने वाले भी, जो निम्न जाति के समझे जाते थे, यहाँ शिक्षा प्राप्त करते थे। चाण्डालों का वहाँ पढ़ना निषिद्ध था। यही कारण है कि 'चित्तसम्भूत जातक' में लिखा है कि चाण्डाल लोग वेश बदल कर, छिपकर, तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त किया करते थे। योग्य और मेधावी छात्रों को राजकीय सहायता पर शिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला भेजा जाता था। वाराणसी और राजगृह के राजपुरोहित-पुत्र और युवराजों के साथ जाने वाले ऐसे छात्रों का उल्लेख जातकों में मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि इस युग में प्रतिभाशाली किन्तु निर्धन छात्रों को राज्य और समाज की ओर से प्रत्येक सम्भव सहयोग प्राप्त होता था।

तक्षशिला में कौन-कौन सी विद्याएँ पढ़ाई जाती थी, इस विषय में भी कुछ निर्देश जातक साहित्य में विद्यमान है। तक्षशिला में मुख्य रूप से निम्नलिखित विषय पढ़ाये जाते थे—

(1) **वेदत्रयी**—जातकों में सर्वत्र तीन वेदों का ही उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में अथर्ववेद को वेद नहीं समझा जाता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी 'त्रयी' में अथर्ववेद का समावेश नहीं किया गया है।

(2) **अष्टादश विद्याएँ**—जातकों में तक्षशिला के सम्बन्ध में अनेक बार यह लिखा गया है कि वहाँ अष्टादश विद्याओं में प्रवीणता प्राप्त कराई जाती थी। किन्तु ये 18 विद्याएँ कौन-कौन सी थीं, इसे निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। सम्भवतः युद्ध-कला, व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष, भविष्य-कथन, मुनीमी, व्यापार, कृषि, रथ-चालन, इन्द्रजाल, गुप्तनिधि-अन्वेषण, संगीत, नृत्य और चित्रकला अष्टादश विद्याओं में आते थे।

(3) **सिप्प या शिल्प**—तक्षशिला में अनेक विधि शिल्पों की भी शिक्षा दी जाती थी।

(4) धनुर्विद्या—'असदिस जातक' में एक असदृश (असदिस) कुमार का वर्णन है, जिसने कि तक्षशिला में एक आचार्य के पास धनुर्विद्या में अपूर्व प्रवीणता प्राप्त की थी।

(5) हस्तविद्या—'सुसीम जातक' के अनुसार वाराणसी के राजकुमार सुसीम ने तक्षशिला में आचार्य के पास वेदों के अतिरिक्त हस्तविद्या भी सीखी थी।

(6) मन्त्र-विद्या—'अनभिरति जातक' के अनुसार काशी में रहने वाले एक ब्राह्मण कुमार ने तक्षशिला में सम्पूर्ण मन्त्र-विद्या का अध्ययन किया था। 'चाम्पेय्य जातक' में लिखा है कि एक विद्यार्थी ने तक्षशिला में ऐसा जादू (मन्त्र) सीखा था कि वह सब प्राणियों को अपने वश में कर सकता था। उस विद्यार्थी द्वारा सांप को वश में करने का हाल भी एक जातक में लिखा गया है।

(7) सब प्राणियों की आवाज को समझने की विद्या—'परन्तप जातक' में एक कुमार का वर्णन है, जिसने तक्षशिला में जाकर उस विद्या का अध्ययन किया था, जिससे कि सब प्राणियों की आवाजों को समझा जा सके।

(8) चिकित्सा-शास्त्र—तक्षशिला चिकित्सा-शास्त्र की दृष्टि से बहुत प्रसिद्ध था। वहाँ इस विषय की मुख्यतया शिक्षा दी जाती थी। चिकित्सा-शास्त्र का अध्ययन करने के लिए दूर-दूर से विद्यार्थी यहाँ आया करते थे। मगध सम्राट बिम्बिसार के प्रसिद्ध राजवैद्य जीवक ने तक्षशिला में ही शिक्षा प्राप्त की थी। जातकों के इन निर्देशों से उन विषयों का थोड़ा-सा अनुमान किया जा सकता है, जिनकी शिक्षा तक्षशिला के विद्यापीठों में दी जाती थी। विद्यार्थीगण अपने आचार्य के निरीक्षण में रहते थे। आचार्य अपने विद्यार्थियों के जीवन को सुधारने पर अत्यधिक ध्यान देता था। अनुशासन भंग करने वाले विद्यार्थियों को यथोचित दण्ड भी दिये जा सकते थे। तक्षशिला में विद्यार्थियों को शारीरिक दण्ड भी मिलता था।

तक्षशिला में अनेक विश्व-प्रसिद्ध आचार्य शिक्षा देने का कार्य करते थे। इन आचार्यों के साथ बार-बार विश्व-प्रसिद्ध विशेषण लगाना इस बात को सूचित करता है कि उस समय तक्षशिला नगरी अपनी विद्या के लिए अत्यधिक प्रसिद्ध थी। जातकों से विदित होता है कि यहाँ के एक आचार्य के निर्देशन में पाँच-पाँच सौ छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे। ऐसे आचार्य अनेक थे जिनके पास 500 विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। सम्भवतः तक्षशिला में अनेक कॉलेज थे, जिनमें प्रत्येक में 500 के लगभग विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे और इन कॉलेजों के प्रधान अध्यापक को 'आचार्य' कहा जाता था। सामान्यतः शिक्षा का कार्य उन आचार्यों के हाथ में था, जिनके निर्वाह के लिए राज्य की ओर से भूमि प्रदान कर दी जाती थी और वे अपनी आमदनी से अपना तथा अपने शिष्यों का खर्च चलाया करते थे। ऐसी भूमि से कोई कर नहीं लिया जाता था। इस भूमि की सम्पूर्ण आय शिक्षक वर्ग के ही काम आती थी। कौटिल्य ने ऐसे अध्यापकों का भी उल्लेख किया है, जिन्हें राज्य की ओर से वेतन दिया जाता था और उसे 'पूजा वेतन' की संज्ञा दी गई है। जातक युग में यहाँ नैष्ठिक ब्रह्मचारियों की संख्या बहुत अधिक थी, जो वेद और शिल्प में पारंगत होकर एकान्त में रहते थे तथा जिनके साथ उनके शिष्य भी रहा करते थे। यहाँ पाठ्यक्रम निर्धारित होता था तथा छात्र अपनी इच्छानुसार विषय पढ़ते थे। शिक्षा का प्रधान उद्देश्य था स्वांतः सुख, न कि उपाधि-प्राप्ति। तक्षशिला में शिक्षा समाप्त कर चुकने पर विद्यार्थी शिल्प, व्यवसाय आदि का

क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिए तथा देश-देशान्तर के रीति-रिवाजों का अध्ययन करने के लिए भ्रमण भी किया करते थे।

तक्षशिला के वर्तमान अवशेष इस बात के प्रमाण है कि तक्षशिला ने चौथी सदी ई.पू. से छठी सदी तक अनेक उथल-पुथल देखे थे। यवन, यवन-बाख्त्री, शक, पल्हव, कुषाण और हूणों के अनेक आक्रमण इसने सहे थे तथा उन झंझावतों से अपने को बचाये रखने का प्रयास किया था। इन आक्रमणों का परिणाम यह हुआ कि भारत का नवीन ज्ञान-विज्ञान से सम्पर्क हुआ तथा भारतीय जनमानस में उनका प्रवेश भी प्रारम्भ हो गया। विदेशी खरोष्ठी लिपि का धीरे-धीरे प्रचार और यूनानी तक्षण-कला, मुद्रा निर्माण कला तथा दर्शनशास्त्र का भारत में विकास होने लगा। विदेशी विद्याओं के प्रभाव से भारतीय विषयों को एक नया आयाम प्राप्त हुआ।

तक्षशिला शिक्षा-केन्द्र का महत्त्व चौथी सदी ईसवी तक ही था, क्योंकि पांचवी सदी में भारत की यात्रा करने वाले चीनी यात्री फाह्यान ने इस स्थान से सम्बन्धित ऐसा कोई विवरण नहीं दिया है, जिससे यह ज्ञात हो सके कि उस समय भी तक्षशिला शिक्षा और विद्या का केन्द्र था।

हिन्दू शिक्षा के केन्द्र: काशी—प्राचीन काल से हिन्दू ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्रदान करने के लिए विभिन्न अध्ययन केन्द्रों की व्यवस्था की गई थी। वैदिक काल में गुरुकुल शिक्षा प्रदान करने के प्रधान केन्द्र थे। अरण्यों में भी विद्यार्थी गुरु की सेवा करते हुए अध्ययनरत रहते थे। किन्तु कालान्तर में भव्य शिक्षा केन्द्रों का विकास हुआ। ऐसे शिक्षा-केन्द्रों के विकास में विद्वान् शासकों का पूर्ण सहयोग रहता था। प्रमुख राजधानियाँ और बड़े-बड़े नगरों के अतिरिक्त छोटे-छोटे गाँव भी शिक्षा के केन्द्र थे। बौद्ध विहारों की तरह हिन्दू मन्दिर भी शिक्षा-केन्द्र के रूप में विकसित हुए थे। रामायण और महाभारत में अनेक शिक्षा केन्द्रों का उल्लेख मिलता है। प्रयाग में संगम के तट पर महर्षि भारद्वाज का आश्रम था, जहाँ हवन-पूजा के साथ-साथ छात्रों द्वारा वेदपाठ हुआ करता था। मन्दाकिनी नदी के तट पर चित्रकूट में महर्षि वाल्मीकि का आश्रम था। ऋषि वशिष्ठ के आश्रम में भी ज्ञान प्रदान किया जाता था। महर्षि अगस्त्य का आश्रम दंडकारण्य में था, जहाँ उनके समस्त शिष्य यज्ञ और अध्ययन में लगे रहते थे। मालिनी नदी तट पर महर्षि कण्व का आश्रम, ज्ञान और गरिमा से युक्त था। नैमिषारण्य में महर्षि शौनक का आश्रम था, जहाँ विद्यार्थियों के अध्ययन का काल 12 वर्ष था। हरिद्वार में महर्षि भारद्वाज का आश्रम था, जहाँ विभिन्न वेद-वेदांगों और शस्त्र-शास्त्रों का ज्ञान छात्रों को प्रदान किया जाता था। महेन्द्र पर्वत पर परशुराम का आश्रम था, जहाँ अन्य विद्याओं के साथ-साथ युद्ध-कौशल का भी ज्ञान कराया जाता था। काशी, कांची, कन्नौज, कश्मीर आदि नगर अपने आप विद्या-केन्द्रों के रूप में विख्यात हुए थे।

विद्या और शिक्षा के क्षेत्र में काशी का महत्त्व तो वैदिक-कालीन है। उपनिषद् काल तक काशी एक प्रतिष्ठित शिक्षा-केन्द्र के रूप में विकसित हो चुकी थी। काशी का शासक अजातशत्रु अपनी विद्वता और ज्ञान-गरिमा के लिए सम्पूर्ण देश में विख्यात था। उससे शिक्षा ग्रहण करने के लिए दूर-दूर के देशों से विद्यार्थी काशी आते थे। तेइसवें जैन तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ काशी के शासक अश्वसेन के पुत्र थे, जिन्होंने जैन धर्म की सर्वप्रथम आचार-संहिता निर्मित की थी। अत: काशी जैन धर्म और दर्शन का भी प्रधान केन्द्र थी। बौद्ध युग में

काशी का शिक्षा-केन्द्र के रूप में महत्त्व पूर्ववत् बना रहा। वैदिक दर्शन, ज्ञान, तर्क और शिक्षा में काशी अग्रणी थी। इसलिए महात्मा बुद्ध ने अपना 'धर्मचक्र-प्रवर्तन' काशी में ही किया तथा सर्वप्रथम अपने ज्ञान का प्रसार यहीं से आरम्भ किया था, ताकि उनका प्रभाव काशी के विद्वानों पर पड़ सके। 'संजीव जातक' के अनुसार बोधिसत्त्व ने पहले तक्षशिला में विद्याध्ययन किया। शिक्षा समाप्त कर वह काशी वापस आया और वहाँ शिक्षा देना प्रारम्भ कर दिया। पाँच सौ विद्यार्थी उसके शिष्य बनकर पढ़ने लगे और वह भी संसार-प्रसिद्ध आचार्य हो गया। इसी प्रकार 'कोसिय-जातक' में एक आचार्य का उल्लेख है, जिसने तक्षशिला में अध्ययन समाप्त कर काशी में अध्यापन का कार्य शुरू किया। दूर-दूर से ब्राह्मण और क्षत्रिय-कुमार उसके पास पढ़ने के लिए आने लगे। कुछ समय में वह भी संसार-प्रसिद्ध आचार्य हो गया। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध काल में काशी ने शिक्षा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बनना आरम्भ कर दिया था, किन्तु उसकी कीर्ति अभी तक्षशिला की तुलना में बहुत कम थी।

जातक साहित्य से ज्ञात होता है कि यहाँ के विद्यालयों में प्रवेश के लिए छात्रों की आयु कम से कम 16 वर्ष होनी चाहिए थी। सम्राट अशोक ने यहाँ अनेक बौद्ध-विहारों और मठों का निर्माण करवाया था। सातवीं सदी में ह्वेनसांग ने यहाँ के विहारों, चैत्यों, स्तूपों और भवनों को देखा था। ह्वेनसांग के अनुसार यहाँ अनेक मंजिलों वाले भवन थे, जो अत्यन्त आकर्षक और लुभावने थे। इससे स्पष्ट है कि काशी वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों शिक्षाओं की केन्द्रस्थली थी। मध्यकालीन भारत में काशी विद्या का सबसे मुख्य केन्द्र था। बौद्ध-धर्म के ह्रास होने के साथ-साथ काशी प्राचीन सनातन वैदिक और पौराणिक दर्शन का शिक्षा-केन्द्र बनता गया, जहाँ वेद, वेदांग, इतिहास, पुराण, ज्योषित, शिल्प आदि की शिक्षा दी जाती थी। दसवीं सदी के अन्तिम चरण में जब अलबरुनी भारत आया, तो वह हिन्दूशास्त्रों से परिचय प्राप्त करने के लिए वाराणसी गया और उसने लिखा है कि इस नगरी में भारत के श्रेष्ठ विद्यालय विद्यमान है। अलबरुनी ने यह भी लिखा है कि हिन्दू विद्याएँ हमारे विजित प्रदेशों से भागकर कश्मीर और वाराणसी जैसे सुदूर स्थानों में चली गई। मध्ययुगीन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वाराणसी में वेदों का अध्ययन किया जाता था। गहड्वाल वंश के अनेक राजाओं ने वाराणसी को अपनी दूसरी राजधानी के रूप में प्रयुक्त किया था और उनके संरक्षण में यह नगरी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गई थी। प्रसिद्ध कश्मीरी कवि श्रीहर्ष, गहड्वाल शासक विजयचन्द्र के सभासद थे। उसने 'नैषध चरित्' की रचना काशी आवास में ही की थी। कबीर और तुलसी जैसे संत कवि काशी से ही संबद्ध थे। आज तक भी यह नगरी प्राचीन संस्कृत विद्या का प्रमुख केन्द्र समझी जाती है।

कश्मीर—प्राचीनकाल से कश्मीर धर्म और शिक्षा का प्रधान केन्द्र था। यह शैव धर्म का प्रमुख केन्द्र तो था ही, साथ ही वह बौद्ध धर्म और शिक्षा का भी प्रधान केन्द्र था। पहली सदी ईस्वी में सम्राट कनिष्क ने चौथी बौद्ध संगीति का आयोजन कश्मीर में ही किया था। वहाँ दर्शन, साहित्य, न्याय, ज्योतिष, इतिहास आदि के प्रतिभासम्पन्न विद्वान् हुए थे, जिन्होंने साहित्य और संस्कृति के अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। 'हरिविजय' का रचनाकार रत्नाकर (नवीं सदी), 'वृहत्कथामंजरी', 'रामायणमंजरी', 'भारतमंजरी', 'बोधिसत्वावदान' का कर्ता क्षेमेन्द्र, 'कलाविलास', 'चतुर्वगसंग्रह', 'नीतिकल्पतरु', 'चारुचर्या' आदि ग्रन्थों का रचयिता सोमेन्द्र (क्षेमेन्द्र का पुत्र), 'श्रीकंठचरित्' का लेखक मंखक (बारहवीं सदी) आदि विद्वान्

कश्मीर के ही निवासी थे। कल्हण ने 'राजतंरगिणी' नामक इतिहास-ग्रन्थ लिखकर भारतीय इतिहास को एक नया आयाम प्रदान किया।

धारा—परमार वंश की राजधानी धारा (मालवा) नगरी भी पूर्व-मध्य काल में शिक्षा के लिए बहुत प्रसिद्ध थी। परमार वंश के अनेक राजाओं ने विद्या और ज्ञान के प्रोत्साहन तथा संवर्धन में असाधारण तत्परता प्रदर्शित की थी। 'दशरूपक' का लेखक धनंजय और 'यशोरूपावलोक' का रचयिता धनिक भी इसी राजधानी के आश्रित थे। राजा मुंज के शासनकाल में धारा नगरी हिन्दू धर्म और शिक्षा का प्रधान केन्द्र बन चुकी थी। सम्राट भोज अपने पूर्ववर्ती शासक मुंज की भाँति एक विद्वान् और प्रतिभाशाली शासक था। वह अनेकानेक विषयों का प्रकाण्ड पंडित था। वह राजनीति, दर्शन, ज्योतिष, वास्तु, काव्य, साहित्य, व्याकरण, चिकित्सा आदि विभिन्न विषयों का मर्मज्ञ था और इन विषयों से संबधित उसने अनेक ग्रन्थों की रचना भी की थी। भोज की राजसभा में धनपाल, विज्ञानेश्वर, उवट आदि अनेक प्रसिद्ध लेखक रहते थे। उसके द्वारा स्थापित 'भोजशाला' विश्वविद्यालय के रूप में विख्यात थी। उसने अनेक विद्यालयों की स्थापना भी की थी। भोज की मृत्यु पर किसी कवि ने कहा था—

अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती।
पंडिता खंडिता सर्वे भोजराजे दिवंगते॥

अर्थात् राजा भोज की मृत्यु से धारा 'निराधारा' हो गई, सरस्वती अवलम्बन विहीन हो गई और पण्डित खण्डित हो गये।

कन्नौज—उत्तर भारत में कन्नौज का उत्कर्ष हर्षवर्धन के समय से ही प्रारम्भ हो गया था। यह केवल राजधानी ही नहीं थी, बल्कि हिन्दू और बौद्ध विद्या और शिक्षा का केन्द्र भी थी। अनेक विषयों के विद्वान् इस नगर की शोभा बढ़ाते थे, जो अपने शिष्यों को विभिन्न विद्याओं का अध्ययन कराते थे। 'हर्षचरित्' का रचयिता बाण ने ऐसे ही आचार्यकुल में शिक्षा प्राप्त की थी। हर्ष स्वयं अनेक ग्रन्थों का रचयिता था। बौद्ध और हिन्दू धर्म के बीच दार्शनिक शास्त्रार्थ कन्नौज में ही हुआ था। ह्वेनसांग ने स्वीकार किया था कि कन्नौज के ब्राह्मण पण्डित विद्वता में अद्वितीय थे। प्रतिहारों के युग में भी कन्नौज उसी प्रकार शिक्षा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बना रहा। तद्युगीन लेखक राजशेखर ने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। गहड्वालों के युग में भी कन्नौज की कीर्ति उसी प्रकार रही जैसी कि हर्ष के काल में थी। इस प्रकार सातवीं सदी से लेकर बारहवीं सदी तक इसका शिक्षा-केन्द्र के रूप में अनवरत विकास होता रहा।

अनहिलपाटन—पूर्व-मध्य युग में गुजरात के चालुक्यवंशी शासकों की राजधानी अनहिलपाटन शिक्षा-केन्द्र के रूप में प्रख्यात थी। यहाँ हिन्दू धर्म-दर्शन के अतिरिक्त जैन धर्म और दर्शन की भी शिक्षा दी जाती थी। स्वयं चालुक्यवंशी शासक विद्वान् होने के कारण विद्या और शिक्षा के उत्कर्ष में सहयोग देते थे। सोमप्रभाचार्य, हेमचन्द्र, रामचन्द्र, उदयचन्द्र, जयसिंह, यंशपाल, वत्सराज एवं मेरुतुंग जैसे विद्वान् लेखकों ने अनहिलपाटन के आश्रय में ही विभिन्न ग्रन्थों की रचना की थी। इनमें हेमचन्द्र सर्वाधिक प्रसिद्ध विद्वान् हुआ, जिसने व्याकरण, छन्द, शब्द-शास्त्र, साहित्य, कोश, इतिहास, दर्शन आदि विभिन्न विषयों पर अलग-अलग ग्रन्थों की रचना की थी। अनहिलपाटन में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि विभिन्न भाषाओं का उत्कर्ष और प्रसार हुआ था।

कांची—पल्लव-वंशी शासकों के नेतृत्त्व में दक्षिण भारत में कांची एक महान् शिक्षा-केन्द्र के रूप में विख्यात हुआ। समुद्रगुप्त के शासन-काल में इसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। कालान्तर में पूर्व-मध्यकालीन दक्षिण भारत का यह एक शक्तिशाली नगर बन गया जहाँ अनेक आचार्य वैदिक साहित्य का अध्ययन कार्य किया करते थे। इस शिक्षा-केन्द्र का विकास विश्वविद्यालय के रूप में हुआ। दक्षिणी भारत के निवासियों के अतिरिक्त विभिन्न प्रदेशों के निवासी यहाँ शिक्षा प्राप्त करने आते थे। महाकवि दण्डिन् ने कांची के राज्याश्रय में रहकर ही अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। कदम्बवंशी राजकुमार मयूरवर्मन ने कांची में ही शिक्षा ग्रहण की थी। ऐसा भी कहा जाता है कि वात्स्यायन और दिङ्नाग जैसे विद्वानों ने कांची विश्वविद्यालय में रहकर ही शिक्षा ग्रहण की थी। कांची में संस्कृत भाषा और साहित्य का उत्कर्ष तेजी से हुआ था।

उपर्युक्त मुख्य शिक्षा-केन्द्रों के अतिरिक्त भी अनेक छोटे-मोटे बौद्ध, जैन और हिन्दू शिक्षा के केन्द्र थे, जो विद्या और शिक्षा का प्रसार करने में लगे हुए थे। अनेक बौद्ध विहार, मठ और हिन्दू मन्दिर ऐसे थे जो छोटी-छोटी पाठशालाओं के रूप में विकसित हो गये थे। फाह्यान ने कश्यप बुद्ध संधाराम का उल्लेख किया है, जहाँ हजारों बौद्ध शिक्षार्थी अध्ययनरत रहा करते थे। जालन्धर का बौद्ध विहार भी एक शिक्षा-केन्द्र था, जहाँ ह्वेनसांग ने चार महीने रहकर सर्वास्तिवाद का अध्ययन किया था। कपिलवस्तु भी विद्या और शिल्प का केन्द्र था, जहाँ गौतम बुद्ध को विद्या व शिल्प का ज्ञान प्राप्त हुआ था। वैशाली नगर भी शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। बौद्ध विहारों की तरह हिन्दू मठ और मन्दिर भी शिक्षा-केन्द्रों के रूप में विकसित हुए थे। कर्नाटक, नासिक, उज्जैन, पाटलीपुत्र आदि प्रधान शिक्षा केन्द्र के रूप में जाने जाते थे।

अभ्यास के लिए प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग पाँच पृष्ठों में दीजिए—

1. प्राचीन भारतीय शिक्षा के केन्द्र के रूप में नालन्दा विश्वविद्यालय की शिक्षण व्यवस्था एवं प्रबन्ध की विवेचना कीजिए।
2. बौद्ध शिक्षा के प्रमुख केन्द्र के रूप में विक्रमशिला विश्वविद्यालय की विवेचना कीजिए।
3. तक्षशिला विश्वविद्यालय के प्रबन्ध एवं शिक्षण-व्यवस्था का वर्णन कीजिए।
4. प्राचीनकाल में हिन्दू शिक्षा के प्रमुख केन्द्रों की विवेचना कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए—

1. प्राचीन आचार्यकुलों में शिक्षण-प्रबन्ध का उल्लेख कीजिए।
2. वलभी विश्वविद्यालय के शिक्षण-प्रबन्ध की विवेचना कीजिए।
3. धर्म और शिक्षा के प्रधान केन्द्र के रूप में कश्मीर की विवेचना कीजिए।
4. भारत के प्राचीन शिक्षा केन्द्रों के रूप में कन्नौज और कांची का विवरण दीजिए।

◆

अध्याय-11

प्राचीन महाकाव्य : रामायण और महाभारत

प्राचीन भारतीय महाकाव्य रामायण और महाभारत भारतीय संस्कृति के सच्चे दर्पण है। इन दोनों महाकाव्यों में भारतीय सांस्कृतिक चेतना तथा जीवन मूल्यों के प्रति दृष्टिकोण सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है। हमारे देश के सांस्कृतिक विकास के विभिन्न युगों की प्रवृत्तियों का भली प्रकार अध्ययन करने के लिए हमें ऐसे प्राचीन महाकाव्यों का अध्ययन करना होगा, जो हमारे जीवन मूल्यों और आदर्शों को व्यक्त करते हों। महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण तथा वेदव्यास द्वारा रचित महाभारत, प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति को समग्र रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत करते है। रामायण और महाभारत में हमें तत्कालीन समाज और सांस्कृतिक चेतना के दर्शन होते है तथा भारतीय संस्कृति के उच्चतम आदर्शों को अभिव्यक्त करते हैं। रामायण महाकाव्य से हमें एक आदर्श राज्य-व्यवस्था का बोध होता है, जिसमें व्यक्ति के महत्त्व के साथ-साथ समाज हित तथा मानव की वैचारिक स्वतन्त्रता की भावना के दर्शन होते हैं। दूसरी ओर महाभारत महाकाव्य हमें तत्कालीन भारत की आध्यात्मिक, धार्मिक एवं दार्शनिक उन्नति का परिचय कराता है। अतः हमारे प्राचीन महाकाव्य रामायण और महाभारत हमारी संस्कृति और जीवन-मूल्यों को प्रतिविम्बित करने वाले ग्रन्थ मात्र ही नहीं है, बल्कि हमारी अमूल्य साहित्यिक विरासत भी है।

रामायण

भारतीय संस्कृति और जीवन-मूल्यों को व्यक्त करने वाला सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य रामायण है। महर्षि वाल्मीकि भारत के विख्यात महाकाव्य 'रामायण' के रचयिता थे। रामायण महर्षि का लिखा हुआ सबसे पहला काव्य है, जिसका प्रधान लक्ष्य एक आदर्श चरित्र और समाज के चित्रण के साथ-साथ कर्मयोग और भक्तितत्वज्ञान का प्रतिपादन करना था। वस्तुतः रामायण आर्य संस्कृति का प्रतिनिधि महाकाव्य माना जाता है। रामायण में निरूपित आर्य संस्कृति का विवेचन करने से पूर्व महर्षि वाल्मीकि का संक्षिप्त जीवन-परिचय प्राप्त करना समीचीन होगा।

महर्षि वाल्मीकि का जीवन-परिचय—वाल्मीकि के सम्बन्ध में हमारे पास कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। लेकिन महाभारत एवं पुराणों में उनके सम्बन्ध में अनेक आख्यायिकाएँ उपलब्ध होती हैं। चूँकि ये आख्यायिकाएँ काफी उत्तरकालीन हैं, अतः अविश्वसनीय प्रतीत होती हैं। महाभारत एवं पुराणों में वाल्मीकि को 'भार्गव' (भृगुवंश में उत्पन्न) कहा गया है। महाभारत के 'रामोपाख्यान' का रचयिता भी भागर्व बताया गया है। एक अन्य आख्यान के अनुसार वाल्मीकि जन्म से ब्राह्मण थे, किन्तु निरन्तर किरातों के साथ

रहने से वे चोरी-डकैती में लग गये, जिससे इनका ब्राह्मणत्व नष्ट हो गया था। एक बार इन्होंने सात मुनियों को देखा, जिन्हें लूट लेने के उद्देश्य से उन्हें रोक लिया। इस पर उन ऋषि-मुनियों ने वाल्मीकि से कहा, "जिन कुटुम्बियों के लिये तुम नित्य पाप-संचय करते हो, उनसे जाकर पूछ लो कि वे तुम्हारे इस पाप के सहभागी बनने के लिये तैयार हैं या नहीं।" वाल्मीकि द्वारा कुटुम्बियों को पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया, "तुम्हारा पाप तुम सम्हाल लो, हम तो केवल धन के ही भोगने वाले हैं।" यह प्रत्युत्तर सुनते ही वाल्मीकि को वैराग्य उत्पन्न हो गया तथा उन ऋषि-मुनियों की सलाह के अनुसार निरन्तर 'मरा' (राम शब्द का उल्टा रूप) शब्द का जप करना आरम्भ किया। कई वर्षों तक निश्चल रहने के फलस्वरूप उनके शरीर पर 'वाल्मीक' बन गया। कुछ समय पश्चात् ऋषियों ने उन्हें 'वाल्मीक' से बाहर निकलने का आदेश दिया और कहा कि, "वाल्मीक में तपस्या करने के कारण तुम्हारा दूसरा जन्म हुआ है। अतः आज से तुम वाल्मीकि नाम से सुविख्यात होंगे।" पुराणों के अनुसार इससे पूर्व उनका नाम च्यवन था। लेकिन स्कन्द पुराण में ऋषि बनने से पूर्व इनका नाम अग्निशर्मन दिया गया है।

वाल्मीकि की शिष्य शाखा काफी बड़ी थी, किन्तु उनमें भारद्वाज ऋषि प्रमुख था। एक बार वे भारद्वाज के साथ नदी से स्नान करके वापिस लौट रहे थे, तब मार्ग में उन्होंने एक व्याध को, अपने बाण से मैथुनासक्त क्रौंच पक्षियों में से एक को मारते देखा, तो उनका कोमल हृदय करुणा से द्रवित हो उठा और उनके मुख से छन्दोबद्ध आर्तवाणी फूट पड़ी, जिसका भावार्थ था, "हे निषाद! तुमने काम से मोहित इस क्रौंच पक्षियों के जोड़े में से एक को मारा है, अतः तुम अनन्त काल तक प्रतिष्ठा न पाओगे।" अकस्मात मुख से निकले हुए शब्दों को एक वृतबद्ध श्लोक का रूप प्राप्त होने का चमत्कार देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। किन्तु साथ ही क्रोधवंश निषाद को इतना बड़ा शाप देने का उन्हें दुख भी हुआ। इसी दुःखित अवस्था में बैठे थे कि परमपिता ब्रह्मा प्रकट हुए और कहा, "पछताने का कोई कारण नहीं है। यह श्लोक तुम्हारी कीर्ति का कारण बनेगा। इसी छन्द में तुम राम के चरित्र की रचना करो।" ब्रह्मा के इस आदेशानुसार उन्होंने चौबीस सहस्र श्लोकों से युक्त रामायण ग्रन्थ की रचना की।

रामकथा की रचना करने की प्रेरणा वाल्मीकि को कैसे प्राप्त हुई, इस सम्बन्ध में नारद के साथ किये एक संवाद का निर्देश वाल्मीकि रामायण में प्राप्त होता है। एक बार तप एवं स्वाध्याय में मग्न तथा भाषण कुशल नारद से वाल्मीकि ने प्रश्न किया कि, "इस संसार में ऐसा कौन महापुरुष है, जो आचार-विचार एवं पराक्रम में आदर्श माना जा सकता है ?" उस समय नारद ने उन्हें रामकथा का सार सुनाया, जिसे ही श्लोकबद्ध कर उन्होंने 'रामायण' महाकाव्य की रचना की। इस वृत्तान्त से प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में रामकथा से सम्बन्धित जो कथाएँ लोक-कथा के रूप में प्रचलित थी उन्हीं को वाल्मीकि ने छन्दोबद्ध रूप देकर रामायण महाकाव्य की रचना की थी।

राम द्वारा सीता का त्याग करने पर महर्षि वाल्मीकि ने ही गर्भवती सीता को अपने आश्रम में आश्रय किया था। इसी आश्रम में सीता के दो जुड़वाँ पुत्र हुए, जिनका नाम 'कुश' एवं 'लव' नामकरण महर्षि ने ही किया और उन्हें पाल पोष कर विद्या-दान भी किया। लव और कुश के बड़े होने पर उन्हें स्वयं के द्वारा विरचित रामायण काव्य सिखाया। तत्पश्चात

लव और कुश ने रामायण का गायन सर्वत्र करना शुरू किया और दोनों अयोध्या नगरी में भी पहुँच गये, जहाँ राम अश्वमेघ यज्ञ कर रहे थे, वहाँ उन दोनों ने रामायण का गान किया। उनके गायन से राम मन्त्रमुग्ध हो गये और जब राम को पता चला कि ये ऋषिकुमार सामान्य भाट नहीं है, बल्कि उन्हीं के पुत्र है, तब वे बड़े प्रसन्न हुए। राम ने सीता को अपने पास बुलवा लिया। उस समय वाल्मीकि स्वयं सीता के साथ राम-सभा में उपस्थित हुए और उन्होंने सीता के सतीत्व की साक्षी दी। इस समय उन्होंने राम से अपने सहस्र वर्षों के तप का एवं सत्यप्रतिज्ञता का निर्देश कर, सीता को स्वीकार करने की प्रार्थना की। तत्पश्चात् उन्हीं के कहने पर सीता ने पतिव्रत धर्म की कसम खाकर भूमि में प्रवेश किया। यहीं तक वाल्मीकि का वृत्तान्त मिलता है।

रामायण का रचना-काल—रामायण के रचना-काल के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वानों का मत है कि रामायण की रचना वेदों के बाद हुई थी, क्योंकि लिपि का ज्ञान भी उसी काल में हुआ था। एक आख्यान के अनुसार जिस प्रकार वाल्मीकि के पूर्व रामकथा मौखिक रूप से विद्यमान थी, उसी प्रकर दीर्घकाल तक 'वाल्मीकि-रामायण' भी मौखिक रूप में ही जीवित रही। इस काव्य की रचना के पश्चात् लव-कुश ने उसे कंठस्थ किया और वर्षों तक उसे गाते रहे। किन्तु अन्त में इस काव्य को लिपिबद्ध करने का कार्य भी स्वयं वाल्मीकि ने ही किया। यदि ऋग्वेद के दशम् मण्डल में उल्लिखित राम ही दशरथि राम थे तो दशम् मण्डल की रचना का काल 1500 ई. पू. को ही रामायण का रचना-काल स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु रामायण की भाषा वैदिक भाषा से भिन्न है। इस दृष्टि से यह वैदिक काल के बाद की रचना है।

भाषा की दृष्टि से रामायण की संस्कृत भाषा उत्तर-वैदिक काल के बाद की भाषा है, किन्तु यह प्रसिद्ध विद्वान् पाणिनि के पूर्व-युग की भी नहीं है। पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' में वाल्मीकि अथवा वाल्मीकि रामायण का उल्लेख नहीं है, किन्तु उसमें कैकयी, कौशल्या, शूर्पणखा आदि रामकथा से सम्बन्धित व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि पाणिनि के काल में यद्यपि रामकथा प्रचलित थी, फिर भी वाल्मीकि रामायण की रचना उस समय तक नहीं हुई थी। इससे विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला है कि रामायण की रचना ई.पू. 500 या 600 वर्ष पूर्व के युग में हुई थी।

रामायण में महाभारत की गाथाओं व पात्रों का कहीं उल्लेख नहीं है और न ही उसके रचयिता वेदव्यास का कहीं उल्लेख है। इसके विपरीत महाभारत में रामायण और वाल्मीकि का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त रामायण में भारत की जिन भौगोलिक सीमाओं, प्राकृतिक दृश्यों आदि का विवरण है, वह महाभारत में वर्णित इस प्रकार के विवेचन से सीमित है। इससे स्पष्ट है कि रामायण, महाभारत से पहले की रचना है।

रामायण में गौतम बुद्ध या बौद्ध धर्म का वर्णन नहीं है और न बौद्धकालीन सांस्कृतिक दिग्दर्शन ही है। इसके विपरीत बौद्धों के दशरथ जातक में राम का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि इसकी रचना महात्मा बुद्ध के काल से पूर्व छठी शताब्दी ईसवी पूर्व तक हो चुकी थी। प्रसिद्ध विद्वान् विष्टरनिट्ज का मत है कि रामायण की रचना ऋषि वाल्मीकि ने ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में लोक-गीतों के आधार पर की थी। रामायण का वर्तमान रूप, जिसमें बाद में जोड़े हुए अंश भी सम्मिलित है, दूसरी शताब्दी ईस्वी तक बनकर तैयार हो चुका था।

रामायण का वर्तमान रूप—रामायण के वर्तमान रूप में 24,000 श्लोक तथा सात काण्ड है—बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, लंकाकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड। विद्वानों की मान्यता है कि संस्कृत के मूल रामायण में अयोध्याकाण्ड से लेकर लंकाकाण्ड तक केवल पाँच काण्ड ही थे, बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड उसमें बाद में जोड़े गये। बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड की रचना-शैली अन्य काण्डों से भिन्न है तथा इन काण्डों के बहुत से कथन अन्य पाँच काण्डों से मेल भी नहीं खाते। वाल्मीकि के पाँच काण्डों वाले मूल रामायण ग्रन्थ में राम को युग का एक महान् पुरुष माना है और उसी रूप में उनका चरित्र-चित्रण हुआ है। किन्तु बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड में राम को विष्णु के अवतार के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि ये दो काण्ड बाद के युग के है।

पाठ की दृष्टि से वाल्मीकि रामायण के चार प्रामाणिक संस्करण उपलब्ध है—उदिच्य पाठ, दक्षिणात्य पाठ, गौडीय पाठ और पश्चिमोत्तरीय पाठ। वर्तमान में रामायण तीन है—वाल्मीकि रामायण, आध्यात्म रामायण और तुलसीकृत रामचरित मानस। इन तीनों की मूल कथा समान है, लेकिन कवियों ने तत्कालीन सामाजिक एवं धार्मिक धारणाएँ अपने-अपने दृष्टिकोण से वर्णित की है। फलस्वरूप ग्रन्थ के पात्रों के चरित्र-चित्रण में परिवर्तन हो गया है। महर्षि वाल्मीकि के राम एक साधारण मानव है, जिनमें मानवीय स्वभाव की दुर्बलताएँ और दृढ़ताएँ है, किन्तु तुलसी के राम सर्वव्यापी एवं सर्वशक्तिमान हैं। वे मोक्षदायक है और वे भगवान विष्णु के अवतार है।

रामायण की कथा—कोशल राज्य नरेश दशरथ अयोध्या में राज्य करते थे। उनके तीन रानियाँ। कौशल्या, सुमित्रा और कैकयी तथा चार पुत्र— राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न थे। राम का विवाह विदेह के राजा जनक की पुत्री सीता के साथ हुआ। वद्धावस्था में दशरथ, अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को राज्य देकर संसार से निवृत्ति चाहते थे, लेकिन रानी कैकयी ने राजा से दो वर माँगे, प्रथम तो अपने पुत्र भरत को राजसिंहासन सौंपना और द्वितीय राम को चौदह वर्ष का वनवास। अत: राम ने अपनी पत्नी सीता और छोटे भाई लक्ष्मण के साथ वन-गमन किया। इधर भरत ने राजपद ग्रहण नहीं किया और राम को लाने वन गया, लेकिन राम वापिस नहीं लौटे, तब भरत उनकी पादुकाएँ लेकर अयोध्या लौट आया। इसी बीच राम के वन-गमन करते ही पुत्र-शोक में राजा दशरथ की मृत्यु हो गयी। अनेक कष्ट झेलते हुए राम, लक्ष्मण और सीता, दक्षिण में नर्मदा नदी के तट पर पंचवटी नामक स्थान पर पहुँचे और वहीं रहने लगे। वहाँ लंका का राजा रावण, राम और लक्ष्मण की अनुपस्थिति में सीता का अपहरण कर लंका ले गया। राम ने किष्किन्धा के राजा सुग्रीव व उसके सेनानायक हनुमान एवं उनकी सेना की सहायता से रावण पर आक्रमण कर उसे पराजित किया। राम, लक्ष्मण और सीता चौदह वर्ष पूरे होने पर अयोध्या लौट आये, जहाँ राम का राज्याभिषेक किया गया। रावण के यहाँ रहने के कारण सीता की पवित्रता पर संदेह करते हुए लोग राजा राम की आलोचना करने लगे। अत: राम ने गर्भवती सीता का त्याग कर दिया। वन में सीता महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में रहने लगी, जहाँ उसके लव और कुश नामक दो जुड़वाँ पुत्र उत्पन्न हुए। वाल्मीकि ने उन्हें रामायण पाठ कण्ठस्थ कराया। जब राम ने अश्वमेघ यज्ञ किया तब लव और कुश अयोध्या पहुँचे और राम को रामायण का गान सुनाया। राम उनके गान से

मन्त्र-मुग्ध हो गये। जब राम को पता चला कि ये दोनों ऋषिकुमार उन्हीं के पुत्र है, तब उन्होंने सीता को वापिस बुलवाया। वाल्मीकि सीता को लेकर अयोध्या पहुँचे, जहाँ वाल्मीकि के कहने पर सीता ने पतिव्रत की कसम खाकर भूमि में प्रवेश किया।

आर्य-संस्कृति का प्रतिनिधि ग्रन्थ—रामायण कर्मयोग और भक्तितत्वज्ञान का प्रतिपादक ग्रन्थ है। इसके साथ ही तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक स्थिति तथा संस्थाओं और प्रथाओं का सुन्दर चित्रण मिलता है। इस ग्रन्थ में दो भिन्न संस्कृतियों—आर्य और अनार्य के बीच संघर्ष का बड़ा सजीव वर्णन किया गया है। आर्य संस्कृति के प्रतिनिधि के रूप में रा को तथा अनार्य संस्कृति के प्रतिनिधि के रूप में रावण को प्रस्तुत किया गया है। ये दोनों ही संस्कृतियाँ भिन्न-भिन्न जीवन-मूल्यों को प्रस्तुत करती है। जहाँ राम नैतिकता, सत्य, न्याय और स्वार्थ त्याग के पक्षपाती है तथा उनमें उच्च कोटि का आदर्श एवं मर्यादा दृष्टिगत होती है, वहीं रावण में अनैतिकता, कुटिलता, असत्य, धूर्तता जैसी तामस वृत्तियों के दर्शन होते हैं। इन दोनों संस्कृतियों के संघर्ष में सत्य की असत्य पर, न्याय की अन्याय पर तथा नैतिकता की अनैतिकता पर विजय बतायी गई है।

रामायण में आर्य पारिवारिक जीवन के उच्चतम आदर्शों का निरूपण हुआ है। इस ग्रन्थ में आदर्श पुत्र, भ्राता, पिता, माता आदि के जो कर्त्तव्य बताये गये हैं, वे आज भी भारतीय संस्कृति के आदर्श माने जाते हैं। राम, आर्य जीवन के उच्च आदर्श के प्रतीक हैं। वे आदर्श पुत्र होने के कारण, पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर, चौदह वर्ष का वनवास स्वीकार करते हैं, आदर्श भाई होने के कारण भरत अपने ज्येष्ठ भाई राम के होते हुए राजपद स्वीकार नहीं करता, आदर्श पत्नी होने के कारण सीता, राम के साथ वन-गमन करती है, भ्रातृत्व भावना के उच्च आदर्श लक्ष्मण के चरित्र में प्रदर्शित किया गया है। आदर्श राजा होने के कारण ही राम ने अपनी प्राणप्रिय सीता का त्याग किया, किन्तु आदर्श पति होने का कारण किसी दूसरी स्त्री से विवाह नहीं किया और एक-पत्नीव्रत का पालन किया जो उस युग में एक असाधारण बात थी। सीता का चरित्र भारतीय नारीत्व का साक्षात् प्रतीक है। भारतीय स्त्रियों के दैनिक जीवन में सीता की पवित्रता और पतिव्रत धर्म आज भी आदर्श स्वरूप है। पतिव्रत एवं पत्नीव्रत का जैसा सुन्दर आदर्श राम-सीता के दाम्पत्य जीवन से मिलता है, वह अन्यत्र मिलना दुष्कर हैं। दशरथ ने पिता का, भरत और लक्ष्मण ने भाई का, कौशल्या और सुमित्रा ने माता का, सुग्रीव ने मित्र का तथा हनुमान ने सेवक का जो आदर्श प्रस्तुत किया है, वह आज भी भारतीयों के लिए प्रेरणा स्रोत है। वस्तुतः मानव-जीवन की ऐसी कोई समस्या या पहलू नहीं है, जिस पर इस महाकाव्य में विस्तृत विवेचन न हुआ हो तथा मानव-जीवन के श्रेष्ठ आदर्श प्रतिपादित न किये गये हों। यही कारण है कि वाल्मीकि रामायण, महाभारत से अधिक लोकप्रिय तथा भारतीयों के लिए एक पवित्र आदर्श ग्रन्थ माना जाता है।

रामायण का धर्म—रामायण महाकाव्य का प्रधान लक्ष्य चरित्र का वह आदर्श प्रस्तुत करना है, जिससे मनुष्य देवत्व पर पहुँचता है। रामायण के अनुसार चरित्र ही धर्म है और इस कारण चरित्रवान राम धर्म के मूर्तरूप है। यह चरित्र सत्यनिष्ठा एवं नियतत्वता पर आधारित है। इस धर्म की कुंजी मन का संयम, इन्द्रियों पर अधिकार और कर्त्तव्यपालन की तत्परता है। दूसरों के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करना, लोक-जीवन की मर्यादा की रक्षा करना और समाज की व्यवस्था को बनाये रखने में योगदान करना इसका महान् आचार है।

यही वह धर्म-बन्धन है, जो जीवन को उचित रास्ते पर चलाये ले जा रहा है। इस धर्म-बन्धन में बंधा हुआ मनुष्य स्वार्थ से परमार्थ को श्रेष्ठ समझते हुए लोक-कल्याण की साधना में लगा रहता है। इसीलिए कैकयी के कहने से राज्य से हटाये जाने पर राम सरलता से अपना अधिकार छोड़ देते हैं और जब कुछ लोग उन पर भीरुता का आरोप लगाते हैं तो वे उन्हें आश्वस्त करते हुए कहते हैं कि, ''मैं अकेला ही इस अयोध्या को और सारी पृथ्वी को अपने बाणों से नष्ट करके अपना अभिषेक करा सकता हूँ, लेकिन मैं अधर्म से डरता हूँ, क्योंकि मैं धर्म के बन्धन से बंधा हुआ हूँ।'' अतः राम का संकल्प है कि वह लोभ, मोह, अज्ञान या किसी भी तामसी प्रवृत्ति से सत्य के सेतु को नहीं तोड़ेंगे। जीवन का अमूल्य कोष धर्म और सत्य है, जिसके खो जाने से मनुष्य सर्वथा दरिद्र हो जाता है, किन्तु इस कोष की वृद्धि से वह देवता बन जाता है। डॉ. बुद्ध प्रकाश के शब्दों में, ''उनके (राम के) माध्यम से महर्षि वाल्मीकि ने सन्तुलित समाज, व्यवस्थित राष्ट्र, मर्यादित आचार और संयत व्यवहार की आधारशिला पर धर्म का सुदृढ़ प्रसाद खड़ा किया है जिसके आदर्शों की अट्टालिकाएँ मानववाद के ऊँचे आकाश को स्पर्श करती हैं।''

आदर्श स्त्री के रूप में सीता—रामायण में सीता का चरित्र एक आदर्श स्त्री के रूप में चित्रित हुआ है। वह एक पति-परायण, कर्त्तव्यनिष्ठ तथा विकट परिस्थितियों में भी अपने पतिव्रत धर्म का पालन करने वाली नारी है। जब राम को वन-गमन का आदेश होता है, तब वह राजवैभव और अपने सुख-एश्वर्य को तिलांजली देकर अपने पति के साथ वन-गमन करती है तथा वन में असीम कष्टों को सहकर भी अपने पति की सेवा में संलग्न रहती है। वन में वह अपने पति के भाई अर्थात् देवर को पुत्रवत् मानकर स्नेह देती है। अनुचरों के प्रति उसमें दयालुता झलकती है। जब रावण पंचवटी से सीता का अपहरण कर लंका ले जाता है और वहाँ नाना प्रकार की धमकियाँ देकर और भय दिखाकर उसे अपनी पत्नी बनने को कहता है, तब भी वह अपने सतीत्व की और अस्तित्व की रक्षा करती है। राम-रावण युद्ध में रावण को मारकर जब राम विजयी होते हैं, तब सीता अपने सतीत्व को सिद्ध करने के लिए अग्नि-परीक्षा देने को सहर्ष तत्पर हो जाती है। एक साधारण धोबी के कहने पर जब राम, सीता का त्याग कर देते हैं, तब भी वह अपने पति के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव मन में न लाकर वाल्मीकि आश्रम में अपना निर्वासितन जीवन व्यतीत करती है और अपने पुत्रों—लव और कुश का समुचित पालन-पोषण करके मातृत्व के कर्त्तव्य का निर्वाह करती है। अन्त में अपने पति की मर्यादा की रक्षा करने के लिए, ताकि भविष्य में भी उसके पति पर कोई अंगुली न उठा सके, भूमि में प्रवेश करती है। इस प्रकार सीता की पवित्रता और उसका पतिव्रत धर्म आज भी एक आदर्श है तथा उसका चरित्र प्रत्येक युग में प्रत्येक समाज की स्त्रियों के लिए अनुकरणीय बन गया है।

रामायण का साहित्यिक महत्त्व—साहित्यिक दृष्टि से रामायण महाकाव्य का बड़ा महत्त्व है। भाव और भाषा दोनों ही दृष्टिकोण से यह ग्रन्थ सर्वाधिक प्रभावशाली है। भाषा की दृष्टि से इसमें छन्दों का विलक्षण प्रयोग, अलंकारों का चमत्कारपूर्ण-विन्यास तथा रसों का पूर्ण परिपाक मिलता है। श्रृंगार, वीर, शान्त, रौद्र, वात्सल्य, प्रेम, करुणा, वीभत्स, भक्ति आदि सभी रसों का, इस ग्रन्थ में समावेश है। किन्तु श्रृंगार, वीर तथा करुणा इन तीन रसों की इसमें विशेष प्रधानता है। भाव की दृष्टि से विभिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाली भावनाओं और विभिन्न स्थितियों में मानव के चरित्र-चित्रण का यह एक आदर्श ग्रन्थ है।

अयोध्याकाण्ड में राम को बनवास का आदेश देते समय पिता दशरथ की मनोदशा; माता कौशल्या एवं समित्रा का भाव-विह्वल होकर मातृ-प्रेम का प्रदर्शन, सीता का पतिव्रत धर्म, लंका में सीता की मनोदशा, प्रत्येक स्थिति में राम का सौम्य चरित्र आदि विभिन्न भावों का मनोवैज्ञानिक ढंग से अत्यन्त सुन्दर चित्रण मिलता है।

सौन्दर्य की अनुभूति भी इस महाकाव्य की विशेषता है। इसमें प्राकृतिक सौन्दर्य और नारी-सौन्दर्य का अनुपम संगम हुआ है। गंगा का बड़ा आकर्षक वर्णन है। किष्किन्धा काण्ड में पम्पा सरोवर, पंचवटी वन, दण्डक वन के मनोरम दृश्य तथा शरद् एवं वर्षा ऋतु के आकर्षक वर्णन के साथ ही बालि की पत्नी तारा के भी अनुपम सौन्दर्य का वर्णन मिलता है। नारी-सौन्दर्य के अन्तर्गत वाल्मीकि ने लंका-काण्ड में हनुमान द्वारा लंका में सीता को खोजते समय जिन अनेक सुन्दर स्त्रियों को देखा उन स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों तथा चेष्टाओं का बड़ा ही आकर्षक वर्णन किया गया है। सर्वाधिक आकर्षक नारी-सौन्दर्य का वर्णन सुन्दर-काण्ड में हुआ है। प्राकृतिक सौन्दर्य और नारी-सौन्दर्य के साथ ही इस महाकाव्य में मानव की अन्तः प्रकृति और मनोवृत्तियों का भी बड़ा स्वाभाविक चित्रण हुआ है। इन सभी दृष्टियों से रामायण काव्य-कला का सुन्दर उदाहरण है। संस्कृत साहित्य एवं भारत की विभिन्न साहित्यिक कृतियों पर इसका प्रभाव है। संस्कृत के महाकवि कालिदास एवं भवभूति तथा गोस्वामी तुलसीदास की कृतियाँ इससे व्यापक प्रभावित हुई है। निःसन्देह रामायण भारतीय संस्कृति का ही नहीं, साहित्यिक जगत् का प्रेरणादायक स्रोत और हमारी अमूल्य विरासत है।

रामायण एक महाकाव्य ही नहीं, इतिहास भी है। डॉ. याकोबी के अनुसार, विषय-वर्णन की दृष्टि से वाल्मीकि रामायण दो भागों में विभाजित की जा सकती है—प्रथम बाल और अयोध्या काण्ड में वर्णित अयोध्या की घटनाएँ, जिनका केन्द्रबिन्दु इक्ष्वांकु राजा दशरथ है; द्वितीय दण्डकारण्य एवं रावण-वध से सम्बन्धित घटनाएँ; जिनका केन्द्रबिन्दुरावण है। इनमें से अयोध्या की घटनाएँ ऐतिहासिक प्रतीत होती है, जिसका आधार किसी निर्वासित इक्ष्वांकुवंशीय राजकुमार से है। रावण-वध से सम्बन्धित घटनाओं का मूल उद्‌गम वेदों में वर्णित देवताओं की कथाओं में देखा जा सकता है। अतः डॉ. याकोबी के अनुसार, रामकथा से सम्बन्धित इन सारे आख्यान काव्यों की रचना इक्ष्वांकु वंश के सूतों ने सर्वप्रथम की; जिनमें रावण और हनुमान से सम्बन्धित प्रचलित आख्यानों को मिलाकर वाल्मीकि ने रामायण की रचना की।

वस्तुतः ऐतिहासिक दृष्टि से राम की दक्षिण यात्रा, आर्यों द्वारा दक्षिण विजय का प्रथम वर्णन है। दक्षिण भारत के प्राचीनतम शिलालेखों में उत्तरी भारत के इक्ष्वांकुवंशीय राजा राम का उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि राम के दक्षिण प्रवेश के पश्चात् दक्षिण भारत में आर्यों की सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव फैला था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि महर्षि वाल्मीकि ने अपनी अद्‌भुत प्रतिभा द्वारा विविध सूत्रों को समेट कर एक उत्कृष्ट मौलिक काव्य की सृष्टि की।

महाभारत

प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति को समग्र रूप से हमारे सामने प्रस्तुत करने वाले, महाभारत के रचयिता वेदव्यास हैं। वेदव्यास, को, वैदिक संहिताओं का पृथक्करणकर्ता वैदिक शाखा-प्रवर्तकों का आद्य आचार्य, ब्रह्मसूत्रों का प्रणयिता, महाभारत ग्रन्थ का रचयिता

तथा वैदिक संस्कृति को पुनर्जीवित करने वाला तत्त्वज्ञानी माना जाता है। यह सर्वज्ञ, सत्यवादी, सांख्य, योग, धर्म आदि शास्त्रों का ज्ञाता एवं दिव्य दृष्टि वाला महापुरुष था। वैदिक, पौराणिक एवं तत्त्वज्ञान सम्बन्धी विभिन्न क्षेत्रों में व्यास के द्वारा किये गये अभूतपूर्व कार्यों के कारण वे एक सर्वश्रेष्ठ ऋषि माने गये हैं।

वेदव्यास का जीवन-परिचय—वेदव्यास का मूल नाम कृष्ण द्वैपायन था। इनके पिता महर्षि पाराशर थे। इनके जन्म का वृत्तान्त महाभारत के आदि पर्व में आया है, जिसके अनुसार, महर्षि पाराशर तीर्थयात्रा करते हुए यमुना नदी के किनारे आये। वहाँ उस समय धीवरों के राजा दाशराज की कन्या सत्यवती नाव खे रही थी। महर्षि पाराशर उस नाव में बैठे। नाव में महर्षि, सत्यवती के लावण्यमय सौन्दर्य पर मोहित हो गये और उन्होंने उसकी कामना की तथा सत्यवती के समक्ष अपनी इच्छा प्रकट की। चूँकि सत्यवती धीवर की कन्या थी, अतः उसके शरीर से हमेशा मछली की दुर्गन्ध निकला करती थी, इसलिये उसे मत्स्यगंधा भी कहते थे। महर्षि पाराशर की अभिलाषा जानकर वह संकोच में पड़ गई। उसने महर्षि से कहा कि नदी के दोनों तरफ महर्षि-गण स्नान आदि कर रहे हैं, इस स्थिति में यह कैसे सम्भव है। तब पाराशर ने अपनी तपस्या के प्रभाव से चारों ओर कोहरा पैदा कर दिया, जिससे चारों ओर अन्धकार-सा छा गया। उस अन्धकार में पाराशर ने अपनी कामना पूरी की, फिर सत्यवती को यह वरदान भी दिया कि पुत्रोत्पत्ति के बाद वह फिर से कन्या बन जायेगी और उसके शरीर से दुर्गन्ध की बजाय सुगन्ध निकला करेगी। यह सुगन्ध एक योजन (एक योजन = 8 मील) से भी अनुभव की जा सकती थी। इसलिये सत्यवती का नाम योजनगंधा भी पड़ गया। महर्षि पाराशर से, सत्यवती की कोख से यमुना के एक द्वीप पर एक पुत्र पैदा हुआ। घने अन्धकार में वीर्याधान करने के कारण यह पुत्र एकदम कृष्ण-वर्ण का हुआ, इसलिये इसका नाम कृष्ण पड़ा और चूँकि यमुना के एक द्वीप पर जन्म हुआ, इसलिये वे द्वैपायन के नाम से प्रसिद्ध हुए। सामविधान ब्राह्मण ग्रन्थ के अनुसार वे विष्वक्सेन नामक आचार्य के शिष्य थे। पौराणिक साहित्य में इन्हें केवल ऋषि ही नहीं बल्कि विष्णु का, शिव का एवं ब्रह्मा के पुत्र का अवतार कहा गया है। वैशाख पूर्णिमा का दिन उनकी जन्म-तिथि मानी जाती है और इसी दिन उनका जन्मोत्सव भी मनाया जाता है। आषाढ़ पूर्णिमा को इन्हीं के नाम से 'व्यास पूर्णिमा' कहा जाता है।

पुराणों के अनुसार कृष्ण द्वैपायन के द्वारा चतुष्पाद वैदिक ग्रन्थ का विभाजन कर उसकी चार स्वतन्त्र संहिताएँ बनायी गयी थीं, इस कारण इन्हें वेद-व्यास का नाम प्राप्त हुआ। अत्यन्त कठोर तपस्या करके इन्होंने अनेक सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। वे दूर-श्रवण, दूर-दर्शन आदि अनेक विद्याओं में प्रवीण थे। द्रोपदी स्वयंवर तथा इन्द्रप्रस्थ के राजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय वहाँ उपस्थित थे। पाण्डवों के वनवासकाल में समय-समय पर वे पाण्डवों को धीरज बँधाते रहते थे। महाभारत-युद्ध के समय इन्होंने संजय को दिव्य दृष्टि प्रदान कर धृतराष्ट्र को युद्ध-वार्ता सुनाने की व्यवस्था की थी। युद्ध में पाण्डवों की विजय के बाद इन्होंने युधिष्ठिर को राजधर्म और राजदण्ड का उपदेश दिया था। घृताची अप्सरा (अरणी) से इन्हें शुक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। किन्तु स्कन्द पुराण में शुक को जाबालि ऋषि की कन्या वाटिका से उत्पन्न पुत्र कहा गया है। शुक के अतिरिक्त विचित्रवीर्य राजा की अम्बिका एवं अम्बालिका नामक पत्नियों से क्रमशः धृतराष्ट्र और पाण्डु नामक नियोगज पुत्र उत्पन्न हुए थे। विदुर भी, अम्बालिका की दासी से, इन्हीं का पुत्र था। शुक, जो कालान्तर में

शुकदेव मुनि के नाम से विख्यात हुए, ने व्यास वंश को आगे चलाया। कुरुवंशीय राजाओं में से शांतनु, विचित्रवीर्य, धृतराष्ट्र, कौरव, पाण्डव, अभिमन्यु, परीक्षित, जनमेजय, शतनीक—आठ पीढ़ियों के राजाओं से व्यास का जीवन-चरित्र सम्बन्धित था। ये सारे वृत्तान्त उनके दीर्घायु होने का संकेत करते हैं। प्राचीन साहित्य में इन्हें केवल दीर्घायु ही नहीं, बल्कि चिरंजीव कहा गया है।

महाभारत का निर्माण—पौराणिक साहित्य के साथ-साथ संस्कृत साहित्य का आद्य एवं सर्वश्रेष्ठ 'इतिहास पुराण ग्रन्थ' माने गये 'महाभारत' का निर्माण की व्यास के द्वारा हुआ। शतपथ ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक एवं छान्दोग्य उपनिषद् में 'इतिहास पुराण' का उल्लेख मिलता है। किन्तु इन ग्रन्थों में उल्लिखित 'इतिहास पुराण' स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर, आख्यान एवं उपाख्यात के रूप में ब्रह्मादि ग्रन्थों में सम्मिलित किये गये थे। ये आख्यान अत्यन्त छोटे होने के कारण उनका विभाजन 'पर्व', 'उपपर्व' आदि में नहीं किया जाता था। व्यास की श्रेष्ठता यह है कि इन्होंने ब्रह्माणादि ग्रन्थों में निर्दिष्ट 'इतिहास पुराण' जैसा तत्कालीन राजकीय इतिहास, पर्व, उपपर्व आदि से युक्त एक साहित्य कृति में बाँध लिया। इस प्रकार यह एक सर्वथा नवीन साहित्यिक कृति बन गई।

इस समय महाभारत में 18 पर्व और एक लाख श्लोक हैं। आकार की विशालता तथा विषय-वस्तु की विविधता के कारण यह विश्व का सबसे बड़ा ग्रन्थ और महाकाव्य माना गया है। महाभारत के इस ग्रन्थ के विकास के सम्बन्ध में तीन अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। मूल महाभारत के प्रणेता श्री व्यास ने अपने पाँच शिष्यों को महाभारत सिखाया। उन पाँच शिष्यों में वैशम्पायन एक थे। वैशम्पायन ने सर्पसत्र के समय जनमेजय के सामने महाभारत की कथा सुनाई। वैशम्पायन का यह आख्यात प्रश्नोत्तर के रूप में है। इस प्रकार व्यास के मूल महाभारत में वैशम्पायन द्वारा परिवर्द्धन होता गया। इसके बाद शौनक के द्वादशवर्षीय यज्ञ के अन्त में नेमिषारण्य में आकर शौनक ऋषि महाभारत की कथा सुनाते हैं। इस प्रकार हमारे सामने व्यास, वैशम्पायन और शौनक तीन नाम उपस्थित होते हैं। व्यास ने महाभारत को 'जय' नाम से पुकारा है। इसके बाद जब वैशम्पायन ने जनमेजय को इसकी कथा सुनाई तब इसके 24,000 श्लोक थे और इसका नाम भारत पड़ गया। अन्त में शौनक ऋषि ने इस कथा में परिवर्द्धन कर इसका नाम 'महाभारत' कर दिया। महाभारत का नाम आश्वलायन गृह्यसूत्र के समय प्रचलित था। इस समय तक इसके श्लोकों की संख्या एक लाख हो गयी थी।

महाभारत अपनी विशालता के कारण ही नहीं बल्कि अन्य कई कारणों से भी यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। हिन्दुओं का परम पुनीत धार्मिक ग्रन्थ गीता इसी ग्रन्थ का एक भाग है। भारत की तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति पर यह ग्रन्थ अच्छा प्रकाश डालता है। धर्म, अर्थ, नीतिशास्त्र, दर्शन, तत्त्वज्ञान, मोक्ष आदि का भी यह अपूर्व ग्रन्थ है।

महाभारत का रचना-काल—महाभारत के रचना-काल के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कहना अत्यन्त ही कठिन है, क्योंकि वर्तमान रूप में महाभारत कई शताब्दियों के विकास का फल है। समय-समय पर इसमें आख्यानों का समावेश होता गया। पाणिनि के अष्टाध्यायी में वेदव्यास या महाभारत का उल्लेख नहीं मिलता, लेकिन पतंजलि के व्याकरण-महाभाष्य में महाभारत की कथा का उल्लेख अनेक बार हुआ है। इससे प्रतीत होता

है कि महाभारत का निर्माण पाणिनि के उत्तर-काल में एवं पतंजलि के पूर्व काल में हुआ होगा।

भाषा की दृष्टि से कहीं-कहीं महाभारत की भाषा 'ब्राह्मणों' और उपनिषदों की भाषा से साम्य रखती है। इससे प्रतीत होता है कि महाभारत के कुछ अंश उत्तर वैदिक युग के बाद के हैं। वाल्मीकि रामायण में महाभारत का कोई उल्लेख न होने से यह रामायण के बाद की रचना है। महाभारत के अनेक स्थलों पर विदेशी जातियों--यूनानी, शक, पह्लव आदि का उल्लेख है। ये जातियाँ भारत में ई.पू. पहली और दूसरी शताब्दी में आयीं। मेक्डॉनल्ड ने इसे 500 ई.पू. और डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी ने इसे 200 ई.पू. की रचना माना है, जबकि डॉ. आर. जी. भण्डारकर का मत है कि ई.पू. 500 तक महाभारत एक प्रसिद्ध धार्मिक ग्रन्थ बन चुका था। रचना-काल के सम्बन्ध में हैप्किन्स का मत उल्लेखनीय है। वे इसके विकास के निम्न पाँच स्तर बताते हैं--(1) भारतवंश के गान,जो 400 ई.पू. तक बन चुके थे, (2) पाण्डवों का वीरकाव्य जो 400 ई.पू. और 200 ई.पू. के बीच में लिखा गया, (3) कृष्ण को भगवान मानने वाले भागवत धर्म का ग्रन्थ जिसकी रचना 200 ई.पू. और 200 ई. के मध्य हुई, (4) कुछ बाद के पर्व और पहिले पर्व की प्रस्तावनाएँ जो 200 ई. से 400 ई.तक कभी जोड़ी गई थी, और (5) बाद के प्रक्षेप और सम्पूर्ण ग्रन्थ का सम्पादन जो 400 ई. के बाद हुआ। हेप्किन्स के इस मत के अतिरिक्त 442 ई. के एक गुप्तकालीन अभिलेख में एक लाख श्लोक वाले महाभारत का उल्लेख है। अतः इस समय तक महाभारत का वर्तमान रूप निश्चित रूप से तैयार हो चुका था।

सम्भव है महाभारत का विकास इस तरह हुआ हो या किसी और तरह, किन्तु इतना निश्चित है कि इसके बनने में हजार वर्ष से भी ज्यादा समय लगा और इसकी सामग्री अनेक जगहों से इकट्ठी की गई। फिर भी इसके वर्तमान रूप में यह कहना बहुत कठिन है कि कौन-सा अंश कब और किसके द्वारा लिखा गया।

महाभारत की कथा-वस्तु—हस्तिनापुर में शान्तनु के पुत्र विचित्रवीर्य के दो पुत्र—धृतराष्ट्र और पाण्डु थे। धृतराष्ट्र जन्म से अन्धा होने के कारण उसका छोटा भाई पाण्डु हस्तिनापुर की गद्दी पर बैठा। कई वर्षों तक राज्य करने के बाद एक ऋषि के शाप के कारण पाण्डु को अपनी दोनों रानियों--कुन्ती व माद्री, सहित वन-गमन करना पड़ा। पाण्डु की अनुपस्थिति में, पाण्डु के लौट आने तक धृतराष्ट्र को हस्तिनापुर का राजा बनाया गया। बनवास काल में कुन्ती ने युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन को तथा माद्री ने नकुल व सहदेव को जन्म दिया। पाण्डु पुत्र होने के कारण ये पाण्डव कहलाए। बनवास काल में ही पाण्डु और माद्री की मृत्यु हो गयी। गुरु द्रोणाचार्य ने पाण्डवों को शिक्षा-दीक्षा प्रदान की और साथ ही धृतराष्ट्र के पुत्रों को भी शिक्षा-दीक्षा दी। किन्तु पाँचों पाण्डव सभी शास्त्रों तथा शस्त्र-विद्याओं में अधिक दक्ष हो गये। अतः धृतराष्ट्र के सौ पुत्र, जो कौरव कहलाते थे, पाण्डवों की योग्यता को देखकर मन ही मन जलते थे। पाण्डवों के एक भाई अर्जुन ने स्वयंवर की शर्तें पूरी कर पाँचाल देश की राजकुमारी द्रोपदी से विवाह किया। किन्तु माता कुन्ती द्वारा अनजाने में कहे एक कथन के कारण पाँचों पाण्डवों का विवाह द्रोपदी के साथ किया गया। भीष्म पितामह की मध्यस्थता में पाण्डवों ने अपने पिता के राज्य का कुछ भाग प्राप्त कर इन्द्रपस्थ को अपनी राजधानी बनाया। पाण्डवों की प्रतिभा, जनकल्याण और कुशल शासन-

प्रवन्ध एवं विजयों से उनका राज्य खूब विस्तृत हो गया। कौरव भाइयों में ज्येष्ठ दुर्योधन यह सहन नहीं कर सका। उसने पाण्डवों का सर्वनाश करने के लिये, उन्हें द्यूत-क्रीड़ा के लिये आमंत्रित किया। दुर्योधन की धूर्त एवं कपट के कारण युधिष्ठिर जुए में अपना राज्य खो बैठा तथा जुए की शर्त के अनुसार पाँचों भाइयों को अपनी पत्नी द्रोपदी सहित अपना राज्य छोड़कर तेरह वर्षों के लिये बनवास में जाना पड़ा। उसमें एक शर्त यह भी थी कि बारह वर्ष के वाद बनवास में पाण्डवों को एक वर्ष अज्ञातवास करना होगा।

पाँचों पाण्डव बारह वर्ष बनवास में तथा विराट नगर में राजा विराट के यहाँ अपना अज्ञातवास विताकर हस्तिनापुर लौटे और अपना राज्य माँगा। लेकिन दुर्योधन ने सूई की नोक के बराबर की भूमि पाण्डवों को देने से इन्कार कर दिया। यादव-वंशी द्वारिका के राजा श्रीकृष्ण, कौरवों और पाण्डवों में मेल कराने के लिये हस्तिनापुर गये तथा पाण्डवों को राज्य का कुछ भाग दिलाना चाहा, लेकिन वे असफल रहे। अतः पाण्डवों को अपने राज्य के लिए लड़ना पड़ा। न्याय और धर्म, चूँकि पाण्डवों के पक्ष में था, अतः श्रीकृष्ण ने पाण्डवों का पक्ष ग्रहण किया। कुरुक्षेत्र के मैदान में कौरवों और पाण्डवों के बीच 18 दिन तक भयंकर युद्ध हुआ। इसे महाभारत का युद्ध कहते हैं। अन्त में कौरव पराजित हुए और मारे गये। पाण्डवों ने विजय के उपलक्ष में अश्वमेघ यज्ञ किया और छत्तीस वर्ष तक राज्य करने के बाद अर्जुन के पौत्र परीक्षित को राज्य सौंपकर द्रोपदी सहित वे तपस्या करने हिमालय में चले गये और वहीं उनका देहावसान हो गया।

महाभारत महाकाव्य के दो संस्करण उपलब्ध होते हैं—उत्तरी तथा दक्षिणी, परन्तु इनमें परस्पर काफी अन्तर है। महाभारत के प्रकाशित तथा पूर्ण संस्करणों में कलकत्ता, बम्बई तथा कुम्भकोणम के संस्करण महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। किन्तु अब भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना द्वारा प्रकाशित महाभारत का संस्करण ही सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है।

महाभारत में धार्मिक विविधता—यद्यपि महाभारत की कथा कौरवों और पाण्डवों के बीच हुए युद्ध से सम्बन्धित है, तथापि इसमें अनेक आख्यानों, उपाख्यानों, धर्म-दर्शन की चर्चाओं तथा नीति सन्बन्धी प्रवचनों का धना ताना-बाना बुना गया है। इसमें लोकधर्म के अनेक रूप और पक्ष दिखाई देते हैं। कहीं वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान हो रहा है, कहीं कृष्ण की पूजा हो रही है तो कहीं शिव की प्रार्थना-अर्चना की जा रही है तथा कहीं देवी दुर्गा को प्रसन्न करने हेतु अनुष्ठान किया जा रहा है। कहीं भारतीय दर्शन की बारीकियाँ ढूँढ़ी जा रही है, कहीं नीति का आख्यान हो रहा है, कहीं नदी, पर्वत, वृक्ष आदि की पूजा हो रही है और कहीं प्रेत, पिशाच आदि की मिन्नतें की जा रही हैं और उन्हें बलियाँ चढ़ाई जा रही हैं।

इस महाकाव्य में ऋषियों के आश्रमों और ब्राह्मणों के घरों में वैदिक यज्ञों का उल्लेख मिलता है, जिसमें सूर्य, इन्द्र और अग्नि का आह्वान किया जा रहा है। किन्तु सामान्य गृहस्थियों में ब्रह्मा, विष्णु और शिव की पूजा का वर्णन मिलता है। नागों व यज्ञों की पूजा और छोटे-मोटे जानवरों की वलि देने का उल्लेख भी मिलता है। विभिन्न जातियों के लोगों के गाने-बजाने, खेलने-कूदने, मेले-तमाशे, कुश्ती-दंगल, देवताओं की छड़ियों का उत्सव, वच्चे के जन्म से छठे दिन षष्ठी पूजा, नदियों के किनारे धार्मिक मेले लगना, हाथी, बैल,

हंस, गरुड़ आदि को पवित्र मानना, भूत-प्रेत व पिशाचों को टोने-टोटकों से वश में करना आदि लोक र्म के प्रचलित रूपों का उल्लेख हमें महाभारत में मिलता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रचलित लोकधर्म, आध्यात्मिक व दार्शनिक शिखर से अन्धविश्वासों और मान्यताओं के गर्त तक विस्तृत था। किन्तु तत्कालीन ऋषियों और विचारकों ने इसे एकता और समन्वय के सूत्र में बाँध दिया तथा वैदिक चिन्तन की परम्पराओं में सम्मिलित कर लिया उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि एक ही परब्रह्म, अपने आपको विभिन्न वस्तुओं, पदार्थों और देवताओं के रूप में प्रकट करता है। अतः जो व्यक्ति अपनी रुचि के अनुकूल जिस रूप में श्रद्धापूर्वक भगवान की पूजा-अर्चना करता है, भगवान उसे उसी रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार महाभारत में एक ओर धर्मों की विविधता दिखाई देती है तो दूसरी ओर सभी धर्मों की एकता और समन्वय के दर्शन भी होते हैं।

जीवन की तीन दृष्टियाँ—महाभारत में प्रमुख रूप से जीवन की तीन दृष्टियों का अध्ययन है। ये हैं—नियमिवादी, प्रज्ञावादी और अध्यात्मवादी। इन तीनों के प्रतिपादक क्रमशः धृतराष्ट्र, विदुर और सनत्सुजात हैं। धृतराष्ट्र कहते हैं, "किसी बात के होने या न होने में मनुष्य का कोई हाथ नहीं होता, सब-कुछ भाग्य पर निर्भर है। अतः किसी प्रकार के परिश्रम या अध्यवसाय के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिये, काम-धन्धे के प्रति उपेक्षा भाव रखना चाहिये और किसी वस्तु की भी इच्छा नहीं करनी चाहिये।" किन्तु विदुर जैसे बुद्धि में विश्वास करने वाले लोग इस सामर्थ्यहीनता से सहमत नहीं है। उनका मत है कि पराक्रम से अनर्थ को टाला जा सकता है और बुद्धि से अपना भविष्य सुधारा जा सकता है। मनुष्य का लक्षण कर्म है और कर्म को छोड़ बैठना मृत्यु है। अतः सदाचारपूर्वक कर्म करते हुए अपना उत्थान करना मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है। जब विदुर की इस कर्म की नीति से धृतराष्ट्र टस से मस नहीं हुए तब सनत्सुजात को उपदेश के लिए बुलाया गया। उनका मत था कि मृत्यु कोई चीज नहीं है बल्कि अहंकार, क्रोध और मोह ही मृत्यु है। ये मनुष्य के भीतर से पैदा होते हैं, इसलिये मृत्यु को रोकना मनुष्य के हाथ में है। सत्य ही एकमात्र वेद है, जो पाप से बचाता है। बारह महाव्रत हैं जो मनुष्य को ब्राह्मणत्व प्रदान करते हैं और बारह महादोष हैं जो उसे नीचता और पतन की ओर ले जाते हैं। इस प्रकार प्रज्ञा-दर्शन एवं अध्यात्म-दर्शन शील व सदाचार के सूत्र में बँधे हुए हैं। अतः महाभारत में इन तीनों दृष्टियों का गहन अध्ययन किया गया है।

वर्णाश्रम व्यवस्था और सदाचार—महाभारत ने शील और सदाचार को सामाजिक व्यवस्था का मूल माना है। महाभारत के अनुसार समाज के चारों वर्ण गुण और कर्म पर आधारित हैं। बालक के उपनयन के बाद शिक्षा, शील और सदाचार से उसके वर्ण का निर्णय होता है। महाभारत के वन-पर्व में अजगर के प्रश्न करने पर कि, "ब्राह्मण कौन है ?" युधिष्ठिर कहते हैं कि जिस व्यक्ति में सत्य, दान, क्षमा, शील, दया, दम और अहिंसा हो वही ब्राह्मण है। फिर प्रश्न उठता है कि क्या ये गुण शूद्र में हों तो वह ब्राह्मण कहलायेगा ? उत्तर स्पष्ट है कि शूद्र में यदि ये गुण हैं तो निश्चय ही वह ब्राह्मण है, जिसमें चरित्र नहीं है, वह शूद्र है। इस प्रकार वर्णों की व्यवस्था गुण, कर्म और स्वभाव पर टिकी है न कि जाति, कुल और परम्परा पर। महाभारत के शान्ति पर्व में चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

महाभारत उस कर्म, नियम और आचार को धर्म मानता है जिसके केन्द्रबिन्दु मनुष्य हैं। महाभारत के शान्ति-पर्व में स्पष्ट घोषणा की गई है कि, "सबसे गहरा रहस्य यह है कि मनुष्य से अधिक श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।" मानववाद का यह महामंत्र सभी प्रकार के जाति एवं सम्प्रदायों के भेदों को दूर कर मनुष्य को धर्म और संस्कृति के समान धरातल पर ले आता है।

भगवद् गीता का दर्शन—महाभारत रूपी समुद्र के मंथन से भगवद् गीता रूपी अमृत-कलश भी प्रकट होता है। कहा गया है कि कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में अर्जुन का मोह दूर करने के लिये श्री वासुदेव कृष्ण ने इसका प्रवचन किया था। इसके अनुसार अद्वैत, विशष्टाद्वैत और द्वैत सभी अपनी-अपनी जगह सही हैं। गीता में अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों का समन्वय मिलता है। किन्तु गीता में मात्र दर्शन ही नहीं, बल्कि गीता व्यावहारिक जीवन की निर्देशिका भी है। दुनिया में रहते हुए मनुष्य को कोई काम करते समय यह सोच लेना चाहिये कि उस काम के करने और न करने से क्या होने की सम्भावना है। बुद्धिपूर्वक विचार करने से उसे उचित दृष्टि मिल जाती है। कर्म के बारे में लोग दो तरह से सोचते हैं। कुछ लोग केवल फल की कामना में लीन होकर कर्म करते हैं तो कुछ लोग कर्म से बिल्कुल भागना चाहते हैं और सोचते हैं कि जो कुछ हो रहा है वह ठीक है, हाथ-पैर हिलाने की क्या जरूरत है। लेकिन गीता में इन दोनों के बीच का रास्ता बताया है, अर्थात् कर्म बराबर करते रहना चाहिये और उसके फल से अपना ध्यान हटा लेना चाहिये। इसे निष्काम कर्म कहते हैं। इसके लिये बुद्धि और श्रद्धा की आवश्यकता है। बुद्धि और श्रद्धा के प्रयोग से जो दृष्टिकोण बनता है उसका नाम ज्ञान और भक्ति है और उनसे समन्वित होकर ही कर्म ठीक से किया जा सकता है। इस प्रकार गीता ज्ञान, भक्ति और कर्म की शिक्षा देती है।

गीता जीवन और जगत् की विविध प्रवृत्तियों के समन्वय का अद्भुत प्रदर्शन करती है। इसमें 'यज्ञ' को कर्म मानकर, 'योग' को कार्य-कौशल सिद्ध कर, 'संन्यास' को कामनाओं का त्याग बताकर भारतीय, धार्मिक और सांस्कृतिक मान्यताओं को नई दृष्टि दी गई है। अतः गीता भारतीय जीवन की कुँजी है।

महाभारत में आदर्श—महाभारत में पात्रों की अत्यधिकता होने पर भी सभी के साथ न्याय किया गया है। महाभारत के रचयिता ने महाभारत के सर्वोत्कृष्ट पात्र श्रीकृष्ण को नारायण का अवतार मानकर ही उनका वर्णन किया है। विदुर भी महाभारत का एक आदर्श पात्र है। वह महान् विद्वान् और नीतिशास्त्र एवं धर्मशास्त्र का ज्ञाता होने के कारण श्रद्धा का पात्र है। धृतराष्ट्र, विदुर का ज्येष्ठ भ्राता है फिर भी हस्तिनापुर के हितों को ध्यान में रखते हुए वह धृतराष्ट्र को कई बार सलाह देता है कि राजा होते हुए वे अपने पुत्र की महत्त्वाकांक्षाओं को अपने निर्णयों में आड़े नहीं आने दें। कौरवों और पाण्डवों के पितामह भीष्म, धर्म और न्याय के प्रतीक होते हुए भी अपनी प्रतिज्ञा के कारण हस्तिनापुर के राजसिंहासन से बँधे हुए हैं। यही कारण है कि कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में, यह जानते हुए भी दुर्योधन अधर्म और अन्याय का प्रतीक है, वे दुर्योधन के पक्ष में युद्ध करते हैं। इसी प्रकार धर्मराज युधिष्ठिर का चित्रण भी बड़ा आकर्षक है। धर्म के रूप में युधिष्ठिर ने अपने कर्त्तव्य का पालन किया। अनेक कष्ट सहन करके भी वह कभी धर्मच्युत नहीं हुआ। धर्मराज सभी पाण्डवों में विशेष बुद्धिमान थे। उनकी बुद्धिमत्ता वनपर्व में यक्ष द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तरों

में स्पष्ट झलकती है। इस प्रकार युधिष्ठिर में धर्म और बुद्धिमत्ता, भीम में बल, अर्जुन में वीरता और कुशलता, नकुल और सहदेव में आज्ञाकारिता का आदर्श बहुत ही सुन्दर ढग से चित्रित किया गया है।

महाभारत की द्रौपदी एक आदर्श नारी है। वह एक सती साध्वी और पतिव्रता है। द्रौपदी के चरित्र के द्वारा व्यास ने भारतीय नारियों के सामने एक अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया है। वन-पर्व में द्रौपदी के गुणों का बहुत ही सुन्दर वर्णन हुआ है। वन में रहते हुए द्रौपदी से जब सत्यभामा मिलने आती है तब बातों ही बातों में वह द्रौपदी से पूछती है कि उसके पाँचों पति उसके वश में किस तरह रहते हैं, तव द्रौपदी जो प्रत्युत्तर देती है, वह उल्लेखनीय है। वह कहती है, (169) मैं अहंकार, काम और क्रोध को छोड़कर पाण्डवों की सेवा करती हूँ। मैं कभी अपने मुँह से बुरी बात नहीं निकालती। असभ्य की भाँति व्यवहार नहीं करती। पतियों के अभिप्रायपूर्ण संकेत का सदैव अनुसरण करती हूँ। देवता, मनुष्य, गन्धर्व या कितना भी रूपवान-सम्पन्न पुरुष मेरे सामने आ जाए, फिर भी मेरा मन पाण्डवों को नहीं छोड़ता। पतियों और उनके सेवकों को भोजन कराये बिना मैं कभी भोजन नहीं करती। उनके सोने के बाद ही मैं सोती हूँ। बाहर से जब मेरे पति आते हैं, तब मैं मुस्करा कर उनका स्वागत करती हूँ। मेरे पति जिस पदार्थ को पसन्द नहीं करते, उसे मैं भी त्याग देती हूँ। हे सत्यभामे! गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा से ही मेरे पति मेरे अनुकूल रहते हैं।" द्रोपदी के इन वाक्यों में एक आदर्श नारी का चरित्र स्पष्ट होता है। संभवतः व्यास द्रौपदी के चित्रण द्वारा भारतीय नारियों को ऐसी ही साध्वी और पतिव्रता बनाना चाहते थे।

भारतीय ज्ञान का विश्वकोश—महाभारत धार्मिक एवं लौकिक भारतीय ज्ञान का विश्वकोश है। इस ग्रन्थ के रचयिता ने इस ग्रन्थ की समग्रता के बारे में कहा है, "इस ग्रन्थ में जो कुछ है, वह अन्यत्र है; परन्तु जो कुछ इसमें नहीं है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है। निःसन्देह यह ग्रन्थ तत्कालीन धार्मिक, नैतिक और ऐतिहासिक आदर्शों का अमूल्य भण्डार है। महाभारत समस्त दर्शनों का सार, स्मृतियों का विवेचन-ग्रन्थ एवं 'पंचम वेद' माना जाता है। इस महाकाव्य में विविध उपाख्यानों द्वारा लोकधर्म के विभिन्न अंगों पर प्रकार डाला गया है। मानव-जीवन की ऐसी कोई समस्या या ऐसा कोई पक्ष नहीं है, जिस पर इस ग्रन्थ में विस्तृत विवेचन न किया-गया हो। आदि-पर्व में महाभारत को केवल इतिहास ही नहीं, बल्कि धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र नीतिशास्त्र तथा मोक्षशास्त्र भी कहा गया है।

ऐतिहासिक दृष्टि से महाभारत कौरव-पाण्डवों के पारस्परिक राजनीतिक संघर्ष का इतिहास तो है ही, परन्तु साथ ही वह भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म के सर्वांगीण विकास की गाथा भी है। इसमें तत्कालीन धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक घटनाओं का अमूल्य एवं अक्षय संग्रह है। भारतीय वीरता, साहस, शौर्य और नैतिक आदर्शों की उज्ज्वल गाथाएँ, जैसे-शकुन्तला कथा, रामकथा, शिबि-कथा, सावित्री एवं सत्यवान की कथा, भत्स्यावतार की कथा, नल और दमयन्ती की कथा आदि इस महाकाव्य में हैं। इतिहास और चरित्र की तो यह खान है। महाभारत एक श्रेष्ठ धर्मशास्त्र भी है, जिसमें पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन के विधि-विधानों तथा धर्म की विस्तृत व्याख्या दी गई है। शान्ति-पर्व में राजधर्म, आपद्धर्म एवं मोक्ष धर्म तथा अनुशासन-पर्व में दान-धर्म का विवेचन है। महाभारत नीतिशास्त्र का भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। शान्ति-पर्व में भीष्म का

राजनीतिक तथा धर्म के विभिन्न पक्षों पर लम्बा प्रवचन है। सभा-पर्व में नारद का राजनीति विषय पर प्रवचन है। नीतिकारों में महात्मा विदुर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विदुर-नीति और संजय-नीति महाभारत का महत्त्वपूर्ण अंग है। महाभारत आध्यात्मशास्त्र का अनुपम ग्रन्थ है। इसमें श्रीमद्भगवत गीता, सनत्सुजातीय, अनुगीता, पाराशर गीता, मोक्ष धर्म आदि महत्त्वपूर्ण अंश संकलित हैं। महाभारत में श्रेष्ठ धार्मिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों का समावेश होने से इसे हिन्दू धर्म का 'वृहत्-कोश' कहा गया है। पौराणिक आख्यानों-उपाख्यानों का समावेश होने से इसे पुराण-संहिता भी माना गया है। कर्म, भक्ति, ज्ञान, तप आदि मार्गों का विवेचन मोक्ष के साधनों के रूप में होने से कुछ विद्वान् इसे मोक्षशास्त्र भी कहते हैं। किन्तु महाभारत में मोक्ष के साधनों और सांसारिक सुख के बीच समन्वय किया गया है और चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की, मानव-जीवन के लक्ष्य के रूप में प्रतिष्ठा हुई है। धर्म को प्रधान पुरुषार्थ माना गया है। महाभारत के अनुसार धर्म का उल्लंघन किये बिना अर्थ और काम का सेवन करना चाहिये। इस ग्रन्थ में प्रवृत्ति, निवृत्ति, कर्म और संन्यास के विचारों का सुन्दर ढंग से प्रतिपादन हुआ है। महाभारत की शिक्षा का सार यह है कि मनुष्य व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर लोक-कल्याण के लिए धर्मसम्मत कर्त्तव्य का पालन करता रहे। इस विषय-विविधता के कारण महाभारत, ऋग्वेद के बाद संस्कृत साहित्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

साहित्यिक महत्त्व—साहित्यिक दृष्टि से महाभारत इतना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं है, जितना रामायण। भाव, भाषा आदि के दृष्टिकोण से तथा प्रकृति चित्रण एवं नारी-सौन्दर्य वर्णन में रामायण का स्थान सर्वोच्च है। इस ग्रन्थ से प्रणयन का उद्देश्य बताते हुए स्वयं व्यास ने कहा है, "हस्तिनापुर के कुरु वंश का इतिहास कथन कर पाण्डु पुत्रों की कीर्ति संवर्द्धित करने के लिए इस ग्रन्थ की रचना की गई है।" अतः व्यास ने साहित्यिक दृष्टि से इस ग्रन्थ का प्रणयन नहीं किया। इस ग्रन्थ का प्रधान रस वीर है, किन्तु कहीं-कहीं शृंगार और शान्त रस उसके अंग-रूप में दिखाई देते हैं। साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इसके कथानकों ने अनेक कवियों तथा लेखकों को प्रभावित किया है।

इस प्रकार श्री व्यास को सनातन हिन्दू धर्म का प्रधान व्याख्याता कहा जाता है। श्री व्यास केवल महाभारत के रचयिता ही नहीं, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक पुनत्स्थान का एक ऐसा आचार्य था, जिसने हिन्दू धर्म को वैदिक धर्म में निर्दिष्ट समस्त धर्म तत्त्वों को बदलते हुए देशकाल-परिस्थिति के अनुसार एक बिल्कुल नया रूप दिया।

महाकाव्यकालीन सभ्यता एवं संस्कृति

भारतीय इतिहास में उत्तरवैदिक काल के बाद समय 'सूत्रकाल' और इसके बाद का समय 'महाकाव्यकाल' के नाम से जना जाता है। क्योंकि इसी काल में रामायण और महाभारत नामक दो महाकाव्यों की रचना हुई थी। यद्यपि डॉ. डी.सी. सरकार ने पुरातात्विक खोजों के आधार पर महाभारत को रामायण से प्राचीन सिद्ध करने का प्रयास किया है, तथापि अधिकांश विद्वान्, जैसाकि पूर्व में विवेचित किया गया है, रामायण को ही प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं। दोनों के रचना-काल में लगभग 500 वर्ष का अन्तर माना जाता है। पर्टिजर महोदय के अनुसार महाकाव्यों का काल 2500 से 1950 ई.पू. के मध्य होना चाहिए। परन्तु अधिकांश विद्वान् 1500 ई.पू. से 1000 ई.पू. के समय को ही मानते हैं। चूँकि दोनों महाकाव्यों में

वर्णित अवस्थाएँ एवं विचारधाराएँ एक-दूसरे से काफी समान है, अतः इन दोनों कालों की सभ्यता एवं संस्कृति का सम्मिलित विवेचन करना समीचीन होगा।

राजनीतिक व्यवस्था

राज्य की उत्पत्ति—महाभारत में राज्य की उत्पत्ति का उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार प्रारम्भिक अवस्था में न राजा था और न राज्य। सभी लोग धर्मानुसार आचरण करते थे और शान्तिपूर्वक एक-दूसरे के साथ मिलजुल कर रहते थे। परन्तु बाद में अराजकता उत्पन्न हो गई। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ हो उठी। ऐसी स्थिति में देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने राज्य और राजा की उत्पत्ति की। इस प्रकार, महाभारत में "राज्य की दैवी-उत्पत्ति" के सिद्धान्त की झलक मिलती है। परन्तु इस ग्रन्थ से यह जानकारी भी मिलती है कि प्रजा ने इस सिद्धान्त को इस शर्त पर स्वीकार किया था कि राजा धर्म और न्याय के साथ शासन करेगा। अर्थात् प्रजा ने राजा की निरंकुशता पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।

राजा—इस युग में राजतान्त्रिक शासन-पद्धति काफी सुदृढ़ हो गई थी। राजा की प्रतिष्ठा देवता के समान होने लगी थी। महाभारत में उसे अग्नि, सूर्य, यम, कुबेर आदि विभिन्न रूपों में प्रतिष्ठित किया गया है। परन्तु इसके साथ ही उस पर अनेकों कर्त्तव्यों का दायित्व भी लाद दिया गया है। लोक-कल्याण और धर्मानुसार शासन करना, उसके मुख्य कर्त्तव्य थे। कर्त्तव्य-विमुख तथा अत्याचारी राजा को मार डालने की बात कही गई है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि देवता के समान माने जाने पर भी राजा निरंकुश नहीं हो सकता था। अपने राज्याभिषेक के समय उसे धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करने की प्रतिज्ञा लेनी पड़ती थी। इसके अलावा उसे नवीन व्यवस्था बनाने का अधिकार भी नहीं था।

इस काल में वंशानुगत उत्तराधिकार लगभग सभी राज्यों में मान्य हो चुका था। सामान्यतः राजा की मृत्यु के बाद उसका बड़ा पुत्र ही उसका उत्तराधिकारी बनाया जाता था। परन्तु शारीरिक दोष होने पर बड़े पुत्र को इस अधिकार से वंचित भी किया जा सकता था। अन्धे धृतराष्ट्र और कोढ़ी द्रेवापि को इसी कारण राज्याधिकार से वंचित रहना पड़ा था। इस युग में सभा और समिति दोनों ही संस्थाओं का अस्तित्व समाप्त हो चुका था।

मन्त्रिपरिषद्—इस युग में मन्त्रिपरिषद् की शक्ति काफी बढ़ गई थी। महाभारत के अनुसार राजा को कई महत्त्वपूर्ण विषयों में स्वतन्त्रता नहीं थी और उसे अपने मन्त्रियों की सलाह से निर्णय लेना पड़ता था। महाकाव्यों में मन्त्रियों के लिए मंत्री, सचिव और अमात्य शब्दों का उल्लेख मिलता है। इन तीनों में क्या अन्तर रहा होगा, यह कहना कठिन है। डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय की मान्यता है कि शायद प्राचीन भारत में भी मिनिस्ट्री और केबिनेट दो संस्थाएँ थीं। मिनिस्ट्री एक बड़ी संस्था थी और इसके सदस्य अमात्य कहलाते थे। केबिनेट एक लघु संस्था थी और उसमें केवल राजा के विश्वसनीय लोग रहते थे जिन्हें 'मन्त्री' कहा जाता था। केबिनेट में गोपनीय तथा महत्त्वपूर्ण विषयों पर निर्णय लिया जाता था। मिनिस्ट्री (मन्त्रिपरिषद्) में लगभग 36 सदस्य होते थे जबकि केबिनेट (मन्त्रिमण्डल) में कम से कम तीन और अधिक से अधिक आठ मन्त्री होते थे।

अन्य पदाधिकारी—राज्य में राजा के बाद राज-पुरोहित का महत्त्व माना जाता था। वह राजा का अति-विश्वस्त, परामर्शदाता तथा सहायक व्यक्ति होता था। अन्य

अधिकारियों में युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अन्तर्वेदिक, कारागार का अध्यक्ष, राजस्व अधिकारी, न्यायाधीश, नगराध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दंडपाल, दुर्गपाल, अटवीपालक आदि मुख्य थे। चूँकि इस युग में विशाल राज्यों की स्थापना हो चुकी थी, अतः सेना का महत्त्व बढ़ गया था। सेना में पदाति तथा अश्वारोही दलों के साथ-साथ गजारोही और रथारोही दल भी होते थे। इन चार अंगों के कारण सेना को इस युग में 'चतुरंगिणी' के नाम से पुकारा जाता था। वैसे सेनापति सेना का अध्यक्ष होता था परन्तु राजा सर्वोच्च सेनापति माना जाता था, और युद्ध में वही सेना का नेतृत्व करता था। वैदिक युग की भाँति इस युग में भी धर्मयुद्ध लड़े जाते थे अर्थात् नैतिकता को महत्त्व दिया जाता था। अस्त्र-शस्त्रों में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। युद्ध के समय व्यूह-रचना की जाती थी। शत्रु सेना में फूट डालना सामान्य कूटनीति थी। भगवान् कृष्ण इस कला में अद्वितीय थे।

गण राज्य—महाभारत में गण राज्यों का भी उल्लेख मिलता है। ये गणराज्य काफी छोटे थे और उन्होंने अपनी सुरक्षा के लिए अपना संघ बना रखा था। उदाहरणार्थ, अन्धक, व्रष्णि, यादव, कुकुर तथा भोज—इन पाँच गणराज्यों में शासन सत्ता किसी एक व्यक्ति में केन्द्रित न होकर विविध कुलों के प्रतिनिधियों के हाथ में रहती थी। सत्ता प्राप्ति के लिए गणराज्यों में कई दलों का विकास हुआ जो आपस में लड़ते रहते थे। इसी कारण गणराज्यों की नींव खोखली होती गई।

सामाजिक जीवन

वर्ण-व्यवस्था—इस युग में वर्ण-व्यवस्था सुदृढ़ हो चुकी थी। चारों वर्णों में ब्राह्मण वर्ण को सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था। उसकी इस स्थिति का मूल कारण उसका त्यागमय जीवन था। वह अपनी साधना, ज्ञान एवं अध्ययन के द्वारा समाज की बौद्धिक उन्नति में लगा रहता था। परन्तु कर्त्तव्यों से विमुख ब्राह्मण समाज में निन्दनीय समझा जाता था। परन्तु समय के साथ-साथ सभी ब्राह्मणों के लिए ब्राह्मण वर्ण के कर्त्तव्यों को निभाना कठिन हो गया। यही कारण है कि इस युग के व्यवस्थाकारों ने पुराने नियमों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन आवश्यक समझा। महाभारत में हमें ब्राह्मणों की 6श्रेणियाँ देखने को मिलती हैं—(1) ब्रह्मसम, (2) देवसम, (3) शूद्रसम, (4) चाण्डालसम, (5) क्षत्रसम, और (6) वैश्यसम। ये श्रेणियाँ ब्राह्मणों द्वारा आजीविका के लिए अपनाये गये विविध व्यवसायों का संकेत करती हैं। ऐसा अनुमान है कि इस युग के व्यवस्थाकारों ने ब्राह्मणों को क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण के कर्मों को करने की अनुमति दे दी थी। महाभारत में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य ब्राह्मण थे परन्तु उन्होंने क्षत्रियों का कर्म अपना रखा था। इसी प्रकार, बहुत से ब्राह्मणों ने वैश्य-कर्म अर्थात् कृषि-कर्म, पशु-पालन व्यापार-व्यवसाय आदि अपना रखा था। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि अब वर्ण-व्यवस्था कर्म के स्थान पर जन्म पर आधारित हो गई थी। इस युग में क्षत्रिय वर्ण का मुख्य कार्य शासन तथा युद्ध था। परन्तु ब्राह्मण की भाँति क्षत्रियों ने भी अन्य वर्णों के कर्म को अपना लिया था। परन्तु उन्हें याज्ञिक-अनुष्ठान कराने का अधिकार नहीं था। ब्राह्मण वर्ण की भाँति क्षत्रिय वर्ण भी पूर्णतया जन्मज हो रहा था। वैश्य वर्ण ने पहले की भाँति अपने कर्मक्षेत्र को बनाये रखा। यही स्थिति शूद्रों की थी। इस युग में उन्हें न तो यज्ञादि कराने का, न पढ़ने-

पढ़ाने का और न ही अन्य वर्णों के कर्मों को अपनाने का अधिकार था। उनका काम केवल समाज की सेवा करना था।

डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय ने इस काल की वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध उठने वाले क्षीण विरोध का उल्लेख किया है और साथ ही इसके लिए उत्तरदायी दो प्रभावों की चर्चा की है। एक तो कर्म-प्रधान बौद्धधर्म के प्रचार का प्रभाव और दूसरा विदेशी आक्रमणों का प्रभाव। उनका मानना है कि बौद्धधर्म ने जन्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था को अस्वीकार कर दिया था और उसके स्थान पर शील की प्रतिष्ठा स्थापित की थी। समाज पर इस विचारधारा का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा होगा। दूसरा प्रभाव विदेशी आक्रमणों का पड़ा। ऐसा अनुमान है कि इस काल में यवन, शक, पह्लव, किरात आदि विदेशी जातियों ने भारत में अपने छोटे-बड़े राज्य स्थापित कर लिये थे। परन्तु धीरे-धीरे ये विदेशी जातियाँ भारतीय समाज का अंग बन गईं। इन्हें चतुर्वर्ण-व्यवस्था में खपाना आवश्यक था। इसीलिए कुछ व्यवस्थाकारों ने जन्म के स्थान पर कर्म पुनः प्रतिष्ठित करने की आवाज उठाई। इसीलिए महाभारत में स्थान-स्थान पर सुधारात्मक विचारधारा का स्पष्ट उल्लेख दिखलाई पड़ता है।

आश्रम-व्यवस्था—वैदिक युग की भाँति इस काल के विद्वानों एवं ऋषियों ने भी 100 वर्ष को मनुष्य की औसत आयु मानकर सम्पूर्ण जीवन-काल को चार आश्रमों में बाँट रखा था। प्रत्येक आश्रम के लिए 25 वर्ष का समय निर्धारित था। आश्रम-व्यवस्था केवल द्विज जातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए ही थीं। शूद्रों के लिए केवल गृहस्थाश्रम का उल्लेख मिलता है। जहाँ तक ब्रह्मचर्याश्रम का सवाल है, ऐसा प्रतीत होता है कि केवल ब्राह्मण वर्ण के लोग ही इसका अधिक पालन करते थे। क्षत्रियों में यह अधिक लोकप्रिय नहीं था और वैश्यों द्वारा ब्रह्मचर्याश्रम का पालन किये जाने का बहुत कम उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट हो जाता है सिद्धान्त रूप में इस व्यवस्था को माना जाता था परन्तु व्यवहार रूप में इसका पूरी तरह से पालन नहीं किया जाता था।

महाकाव्यों में गृहस्थाश्रम को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। क्योंकि तीनों आश्रम अपनी सफलता एवं उपलब्धियों के लिए इस पर निर्भर करते थे। वैदिक युग की भाँति इसके गृहस्थों को भी विविध कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता था। प्रत्येक गृहस्थ के लिए पंच महायज्ञ करना, तीन ऋणों से उऋण होना, सन्ध्या और अग्निहोत्र करना, माता-पिता एवं गुरुजनों की सेवा तथा अतिथि-सत्कार करना अति आवश्यक था। वान-प्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम के प्रति ब्राह्मणों और क्षत्रियों की तो रुचि थी परन्तु वैश्यों की इन दोनों आश्रमों के प्रति बहुत कम रुचि थी। महाकाव्यों से ज्ञात होता है कि सामान्यतः मनुष्य अपने गृहस्थ जीवन के उत्तरदायित्वों को पूरा करने के पश्चात् ही वानप्रस्थी होता था। यह भी पता चलता है कि स्त्रियों को भी इन आश्रमों में प्रवेश करने का अधिकार था। उदाहरणार्थ, धृतराष्ट्र तथा पाण्डु के साथ उनकी पत्नियों ने भी वानप्रस्थाश्रम को स्वीकार किया था।

स्त्रियों की स्थिति—महाकाव्यकालीन भारतीय समाज में पुत्री की अपेक्षा पुत्र का अधिक महत्त्व था, क्योंकि पुत्र के द्वारा ही व्यक्ति अपने इहलोक और परलोक—दोनों को सुधार सकता था। पुत्री का जन्म आपत्ति का कारण समझा जाता था। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसके पालन-पोषण की उपेक्षा की जाती थी। महाकाव्यों में ऐसे अनेकों उदाहरण

उपलब्ध होते हैं जिनसे पता चलता है कि माता-पिता अपनी पुत्रियों को भी बहुत अधिक प्यार करते थे। भीष्म पितामह तो पुत्री को पुत्र के समान मानने वालों में से थे।

कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि लड़कियों का अल्पायु में विवाह कर दिया जाता था और समाज में बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। यह ठीक है कि अल्पायु में कुछ लड़कियों के विवाह का उल्लेख मिलता है; परन्तु केवल इसी आधार पर यह मानना है कि बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित थी, न्यायसंगत नहीं होगा। इसके विपरीत महाकाव्यों में अनेकों साक्ष्य ऐसे मिलेंगे जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि विवाह वयस्क अवस्था में ही होते थे। उदाहरणार्थ, विवाह के समय राजा दशरथ के चारों पुत्र— राम,भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न जवान थे। उनकी पत्नियाँ भी युवती थीं। कुन्ती, द्रोपदी, सुभद्रा, देवयानी, शकुन्तला, सत्यवती, दमयन्ती आदि सभी का विवाह युवावस्था में ही हुआ था।

महाकाव्यों से पता चलता है कि इस युग में भी विवाह एक पवित्र एवं अनिवार्य संस्कार माना जाता था। अपनी कन्या का विवाह न करने वाले व्यक्ति को महापापी समझा जाता था। पतिविहीन स्त्री का जीवन निरर्थक समझा जाता था। गृहिणी के बिना गृह की कल्पना नहीं की जाती थी। इससे समाज में विवाह की अनिवार्यता स्पष्ट हो जाती है। इस काल में सजातीय विवाहों की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई थी। अन्तर्जातीय विवाहों की संख्या बहुत घट गई थी और केवल अनुलोम विवाहों के थोड़े से उदाहरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ, भीम ने हिडिम्बा राक्षसी के साथ, राजा शान्तनु ने सत्यवती के साथ और ऋषि च्यवन ने राजकुमारी सुकन्या के साथ विवाह किया था। प्रतिलोम विवाह का एकमात्र उदाहरण देवयानी और ययाति का मिलता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रतिलोम विवाह समाज में अच्छे नहीं समझे जाते थे और अनुलोम विवाह भी बहुत कम होते थे।

महाकाव्य काल में आठ प्रकार की विवाह-प्रणालियों का प्रादुर्भाव एवं विकास हो चुका था। ये इस प्रकार थीं—(1) ब्राह्म विवाह—इसमें पिता अपनी कन्या के लिए सुयोग्य वर की तलाश कर विधिपूर्वक अपनी कन्या उसे सौंप देता था। वर से कोई वस्तु नहीं ली जाती थी। समस्त विवाह-प्रणालियों में यह श्रेष्ठ मानी गई थी। (2) दैव-विवाह—इसमें पिता अपनी कन्या का विवाह यज्ञ कराने वाले पुरोहित के गुणों एवं योग्यता से प्रभावित होकर उसके साथ कर देता था। (3) आर्ष विवाह—इस विवाह प्रणाली में कन्या का पिता वर पक्ष से एक गाय और बैल लेकर कन्या का विवाह करता था। यह प्रणाली एक प्रकार से क्रय-विक्रय पर आधारित थी। (4) प्राजापत्य विवाह—यह ब्राह्म-विवाह से मिलती-जुलती प्रणाली थी। (5) गान्धर्व विवाह—इसमें लड़के और लड़की में विधिवत् विवाह से पूर्व ही प्रेम हो जाता था और वे एक-दूसरे को पति-पत्नी स्वीकार कर लेते थे। (6) आसुर विवाह—इसमें क्रय-विक्रय की प्रधानता थी। कन्या का पिता मुँहमाँगा मूल्य लेकर विवाह करता था। (7) राक्षस विवाह—कन्या का अपहरण करके उसके साथ विवाह करना राक्षस विवाह कहलाता था। यह प्रणाली क्षत्रियों में प्रचलित थी। (8) पैशाच विवाह—यह सबसे निम्न कोटि की प्रणाली समझी जाती थी। इसके अन्तर्गत सोती हुई, बेहोश अथवा पागल कन्या के साथ समागम किया जाता था। उपर्युक्त आठ प्रणालियों में से ब्राह्म, दैव,आर्ष और प्राजापत्य को धर्मसम्मत माना गया है। गान्धर्व विवाह को कुछ व्यवस्थाकार धर्मसम्मत मानते हैं तो कुछ अधर्म्य। आसुर, राक्षस और पैशाच-इन तीनों प्रणालियों को अधर्म्य माना गया है।

उपर्युक्त आठ प्रणालियों के अलावा स्वयंवर-प्रथा भी प्रचलित थी। डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय का मत है कि इसका प्रादुर्भाव शूरकर्मा क्षत्रियों की अभिरुचि को सन्तुष्ट करने के लिए हुआ था। सीता, द्रोपदी, दमयन्ती आदि के विवाह इसी प्रणाली के अन्तर्गत हुए थे। महाकाव्यकाल में सामान्यतया एक पत्नीकता का उल्लेख मिलता है। परन्तु राजवंशों में बहुपत्नीकता प्रचलित थी। दशरथ, पाण्डु, अर्जुन, भीम, कृष्ण आदि के एक से अधिक पत्नियाँ थीं। बहुपति प्रथा का एकमात्र उदाहरण द्रौपदी का मिलता है; परन्तु इसे अपवाद मात्र समझना चाहिए।

वैदिक काल में सती प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता परन्तु महाकाव्यों में इसके कुछ उदाहरण मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अभी यह प्रथा लोकमान्य नहीं हो पाई थी। रामायण में देदमती की माता का और महाभारत में पाण्डु के साथ माद्री का, वासुदेव के साथ देवकी, भद्रा, रोहिणी और मदिरा के सती होने का उल्लेख मिलता है। इसके विपरीत पति की मृत्यु के बाद उसकी विधवा स्त्रियों के जीवित रहने के उल्लेख अधिक मिलते हैं।

वैदिक युग की भाँति इस युग में भी 'नियोग' प्रथा प्रचलित थी और समाज में इसे बुरा नहीं समझा जाता था। महाभारत में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि पति के अभाव में स्त्री अपने देवर को पति के रूप में स्वीकार कर सकती थी। इस बात का भी उल्लेख है कि पति द्वारा सन्तान न होने पर पति की अनुमति से किसी अन्य व्यक्ति से स्त्री संतान प्राप्त कर सकती थी। कुन्ती और माद्री ने नियोग प्रथा द्वारा ही पुत्र प्राप्त किये थे। महाकाव्य काल में विधवा-विवाह अथवा स्त्री के पुनर्विवाह का भी उल्लेख मिलता है। बालि की मृत्यु के बाद सुग्रीव ने उसकी विधवा तारा के साथ विवाह किया था। महाभारत में दमयन्ती के द्वितीय स्वयंवर का उल्लेख मिलता है। इरावती ने अर्जुन के साथ पुनर्विवाह किया था।

महाकाव्यों के कुछ अलंकारिक स्थलों को लेकर कुछ विद्वानों ने उस युग में पर्दा-प्रथा के प्रचलन की बात कही है। इस सम्बन्ध मे डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय ने लिखा है कि "इन उद्धरणों से पर्दा-प्रथा सिद्ध नहीं होती।" परन्तु इस बात की सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि कुलीन वर्ग ने समाज में अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने की दृष्टि से अपनी स्त्रियों को सामान्य वर्ग से पृथक् रखने का प्रयास किया हो। महाकाव्यों से समाज में वेश्यावृत्ति के प्रचलन का भी आभास मिलता है।

रामायण और महाभारत—दोनों महाकाव्यों से स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी मिलती है। स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। रामायण में कौशल्या, तारा, सीता, अत्रेयी और महाभारत में सुलभा और द्रोपदी को सुशिक्षित नारियों के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। लड़कियों की शिक्षा का काम प्रायः घर पर ही हुआ करता था। परन्तु कई लोग अपनी पुत्रियों को गुरुकुलों में भी भेजा करते थे। गुरुकुलों में सह-शिक्षा का उल्लेख भी मिलता है। लड़कियों को अन्य विषयों के अलावा संगीत एवं नृत्य तथा ललित-कलाओं की भी शिक्षा दी जाती थी।

कुल मिलाकर, महाकाव्य काल में स्त्रियों की स्थिति सन्तोषजनक थी। पुत्री के रूप में उसके पालन-पोषण तथा शिक्षा का ध्यान रखा जाता था। पत्नी के रूप में वह गृह-स्वामिनी थी। माता के रूप में वह गुरु समान थी। उसे सामाजिक-धार्मिक उत्सवों में भाग लेने का अधिकार था। उसे लक्ष्मी का रूप समझा जाता था।

खान-पान, वेशभूषा और आमोद-प्रमोद—इस युग के खान-पान, वेशभूषा तथा आमोद-प्रमोद में विशेष परिवर्तन नहीं आया। वैदिक युग की भाँति इस युग के लोग भी मांसाहारी और शाहाकारी दोनों थे। उनका भोजन संतुलित होता था। दूध, दही, घी, जौ, चावल, गेहूँ, तिलहन, दालें, कन्द-मूल, फल आदि उनके विशेष खाद्य पदार्थ थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग में मसालों का प्रयोग बढ़ गया था और लोग नाना प्रकार के व्यंजन बनाते थे। शूद्र जातियों में प्याज और लहसुन का प्रयोग अधिक होता था। राजवंशीय लोगों तथा कुलीन परिवारों में सुरापान भी प्रचलित था। ब्राह्मणों में सुरापान, प्याज और लहसुन का प्रयोग बुरा समझा जाता था। इस युग में नाना प्रकार के मिष्ठान भी बनने लगे थे। गो-मांस खाना महा पाप समझा जाता था।

वेशभूषा भी पहले भी भाँति ही रही। इस युग में भी सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्रों का प्रचलन अधिक था। लोगों को रंग-बिरंगे कपड़ों से अधिक लगाव था। इस युग में विशेष अवसरों पर काले रंग के कपड़े पहनने की प्रथा चल पड़ी थी। जैसे कि शोक के अवसरों पर काले रंग के वस्त्र, मांगलिक अवसरों पर श्वेत रंग के वस्त्र पहने जाते थे। साधु-संन्यासी लोग कोपीन धारण करते थे। इस युग में जूतों तथा खड़ाऊओं का प्रचलन अधिक देखने को मिलता है। लोग दाढ़ी-मूंछें रखते थे। परन्तु कई लोग मूंछें नहीं रखते थे। स्त्री-पुरुष दोनों को ही आभूषणों का शौक था। आभूषण सोने, चाँदी, पीतल आदि के बनते थे। धनी लोगों के आभूषणों में हीरे, मोती, लाल, पन्ना आदि मूल्यवान पत्थर जड़े रहते थे। स्त्रियों को शृंगार का काफी शौक था और इसके लिए विभिन्न वस्तुओं का उपयोग किया जाता था। आमोद-प्रमोद के साधनों में नृत्य, संगीत, मल्ल-युद्ध, आखेट, घुड़दौड़, रथदौड़ और जुआ अधिक लोकप्रिय थे। सार्वजनिक तौर पर नृत्य, संगीत, मल्लयुद्ध तथा घुड़सवारी के आयोजन भी होते थे और सफल उम्मीदवार को पुरस्कृत किया जाता था।

आर्थिक जीवन

कृषि—वैदिक युग की भाँति इस युग के लोगों की आजीविका का मुख्य साधन कृषि था। देश की भूमि उपजाऊ थी और विभिन्न फसलें—गेहूँ, जौ , चावल, उड़द, चना, तिल आदि तैयार की जाती थी। इस युग में कृषि-कर्म को विशेष महत्त्व प्राप्त था। शासक लोग भी विशेष अवसरों पर हल चलाते थे। कृषि-कर्म के लिए लोहे का फाल लगा हुआ लकड़ी का हल काम में लिया जाता था। हल को सामान्यतया बैलों की सहायता से खींचा जाता था। राज्य भी कृषि की उन्नति की तरफ विशेष ध्यान देता था। कृषि की सुरक्षा तथा सिंचाई की व्यवस्था करना राजा के मुख्य कर्त्तव्य माने जाते थे। राजा किसानों से कुल उपज का 1/10वें भाग से 1/6वें भाग तक कर वसूल करता था। अकाल तथा दैवी-विपत्ति के समय कृषि-कर को माफ कर दिया जाता था। ब्राह्मण स्त्रियों तथा अनाथ बच्चों से कर वसूल नहीं किया जाता था।

पशुपालन—कृषि के साथ-साथ पशुपालन भी आजीविका का मुख्य साधन था। कृषि-कर्म में सहयोगी, दूध देने वाले युद्ध में काम आने वाले, माल ढोने तथा सवारी के काम में आने वाले पशुओं को अधिक पाला जाता था। मांसाहार के लिए पशुओं का पालन कम होता था। पशुओं की सुरक्षा तथा देखभाल के लिए राज्य की तरफ से एक अधिकारी

नियुक्त किया जाता था जिसे "गोपाध्यक्ष" कहा जाता था। पशुओं की चिकित्सा का उल्लेख मिलता है। पशु-विशेषज्ञ भी होते थे।

उद्योग-धन्धे—समाज की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कई उद्योग-धन्धे प्रचलित थे। इनमें विभिन्न धातुओं की वस्तुएँ बनाने वाले, स्वर्णकार तथा लुहार, कुम्हार, बढ़ई, जुलाहा, रंगरेज, धोबी, चर्मकार, मणिकार, रथकार, नट आदि प्रमुख थे। महाकाव्यों में वर्णित भव्य भवनों के आधार पर कहा जा सकता है कि उस युग के शिल्पकारों ने अपनी कला में काफी प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। वस्त्र-उद्योग भी उन्नत अवस्था में था। महाकाव्यों से पता चलता है कि उस युग के बहुत से व्यवसाय "श्रेणियों" में संगठित थे। इन श्रेणियों के अध्यक्ष को "मुख्य" कहा जाता था। राज-दरबार में श्रेणी-मुखियाओं को सम्मानजनक स्थान दिया जाता था।

व्यापार-वाणिज्य—महाकाव्य काल में व्यापार-वाणिज्य उन्नत एवं समृद्ध अवस्था में था। महाकाव्यों से भारत के विदेशी-व्यापार की पुष्टि होती है। रामायण में काम्बोज एवं वाह्लिक देशों के साथ घोड़ों के व्यापार का उल्लेख मिलता है। पाण्डवों को श्रीकृष्ण तथा अन्य राजाओं द्वारा जो उपहार दिये गये थे उनमें पूर्वी देशों के हाथी, काम्बोज, गान्धार, वाह्लिक तथा प्राग्ज्योतिष के घोड़े, पश्चिमी देशों के ऊँट, चीन के रेशमी वस्त्र, मलेच्छ देश के मोती आदि सम्मिलित थे। इससे व्यापार-वाणिज्य की अवस्था स्पष्ट हो जाती है। महाकाव्यों में जल मार्ग द्वारा व्यापार करने का उल्लेख मिलता है। बड़ी-बड़ी नदियों के रास्ते भी गमनागमन होता था। कुल मिलाकर, व्यापार-वाणिज्य उन्नत अवस्था में था। उस युग में किसी प्रकार के सिक्के प्रचलित थे अथवा नहीं, यह कहना सम्भव नहीं है।

धार्मिक जीवन

महाकाव्यों के समय तक आर्यों के धार्मिक-विश्वासों में अनेक परिवर्तन हो चुके थे। वैदिक युग के प्राकृतिक देवताओं का स्थान ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश, पार्वती, लक्ष्मी, दुर्गा आदि देवी-देवताओं ने ले लिया था। महाकाव्य काल में ईश्वर की तीन प्रमुख शक्तियाँ—सृजन, भरण-पोषण और संहारक के प्रतीक रूप में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की विशेष प्रतिष्ठा हुई। इनमें भी विष्णु को अधिक महत्त्व प्राप्त हुआ। ऐसा समझा जाने लगा कि विष्णु समय-समय पर पृथ्वी पर अवतार लेते हैं। अर्थात् अवतारवाद का सिद्धान्त लोकप्रिय होने लगा। गीता में स्पष्ट लिखा है कि, "जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने रूप को रचता हूँ; क्योंकि मैं साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए और पापियों का नाश करने के लिए तथा धर्म-स्थापना के लिए युग-युग में प्रकट होता हूँ।" गीता के यही विचार आगे चलकर भक्ति-मार्ग एवं अवतारवाद के रूप में वैष्णव-धर्म में प्रस्फुटित हुए।

महाकाव्यकालीन समाज में यज्ञों का महत्त्व तो बना रहा परन्तु पशुबलि धीरे-धीरे लुप्त हो रही थी। अब लोगों में ऐसी धारण होने लगी थी कि सच्चा यज्ञ तो सत्य, अहिंसा, संयम, वैराग्य, आचार-शुद्धि को अपनाना एवं तृष्णा तथा क्रोध का परित्याग करना है। कर्मवाद का पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी जोर पकड़ता जा रहा था। आत्मा का आवागमन का सिद्धान्त सर्वमान्य हो चुका था और यह धारणा बलवती हो रही थी कि तप, ज्ञान तथा भक्ति

द्वारा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। ब्राह्मणों का प्रत्येक धार्मिक कार्य पर एकाधिकार था। उपनिषदों की रचना इसी काल में हुई। भगवतगीता इस युग का सर्वोत्कृष्ट धर्मग्रन्थ है।

भगवद् गीता—गीता हिन्दुओं का एक पवित्र धार्मिक ग्रन्थ तथा भारतीय धार्मिक और दार्शनिक साहित्य की अमूल्य कृति है। यह महाभारत के भीष्म-पर्व का अंश है। इसमें 18 अध्याय हैं। महाभारत के सुप्रसिद्ध युद्ध के समय अपने प्रियजनों की मृत्यु की कल्पना से अर्जुन विचलित हो गया और उसने युद्ध करने से इन्कार कर दिया। ऐसे मार्मिक अवसर पर भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को जो दिव्य उपदेश दिया वह भगवद् गीता में संगृहीत है।

गीता में कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग तीनों को ही मोक्ष का साधन माना गया है। इसी दृष्टि से गीता का दृष्टिकोण समन्वयात्मक है। गीता किसी एक मार्ग की निन्दा और दूसरे मार्ग की प्रशंसा नहीं करती। वह मोक्ष प्राप्ति के लिए सभी मार्गों को स्वीकार करती है। भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है, "जो मुझे जिस भाव से भजता है, मैं उसको उसी भाव से देखता हूँ। मनुष्य किसी भी मार्ग का अनुसरण कर मेरे तक पहुँच सकता है।" गीता में कर्म, ज्ञान एवं भक्ति मार्ग का समन्वय कर सभी को समान रूप से महत्त्वपूर्ण बताया है किन्तु भक्ति मार्ग की श्रेष्ठता पर अधिक बल दिया। गीता ने भक्ति के द्वार सभी के लिए खोल दिये। कोई भी व्यक्ति चाहे किसी भी जाति, वर्ग का क्यों न हो, ईश्वर की भक्ति कर मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। इससे पहले केवल द्विज जातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही मोक्ष का अधिकारी माना जाता था। शूद्र तथा निम्न जाति के लोग वेद तथा उपनिषदों का उच्चारण तक नहीं कर सकते थे और न ही वे मोक्ष प्राप्त करने के अधिकारी थे। परन्तु गीता ने सर्वप्रथम सभी को, यहाँ तक कि शूद्रों को भी भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी ठहराया। इस प्रकार, गीता का धर्म एक ऐसा सार्वभौमिक धर्म था जिसमे ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े सभी मोक्ष के अधिकारी थे।

ऐसा व्यक्ति जो सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि प्रत्येक स्थिति में दृढ़ता से कार्य करता है और प्रत्येक स्थिति में अविचलित रहता है, "स्थिरप्रज्ञ" मानव कहलाता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में इस प्रकार के "स्थिरप्रज्ञ" मानव का आदर्श रखा है। गीता के अनुसार वही "स्थिरप्रज्ञ" या पूर्ण मानव है जो निष्काम भाव से कार्य करते हुए सच्चिदानन्द परब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है। वस्तुतः गीता प्राणीमात्र के लिए अगाध ज्ञान का भण्डार है तथा उलझनों में फँसे हुए प्राणियों का एकमात्र ग्रन्थ है।

शिक्षा—महाकाव्यों से उस युग की शिक्षा तथा पाठ्यक्रम की पर्याप्त जानकारी मिलती है। शिक्षा का महत्त्व बतलाते हुए रामायण में लिखा है कि शिक्षा ही मनुष्य का सबसे बड़ा नेत्र है। महाभारत में लिखा है कि विद्याविहीन व्यक्ति शोचनीय होता है। इससे समकालीन युग में शिक्षा के महत्त्व की जानकारी मिल जाती है। रामायण में पाठ्यक्रम के बहुत से विषयों का उल्लेख है जिनमें—दर्शन, धर्मशास्त्र, राजनीति, इतिहास, अर्थशास्त्र, वेद, पौराणिक उपाख्यान, ब्राह्मण ग्रन्थ आदि मुख्य हैं। महाभारत काल में 6 अंगों सहित वेद, 10 अंगों सहित धनुर्वेद, उपनिषद्, सांख्य, योग, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद, शल्य-चिकित्सा, नीति-शास्त्र आदि विषय पढ़ाये जाते थे।

उपर्युक्त विभिन्न विषयों के अलावा ललित कलाओं की शिक्षा भी दी जाती थी। उदाहरण के लिए शिखण्डी चित्रकला में दक्ष था तो अर्जुन संगीत एवं नृत्य में। महाभारत में

उल्लेख है कि युधिष्ठिर की दासियाँ 64 कलाओं में पारंगत थीं। इससे पता चलता है कि कला की विभिन्न शाखाएँ उन्नत रहीं होंगी।

इस काल में भी गुरुकुलों की परम्परा कायम थी। प्रत्येक ऋषि का आश्रम गुरुकुल था, जहाँ विद्यार्थियों को उच्चतम ज्ञान की शिक्षा प्रदान की जाती थी। रामायण में भारद्वाज और वाल्मीकि तथा महाभारत में मारकण्डेय एवं कण्ड के आश्रमों का उल्लेख मिलता है। किसी-किसी गुरुकुल में तो हजारों की संख्या में विद्यार्थी अध्ययन करते थे। आश्रम का संस्थापक ऋषि गुरुकुल का कुलपति होता था। उसकी देखरेख में बहुत से योग्य विद्वान् ऋषि विद्यार्थियों को पढ़ाने का काम करते थे। गुरुकुल का जीवन सादा एवं सरल होता था। विद्यार्थी की सच्चरित्रता पर विशेष जोर दिया जाता था। गुरुकुलों में नारी-शिक्षा और सह-शिक्षा भी प्रतिष्ठित थी।

सम्पन्न लोग भी अपने पुत्र-पुत्रियों की शिक्षा की व्यवस्था अपने घरों पर ही कर लते थे। शिक्षक लोग ऐसे व्यक्तियों के निवास-स्थानों पर जाकर शिक्षा-दान करते थे। उदाहरणार्थ, विराट की राजपुत्री उत्तरा को संगीत एवं नृत्य की शिक्षा देने के लिए अर्जुन को नियुक्त किया गया था। कौरव राजकुमारों की शिक्षा के लिए गुरु द्रोणाचार्य को नियुक्त किया गया था। इस काल में शूद्रों को शिक्षा का अधिकार नहीं था। द्रोणाचार्य ने एकलव्य को धनुर्विद्या सिखाने से इन्कार कर दिया क्योंकि वह निषाद जाति का शूद्र था।

अभ्यास के लिए प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग पाँच पृष्ठों में दीजिए—

1. महर्षि वाल्मीकि का संक्षिप्त जीवन-परिचय देते हुए रामायण का सांस्कृतिक महत्त्व बताइये।
2. "महाभारत भारतीय ज्ञान का विश्वकोश है।" इस कथन की विवेचन कीजिए।
3. महाकाव्यकालीन सभ्यता और संस्कृति का वर्णन कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए—

1. रामायण का रचना-काल निर्धारित कीजिए।
2. रामायण को आर्य-संस्कृति का प्रतिनिधि ग्रन्थ क्यों कहा गया है?
3. रामायण में एक आदर्श स्त्री के रूप में सीता के चरित्र की विवेचना कीजिए।
4. रामायण का साहित्यिक महत्त्व बताइये।
5. वेदव्यास का संक्षिप्त जीवन-परिचय दीजिए।
6. महाभारत का रचना-काल बताइये।
7. महाभारत में वर्णाश्रम-व्यवस्था और सदाचार के बारे में क्या कहा गया है?
8. महाकाव्य काल में स्त्रियों की स्थिति का उल्लेख कीजिए।
9. महाकाव्यकालीन धार्मिक जीवन के बारे में आप क्या जानते हैं?

◆

अध्याय-12

पौराणिक धर्म और पुराणों का सांस्कृतिक महत्त्व

यद्यपि महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी ने मोक्ष और निर्वाण प्राप्ति का सरल मार्ग वताया था, किन्तु उनकी मृत्यु के बाद इन धर्मों में तन्त्र-मन्त्र और अन्धविश्वास उत्पन्न हो गये। उनके संघों में अनाचार प्रविष्ट हो गये, जिससे लोगों का उनमें विश्वास नहीं रहा। धीरे-धीरे पुनः भक्ति प्रधान पौराणिक हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान होने लगा। बौद्ध धर्म में व्याप्त तन्त्र-मंत्र विद्या तथा जैन धर्म की अत्यधिक कठोरता और कट्टरता के विरुद्ध एक तीव्र प्रतिक्रिया हुई, जिससे भक्ति-प्रधान पौराणिक हिन्दू धर्म के उत्थान के साथ-साथ उसके विविध सम्प्रदाय भी प्रबल हो गये। लोक प्रचलित धारणा के अनुसार वर्तमान भक्ति-प्रधान हिन्दू धर्म सनातन काल से चला आने वाला समझा जाता है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह विचार ठीक नहीं है। वर्तमान काल में हिन्दू धर्म में पूजे जाने वाले प्रधान देवताओं—विष्णु, सूर्य, शिव, दुर्गा, गणपति आदि की भक्ति प्रधान उपासना का विकास शनैः शनैः अनेक सदियों में जाकर पूरा हुआ है। आधुनिक भक्ति प्रधान हिन्दू धर्म को यह रूप गुप्त युग में प्राप्त हुआ। भक्ति-प्रधान पौराणिक धर्म के उद्भव और विकास को दो मुख्य युगों में बाँटा जा सकता है—

(1) पौराणिक धर्म का उद्भव काल 600 ई. पू. से 300 ई. तक, अर्थात् 900 वर्षों का यह काल भक्ति प्रधान सम्प्रदायों के बीजारोपण, अंकुरण और पल्लवित होने का युग था। किन्तु इस सम्पूर्ण समय में बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म की प्रबलता के कारण इनका पूर्ण विकास नहीं हो पाया। 300 ई. की यह मर्यादा अभिलेखों के आधार पर निश्चित की गई है। इस काल के 1500 से भी अधिक अभिलेख मिले है, इनमें से पचास से भी कम अभिलेख शैव, वैष्णव अथवा हिन्दू धर्म के अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखते हैं, शेष सभी बौद्ध और जैन धर्मों का उल्लेख करते है।

(2) पौराणिक धर्म का उत्कर्ष काल 300 ई. से 1200 ई. तक माना गया है। चौथी शताब्दी ईसवी से भारत के धार्मिक इतिहास में एक नया युग आरम्भ होता है। इस समय से पौराणिक धर्म का उत्कर्ष उत्कर्ष और बौद्ध तथा जैन धर्मों का अपकर्ष होने लगता है।

पौराणिक धर्म का उद्भव काल

जैसाकि पूर्व अध्याय में वताया जा चुका है कि छटी शताब्दी ईसा पूर्व में भारत में एक प्रवल धार्मिक क्रान्ति हुई जिससे जैन और बौद्ध धार्मिक आन्दोलन विकसित हुए। यह प्रचलित वैदिक धर्म के विरुद्ध व्याप्त असन्तोष से उत्पन्न हुए थे। उपनिषदों में आडम्बरयुक्त जटिल कर्मकाण्डों तथा यज्ञों का विरोध किया गया था और निर्गुण ब्रह्म, कर्मवाद, मोक्ष आदि

सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया। किन्तु उपनिषदों का अगोचर निर्गुण ब्रह्म इतना गूढ़ और सूक्ष्म था कि केवल बुद्धिजीवी वर्ग ही उसका ज्ञान प्राप्त कर सकता था। स्थूल बुद्धि सामान्य मनुष्य के लिए तो वह अत्यन्त ही दुर्बोध था। इससे साधारण मनुष्यों की धार्मिक आकांक्षाएँ पूरी नहीं हो सकी। उपनिषदो की दूसरी अपूर्णता यह थी कि उन्होंने मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्मकाण्ड प्रधान जटिल यज्ञों का तो खण्डन किया, किन्तु उसके स्थान पर ब्रह्म से साक्षात्कार, मनन निदिध्यासन तथा समाधि के जो साधन बताये उनका पालन भी साधारण जनता के लिए सम्भव नहीं था। सभी व्यक्तियों के लिए घर-बार छोड़कर परिव्राजक बनकर ब्रह्म प्राप्ति का प्रयत्न सम्भव नहीं था। अत: उपनिषदों ने यज्ञों का खण्डन कर कोई नई लोकप्रिय पद्धति नहीं रखी। ऐसी परिस्थिति में साधारण जनता की धार्मिक आकांक्षाओं को पूरा करने की लिए नये नेता और पन्थ उत्पन्न हुए जिन्होंने उपनिषदों की मूल विचारधारा को सुरक्षित रखते हुए तात्कालिक धर्म और परम्पराओं के विरुद्ध क्रान्ति कर नये धार्मिक सम्प्रदाय स्थापित किये। इनमें चार विचार मुख्य थे—

(1) ब्राह्मण-ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित यज्ञों का विरोध करना।

(2) पशुबलि का विरोध कर अहिंसा की महत्त्वता प्रतिपादित करना।

(3) आत्मा, परमात्मा सम्बन्धी गूढ़ प्रश्नों की उपेक्षा करना, शम, दम, इन्द्रियनिग्रह पर बल देना, आध्यात्मिक दृष्टिकोण की अपेक्षा व्यवहारिक दृष्टिकोण को अपनाना तथा आचार शुद्धि की महत्त्वता प्रतिपादित करना।

(4) अव्यक्त एवं निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर भक्तिपूर्वक सगुण ईश्वर की उपासना में विश्वास जागृत करना।

भक्ति प्रधान आन्दोलनों का जन्म—नास्तिक अथवा निरीश्वरवादी आन्दोलनों ने पहली तीन विचारधाराओं पर बल दिया, किन्तु भक्ति प्रधान आस्तिक आन्दोलनों ने चौथी विचारधारा पर बल दिया। निरीश्वरवादी सम्प्रदायों के उद्भव तथा इनके प्रवर्तकों के बारे में पूर्व अध्यायों में बताया जा चुका है। किन्तु भक्ति प्रधान आस्तिक पंथों के आरम्भिक इतिहास पर अन्धकार का पर्दा पड़ा हुआ है। वेदों और उपनिषदों से हमें इनके उद्भव की अस्पष्ट झलक मिलती है। ऋग्वेद में विष्णु को सूर्य का रूप माना गया है। आगे चलकर ऋग्वेद में त्रिविक्रम की कथा में विष्णु को समस्त विश्व की रक्षा करने वाला माना गया है। निरुक्त में बताया गया है कि सूर्य का नाम ही विष्णु है। वैदिक युग में राजा वसु द्वारा यज्ञों में पशुबलि का विरोध करने तथा हरि की उपासना पर बल देने से भक्ति भागवत धर्म का बीजारोपण हो गया। इस धर्म में भक्तिभावना को प्रधानता दी गई। उपनिषदों में भी भक्ति तथा ईश्वर शरणागति के भाव का उल्लेख मिलता है। उपनिषदों में कहा गया है कि, "आत्मा की उपलब्धि किसी बलहीन को नहीं होती और न वह उपनिषदों से, अध्ययन से अथवा यज्ञ से ही सम्भव है। वह जिस किसी को वरण कर लेती है, वही उसे पाने में समर्थ होता है। अत: आत्मा द्वारा वरण किये जाने के पूर्व उसे प्रार्थना या सेवा से प्रसन्न कर लेना आवश्यक है।" इस प्रकार एकमात्र 'हरि' में एकाग्र भाव के साथ भक्ति करने वाली साधना का 'एकांतिक धर्म' के रूप में उदय हुआ। इसकी पूजन विधि 'सस्वत विधि' कहलाने लगी, जिसके प्रधान अंग भक्ति, आत्मसमर्पण तथा अहिंसा के भाव थे। इसे अपना कर इसका प्रचार करने वालों में वासुदेव कृष्ण जैसे महान व्यक्ति की गणना की जाती है। इसी कारण आगे चलकर इसका

नाम भी 'वासुदेव धर्म' पड़ गया तथा हरि का स्थान स्वयं वासुदेव कृष्ण ने ग्रहण कर लिया। विक्रम संवत् के पूर्व तीसरी शताब्दी तक इसकी विधि 'पांचरात्र विधि' में परिणित हो गयी और इसका नाम 'भागवत धर्म' के रूप में परिवर्तित हो गया। यज्ञों और तप की निरर्थकता, यज्ञों में पशु-हिंसा की निन्दा तथा भक्ति तत्त्व की प्रधानता द्वारा भागवत सम्प्रदाय ने पुराने विश्वासों और परम्पराओं के विरुद्ध क्रान्ति तो की लेकिन ईश्वर की सत्ता मानने के कारण यह क्रान्ति बौद्ध और जैनों की क्रान्ति की भाँति उग्र-नास्तिक और दूरगामी नहीं थी।

बौद्ध व जैन धर्म का हिन्दू धर्म पर प्रभाव—बौद्ध और जैन धर्म की सफलता का हिन्दू धर्म पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। विरोधियों एवं निरीश्वरवादियों के प्रबल होने पर आस्तिकों तथा कट्टरपंथियों ने अपना घर ठीक करना शुरू किया। नास्तिक धर्मों के आक्षेपों तथा चुनौतियों का उत्तर देने के लिए अपने सिद्धान्तों और मन्तव्यों को शृंखलाबद्ध एवं तर्क-संगत रूप दिया। विरोधियों के आक्रमणों से रक्षा के लिए उन्होंने धर्म एवं दर्शन सम्बन्धी विचारों को स्मृतियों, रामायण, महाभारत तथा विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में व्यवस्थित रूप से उपनिबद्ध किया तथा बौद्ध और जैन धर्म जिन तत्त्वों के कारण लोकप्रिय हो रहे थे, उन्हें अपने धर्म में समाविष्ट करके इन्होंने हिन्दू धर्म को सुदृढ़ किया।

400 ई. पू. 200 ई. पू. तक मौर्यकाल में घात-प्रतिघात और क्रिया-प्रतिक्रिया की प्रवृत्ति पबल रही और इसके परिणाम 200 ई. पू. के बाद स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगे। इन 200 वर्षों में दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं—

(1) दर्शनों का निर्माण—भारतीय दर्शनों के मूल विचार तो बहुत प्राचीन थे किन्तु उन्हें सूत्रबद्ध करके शास्त्र का रूप इसी काल में दिया गया। प्रायः कपिल, कणाद आदि को दर्शनों का प्रणेता समझा जाता है, किन्तु वे मुख्य रूप से पुराने विचारों को शृंखलाबद्ध एवं सुव्यवस्थित रूप से प्रस्ततु करने वाले थे। उन्होंने नये दर्शनों का प्रणयन नहीं किया।

(2) हिन्दू धर्म को नया रूप—इस समय समूचे हिन्दू धर्म को प्राचीन यज्ञ प्रधान धर्म के स्थान पर नया भक्ति प्रधान पौराणिक रूप दिया गया। यद्यपि पुष्यमित्र आदि राजाओं ने अश्वमेघ आदि यज्ञों को पुनर्जीवित किया, किन्तु अब वैदिक धर्म वैदिक समाज के साथ था, न तो वह समाज वापिस आ सकता था और न वह धर्म अपने पुराने रूप में लौट सकता था। बौद्ध धर्म ने जनता को जो नये विचार दिये थे, उन्हें मिटाया नहीं जा सकता था। महात्मा बुद्ध ने जनसाधारण को उपेदश दिया था कि सदाचार और सम्यक् जीवन ही वास्तविक धर्म है। इस विचार से जनसाधारण में जो जागृति आई थी, उसकी अब उपेक्षा करना भी सम्भव नहीं था। अतः इस युग के सुधार आन्दोलन ने बौद्ध धर्म की मुख्य लोकप्रिय प्रवृत्तियों को अपनाये हुए था। बौद्ध धर्म यदि जनता के लिए था तो हिन्दू धर्म का नया रूप उससे बढ़कर जनता की वस्तु बन गया। उस समय हिन्दू धर्म को मुख्य रूप से दो उपायों से लोकप्रिय बनाया गया—

(i) लोक प्रचलित देवताओं को वैदिक देवता बनाना—आर्यों के निम्न दर्जों और अनार्यों में कई प्रकार के देवी-देवताओं, यक्षों, भूत-प्रेतों, जड़ पदार्थों तथा जन्तुओं की पूजाएँ प्रचलित थी। बौद्ध धर्म ने यक्षों को बुद्ध का उपासक बनाकर उनकी पूजा प्रचलित कर दी थी। अब हिन्दुओं ने भी उनका अनुकरण किया तथा लोक प्रचलित देवताओं को यथापूर्व रखते हुए उन्होंने उस पर वैदिक धर्म की हल्की सी छाप लगाकर उन्हें ग्रहण कर लिया।

मथुरा में वासुदेव (श्रीकृष्ण) की पूजा प्रचलित थी, उसको अब वैदिक देवता विष्णु से मिलाकर वेदानुयायियों और कट्टर पंथियों के लिए उसकी उपासना ग्राह्य बना दी गई। ऋग्वेद में वर्णित रुद्र को भी नया रूप देकर सभी का मंगल करने वाले शिव की पूजा प्रचलित कर दी। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान की लहर ने उस समय पूजनीय प्रत्येक जड़ और मनुष्य देवता में किसी न किसी वैदिक देवता की आत्मा फूँक दी गई। वनचरों के भयंकर देवी-देवता काली और रुद्र के रूप बन गये। सम्पूर्ण भारत के देवता शिव, विष्णु, सूर्य, स्कन्द आदि विभिन्न शक्तियों के सूचक बन गये। जहाँ किसी पुराने पुरखा की पूजा होती थी, उसे भी किसी न किसी देवता का अवतार मान कर हिन्दू धर्म में उसकी पूजा प्रचलित कर दी। वह एक भारी समन्वय की लहर थी, जिसने जहाँ कहीं पूज्य-भाव या दिव्य भाव किसी भी रूप में देखा, उसमें किसी-न-किसी देवता का संकेत रख दिया। प्रत्येक पूज्य पदार्थ को किसी-न-किसी देव-शक्ति का प्रतीक बना दिया। "देव ज्योति को मानो उसने ऊँचे स्वर्ग से और वैदिक कवियों के कल्पना जगत् से उतार कर भारत के कोने-कोने में पहुँचा दिया, जिससे जन-साधारण की सभी पूजाएँ आर्य-प्राण हो उठी और उनके जड़ देवता भी वैदिक देवताओं की भावमय आत्माओं से अनुप्राणित हो उठे।"

(ii) लोकप्रिय धर्मग्रन्थों का प्रणयन—बौद्धों की लोकप्रियता का एक बड़ा कारण जातक और अवदान साहित्य था। इनमें बुद्ध के पूर्वजन्मों तथा बौधिसत्वों की बड़ी रोचक कथाएँ होती थी, जिनमें उनके दया, दान, आत्मत्याग आदि गुणों पर बड़े सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला गया था। महात्मा बुद्ध सुन्दर कथाओं और दृष्टांतों द्वारा धर्म के गूढ़ मर्म को जनता तक पहुँचाते थे। उनके शिष्यों ने इस कला को, जातक तथा अवदान साहित्य में पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। प्राचीन वैदिक साहित्य में इस प्रकार का लोकप्रिय साहित्य नाममात्र का था। सूत पुराण, इतिहास की गाथाएँ अवश्य गाते थे, किन्तु उनका मुख्य उद्देश्य प्राचीन वीर पुरुषों के शूरतापूर्ण कार्यों का बखान करना था, न कि धर्म प्रचार करना। ये ऐतिहासिक गाथाएँ बड़ी लोकप्रिय थी। अब इस युग में इनके द्वारा धर्मप्रचार का कार्य लिया जाने लगा। रामायण और महाभारत के नवीन संस्करण तैयार किये गये। महाभारत का तो प्रधान उद्देश्य आख्यानों द्वारा नये धर्म की शिक्षाओं का प्रचार करना था। इसमें श्रीकृष्ण को देवता और विष्णु का अवतार बना दिया, विष्णु और शिव की महिमा के गीत गाये गये, और भगवद्गीता द्वारा भागवत धर्म का प्रचार किया गया। 400 ई. पू. से 200 ई. तक की लगभग सभी धार्मिक और दार्शनिक विचारधाराओं का इसमें समावेश है। यह ग्रन्थ हमारे धार्मिक विकास का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है। पहले यह 'सूतो' तथा 'चारणों' द्वारा गाया जाने वाला वीर रस पूर्ण काव्य था, किन्तु इसकी लोकप्रियता के कारण अब इसमें सभी धार्मिक समस्याओं का आख्यानों के रूप में समावेश करके इसे न केवल हिन्दू धर्म का विशाल विश्वकोश, बल्कि प्रचार का भी प्रबल साधन बनाया गया। यही हाल रामायण का भी हुआ। इसकी मूल कथा में राम एक आदर्श वीर पुरुष था, वह दूसरे से छठे काण्ड तक इसी रूप में चित्रित है; किन्तु इस युग में कम से कम दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व तक उसमें पहला और सातवाँ काण्ड जुड़ा और राम को भी देवता बना दिया गया। इन दोनों महाकाव्यों ने भक्ति-प्रधान वैष्णव और शैव धर्मों को नया रूप देने एवं लोकप्रिय बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। वर्तमान पौराणिक हिन्दू धर्म की आधार-शिला रामायण और महाभारत ने रखी और पुराणों ने नया रूप दिया है।

इस प्रकार 300 वर्षों अर्थात् 600 ई. पू. से 300 ई. तक तो किसी धर्म का विशेष उत्कर्ष नहीं हुआ। नन्द राजाओं तथा चन्द्रगुप्त मौर्य (321-296 ई. पू.) के संरक्षण में जैन धर्म सर्वप्रथम समूचे भारत में फैला। बौद्ध धर्म को सम्राट अशोक (272-230 ई. पू.) का राज्याश्रय प्राप्त हुआ और इसका भारत में तथा भारत से बाहर भी बर्मा, लंका और मध्य एशिया में प्रसार हुआ। पहली शताब्दी तक यह चीन पहुँचा और चीन से कोरिया होते हुए जापान पहुँचा। 200 ई. पू. से 100 ई. तक भारत पर आक्रमण करने वाले यवन और कुषाण राजाओं ने भी इसे स्वीकार किया।

वैदिक धर्म का पुनरुद्धार—मौर्यों के पतन के साथ ही भारत में बौद्ध धर्म के पतन तथा वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की लहर प्रारम्भ हो गयी। मौर्य राजा यवनों के आक्रमण से देश की रक्षा नहीं कर सके। जनता इसका मुख्य कारण उनकी धर्म-विजय और अहिंसा की नीति को समझती थी। अतः ये धर्म कम से कम उस समय उनकी दृष्टि से गिर गये। पुष्यमित्र शुंङ्ग ने वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया। उसने न केवल वैदिक धर्म को राजधर्म बनाया बल्कि बौद्धों का दमन भी किया। इसी समय बनी मनुस्मृति में जहाँ जुआरियों को राष्ट्र से निकालने का विधान है, वहाँ बौद्धों और जैनों के निर्वासन का भी उपदेश है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 185 ई. पू. में वैदिक मत का प्रत्यक्ष विरोध करने वाले बौद्ध और जैन सम्प्रदायों के विरुद्ध स्पष्ट प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गयी थी। फिर भी बौद्ध धर्म मिनाण्डर, कनिष्क आदि विदेशी राजाओं के संरक्षण में फलता-फूलता रहा। तीसरी शताब्दी ईस्वी में कुषाणों की सत्ता का उच्छेद करने वाले शिव के उपासक भारशिव राजाओं ने हिन्दू धर्म को राजधर्म बनाया। पुष्यमित्र के समान एक नहीं, दस अश्वमेघ यज्ञ किये। उनसे तथा उनके बाद के गुप्त राजाओं का संरक्षण पाकर पौराणिक हिन्दू धर्म का उत्कर्ष होने लगा और बौद्ध धर्म में क्षीणता आ गई।

पौराणिक हिन्दू धर्म (300 ई. से 1200 ई.)

चौथी शताब्दी ईसवी से भारत में बौद्ध तथा जैन धर्मों की तुलना में पौराणिक हिन्दू धर्म को प्रधानता मिलने लगी। 12वीं शताब्दी के अन्त तक उसके दोनों प्रतिद्वन्द्वी समाप्त हो गये। बौद्ध धर्म का तो भारत में नामलेवा तक नहीं बचा और जैन धर्म का प्रभाव नगण्य रह गया। इस युग में अधिकांश पुराणों की रचना हुई और रामायण एवं महाभारत की भाँति इन्होंने पौराणिक हिन्दू धर्म को लोकप्रिय बनाया। इसलिए धार्मिक दृष्टि से इसे पौराणिक युग कहते है। इस युग की प्रधान विशेषताएँ निम्नलिखित थीं—

(1) कर्मकाण्ड की जटिलता—मौर्य-सातवाहन युग में वैदिक देवताओं और यज्ञों के स्थान पर देव-मूर्तियों और अवतारों का मन्दिरों में पूजन आरम्भ हो गया था, किन्तु उस काल में वे मन्दिर, उनकी प्रतिमाएँ और उनकी उपासना विधि अत्यन्त सादगीपूर्ण थी। मूर्तियाँ दिव्य-शक्तियों का प्रतीक मात्र थी, जिनके आव्हान से जड़ प्रतिमाओं में जान पड़ जाती थी। "यज्ञों के बड़े आडम्बर में दबे हुए उत्तर-वैदिक युग के धार्मिक जीवन में और पूर्व-वैदिक युग के आरम्भिक सरल वैदिक धर्म में जितना अन्तर था, मध्यकालीन विशाल

मन्दिरों के सिंहासनों पर बैठने वाले स्वर्णाभूषणों से अलंकृत देवताओं के पेचीदा क्रिया-कलापों और व्रतों, उपवासों तथा जपों के दिखावटीपन में लिपटी हुई मध्य युग की पूजा में और सातवाहन युग के आरम्भिक सरल पौराणिक धर्म में उतना ही अन्तर था।'' इस युग में विभिन्न देवताओं के सुनहले तथा भव्य मन्दिर बनने लगे। उनका साज-शृंगार और पूजा-विधि एक बड़ा प्रपंच बन गई।

(2) वाममार्गी पन्थों का जन्म—बौद्ध धर्म का पतन होने पर छठी शताब्दी ईसवी में उसके महायान सम्प्रदाय से वज्रयान और मन्त्रयान का जन्म हुआ। वज्रयानी बुद्ध को वज्रगुरु तथा अलौकिक सिद्धि सम्पन्न देवता समझते थे। इन सिद्धियों को पाने के लिए अनेक गुह्य साधनाएँ करनी पड़ती थी। शैव मत में पाशुपत, कापालिक (अघोरी), वैष्णव मत में गोपी-लीला, तन्त्र-सम्प्रदाय में आनन्द भैरवी की पूजा आदि घोर अश्लील पन्थ चल पड़े। सभी पन्थों का उद्देश्य मन्त्रों तथा अन्य साधनों द्वारा 'सिद्धि' प्राप्त करना था।

(3) पौराणिक हिन्दू धर्म को राज्याश्रय—इस काल की मुख्य विशेषता हिन्दू धर्म को अधिक राज्याश्रय प्राप्त होना था। गुप्त सम्राट भागवत धर्म के अनुयायी और परम पोषक थे, उन्हीं के शक्तिशाली समर्थन से वैष्णव धर्म का विशेष उत्कर्ष हुआ। गुप्तों के बाद पिछले गुप्त, प्रतिहार, चन्देल, मौखरी, कलचुरी, वलभी और कामरूप के वर्मन राजा वैष्णव या शैव थे। पालवंशी राजा अवश्य बौद्ध अनुयायी थे, किन्तु सेनवंशी राजा वैष्णव और शैव थे। दक्षिण में पहले चालुक्य जैन धर्म के पोषक थे, किन्तु बाद के राजा हिन्दू धर्म के उपासक थे। राष्ट्रकूटों में कुछ जैन थे, किन्तु अधिकांश हिन्दू थे। पल्लवों और होयसलों के पहले राजा जैन धर्म के समर्थक थे, किन्तु बाद के पल्लव शैव थे और होयसल वैष्णव। इससे स्पष्ट है कि इस सम्पूर्ण काल में बौद्धों और जैनों को पर्याप्त राज्याश्रय प्राप्त नहीं हुआ और यही उनके ह्रास का एक मुख्य कारण था।

पौराणिक युग की प्रमुख घटनाएँ समन्वयात्मक हिन्दू धर्म का जन्म, बौद्ध धर्म का पतन, जैन धर्म का ह्रास, पुराणों का विकास और वैष्णव, शैव, शाक्त तथा अन्य अनेक छोटे सम्प्रदायों का जन्म है।

समन्वयात्मक हिन्दू धर्म—इस युग की प्रमुख घटना समन्वयात्मक हिन्दू धर्म का विकास है। सातवाहन युग की समन्वयवादी लहर ने भारत की वनेचर और अनार्यों के सभी देवताओं में वैदिक देवताओं की प्राण-प्रतिष्ठा की थी। पुराणों ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीन देवता ही प्रधान माने। त्रिमूर्ति के विचार द्वारा इन्हें एक ही परमात्मा की उत्पादक, पालक और संहारक शक्तियों का रूप माना। जब ये एक ही परम शक्ति के रूप है तब इनके विरोध की कल्पना भी कैसे हो सकती है ? हिन्दू धर्म में अनेक समन्वयवादी पन्थ हुए, जिन्होंने न केवल पुराना साम्प्रदायिक विरोध छोड़कर सभी देवताओं की पूजा-उपासना प्रारम्भ की, किन्तु पुराने वैदिक अनुष्ठानों के साथ इसका कोई विरोध नहीं समझा। स्मार्त्त सम्प्रदाय वाले वैदिक विधियों के साथ विष्णु, शिव, दुर्गा व गणेश की भी पूजा करते थे। समुच्चयवादी इस बात पर बल देते थे कि ब्रह्म प्राप्ति के आकांक्षी को वैदिक अनुष्टान और वेदान्त दोनों का

ज्ञान होना चाहिये। गुप्त युग में सम्राटों ने अश्वमेघ आदि वैदिक यज्ञों के साथ वैष्णव धर्म के पालन में कोई विरोध नहीं समझा। विभिन्न सम्प्रदायों को मिलाने के लिए देवताओं में अभेद और तादात्म्य स्वीकार किया गया। त्रिमूर्ति के विचार से तीनों पृथक् शक्तियों के रूप थे, किन्तु तादात्म्यवादियों के अनुसार विष्णु और शिव अभिन्न थे। हरिहर की मूर्ति इसी विचार का मूर्त रूप है।

बौद्ध धर्म का पतन और जैन धर्म का ह्रास—बौद्ध धर्म का पतन आन्तरिक कारणों एवं बाह्य कारणों दोनों से हुआ। आन्तरिक कारणों में भिक्षुओं की विलासिता, आलस्य, नैतिक अधःपतन, वाममार्ग और सम्प्रदाय भेद थे। बाह्य कारणों में राज्याश्रय का अभाव, हिन्दू धर्म द्वारा उसकी सभी विशेषताओं को अपना लिया जाना और मुस्लिम आक्रमण थे। सातवीं–आठवीं शताब्दी में शैवों ने बौद्ध धर्म के महायान से संघ और योग समाधि के तत्त्व ग्रहण कर लिये। बौद्ध श्रमणों का स्थान हिन्दू वैरागियों ने ले लिया। बुद्ध को हिन्दुओं ने आठवाँ अवतार मान लिया और इस प्रकार शनैः शनैः समूचे बौद्ध धर्म को हजम कर लिया। दोनों में अब कोई विशेष अन्तर नहीं रहा। 12वीं शताब्दी के अन्त में तुर्कों ने जब बौद्ध मठों पर हमला किया तो सभी भिक्षु तिब्बत भाग गये, उनके भक्त हिन्दू बन गये और उनके उजड़े हुए मठों में शैव साधु जम गये। बौद्ध गया का मन्दिर प्रारम्भ में बौद्ध मन्दिर था, बाद में गिरि सम्प्रदाय के शैवों ने उस पर अपना अधिकार जमा लिया।

जैन धर्म में बौद्ध धर्म की अपेक्षा पुराण–प्रियता, रूढ़ि–प्रेम और कट्टरता अधिक थी। अतः इसमें वाममार्ग जैसे सम्प्रदाय विकसित नहीं हुए, किन्तु यही कट्टरता इसके ह्रास का कारण बनी। इसमें वह अपने में समयानुकूल परिवर्तन करने में असफल रहा। वैष्णव व शैव धर्म अपने आकर्षक सिद्धान्तों के कारण अधिक लोकप्रिय हुए। दक्षिण के कुछ शैव राजाओं ने जैनों पर अत्याचार भी किये। कहा जाता है कि पाण्ड्य राजा सुन्दर ने आठ हजार जैनों को हाथी के पैरों तले कुचलवा दिया था। मदुरा के महान् मन्दिर की दीवारों पर इन दृश्यों के चित्र भी उत्कीर्ण है। इन सभी कारणों से मैसूर व महाराष्ट्र में एक हजार वर्ष तक प्रधान धर्म रहने के पश्चात् इसका महत्त्व कम हो गया। इस समय जैन धर्म के प्रधान केन्द्र पश्चिमी भारत में गुजरात और राजस्थान है।

पुराणों का विकास—पुराणों की परम्परा बहुत पुरानी है। इनका सम्बन्ध वेदों की ऐतिहासिक व्याख्या और प्राचीन वंशों का वर्णन है। अश्वमेघ यज्ञ में जो आख्यान सुनाये जाते थे, उन्होंने पुराण का रूप ग्रहण कर लिया। इसीलिए यह प्रसिद्ध है कि यज्ञ से पुराण का जन्म हुआ। प्रारम्भ में इसके पाँच विषय थे—सर्ग (सृष्टि की कथा), प्रतिसर्ग (प्रलय के बाद सृष्टि का पुनर्भाव), वंश (देवताओं, राक्षसों, ऋषियों और राजाओं के वृत्तान्त), मन्वन्तर (युग चक्रों का आवर्तन) और वंशानुचरित (राजवंशों का वर्णन)। इसका पठन–पाठन ब्राह्मणों के हाथों में था, जो यज्ञ में भाग लेते थे। किन्तु जब यज्ञ, विशेष रूप से अश्वमेघ यज्ञ से आख्यान निकल गये तो पुराणों से ब्राह्मणों का सम्बन्ध टूट गया और सूतों, चारणों और कथावाचकों ने इसे अपने हाथ में ले लिया। ईसवी सन् के प्रारम्भ के समय भागवत लोकधर्मों ने इन्हें अपने प्रचार का माध्यम बनाया। अतः अधिकतर पुराणों और उप–पुराणों

का विस्तार इन धर्मों के आधार पर हुआ। महाभारत-युद्ध के बाद महर्षि वेदव्यास ने प्राचीन वंश-वृतों का संग्रह करके पुराण रचे थे। इनमें समय-समय पर नई घटनाएँ जुड़ती गई। गुप्तकाल में जो धर्म और संस्कृति के सभी सूत्रों को एकत्रित करने का प्रयास हुआ, उसने तो समूचे साहित्य की क़ाया ही पलट दी और पुराणों को नया रूप दिया गया। फलस्वरूप पुराण भागवत धर्म और बौद्ध-जैन विचारधारा के समन्वय के माध्यम वन गये। इन्होंने वेदपक्ष और लोकपक्ष को एक कर दिया। संस्कृति के इतिहास में यह एक बहुत वड़ा काम पुराणों ने क़िया।

पुराण साहित्य को दो भागों में बाँटा जा सकता है—अठारह महापुराण और अठारह उप-पुराण। वायु, ब्रह्माण्ड, मार्कण्डेय, विष्णु, मत्स्य, भागवत, कूर्म, वामन, लिंग, वाराह, पद्म, नारदाय, अग्नि, गरुड़, ब्रह्म, स्कन्द, ब्रह्मवैवर्त और भविष्य महापुराण है। उप-पुराणों का परिगणन भिन्न प्रकार से किया गया है, किन्तु बृहद्धर्म पुराण के अनुसार इनकी सूची इस प्रकार है—आदि, आदित्य, बृहन्नारदीय, नन्दीश्वर, बृहन्नन्दीश्र, साम्ब, क्रियायोगसार, कालिका, धर्म, विष्णुधर्मोत्तर, शिवधर्म, विष्णु धर्म, वामन, वारुण, नारसिंह, भार्गव और बृहधर्म। महापुराणों में वायु, ब्रह्माण्ड, मार्कण्डेय, विष्णु, मत्स्य और भागवत पुराने है और इनमें उस काल तक की सामग्री है जब गुप्त सम्राटों का राज्य मगध से लेकर अयोध्या और प्रयाग तक था, किन्तु इसके बाद भी कुछ घटा-बढ़ी की गई। जैसे शुरू में 'वायु' और 'ब्रह्माण्ड' एक थे और इसकी रचना 200 ई. के आसपास हुई है, किन्तु 400 ई. के लगभग 'ब्रह्माण्ड' इससे अलग कर दिया गया। 'वायु' पाशुपत धर्म का ग्रन्थ रह गया और 'ब्रह्माण्ड' का रूप वैष्णव हो गया। इन दोनों के बाद में तांत्रिक और शाक्त सामग्री जोड़ दी गई। 'मार्कण्डेय' 300 ई. के आसपास की रचना है, लेकिन इसमें देवी महात्म्य बाद में शामिल किया गया। 'कूर्म' और 'वामन' 500-600 ई. के आसपास के पांचरात्र पुराण थे, लेकिन 800-900 ई. के आसपास इन्हें शैव रूप दिया गया। 'अग्नि' और 'गरुड़' 900-1000 ई. के लगभग के विश्वकोश के नमूने के ग्रन्थ है। 'भविष्य' बहुत पुराना है, लेकिन इसमें अधिक स्वतन्त्रता से वृद्धि की गई और अब इसमें ब्रिटिश शासन तक का जिक्र मिलता है। उप-पुराणों में भी बहुत से काफी पुराने है। 'विष्णु धर्म' तीसरी शताब्दी ईसवी और 'शिव पुराण' 200 और 500 ई. के बीच का है। किन्तु अधिकतर उप-पुराण 650 और 800 ई. के बीच लिखे गये थे। उप-पुराणों में 'विष्णुधर्मोत्तर' जैसे पुराण तो ज्ञान और विद्या के विश्वकोश है।

इस प्रकार रामायण, महाभारत और पुराण पौराणिक हिन्दूधर्म के प्राण है। जातकों ने जिस प्रकार कथाओं द्वारा बौद्ध धर्म का प्रचार किया, वैसे ही पुराणों ने पौराणिक हिन्दू धर्म का। वेद और उपनिषद् के पठन-श्रवण के अधिकारी केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, थे, किन्तु रामायण, महाभारत और पुराण सुनने का अधिकार स्त्रियों और शूद्रों को भी था।

पुराणों का सांस्कृतिक महत्त्व

इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि पुराण पौराणिक हिन्दू धर्म की आत्मा और प्राण है। पुराणों ने ही हिन्दू-धर्म को वर्तमान रूप प्रदान किया। पुराणों में जिस धार्मिक और

सांस्कृतिक समन्वय का परिपाक हुआ उसने लालित्य की नई भावना को जन्म दिया जो गुप्तकालीन साहित्य के प्राण है। अतः पुराणों का सांस्कृतिक महत्त्व निम्न प्रकार से बताया जा सकता है—

पुराणों में वर्णाश्रम व्यवस्था और भागवत धर्म का समन्वय—पुराणों ने वर्णाश्रम धर्म को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया और शैव और वैष्णव धर्मों को इसके साँचे में ढाल दिया। विष्णु पुराण में राजा सगर के यह पूछने पर कि विष्णु की पूजा कैसे करनी चाहिये, और्व ने उत्तर दिया कि, ''वही व्यक्ति परमेश्वर की पूजा कर सकता है जो अपने वर्ण और आश्रम सम्बन्धी कर्त्तव्य को पूरा करता हो।'' कूर्म पुराण में देवी के मुँह से यह कहलवाया गया है कि, ''मोक्ष की प्राप्ति के लिए आत्मज्ञान के साथ-साथ वेदविहित स्मृतिसम्मत वर्णाश्रम धर्म का पालन करो।'' वायु पुराण में लिखा है कि, ''जब यज्ञों में कमी हो जाती है तो भगवान विष्णु बारम्बार धर्म की स्थापना के लिए जन्म लेते है।'' इस पुराण में शिव को वर्णों और आश्रमों के पृथक् कर्मों का प्रवर्तक बताया है। पुराणों में वर्णाश्रम धर्म की पुष्टि के लिए अनेक कथाएँ सृजित की गई है। विष्णु पुराण, वायु पुराण और भागवत पुराण में राजा वेन की कथा में लिखा है कि वर्णाश्रम धर्म की अवहेलना के अपराध में ऋषियों ने उसे यमलोक पहुँचा दिया। विष्णु पुराण में यम अपने नौकरों को हिदायत देते है कि वे विष्णु के उपासकों के हाथ न लगाएँ, क्योंकि वे वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करते हैं। बाद की सभी पांचरात्र संहिताओं में वर्णाश्रम धर्म को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार पुराणों के माध्यम से वैष्णव और शैव धर्म प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के पोषक बन गये तथा धार्मिक परम्परा की फूट समाप्त हो गयी।

पुराणों में वैदिक विचारों का नया रूप—पुराणों में वैदिक विचारों, देवताओं और कथानकों को नये विश्वासों, मान्यताओं और आख्यानों का आवरण चढ़ाया गया है। इनमें चिन्तन-मनन का सारा ठाठ वैदिक है। वेद के अव्यय, अक्षर और क्षर पुरुष, पुराणों में ब्रह्म, विष्णु और शिव हो गये है। वेद की त्रिधाम विद्या या सप्तधाम विद्या विष्णु के वामनावतार की कथा में परिणित हो गयी है। वेद की दक्ष-अदिति-विद्या ने दक्ष-यज्ञ के विध्वंस की कथा का रूप ले लिया है। वेद की अग्नि-चयन-विद्या, मत्स्य पुराण का कुमार-जन्म-वृत्तान्त बन गया है। वेद की चित्र-शिशु-विद्या जिसे शतपथ ब्राह्मण में अग्नि-रूप-विद्या कहा गया है, मार्कण्डेयपुराण के रौद्र सर्ग की अष्टमूर्ति विद्या के साथ जोड़ दी गई है। इसी प्रकार वेदों की सोम विद्या, विराजधेनु विद्या, देवासुर विद्या, भृग्वंगिरोमय-अग्निसोम विद्या, पितृ-विद्या, सावित्री विद्या और पशु विद्या क्रमशः समुद्रमंथन, पृथुपृथिविदोहन, इन्द्रवृत्रोपाख्यान, सुकन्याच्यवन विवाह, श्राद्धकल्प, सावित्री सत्यवान कथा और पाशुपतशास्त्र के पौराणिक आख्यानों में परिवर्तित हो गयी है। इस प्रकार हम निःसंकोच कह सकते है कि वेद और पुराण में कोई मौलिक भेद नहीं है।

पुराणों पर महायान धर्म का प्रभाव—जिस प्रकार पुराणों ने वैदिक धर्म को भागवत धर्म के साथ समन्वित किया वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के महाकरुणा और लोकमंगल के आदर्श को भी अपनाया है। मार्कण्डेय पुराण में विदेह के राजा

विपश्चित की कथा में शान्तिदेव ने बोधिचर्यावतार से मिलते-जुलते विचार प्रकट किये है। इस राजा के अच्छे कर्मो के कारण स्वर्ग प्राप्त हुआ, लेकिन किसी तुच्छ गलती के कारण उसे कुछ क्षणों के लिये नरक का दण्ड मिला। जब वह नरक में पहुँचा और उसने वहाँ के लोगों की करुण चीत्कार सुनी तो उसका हृदय पिघल गया और उसने यह संकल्प कर लिया कि स्वर्ग के सुखों का भोग करने की अपेक्षा नरक में ही रहकर दुःखी लोगों की सेवा करना ज्यादा अच्छा है। उसने सुख की अपेक्षा सेवा को श्रेष्ठ समझा और स्वर्ग जाने का इरादा छोड़ दिया। इन्द्र और यम के समझाने पर भी वह अपने संकल्प पर दृढ़ रहा। अन्त में विवश होकर यम को नरक के सारे निवासियों का उद्धार करना पड़ा, तब कहीं जाकर उसने स्वर्ग जाने की हाँ भरी। इसी प्रकार इस पुराण में राजा हरिश्चन्द्र की कथा में लिखा है कि जब देवदूत उसे शुभ कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग ले जाने लगे तो उसने उत्तर दिया कि राजा जो कुछ करता है, प्रजा के सहयोग से करता है, अतः उसके कर्मो का फल भी सभी प्रजा में बँटना चाहिये। प्रजा के एक दिन का सुख उसके अपने अनन्त सुखों से बेहतर है। इन विचारों और भावों में बोधिसत्व का आदर्श निहित है, जिसके कारण पौराणिक धर्म को विश्वजनीन प्रेरणा व स्फूर्ति मिली।

पुराणों में प्रवृत्ति और निवृत्ति का संगम—यद्यपि पुराणों में भारत को कर्मभूमि और पुण्यभूमि कहा गया है, फिर भी उसकी दृष्टि समस्त विश्व में रहने वाले प्राणिमात्र पर है। पुराणों में कर्म और मोक्ष, प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुन्दर समन्वय मिलता है। पद्म पुराण, अग्नि पुराण, कूर्म पुराण और गरुड़ पुराण में कहा गया है कि संसार में आकर कर्म करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। विद्याध्ययन समाप्त कर विवाह करना, गृहस्थ जीवन बिताना, लोकसंग्रह के काम करना प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य है। प्रव्रज्या और गृहत्याग लोक-विरुद्ध होने का कारण निन्दनीय है। मनुष्य में कर्म करने और उसके द्वारा सुख प्राप्त करने की जो असीम शक्ति है, उसका विकास लौकिक जीवन द्वारा ही सम्भव है। किन्तु लोक-जीवन बिताते हुए उसे 'साधारण धर्म' और 'स्वधर्म' का सामंजस्य करना चाहिये। 'साधारण धर्म' सार्वजनिक और सार्वभौम है। इनमें अहिंसा, क्षमा, शम और दम (इन्द्रियनिग्रह), दया, दान, शौच, सत्य, तप, ज्ञान शामिल हैं। पद्म पुराण के अनुसार अहिंसा सर्वोपरि है, इसमें सभी धर्मो का सार है। इसी पुराण में कहा गया है कि दूसरों के लिये ऐसा मत करो जैसा तुम अपने लिये नहीं चाहते। अग्नि पुराण के अनुसार अहिंसा के साथ सत्य जुड़ा हुआ है। सत्य वह है जिससे प्राणिमात्र का भला होता है। इसलिए मनुष्य को अप्रिय सत्य नहीं कहना चाहिये। नरसिंह पुराण में कहा गया है कि मन को काम और क्रोध से मुक्त रखना अनिवार्य हैं। इसके लिए इष्टदेव की भक्ति अपेक्षित है। किन्तु देवताओं में विभेद करना या किसी देवता को निन्दा करना बहुत बड़ा अपराध है, क्योंकि सभी देवता मूलतः एक ही है। इस 'साधारण धर्म' की परिधि में व्यक्ति को 'स्वधर्म' का पालन करना चाहिये, जिसका सम्बन्ध उसकी जाति, वर्ण, आश्रम और स्वभाव से है। इसके अनुसार व्रत, दान और प्रायश्चित का विधान है। इस प्रकार पुराणों में सार्वभौम नैतिक आदर्शों को भारतीय संस्कृति के सूत्र में पिरोया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पुराणों में धार्मिक और सांस्कृतिक समन्वय का परिपाक हुआ है। यही कारण है कि पुराणों द्वारा जो संस्कृति का उफान आया वह केवल भारत में ही नहीं, बल्कि भारत से बाहर बहुत दूर तक फैला। दक्षिणी–पूर्वी एशिया में इस संस्कृति का विशेष प्रसार हुआ और यह वस्तुतः वृहत्तर भारत बन गया। भारतीय संस्कृति के इस प्रसार के पीछे भक्ति, ज्ञान और कर्म, धर्म, अर्थ और काम, योग, अनासक्ति और लोक संग्रह को व्यवहारिक जीवन में संतुलित और संग्रथित करने की अपूर्व शक्ति सक्रिय है। पुराणों में साम्राज्यवादी विस्तार, औपनिवेशिक आधिपत्य और आर्थिक शोषण की गन्ध तक नहीं है। यही कारण है कि पौराणिक संस्कृति में राजनीतिक उद्देश्य, कूटनीतिक षड़यंत्र और सामरिक अत्याचार को निन्दनीय बताया गया है। यह विशुद्ध सांस्कृतिक प्रक्रिया है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग पाँच पृष्ठों में दीजिए—

1. पौराणिक धर्म के उद्भव की विवेचना कीजिए।
2. पौराणिक युग की मुख्य विशेषताएँ बताइए।
3. पुराणों के सांस्कृतिक महत्त्व की चर्चा कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए—

1. बौद्ध व जैन धर्म का हिन्दू धर्म पर क्या प्रभाव पड़ा ?
2. पौराणिक हिन्दू धर्म की लोकप्रियता के क्या कारण थे ?
3. पुराण साहित्य की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।
4. पुराणों में वैदिक विचारधारा का उल्लेख कीजिए।
5. पुराणों में प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय की विवेचना कीजिए।

अर्थ हुआ 4000000। इसलिए ख्युघृ=खु+यु+घृ

अब—	ख=	20000	इसी प्रकार—	च=	6
	यु=	300000		य=	30
	घृ=	4000000		गि=	300
इसलिए ख्युघृ=		4320000		यि=	3000
				ङु=	50000
				शु=	700000
				छ्लृ=	57000000
					57753336

ऐसे ही	ङि=	500
	शि=	7000
	वु=	230000
	ण्लृ=	1500000000
	ख्सृ=	82000000
		1582237500

यद्यपि संख्या लिखने की इस प्रणाली में कुछ दोष हैं, फिर भी इस प्रणाली के लिए आर्यभट्ट की प्रतिभा की प्रशंसा करनी पड़ती है। इसमें उन्होंने थोड़े ही श्लोकों में बहुत सी बातें लिख दी हैं। गागर में सागर भर दिया है। ऊपर के उद्धृत श्लोक तथा इससे पहले के प्रथम श्लोक की, जिसमें ब्रह्मा और परब्रह्मा की वन्दना की गई है, कोई क्रमसंख्या नहीं दी गई है, क्योंकि ये प्रस्तावना के रूप में है और गीतिकापाद में शामिल नहीं किये गये हैं, जैसाकि गीतिकापाद के 11वें श्लोक में आर्य भट्ट ने स्वयं लिखा है। इसके बाद के श्लोक की क्रम संख्या 1 है, जिसमें सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, शनि, गुरु, मंगल, शुक्र और बुध के महायुगीय भगणों (चक्कर) की संख्या बताई है। आर्यभट्ट ने एक महायुग में पृथ्वी के घूर्णन की संख्या भी दी है, क्योंकि उन्होंने पृथ्वी का दैनिक भ्रमण माना है। इस बात के लिए आगे आने वाले आचार्यों ने, जैसे वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त आदि ने, इसकी निन्दा की हैं। इससे भी आर्यभट्ट की स्वतन्त्रता का पता चलता है। आगे के श्लोकों में राशि, अंश, कला आदि का सम्बन्ध, आकाश कक्षा का विस्तार, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि की गति, अंगुल, हाथ, पुरुष, योजन का सम्बन्ध, पृथ्वी के व्यास तथा सूर्य, चन्द्रमा और ग्रहों के बिम्बों के व्यास के परिमाण, ग्रहों की क्रान्ति और विक्षेप, उनकी मन्द परिधियों और शीघ्र परिधियों के परिमाण तथा 3 अंश 45 कला के अन्तरों पर ज्याओं के मानों की सारणी है। इस प्रकार आर्यभट्ट ने अपनी नवीन संख्या गणना की पद्धति से ज्योतिष और त्रिकोणमिति की बहुत-सी बातें दस श्लोकों में भर दी हैं।

आर्यभट्ट पहले आचार्य हुए जिन्होंने अपने ज्योतिष—सिद्धान्त ग्रंथ में अंक-गणित, बीजगणित और रेखागणित के प्रश्न दिये हैं। उन्होंने बहुत से कठिन प्रश्नों को तीस श्लोकों

में भर दिया है। पहले श्लोक में अपना नाम और स्थान बता दिया है। दूसरे श्लोक में संख्या लिखने की दशमलव पद्धति की इकाइयों के नाम हैं। आगे के श्लोकों में वर्ग, वर्गक्षेत्र, घन, घनफल, वर्गमूल, घनमूल, त्रिभुज का क्षेत्रफल, त्रिभुजाकार शंकु का घनफल, वृत्त का क्षेत्रफल, गोल का घनफल, विषम चतुर्भुज क्षेत्र के कर्णों के सम्पात से भुज की दूरी और क्षेत्रफल तथा सब प्रकार के क्षेत्रों की मध्यम लम्बाई और चौड़ाई जानकर क्षेत्रफल जानने के साधारण नियम दिये गये हैं। आर्यभट्ट ने बताया है कि परिधि के छठवें भाग की ज्या उसकी त्रिज्या के समान होती है और यदि वृत्त का व्यास 2000 हो तो उसकी परिधि 62832 होती है। इस प्रकार अपने ग्रन्थ के गणितपाद खण्ड में उन्होंने अनेक अंकगणित, बीजगणित व रेखागणित के नियम और सिद्धान्त भर दिये हैं। जिनकी बातें 30 श्लोकों में बतायी गई हैं उनको यदि आजकल की परिपाटी के अनुसार विस्तार करके लिखा जाय तो एक विशाल ग्रन्थ का निर्माण हो सकता है।

कालक्रियापाद नामक खण्ड में ज्योतिष सम्बन्धी बातें हैं। इसमें काल और कोण की इकाइयों का सम्बन्ध तथा मास, वर्ष और युगों का सम्बन्ध भी बताया गया है। इसमें चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से युग, वर्ष, मास और दिवस की गणना का आरम्भ बताया गया है। इस खण्ड के 20 श्लोकों में तो ग्रहों की मध्यम और स्पष्ट गति सम्बन्धी नियम बताये गये हैं।

गोलपाद नामक खण्ड आर्यभट्टीय का अन्तिम खण्ड है जिसमें 50 श्लोक हैं। इसमें विभिन्न ग्रहों की गति, ग्रहों के पात और पृथ्वी की छाया से ग्रहों का रवि मार्ग पर भ्रमण बताया गया है। इसमें यह भी बताया गया है कि सूर्य से कितने अन्तर पर चन्द्रमा, मंगल, बुध आदि दृष्य होते हैं। एक श्लोक में बताया गया है कि पृथ्वी ग्रहों और नक्षत्रों का आधागोल अपनी ही छाया से अप्रकाशित है और आधा सूर्य के सामने होने से प्रकाशित है। यद्यपि नक्षत्रों के सम्बन्ध में यह बात ठीक नहीं है। इसमें बताया गया है कि जिस प्रकार चलती नाव पर बैठा हुआ मनुष्य किनारे के स्थिर पेड़ों को उलटी दिशा में चलता हुआ देखता है उसी प्रकार लंका (भूमध्य रेखा) से स्थिर तारे पश्चिम की ओर चलते दिखाई देते हैं। इस खण्ड के 16वें श्लोक में बताया गया है कि उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव पर खगोल किस प्रकार घूमता हुआ दिखाई देता है। श्लोक 37 से 47 तक में सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहणों की गणना करने की रीति बतायी गई है। इसके अन्तिम श्लोक में कहा गया है कि आर्यभट्टीय ग्रन्थ वैसा ही है जैसा आदिकाल में स्वयम्भू का था; इसलिए जो कोई इसकी निन्दा करेगा उसके यश और आयु का नाश होगा।

आर्यभट्टीय के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें ज्योतिष-सिद्धान्त की प्राय: सभी बातें और उच्च गणित की कुछ बातें सूत्र रूप में लिखी गई हैं। इसमें तिथि, नक्षत्र आदि की गणना तथा नक्षत्रों की सूची और उनकी स्थितियों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है। संभवत: इन सभी बातों का विशद् विवेचन आर्यभट्ट ने अपने दूसरे ग्रन्थ में किया था, जो अब अप्राप्य है। दक्षिण भारत में आर्यभट के आधार पर बने हुए पंचांग वैष्णव धर्म वालों को मान्य होते हैं। ब्रह्मगुप्त, जो आर्यभट्टीय के तीव्र आलोचक थे, अन्त में इसी के आधार पर 'खण्डखाद्यक' नामक करणग्रन्थ लिखा था। आर्यभट्टीय के ऊपर चार टीकाएँ उपलब्ध होती हैं, जिनके रचयिताओं के नाम हैं—भास्कर प्रथम, सूर्यदेव यज्वा, परमेश्वर और नीलकण्ठ। इनमें परमेश्वर की भटदीपिका टीका के साथ उदय नारायण सिंह ने अपनी हिन्दी की टीका भी प्रकाशित की थी। सूर्यदेव यज्वा की संस्कृत टीका का नाम आर्यभट्ट-प्रकाश है।

प्राचीन भारतीय इतिहास में गुप्तकाल इतिहास का स्वर्णिम युग माना जाता है। इस युग में गणित और ज्योतिष विज्ञान की बहुत उन्नति हुई थी। आर्यभट्ट इसी युग की देन है। आर्यभट्ट प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने अपने सिद्धान्त-ज्योतिष में निश्चित रूप से एक गणिताध्याय का सन्निवेश किया था। इसमें अंकगणित, बीजगणित तथा रेखागणित के सिद्धान्तों व सूत्रों का प्रतिपादन किया। आर्यभट्ट ने पृथ्वी की परिधि की अनुमानतः जो माप की थी, वह आज तक सही मानी जाती है। पृथ्वी गोल है तथा अपनी धुरी पर चलती है, आदि सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने का श्रेय आर्यभट्ट को है। उसने सूर्य और चन्द्र के विषय में पौराणिक धारणाओं का खण्डन करते हुए प्रतिपादित किया कि ग्रहण में राहू और केतू का कोई स्थान नहीं है, बल्कि चन्द्रमा तथा पृथ्वी की छाया का फल है। अतः भारत के दैदीप्यमान वैज्ञानिकों में आर्यभट्ट का स्थान अग्रणीय माना जाता है।

वराहमिहिर

भारतीय ज्योतिष-विज्ञान का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक साहित्य में हमें ज्योतिष-विज्ञान से सम्बन्धित कुछ बातों का संकेत मिलता है। चूँकि वेद ज्योतिष-विज्ञान के ग्रन्थ नहीं है, अतः उनमें कोई भी बात ज्योतिष-विषयक विवेचन के लिए नहीं कही गई होगी बल्कि कुछ अन्य विषयों का विचार करते समय प्रसंगवश उसके सम्बन्ध में कुछ बातें आ गई होंगी। वेद के छः अंगों में एक ज्योतिष भी था। वेदांग-ज्योतिष नामक ग्रन्थ अत्यन्त पवित्र माना जाता है, जिसमें केवल 44 श्लोक हैं। तत्पश्चात् हमें महाभारत में ज्योतिष-विज्ञान सम्बन्धी अनेक बातों की जानकारी प्राप्त होती है। महाभारत के समय लोगों को ग्रहों का अच्छा ज्ञान था। किन्तु वेदांग-ज्योतिष नामक ग्रन्थ के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक हमें किसी ज्योतिपाचार्य या किसी ज्योतिष-ग्रन्थ का ज्ञान उपलब्ध नहीं होता। तत्पश्चात् ज्योतिष-विज्ञान की परम्परा आर्यभट्ट से मानी गई है। आर्यभट्ट के बाद वराहमिहिर, ज्योतिष-विज्ञान के प्रकाण्ड विद्वान् हुए थे।

वराहमिहिर अवन्ति (उज्जयिनी) के निवासी थे। इनका आविर्भाव किस समय हुआ था, इस सम्बन्ध में विद्वानों में गम्भीर मतभेद हैं। इन्होंने स्वयं भी, अपने किसी ग्रन्थ में इसकी सुस्पष्ट चर्चा नहीं की है। तथापि 'पंचसिद्धांतिक' नामक अपने ग्रन्थ में गणितारम्भ का वर्ष 427 शक संवत (505 ई.) दिया है। विद्वानों की मान्यता है कि वराहमिहिर का यह ग्रन्थ शक संवत 427 के चार-छः वर्ष बाद समाप्त हुआ होगा, लकिन शक संवत 427 में वे स्वयं गणना करने के योग्य हो गये होंगे। यदि उस समय उनकी आयु 15 वर्ष मानी जाती है तो उनका जन्म शक संवत 412 आता है। उनकी मृत्यु का वर्ष शक संवत 509 माना जाता है, उस समय सम्भवतः उनकी आयु 97 वर्ष की रही होगी। इस प्रकार वराहमिहिर का काल पांचवीं शती का उत्तरार्द्ध एवं छठी शती के पूर्वार्द्ध के मध्य माना जा सकता है। हिन्दी शब्दसागर में वराहमिहिर के सम्बन्ध में जो जानकारी दी गई है, वह इस प्रकार है—"वराहमिहिर के सम्यनध में अनेक प्रकार के प्रवाद कुछ वचनों के आधार पर प्रचलित है। जैसे, ज्योतिर्विदाभरण के एक श्लोक में कालिदास, धन्वन्तरि आदि के साथ वराहमिहिर भी विक्रम की सभा के नौ रत्नों में गिनाये गये हैं। पर इन नौ नामों में से कई एक भिन्न-भिन्न काल के सिद्ध हो चुके हैं। अतः यह श्लोक प्रमाण के योग्य नहीं है। अपने वृहज्जातक के उपसंहाराध्याय में वराहमिहिर ने अपना कुछ परिचय दिया है। उसके अनुसार वे अवन्ति

(उज्जयिनी) के रहने वाले थे। 'कायित्थ' स्थान में सूर्यदेव को प्रसन्न करके इन्होंने वर प्राप्त किया था। इनके पिता का नाम आदित्यदास था।" इससे ज्ञात होता है कि कपित्थ-ग्राम इनका वास स्थान था। यह स्थान आज भी उज्जयिनी के पास 'कायथा' नाम से विद्यमान है। इनके पिता इनके विद्यागुरु थे तथा सूर्यदेव को प्रसन्न करके उन्होंने अशेष ज्ञान प्राप्त किया था। वे सूर्य-भक्त थे तथा उन्होंने मुख्यतः चार ग्रन्थों की रचना की थी—(1) पंचसिद्धांतिका (2) वृहज्जातक (3) वृहद्यात्रा तथा वृहद्विवाहपटलयात्रा (4) वृहत्संहिता। इनमें पंचसिद्धांतिका सर्वाधिक प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ भारतीय ज्योतिष-विज्ञान के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

पंचसिद्धांतिका के सिद्धान्त—इस ग्रन्थ में हमें पांच विभिन्न सिद्धान्तों का परिचय मिलता है, जिनमें से कुछ तो वराहमिहिर के समय से बहुत प्राचीनकाल के थे और कुछ उसी समय के थे। काफी समय तक यह ग्रन्थ अप्राप्य रहा, किन्तु प्रोफेसर बूलर, जिनको बम्बई सरकार ने संस्कृत ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों की खोज का काम सुपुर्द किया था, इसकी दो प्रतियाँ प्राप्त करने में सफल हुए। डॉक्टर थीबो और महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी ने इसे अंग्रेजी अनुवाद और संस्कृत टीका सहित 1889 ई. में प्रकाशित किया था। यद्यपि इस ग्रन्थ का नाम पंचसिद्धांतिका है, फिर भी यह कारणग्रन्थ कहलाता है। करणग्रन्थ का अर्थ है कामचलाऊ पुस्तक। करणाग्रन्थों में ऐसे नियम दिये रहते हैं, जिनमें ज्योतिष की प्रमुख गणनाएँ पूर्णतया शुद्ध न होकर केवल मोटे हिसाब से शुद्ध होती हैं। किन्तु सिद्धान्त ग्रन्थों में ऐसे नियम दिये रहते हैं जिनसे उत्तर यथासम्भव शुद्ध निकलता है। परन्तु पंचसिद्धांतिका में कुछ ऐसे विषय भी है जो प्रायः करणग्रन्थों में नहीं रहते बल्कि सिद्धान्त ग्रन्थों में रहते हैं।

पंचसिद्धांतिका में पैतामह, वासिष्ठ, रोमक, पौलिश और सौर (सूर्य) इन पांच सिद्धान्तों का सारांश दिया गया है। वराहमिहिर ने यह भी लिख दिया है कि इन सिद्धान्तों में सबसे उत्तम कौनसा है और शेष के स्थान क्या हैं। उनका कहना है कि सूर्य सिद्धान्त सबसे उत्तम है, उसके बाद रोमक और पौलिश लगभग समकक्ष है और शेष दो सिद्धान्त इनसे बहुत ही हीन है। इसमें कुछ अध्याय ऐसे हैं जिनके आरम्भ में या कहीं अन्यत्र यह नहीं बताया गया है कि किस सिद्धान्त के अनुसार यह अध्याय लिखा गया है। अधिकांश अध्यायों के बारे में कोई सन्देह नहीं है। विवादग्रस्त अध्याय संभवतः वराहमिहिर के निजी है या सम्भवतः वे दो या दो से अधिक सिद्धान्तों में सर्वनिष्ठ हैं। वराहमिहिर ने यह भी लिखा है कि इन पांचों में पौलिश और रोमक के व्याख्याकार लाटदेव हैं। पौलिश सिद्धान्त स्पष्ट है, रोमक सिद्धान्त उसी के निकट है। सूर्य-सिद्धान्त सबसे अधिक स्पष्ट। है इनमें सूर्य सिद्धान्त नामक ग्रन्थ अलग से भी उपलब्ध है और इसका सारांश पंचसिद्धांतिका में दिया गया है। संभवतः प्राचीन सूर्य सिद्धान्त में नये संशोधन किये गये हैं; जिनका लक्ष्य यह था कि सूर्य, चन्द्रमा आदि ग्रहों के चक्कर लगाने का समय (जिसका पारिभाषित नाम भगण है) आंख से देखे गये या यंत्रों से नापे गये नामों के यथासंभव निकट आ जाय। इस प्रकार संशोधित सूर्य सिद्धान्त, हालांकि इसका संशोधन लगभग एक हजार वर्ष पूर्व हुआ था, पुराने ग्रन्थ की अपेक्षा अधिक शुद्ध फल देता है। सूक्ष्म विवेचन के आधार पर थीबो तथा सुधाकर द्विवेदी का कहना है कि वराहमिहिर ने अपने समय में प्रचलित सूर्य सिद्धान्त का सच्चा सारांश दिया है।

(1) पितामह-सिद्धान्त—पंचसिद्धांतिका का 12वां अध्याय पितामह-सिद्धान्त का सारांश देता है। इस अध्याय में केवल पांच श्लोक हैं। पितामह के अनुसार रवि और शशि का युग पांच वर्ष का होता है। तीन महीने में एक अधिमास होता है और वासठ दिनों में एक तिथि का क्षय होता है। पितामह सिद्धान्त का मत वेदांग-ज्योतिष से मिलता-जुलता है और उसी के अनुसार पांच वर्षों का युग माना गया है। वर्ष में महत्तम दिनमान 18 मुहूर्त माना गया है और लघुत्तम दिनमान 12 मुहूर्त।

(2) रोमक सिद्धान्त—पंचसिद्धांतिका के प्रथम अध्याय के पन्द्रहवें श्लोक में रोमक सिद्धान्त का युग का संक्षिप्त वर्णन है। यह युग भी सूर्य और चन्द्रमा का युग कहा गया है, परन्तु इसमें 2850 वर्ष है। कहा गया है कि एक युग में 1050 अधिमास होते हैं और 16547 क्षय तिथियाँ। यदि हम इन संख्याओं को 150 से भाग दे दें तो रोमक सिद्धान्त के अनुसार 19 वर्ष में ठीक-ठीक 7 अधिमास होते हैं। ये संख्यायें ठीक वे ही हैं जिनका प्रचार प्रसिद्ध यवन ज्योतिषी मेटन ने लगभग 430 ई.पू. में, वराहमिहिर के समय से लगभग एक हजार वर्ष पहले, किया था। रोमक सिद्धान्तों में दी हुई वातों के आधार पर गणना करने से पता चलता है कि उसके कर्ता के अनुसार वर्ष का मान 365 दिन 5 घंटा 55 मिनट 12 सैकिण्ड है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य वातों में भी रोमक सिद्धान्त यवन ज्योतिप से समानता रखता है। परन्तु अनेक वातों में भिन्नता भी है। इसलिए हम रोमक सिद्धान्त को यूनानी ज्योतिप का अन्धानुकरण नहीं मान सकते। वराहमिहिर के पूर्व भारत तथा यूनान के वीच आवागमन विशेप था। इसलिए यूनानी ज्योतिष-विज्ञान का आगमन, उस आवागमन का ही परिणाम है।

(3) पुलिश-सिद्धान्त—पंचसिद्धान्तिका में इसके सिद्धान्तों का परिचय पाठों की अशुद्धियों के कारण विशुद्ध रूप में नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि पुलिश सिद्धान्त ने किसी वड़े युग को लेकर उसमें कुछ अधिमासों और क्षय तिथियों को बताने की रीति को नहीं अपनाया है। उसने यही वताकर काम चला लिया कि कितने-कितने दिनों पर अधिमास पड़ता है या क्षय तिथि पड़ती है। पुलिश सिद्धान्त में वर्ष 365 दिन 6 घण्टा 12 मिनट का माना गया है। इसमें ग्रहणों की गणना के लिए भी नियम वताये गये हैं परन्तु वे सूर्य सिद्धान्त तथा रोमक सिद्धान्त की अपेक्षा वहुत ही स्थूल हैं। इसमें उज्जैन व काशी से यवनपुर का देशान्तर भी वतलाया गया है।

(4) वसिष्ठ-सिद्धान्त—पंच सिद्धान्तिका में वसिष्ठ सिद्धान्त वहुत ही संक्षेप में दिया गया है। यह वहुत कुछ पितामह सिद्धान्त की तरह है, लेकिन उससे कई वातों में अधिक शुद्ध है। वराहमिहिर ने स्वयं इस सिद्धान्त और पितामह सिद्धान्त को निम्नतम श्रेणी का माना है। वसिष्ठ सिद्धान्त में राशियों की चर्चा की गई है। लग्न भी है, जो वताता है कि रवि मार्ग का कौनसा भाग पूर्वीय क्षितिज से लगा हुआ है। परन्तु सूर्य, चन्द्रमा आदि की मध्यक और स्पष्ट गतियों में भेद का ज्ञान इस सिद्धान्त के कर्ता को नहीं था।

(5) सूर्य-सिद्धान्त—वराहमिहिर ने स्वयं ही सूर्य सिद्धान्त को सबसे ऊँचा स्थान दिया है। आज भी सूर्य सिद्धान्त नामक ग्रन्थ अलग से उपलब्ध है और इस ग्रन्थ का सारांश पंचसिद्धान्तिका में भी है किन्तु यह ग्रन्थ प्राचीन ग्रन्थ से अनेक वातों में भिन्न है। इस संशोधित सूर्य सिद्धान्त में 14 अध्याय हैं। पहले अध्याय में इस ग्रन्थ के रहस्य को वतलाने

वाले स्वयं भगवान सूर्य बतलाये गये हैं और उन्हीं के उपदेश को सुनकर भय नामक असुर ने इसका निर्माण किया। इसके मूल रचयिता का पता नहीं चलता। इसमें ग्रहों की मध्य गतियों का वर्णन है। सूर्य, चन्द्रमा तथा बुध आदि ग्रह समान कोषीय वेग से नहीं चलते, परन्तु गणना की सुविधा के लिए यह मान लिया जाता है कि वे समान वेग से चलते हैं। इस कल्पना के अनुसार गणना करने से जो स्थिति प्राप्त होती है उसे मध्यमज्या मध्यम स्थिति कहते हैं। ग्रह की गतियों का वर्णन करने के अनन्तर बीच संस्कार करने का उपदेश है। गणना और वेध में अन्तर होने के कारण बीज-संस्कार आवश्यक समझा गया अर्थात् युग में सूर्य, चन्द्रमा और ग्रहों के भगणों की संख्या में परिवर्तन कर दिया गया। दूसरे शब्दों में उनकी दैनिक गति बदल दी गई। सूर्य-चन्द्र की जो सारिणी बरजेस ने अपने अनुवाद ग्रन्थ में दी है, उससे ज्ञात होता है कि सूर्य सिद्धान्त के मान पर्याप्त शुद्ध हैं। आधुनिक सूर्य-वर्षमान 365 दिन, 6 घण्टा, 9 मिनट, 10.8 सैकिण्ड है। सूर्य सिद्धान्त में यह मान 365 दिन, 6 घण्टा, 12 मिनट, 36.6 सैकिण्ड है। इस प्रकार आजकल भी वैज्ञानिक गणना के समकक्ष होने के कारण सूर्य सिद्धान्त की गणना पर्याप्तरूपेण शुद्ध, प्रमाणिक तथा यथार्थ है, इसलिए इसके आधार पर बने हुए पंचांग भी उपयोगी हैं।

दूसरे अध्याय में ग्रहों की स्पष्ट स्थिति का वर्णन है और इसके लिए ज्या-सिद्धान्त का उपयोग किया है। ग्रहण के विषय में चन्द्रमा का व्यास 480 योजन बतलाया गया है। पृथ्वी के बताये गये व्यास (1600 योजन) से तुलना करने पर चन्द्रमा का व्यास, पृथ्वी के व्यास का 0.33 है, जो वास्तविक माप 0.27 से बहुत भिन्न नहीं है। परंतु सूर्य के व्यास का वर्णन बिल्कुल ही अशुद्ध है। सूर्य का व्यास, पृथ्वी के व्यास से चौगुना बताया गया है, जो वास्तविक व्यास से बहुत ही अशुद्ध है। इसी प्रकार सूर्य ग्रहण बतलाने की पद्धति में बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ कई नियम बतलाये गये हैं, यद्यपि अनेक संशोधन को छोड़ देने के कारण अन्तिम परिणाम ठीक नहीं निकलता। इसके अनन्तर ग्रह-युति, नक्षत्र-युति आदि का वर्णन है। एक अध्याय में ज्योतिष के यंत्रों को बनाने का वर्णन है। अन्तिम अध्याय में अयन, संक्रान्ति, उत्तरायण, दक्षिणायन, चान्द्र तथा सावन वर्ष के समयों का विवेचन किया गया है। इसमें बतलाया गया है कि सावन दिन सूर्य के एक उदय से लेकर दूसरे उदय तक के समय को कहते हैं।

वराहमिहिर ज्योतिष-शास्त्र को तीन शाखाओं में विभक्त करते हैं—प्रथम सिद्धान्त ज्योतिष, जिसको तन्त्र कहा जाता है; दूसरा होरा, जिसका सम्वन्ध जन्म-पत्री से है और तीसरी, संहिता जो फलित ज्योतिष के क्षेत्र से सम्वन्धित है। उन्होंने भारतीय भूगोल का एक रेखाचित्र भी दिया है, जिससे पता चलता है कि ग्रहों के रक्षणात्मक प्रभाव में कोने-कोने से देश, लोग और वस्तुएँ आती हैं। एक प्रकरण में उन्होंने अन्तःपुर के जीवन का वर्णन किया है। इसके दो अध्याय विवाह के विषय हैं। वराहमिहिर के ग्रन्थों में प्रचलित विचारों से भिन्न कोई बात हमें देखने को नहीं मिलती। वराहमिहिर फलित ज्योतिष के होरा प्रकरण विषय पर वृहज्जातक और लघुजातक छोड़ गये हैं।

चिकित्सा विज्ञान

भारतीय चिकित्सा विज्ञान का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। एक जीवनोपयोगी विषय के रूप में आयुर्वेद-चिकित्सा विज्ञान अति प्राचीनकाल से ही सम्मान पाता रहा है। ऋग्वेद,

यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के क्रमशः चार उपवेद कहे गये हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद और अर्थवेद (अर्थशास्त्र)। यदि पारलौकिक जीवन की सर्वार्थ सिद्धि वेदों में है, तो ऐहिक जीवन की पूर्णता के समग्र साधन उपवेदों में वर्णित हैं। ऋग्वेद में आयुर्वेद के जन्मदाता दिवोदास, भरद्वाज और अश्विनीकुमार आदि आचार्यों एवं परमर्षियों का उल्लेख मिलता है। अथर्वाण मंत्रों में राक्षसों को रोग उत्पन्न करने वाला और मंत्रों द्वारा रोगनिवृत्ति के तरीके भी बताये गये हैं। सर प्रफुल्लचन्द्र डे ने आयुर्वेद के इतिहास का काल-विभाजन करते हुए कुछ नई मान्यताएँ रखी हैं, जिनका निष्कर्ष यह है कि वैदिक युग की हिन्दू-चिकित्सा पधति में अनेक न्यूनताएँ थी। चरक से पूर्व चिकित्सा पद्धति का प्रायः सर्वथा अभाव था। ऐसा माना जाता है कि आयुर्वेद विज्ञान के प्रथम प्रवर्तक ब्रह्मा थे। उनसे यह ज्ञान प्रजापति ने सीखा, प्रजापति से अश्विनी कुमारों ने, अविश्नी कुमारों से सीखा इन्द्र ने और इन्द्र के पास दीर्घजीवी होने का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से महर्षि भारद्वाज गये। उन्होंने इस विज्ञान को सीख कर भारत में इसका प्रचार किया। इसी वैद्यक परम्परा में चरक का नाम भी आता है, जो आयुर्वेद-विज्ञान के प्रणेता थे। अधिकांश आधुनिक विद्वान् चरक को कनिष्क का समकालीन मानते हैं। चरक ने ही 'चरक संहिता' का प्रणयन किया था। आयुर्वेद के उपलब्ध ग्रन्थों में 'चरक संहिता' ही सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। चरक के पश्चात् सुश्रुत द्वारा प्रणीत 'सुश्रुत संहिता' शल्य चिकित्सा का प्रधान ग्रन्थ है। चरक और सुश्रुत से उतर कर आयुर्वेद में जो कार्य गुप्तकालीन वाग्भट ने किया वह किसी और से नहीं हो सका।

आचार्य वाग्भट

आयुर्वेद के समस्त साहित्य में आचार्य वाग्भट का नाम बड़ी प्रतिष्ठा से लिया जाता है। वाग्भट्ट की लेखनी से जो वाक्य लिखा गया वह मानो एक मंत्र बन गया। उनके छोटे-छोटे वाक्यों में सन्दर्भ-के-सन्दर्भ समाये हुए हैं। अनेक बिखरे हुए तत्त्वों को संगृहीत कर उनकी सुन्दर शृंखला तैयार कर देने में वाग्भट अत्यन्त सिद्धहस्त थे। उनकी इस योग्यता की समता करने वाला एक भी आचार्य आयुर्वेद में नहीं है। दोष, रोग और चिकित्सा का जो समीकरण उन्होंने स्थान-स्थान पर किया है, प्राचीन से लेकर अर्वाचीन तक किसी अन्य विद्वान् से वह नहीं बन सका। आयुर्वेद में वाग्भट के लिखे दो महाग्रन्थ मिलते हैं—पहला अष्टाङ्गसंग्रह और दूसरा अष्टाङ्गहृदय। अष्टांङ्गसंग्रह में अपने व्यक्तिगत परिचय के सम्बन्ध में थोड़ा-सा लिखा है। इस ग्रन्थ के अनुसार उनका जन्म सिन्धु देश (सिन्ध) में हुआ था। उनके पितामह का नाम भी वाग्भट ही था। वे भी विद्वान् और ख्यातिनामा वैद्य थे।

इसी कारण आचार्य वाग्भट ने उन्हें भी 'भिषग्वर' विशेषण देकर स्मरण किया है। इन भिषग्वर वाग्भट के पुत्र सिंहगुप्त हुए और इन सिंहगुप्त के पुत्र हमारे वर्णनीय आचार्य वाग्भट थे। यह परिवार सिन्ध के किस नगर में रहता था तथा आचार्य वाग्भट ने जन्म लेकर किस नगर को सौभाग्य-सम्पदा प्रदान की, यह बताने के लिए हमारे पास अभी तक कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि जिस परिवार में उन्होंने जन्म लिया वह विद्याव्रती तथा योग्य वैद्यों का परिवार था। अष्टांङ्गसंग्रह में वाग्भट ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि उन्होंने किन गुरुओं से शिक्षा प्राप्त की। वाग्भट ने लिखा है, "मुझे ज्ञान देने वाले प्रथम गुरु 'अवलोकितेश्वर' हैं। दूसरे उनसे भी गुरुत्तर मेरे पिता ही हैं, जिन्होंने मेरी बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश किया। शास्त्र के अष्टांङ्ग

विवेचन तथा उसके तत्व-निर्णय का जो कार्य मैं सुचारु रूप से कर सका हूँ, यह उन्हीं गुरुओं के आशीर्वाद का फल है।" इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वाग्भट के पिता सिंहगुप्त भी प्रतिभाशाली विद्वान् और चिकित्सक थे।

वाग्भट के ग्रन्थों पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि उस समय आयुर्वेदाचार्यों के दो सम्प्रदाय थे—पहला चरक सम्प्रदाय और दूसरा सौश्रुत सम्प्रदाय। वाग्भट चरक सम्प्रदाय के अनुयायी थे। चरक सम्प्रदाय के संस्थापक स्वयं चरक ही थे, जो ईसा से 200 वर्ष पूर्व कश्मीर में आविर्भूत हुए थे। सौश्रुत सम्प्रदाय के अग्रणी बोधिसत्व नागार्जुन थे, जो प्रायः ईसा की प्रथम शती में हुए थे। चरक से पूर्व आत्रेय पुनर्वसु और धन्वन्तरि के सम्प्रदाय थे। चरक ने अग्निवेश तन्त्र का प्रतिसंस्कार किया और नागार्जुन ने 'सुश्रुत संहिता' का प्रतिसंस्कार किया। वाग्भट ने दोनों का मध्यवर्ती मार्ग का अनुसरण किया। इस युग से पूर्व तक चिकित्सा शास्त्र में काष्ठादि औषधियों का प्रयोग ही प्रधान रूप से होता था। धातुओं का प्रयोग कच्चे रूप में ही किसी प्रकार उन्हें जीर्ण करके यदा-कदा कर लिया गया था। परन्तु नागार्जुन ने गहरे अनुसन्धान के बाद यह सिद्ध किया कि धातु भी सेन्द्रिय (Organic) बनाकर भस्म किये जा सकते हैं और रोगों पर उनका निरापद प्रयोग हो सकता है। फिर भी तात्कालिक आयुर्वेदाचार्यों ने इस अनुसन्धान को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया, बल्कि सुश्रुत और चरक के काष्ठादि एवं रसायन प्रयोगों को अधिक महत्त्व दिया। वाग्भट ने अपने ग्रन्थों में रसशास्त्र के प्रयोगों को नहीं के बराबर स्थान दिया। काष्ठौषधि चिकित्सा प्राचीन एवं परखी हुई प्रणाली थी। षड्रसों—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय के रसायनिक विज्ञान पर आधारित थी। अतः वाग्भट नवीन रसायनी विद्या से सन्तुष्ट नहीं हुए। अतः प्राचीन शैली के समर्थक चरक सम्प्रदाय के पोषण में उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी। चरक ने आत्रेय संहिता का जो प्रतिसंस्कार किया था, वह वाग्भट के समय तक अस्तव्यस्त और निष्प्रभ प्रतीत होने लगा था। सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राजवैद्य भट्टारक हरिशचन्द की व्याख्या से भी वह व्यवस्थित और प्रभावशाली नहीं हो पाता यदि वाग्भट की लेखनी प्रतिभामय प्रगति लेकर अवतीर्ण न होती। अनेक बिंखरे हुए ग्रन्थों का सुबोध और विद्धतापूर्ण संकलन करके वाग्भट ने गागर में सागर भर दिया। रसों और दोषों का जो विशद् और योग्यतापूर्ण विवेचन वाग्भट ने किया वह महर्षियों के ग्रन्थों से भी अधिक सरल और सुगम है। वाग्भट के समय तक चरक सुश्रुत, काश्यप, निमि, अग्निवेश, हारीत तथा पाराशर आदि प्राचीन संहिताएं उपलब्ध थी। वाग्भट ने सभी के विचारों का संकलन कर चरक संहिता के सिद्धान्तों का समर्थन किया है। वाग्भट ने एक स्थान पर लिखा है, "आंवले का रस, शहद, मिश्री और शुद्ध धृत का लेप बनाकर पथ्यभोजी रहकर नियम से सेवन करने वाले पुरुष के जरा-विकार नष्ट हो जाते है।" राजा का वैद्य किन गुणों से युक्त हो, इस प्रश्न का विवेचन करते हुए वाग्भट ने तीन गुणों का प्रमुख उल्लेख किया है—(1) दयालु हो, (2) चिकित्सा में क्रिया-कुशल हो तथा सबसे बढ़कर (3) वैदिक आचार-मर्यादा का पालन करने वाला हो।

वाग्भट कश्मीर के राजभवन में राजा की अन्नपान व्यवस्था के अधिकारी थे। अष्ठाङ्गहृदय में उनके अन्नपान रक्षाध्याय से यह ध्वनि निकलती है। अध्याय का उपक्रम और उपसंहार राजभवन को दृष्टि में रखकर ही लिखा गया है। राजाओं के महानस का सुन्दर चित्रण उसमें प्रस्तुत हुआ है। इस प्रसंग में वाग्भट के दो प्रयोग अत्यन्त उल्लेखनीय है—

(1) विष खा लेने के कारण हृदय के अवसाद (Depression) को रोकने के लिए मधु के साथ ताम्र-भस्म का प्रयोग।

(2) रक्त में मिश्रित विष के प्रभाव को शरीर धातुओं से दूर करने के लिए गोदुग्ध के साथ थोड़ी-थोड़ी करके तीन माशे स्वर्ण-भस्म खिलाना चाहिए।

ताम्र-भस्म की मात्रा वाग्भट ने नहीं लिखी। किन्तु उसके बाद स्वर्ण-भस्म की चर्चा करते हुए तीन माशा सामान्य मात्रा दी है। इसलिए ताम्र-भस्म की मात्रा भी तीन माशे ही होनी चाहिये। अष्टांङ्गहृदय में वाग्भट ने लिखा है कि दो-दो रत्ती की एक मात्रा बनाकर प्रातः सांय देने से यह पूर्ण मात्रा छः दिन में देना उचित होगा। फिर आयु और बलाबल देखकर वैद्य स्वयं इसका निर्णय कर सकते हैं, क्योंकि मात्रा का अवस्थान् सम्भव नहीं। यद्यपि चरक के उपदेशों को ही वाग्भट ने अपना आधार बनाया है, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि वाग्भट मौलिक नहीं है। रस तथा दोषों का वैज्ञानिक विवेचन जो वाग्भट ने दिया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। वाग्भट के युग में जिन विचारों का संघर्ष चल रहा था, उन्हें दृष्टि में रखकर उन्होंने मनुष्य की प्रकृति का वैज्ञानिक विश्लेषण दिया—

(1) वात-प्रकृति पुरुष, बलवादी, नास्तिक झगड़ालू और पेटू होते हैं।

(2) पित्त-प्रकृति, सच्चरित्र, बलवान, प्रेमी, बुद्धिमान, विद्वान तथा धर्माधर्म के झगड़े से अलग रहते है।

(3) कफ-प्रकृति, सुन्दर धर्मात्मा, स्थिर चित्त, श्रद्धालु, प्रेमी, उपेक्षाशील, दूरदर्शी, भक्त तथा आस्तिक होते है।

उनकी धारणा थी कि प्रकृति में दोषों के स्वाभाविक उतार-चढ़ाव होते हैं और तदनुसार सामाजिक विचारधाराएँ चला करती है। वाग्भट के अनुसार धार्मिक उतार-चढ़ाव प्रयास का फल नहीं है, बल्कि स्वाभाविक है। वाग्भट प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ को स्वास्थ्य का सन्देशवाहक मानते थे। उनका सदुपयोग हमें ज्ञात होना चाहिए। उनके अनुसार औषधि का गुण प्रत्येक द्रव्य में है। चरक संहिता में चिकित्सा के दो भेद बताए—संशोधन और संशमन। दोनों की लम्बी-लम्बी व्याख्याएँ दी है। किन्तु वाग्भट ने लिखा है कि शरीर में होने वाले दोषों का वात, पित्त, कफ शोधन करना हो तो वात में वस्ति, पित्त में विरेचन, कफ में वमन एवं शमन करना हो तो क्रम से तैल, घृत और मधु खिलाइये। बस आयुर्वेद-चिकित्सा का यही सार है। वाग्भट के युग तक आयुर्वेद में जड़ी-बूटियों के अतिरिक्त पारद, लौह, उपलौह का प्रयोग भी होने लगा था। उस युग तक 'लौह' संज्ञा के अन्तर्गत चांदी, तांवा, सीसा, पीतल तथा लोहा, इन पांच धातुओं की गणना होती थी। सोना लोह नहीं था। वह इन पांचों से भिन्न स्वतन्त्र धातु था। क्योंकि उसकी रासायनिक प्रक्रिया इन पांचों से भिन्न है। यह निश्चित है कि रासायनिक प्रक्रिया के बारे में उस युग के वैज्ञानिकों की जानकारी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। वाग्भट के समय पारद का प्रयोग निर्विवाद और सर्वसम्मत नहीं हो सका था। अतः वाग्भट ने औषधियों के वर्गीकरण में पारद का उल्लेख नहीं किया है। रसायन विज्ञान पर अष्टाङ्गहृदय के सूत्र स्थान का नवां अध्याय तो देखने योग्य है।

'बालामय' प्रसंग वाग्भट ने बड़े विस्तार से लिखा है। उसमें बाल-रोगों के निदान एवं चिकित्सा का विवेचन है। इसमें वाग्भट के गम्भीर वैज्ञानिक अनुभवों का उल्लेख है। कश्यप ने स्वर्ण तथा ब्राह्मी का प्रयोग शिशु को सूतिका गृह में देने के लिए लिखा था।

वाग्भट ने उस प्रयोग में थोड़ा परिवर्धन करके लिखा—स्वर्ण, बचमीठी, ब्राह्मी, स्वर्ण भक्षिक तथा हरड़ का प्रयोग बनाकर मधु एवं धृत (विषम मात्रा में) के साथ देना चाहिए; अथवा स्वर्ण और आंवले का चूर्ण—दो द्रव्यों का प्रयोग भी पर्याप्त है। शिशु के जन्म के उपरान्त तीसरे या चौथे दिन तक स्त्री की शिरायें दुग्ध वहन कर पाती है। इसलिए इन तीन चार दिन मधु में किंचित धृत मिलाकर दिन में तीन बार तक देना पर्याप्त है। दूसरे दिन दो बार और तीसरे दिन तीन बार तक माता के स्तन से भी दूध पिलाना चाहिए। चौथे दिन से यथोचित माता का ही दूध देना उचित है। पांच मास पूर्व बच्चे को भूमि पर नहीं बैठाना चाहिए। छठे मास अन्नप्राशन हो। सातवें या आठवें मास शीत ऋतु में बच्चे का कर्णवेध करना चाहिए। कान पीछे की ओर से वेधना चाहिए। हल्की धूप में बैठकर देखें-जहाँ सूर्य की किरणे झलके तथा जहाँ कोई नाड़ी न हो, वही वेध स्थान है। छिद्र बाहर की ओर झुका न हो, गण्डस्थल की ओर झुकना चाहिए। यदि इन बातों की उपेक्षा हुई तो वेध के बाद कान सूजेगा, दाह बढ़ेगा, मूर्च्छा हो सकती है, गर्दन जकड़ सकती है। बहुधा अपतानक (Titenus) जैसी भयानक बीमारी का आविर्भाव होते भी देखा जाता है। छेदने वाली सुई को घी या शुद्ध तैल में गरम कर लेना चाहिए। डोरा स्वच्छ तथा औषधिसिद्ध हो। छेदने के बाद औषधिसिद्ध तैल नित्य लगायें। धीरे-धीरे आभूषण पहना दे। दांत निकलने के साथ-साथ मां का दूध कम करते जाएं। फल,चिरौंजी, शहद, धान की खीलें, धान के सत्तू, यथा मात्रा में देनी चाहिए। ये मौलिक बातें जिन पर माता-पिता बहुधा अज्ञानवश गलतियाँ करते रहते हैं, वाग्भट ने विस्तार से लिखी है।

चरक ने भूतजन्य रोगों पर अनास्था प्रकट की है और लिखा है कि यह अपनी ही बुद्धि का विकार है, किसी भूतप्रेत का कोई प्रभाव नहीं है। किन्तु इस विषय में वाग्भट ने चरक का सहयोग नहीं किया। उन्होंने बाल-ग्रह तथा भूत-विद्या पर पर्याप्त लिखा है। उन्होंने लिखा है कि ग्रह बच्चों को कष्ट देते हैं। इनका सामान्य लक्षण यह है कि शिशु को तीव्र ज्वर होगा तथा वह निरन्तर रोता रहेगा। उन्होंने प्रत्येक ग्रह का अलग-अलग लक्षण भी लिखा है और उसकी चिकित्सा भी लिखी है। वाग्भट ने किसी नवीन अविष्कार का दावा नहीं किया है। किन्तु कुछ-एक प्रयोग ऐसे हैं जो वाग्भट के संजोये हैं। हिंग्वाष्टक चूर्ण की योजना वाग्भट की ही है। किन्तु निदान और चिकित्सा की जो शैली वाग्भट ने प्रस्तुत की वह सुश्रुत और चरक के पास नहीं थी। 'सुश्रुत संहिता' ने सामग्री का संचय किया। आत्रेय ने उसे दार्शनिक और ऐतिहासिक परिधान पहिनाए और वाग्भट ने उसे, शैली का सौन्दर्य संजोकर, नवोढ़ा कामिनी की भाँति कमनीय बना दिया। ऐसी कमनीयता जिस पर आज भी विश्व मुग्ध है। वाग्भट के बाद आज डेढ़ हजार वर्ष बीत गये, आयुर्वेद विज्ञान उतना सुन्दर है, भले ही उसमें नये आविष्कार नहीं हुए है।

आयुर्वेद का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय 'नाड़ी विज्ञान' है। वाग्भट ने उसका कहीं उल्लेख तक नहीं किया है। यद्यपि वाग्भट ने लिखा है कि प्रत्येक रोग के दोष शरीर की नाड़ियों में प्रवाहित होते हैं। परन्तु उस प्रवाह का परिचय 'नाड़ी-विज्ञान' है, ऐसा उल्लेख निदान-स्थान में भी नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि वाग्भट के समय जैसे पारद चिकित्सा सर्वसम्मत नहीं थी, वैसे ही नाड़ी-विज्ञान की स्थिति भी विवाद का विषय बनी हुई थी। "प्रत्येक रोग में क्रुद्ध रोगाधिष्ठान की ओर जाने वाली नाड़ियों में समाविष्ट होकर शरीर में प्रवाहित होते हैं।" इतना वक्तव्य नाड़ी-विज्ञान की व्याख्या नहीं है। नाड़ी-विज्ञान धमनियों

की अनुभूति का विज्ञान है। वैद्य की अनुभूति पर उसकी सत्यता की तोल होती है। इसलिए वैद्य का अज्ञान रोगी के प्राणों का ग्राहक हो सकता है। अतः नाड़ी-विज्ञान इतना कठिन है कि सर्व वैद्य भी डर-डर कर कदम उठाता है। इसीलिए वाग्भट ने लिखा है, "केवल शास्त्र रट लेने से कोई सफल वैद्य नहीं होता। चिकित्सा में सफलता पाने के लिए अभ्यास और अनुभूति भी चाहिये। रत्नशास्त्र पढ़कर कोई हीरे-जवाहरात का जौहरी नहीं होता, यदि दृष्टि में अभ्यास और सूझ-बूझ न हो।"

महात्मा बुद्ध से पूर्व भारतीय चिकित्सा-विज्ञान में शल्य-चिकित्सा काफी विकसित थी। महात्मा बुद्ध के चिकित्सक महाभाग जीवक स्वयं एक अद्वितीय शल्य-शास्त्री थे। बौद्ध-काल में भले ही ग्रन्थ-प्रणयन कम हुआ हो, किन्तु उस युग के आयुर्वेदाचार्यों ने औषधियों के रासायनिक तत्वान्वेषण में इतना विकास कर लिया था कि वाग्भट के युग में (420 ई -500 ई.) औषधियों के रासायनिक प्रयोगों द्वारा ही शल्य-क्रिया का अन्धःकरण हो गया। वाग्भट के युग का चिकित्सक औषधियों के रासायनिक प्रयोगों से ही शल्य-विषयक अधिकांश रोगों का निवारण करने लगा। इसी कारण वाग्भट के ग्रन्थों में शल्य-चिकित्सा की प्रधानता दिखाई नहीं देती। वाग्भट के अनुसार द्रव्यगुण के परिज्ञान द्वारा ही रोग निवारण करना चिकित्सा का आदर्श है, शल्य-क्रिया नहीं। रासायनिक द्रव्य गुणों के परिज्ञान से निराश चिकित्सक ही शल्य-क्रिया का आश्रय लेता है। वाग्भट के द्रव्यगुण-परिज्ञान का यह उत्कृष्ट उदाहरण 'अष्टांग-हृदय' के अन्तिम अध्याय में देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए— (1) ज्वर निवारण के लिए नागरमोथा और पित्त पापड़ा, (2) शुद्ध मिट्टी के ढेले को आग में तपा लिया जाय और फिर जल में बुझा दो, यह जल तृषा पर (3) छर्दि (Vomitting) पर धान की खीलों का जल (4) वृक्क रोगों पर शिलाजतु (5) प्रमेह पर आंवला और हल्दी, (6) पाण्डुरोग पर लौह, (7) वात-कफ वृद्धि पर हरड़, (8) प्लीहा पर पिप्पली, (9) उरःक्षत आदि रक्त प्रवाही रोगों पर लाक्षा (10) विषों पर सिरस (11) मेद एवं तज्जन्य वात पर गुग्गुलु (12) रक्त-पित्त पर अडूसा (13) दस्तों पर इन्द्र जौ (14) अर्श पर भल्लातक (15) रक्त में व्याप्त विषों पर स्वर्ण सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार रासायनिक दृष्टि से चुने गये संग्रह अन्यत्र कठिन है। यद्यपि आत्रेय सम्प्रदाय चिकित्सा में रासायनिक परिज्ञान को पहले से महत्त्व देता आया था, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों की प्रतिपादन शैली इतनी क्लिष्ट थी कि महाप्रयास करके भी कोई व्यक्ति उससे थोड़ा ही लाभ प्राप्त कर सकता था। वाग्भट ने उनका सार लेकर सुबोध शैली में संकलित कर दिया। अष्टांग-हृदय में वाग्भट ने स्वयं लिखा है, "प्राचीन ग्रन्थ विप्रकीर्ण थे। उनमें न्याय, सांख्य तथा योग के गहन दार्शनिक विचारों का इतना विस्तार है कि यदि उत्कृष्ट दार्शनिक योग्यता न हो तो कोई व्यक्ति उन ग्रन्थों का समझ ही नहीं सकता। इसलिए उन ग्रन्थों का सार संग्रह करके मैं यह ग्रन्थ लिख रहा हूँ। यह न तो इतना संक्षिप्त है कि आवश्यक विषय छूटे हों, और न उतना विस्तृत कि जीवन भर पढ़ना पड़े।"

वाग्भट के ग्रन्थों में कहीं भी अवैदिक तथ्यों का समावेश नहीं पाया जाता। ये बड़े प्रतिभावान तथा व्यवहारकुशल भिषक थे। इनके विचार बड़े ही उदात्त थे। सदाचार के वर्णन में वे बड़े ही अनुभवी थे। काष्ठोषधि के प्रयोग के साथ रसौषधों का प्रयोग वैधक-शास्त्र में सर्वथा मान्य हो गया था। वे रूढ़िवादिता के सर्वथा विरोधी थे और सभी स्थानों से ज्ञान-संग्रह के पक्ष में थे। इसीलिए इन्होंने कुछ आवेश में आकर लिखा है कि यदि पुराने ऋषि-

प्रणीत ग्रन्थों में ही अनुराग है, तो चरक, सुश्रुत को छोड़कर भेड़ आदि प्राचीन ग्रन्थकारों की रचनाएँ क्यों नहीं पढ़ते। सुभाषित ही ग्राह्य होता है, चाहे वह कहीं से आया हो। वाग्भट ने पहला ग्रन्थ 'अष्टाङ्ग-संग्रह' लिखा था, तब उनका दृष्टिकोण यह था कि विप्रकीर्ण को संकलित किया जाय। 'अष्टाङ्ग-संग्रह' में उन्होंने यह लिखा भी है कि अथाह आयुर्वेद-सागर में गोता लगाकर मैं काम की मूल्यवान चीजें संग्रह कर रहा हूँ। वे सागर के मोती है। किन्तु वृद्धावस्था के शान्तिपूर्ण दिनों में उन्होंने फिर से आयुर्वेद-शास्त्र का विश्लेषण किया और फिर जो संकलन प्रस्तुत किया, वह आयुर्वेद का हृदय बन गया। वाग्भट ने उसका नाम ही 'अष्टांङ्ग-हृदय' रख दिया। उसमें आयुर्वेद की जीवनशक्ति का स्पन्दन है। उन्हें अपनी इस रचना पर वहुत गर्व और सन्तोष था। अधिकांश विद्वानों का कहना है कि विधाता भी कोई रचना ऐसी न कर सका जो सर्वथा निर्दोष हो। वाग्भट की यह रचना ही उसका अपवाद है।

आजकल रसविद्या की जानकारी के लिए 'रसरत्नसुच्चय' नामक ग्रन्थ अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसके लेखक भी वाग्भट बताये जाते है। यह ग्रन्थ बीस अध्यायों में विभक्त है, जिसमें प्रथम ग्यारह अध्यायों में रस-शास्त्र के विषयों का विस्तृत विवेचन है। शेष भाग में ज्वर आदि रोगों की चिकित्सा है। ग्रन्थ के आरम्भ में लगभग 40 आचार्यों के नाम है, जिन्होंने रसरत्न पर भिन्न-भिन्न शतियों में ग्रन्थों का निर्माण किया था। इनमें से केवल थोड़े से ही आचार्यो के नाम तथा ग्रन्थ आज उपलब्ध है। परन्तु बहुत से आचार्य तो केवल नाम से ही प्रसिद्ध हैं। इस सूची को देखकर जाना जा सकता है कि रसशास्त्र के आचार्यों की एक लम्बी परम्परा थी और यह शास्त्र बहुत ही प्राचीन है और उपादेय माना जाता है। इस ग्रन्थ के ग्यारह अध्याय इस प्रकार हैं—रसोत्पत्ति, महारस, उपरस, रस, लौह, शिष्योपनयन, रसशाला, परिभाषा, यंत्र, मूषादि, रसशोधनादि।

इन अध्यायों में अभ्रक के तीन प्रकार—पिनाक, नागमण्डूक और वज्र; माक्षिक के दो प्रकार-हेम माक्षिक और तार माक्षिक; विमल के प्रकार तथा गुण, चपल के चार प्रकार—गौर, श्वेत, अरुण और कृष्ण; रसक के भेद—दर्दुर और कारवेल्लक, इसके अतिरिक्त गन्धक, गैरिक, कासीस, सौराष्ट्री, हरताल, अंजन, नवसार, वराटक, राजावर्त्त, मणि, वज्र (हीरा) आदि का वर्णन बड़े ही वैज्ञानिकता के साथ किया गया है। इसके अतिरिक्त धातुओं और मिश्र धातुओं का भी विवरण इस प्रकार मिलता है—सोना पांच प्रकार का होता है—प्राकृतिक, सहज, बहितसभूत, खनिसम्भव और रसेन्द्र वेधसंजात। चांदी भी तीन प्रकार की होती है—सहज, खनिसंजात और कृत्रिम। लोहे को सीसा सुहागे के साथ गलाने से इसका शुद्धिकरण होता है। तांबा दो प्रकार का होता है—नेपालक और म्लेच्छ। तांबे के पात्र को नीबू के रस से रगड़ कर गन्धक और पारे से लिप्त करे और फिर तीन बार गरम करने पर यह मर जाता है। इस ग्रन्थ में लोहे के भी भेदों का वर्णन मिलता है। इसके तीन भेद बताये गये हैं—मुण्ड, तीक्ष्ण और कान्त। मुण्ड के तीन, तीक्ष्ण के छः और कान्त के प्रकार है। लोहे की कारणविधि इस प्रकार है—एक भाग लोहे में, बीसवां भाग हिंगुल मिलाकर, उसे नीबू के रस में मिलाकर चालीस बार मूषा में बन्द करके गरम करें।

प्रसिद्ध आयुर्वेदशास्त्री कविराज रत्नाकर शास्त्री के अनुसार 'रसरत्नसमुच्चय' वाग्भट की रचना नहीं है। कविराज रत्नाकर शास्त्री ने दोनों ग्रन्थों की शैली, पारद का प्रयोग (जो वाग्भट को स्वीकार नहीं था), वैदिक सदाचार आदि के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अष्टांङ्ग-हृदय और रसरत्नसमुच्चय के लेखक एक नहीं हो सकते। इसके

अतिरिक्त वाग्भट ने सर्वप्रथम 'अष्टांङ्ग-संग्रह' की रचना की और तत्पश्चात् 'अष्टांङ्ग-हृदय' की। वाग्भट ने 'अष्टांङ्ग-हृदय' मे अष्टांङ्ग-संग्रह का परिचय दिया है। यदि तीसरा ग्रन्थ 'रसरत्नसमुच्चय' भी उन्हीं का लिखा हुआ होता तो इसमें भी वे अपने ग्रन्थों का परिचय अवश्य देते। अत: रत्नाकर शास्त्री के अनुसार 'रसरत्नसमुच्चय' वाग्भट का ग्रन्थ नहीं हो सकता। किन्तु बलदेव उपाध्याय ने 'रसरत्नसमुच्चय' के रचयिता वाग्भट को ही बताया है।

उपसंहार—गुप्त काल में विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का उल्लेखनीय विकास हुआ और उनका संकलन वैज्ञानिक ग्रन्थों में हुआ। इस काल के प्रमुख गणितज्ञ, ज्योतिष विज्ञान में भी निपुण थे। अत: इन शाखाओं का समुचित विकास हुआ। आर्यभट्ट और वराहमिहिर इसमें विशेष महत्त्व रखते हैं। इनके अतिरिक्त भास्कर तथा ब्रह्मगुप्त के ग्रन्थ भी उल्लेखनीय है।

आर्यभट्ट का गणित के क्षेत्र में विशेष स्थान केवल इसलिए नहीं है कि उन्होंने सबसे पहले गणित-ज्योतिष की समस्याओं को उठाया, बल्कि इसलिए भी है कि उनके द्वारा बताये गये बुनियादी गणित सिद्धान्तों का आने वाली शताब्दियों के गणितज्ञों ने अनुसरण किया। यह उन्हीं के प्रयत्नों का परिणाम था कि ज्योतिष को गणित से अलग शास्त्र माना गया। उनका विश्वास था कि पृथ्वी गोल है और अपनी धुरी पर घूमती है तथा इसकी छाया चन्द्रमा पर पड़ने के कारण ग्रहण पड़ता है। बाद के ज्योतिषियों ने उनके क्रान्तिकारी विचारों की आलोचना की, क्योंकि इस सम्बन्ध में परम्पराओं और धर्म के विरुद्ध वे नहीं जाना चाहते थे। परन्तु इस काल के ज्योतिर्विदों में आर्यभट्ट के विचार सबसे अधिक वैज्ञानिक थे। आर्यभट्ट के सिद्धान्तों को भास्कर प्रथम (600 ई.) ने उन पर टीकाएँ और स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखकर ख्याति प्रदान की। वह ब्रह्मगुप्त का समकालीन था और स्वयं भी प्रसिद्ध खगोल-शास्त्री था।

ब्रह्मगुप्त ने 'ब्रह्मसिद्धान्त'की रचना की। उन्होंने आर्यभट्ट, श्रीसेन, विष्णुचन्द्र, लाट व प्रदुम्न्य के सिद्धान्तों एवं प्रणालियों की आलोचना की है। भारतीय ज्योतिष में विदेशी ज्योतिष के जो सिद्धान्त आ गये थे, उनकी भी उन्होंने आलोचना की। उन्होंने वेदांग ज्योतिष के पांच वर्षीय युग और जैन विचारधारा के उन सिद्धान्तों की आलोचना की जिनमें दो सूर्य, दो चन्द्र और दोहरे नक्षत्रों को माना गया था। एक अन्य ज्योतिर्विद वराहमिहिर ने 'पंचसिद्धान्तिका' की रचना की। वह महत्त्वपूर्ण ज्योतिषी के रूप में इतना अधिक प्रशंसनीय नहीं है, जितना ज्योतिष के इतिहासकार के रूप में। उसने 'बृहत्संहिता', 'बृहज्जातक', 'लघुजातक' आदि की भी रचना की।

गुप्त काल में औषधिशास्त्र का सैद्धान्तिक पक्ष तो प्रबल हुआ, किन्तु औषधि ज्ञान में अधिक वास्तविक प्रगति नहीं हुई। छठी शताब्दी में वाग्भट ने आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अष्टांङ्ग-हृदय' की रचना की। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में आयुर्वेद का विद्वान् चिकित्सक धन्वन्तरी था। प्राचीनकाल में अनेक धन्वन्तरी हुए हैं। यह धन्वन्तरी कौनसा था, यह कहना कठिन है। इसके अतिरक्त 'नवनीतकम' नामक आयुर्वेद-ग्रन्थ की रचना भी इसी काल में हुई थी। पालकप्य नामक पशु-चिकित्सक ने 'हस्त्यायुर्वेद' नामक ग्रन्थ की रचना की, जो हाथियों के रोगों और चिकित्सा से सम्बन्धित थी। घोड़ों की चिकित्सा पर ग्रन्थ लिखे गये, क्योंकि हाथी व घोड़े सेना के आवश्यक अंग थे। भारतीय चिकित्सा विषयक ज्ञान का प्रचार पश्चिमी एशिया में हुआ और एक फ़ारसी चिकित्सक भारतीय औषधिशास्त्र के अध्ययन के लिए छठी शताब्दी में भारत आया। शल्य-शास्त्र का ज्ञान भी चिकित्सकों को था।

भौतिक एवं रसायन विज्ञान में भी अध्ययन हुए। वैशेषिक शाखा ने अणु सिद्धान्त का प्रतिपादन और प्रचार किया। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन, रसायन और धातु-विज्ञान का विद्वान् था। उसने यह प्रमाणित किया कि सोना, चांदी, तांबा आदि खनिज पदार्थों के रासायनिक प्रयोग से रोगों का निवारण हो सकता है। किन्तु कुछ विद्वान् बोधिसत्व नागार्जुन का काल ईसा की सातवीं शताब्दी बताते हैं, जिसका उल्लेख अलबरुनी ने किया है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी लिखा है कि मेरे भारत में आने से सात-आठ सौ वर्ष पूर्व शान्तिदेव तथा अश्वघोष की भाँति महाविद्वान बोधिसत्व नागार्जुन हुए थे, जो रसायनी विद्या के प्रभाव से पत्थर को भी सोना बना देते थे। राजतरंगिणीकार ने लिखा है कि भगवान बुद्ध के प्रायः 150 वर्ष पश्चात् महाविद्वान आचार्य नागार्जुन हुए थे। इन लेखों से स्पष्ट है कि नागार्जुन नाम के कई व्यक्ति हुए थे। अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि गुप्त शासन से पूर्व सातवाहनों के काल में ये रसायन-शास्त्री नागार्जुन हुए थे।

इस काल में धातु-विद्या विज्ञान की भी उन्नति हुई। मेहरौली का लौह-स्तम्भ रसायनशास्त्र और धातु-विद्या विज्ञान का एक उत्कृष्ट नमूना है। इसके लोहे में कुछ ऐसी धातुएँ और रसायनों का मिश्रण है कि उस पर आज तक वर्षा, पानी आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बिहार के सुल्तानगंज से प्राप्त बुद्ध की खड़ी हुई तांबे की प्रतिमा है जो साढ़े सात फुट ऊँची है और एक टन वजन की है। कहा जाता है कि वराहमिहिर ने वनस्पति विज्ञान एवं जीव बिज्ञान का गहन अध्ययन किया था। दुर्भाग्य से इन विषयों पर हमें कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो पाया है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग पाँच पृष्ठों में दीजिए—

1. गुप्तकाल में गणित विज्ञान के विकास में आर्यभट्ट के योगदान का वर्णन कीजिए।
2. वराहमिहिर के ग्रन्थों में वर्णित ज्योतिष विज्ञान के सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।
3. गुप्तकाल में चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में आचार्य वाग्भट के योगदान की चर्चा कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए—

1. आर्यभट्टीय ग्रन्थ के गोलपाद खण्ड में किस विषय पर क्या चर्चा की गई है?
2. वराहमिहिर के ग्रन्थ 'पंचसिद्धान्तिका' में वर्णित पांच सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
3. वराहमिहिर के रोमक सिद्धान्त के आप क्या समझते हैं?
4. वाग्भट ने 'बालामय' प्रसंग में किन रोगों का वर्णन किया है?
5. वाग्भट के 'शल्य-चिकित्सा विज्ञान' के बारे में क्या विचार थे?
6. वाग्भट के ग्रन्थ 'रसरत्नसमुच्चय' का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
7. गुप्तकाल में रसायन-विज्ञान एवं धातु-विद्या विज्ञान की प्रगति की संक्षिप्त चर्चा कीजिए।

◆

अध्याय-14

महाकवि कालिदास और गोस्वामी तुलसीदास

भारतीय साहित्य का भण्डार अत्यन्त विशाल और समृद्ध है। भारतीय साहित्य में सांस्कृतिक चेतना तथा हमारे जीवन मूल्यों के प्रति दृष्टिकोण सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है। अत: भारतीय साहित्य यहाँ की संस्कृति का सच्चा दर्पण है। हमारे देश के सांस्कृतिक विकास के, विभिन्न युगों की प्रवृत्तियों का भलिभाँति अध्ययन करने के लिए हमें ऐसे प्रतिनिधि साहित्यकारों की रचनाओं का अध्ययन करना होगा, जिनकी रचनाएँ हमारे जीवन मूल्यों और आदर्शों को व्यक्त करने के साथ-साथ हमारी अमूल्य साहित्यिक विरासत हो। जिस प्रकार महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण तथा वेदव्यास द्वारा रचित महाभारत, प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति को समग्र रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है, उसी प्रकार महाकवि कालिदास के संस्कृत साहित्य में हमें तत्कालीन समाज और सांस्कृतिक चेतना के दर्शन होते हैं। महाकवि कालिदास तो विश्व के सर्वोत्कृष्ट कवियों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। जिस विषय पर भी महाकवि की लेखनी चली, उसमें कोई दूसरा उनकी समता नहीं कर सका। गोस्वामी तुलसीदास का साहित्य, भारतीय संस्कृति के उच्चतम आदर्शों की अभिव्यक्ति है। वस्तुत: इन दोनों साहित्यकारों ने भारतीय संस्कृति के उच्चतम आदर्शों को व्यक्त करते हुए हमें हमारे आदर्श जीवन मूल्यों का ज्ञान कराया है, ताकि आने वाली पीढ़ी उनका अनुसरण कर सके और एक आदर्श समाज की स्थापना हो सके।

महाकवि कालिदास

महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य के जाज्वल्यमान रत्न हैं। महाकवि ने अपनी असाधारण काव्य रचनाओं, अनुपम कल्पनाओं तथा अप्रतिम साहित्य ग्रन्थों का सृजन कर संस्कृत साहित्य में अभिवृद्धि की। उल्लेखनीय तथ्य तो यह है कि जिस विषय पर भी महाकवि की लेखनी चली, उसमें कोई दूसरा उनकी समता नहीं कर सका। वस्तुत: महाकवि कालिदास भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष काल के प्रतिनिधि कवि हैं। किन्तु आश्चर्य है कि ऐसी महान् विभूति एवं प्रतिभाशाली महाकवि की जीवनी के सम्बन्ध में कोई प्रमाणिक एवं स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार कालिदास उज्जैन में रहने वाले एक ब्राह्मण थे और शैव मतावलम्बी थे। कुछ विद्वान् कालिदास के काव्यों और नाटकों में कश्मीर की सुरम्य घाटियों, हिमगिरि की उपत्यकाओं, केसर के लहलहाते मनमोहक खेतों आदि का जो वर्णन मिलता है, उसके आधार पर कश्मीर को कालिदास की जन्मभूमि मानते हैं। अनेक बंगाली साहित्यकारों ने उन्हें बंगाल का निवासी बताया है। प्रसिद्ध इतिहासकार वी.ए. स्मिथ के मतानुसार कालिदास मालवा प्रदेश के मन्दसौर नामक स्थान के निवासी थे।

महाकवि का काल निर्णय—कालिदास किस काल और युग के कवि थे, इस सम्बन्ध में भी विद्वानों में तीव्र मतभेद हैं। कालिदास के स्थिति-काल के सम्बन्ध में मुख्यतः दो मत प्रचिलित हैं और ये दोनों ही मत उनके नाटकों में 'विक्रम' शब्द का प्रयोग तथा उनका, 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के कारण है। प्रथम मत के अनुसार महाकवि कालिदास, महाराजा विक्रमादित्य की राजसभा में नवरत्नों में से थे। इस मत के आधार पर कालिदास को प्रथम शताब्दी ई.पू. का माना जाता है। परमारवंशीय महेन्द्रादित्य के पुत्र विक्रमादित्य प्रथम शताब्दी ई.पू. में उज्जयिनी के शासक हुए थे, जिसने शकों को पराजित कर अपनी विजय के उपलक्ष में 57 ई.पू. में विक्रम संवत् चलाया था। कई विद्वान् कालिदास को महाराज विक्रमादित्य का समकालीन मानते हैं। जैन साहित्य और कथा सरित्सागर में महाराजा विक्रमादित्य का उल्लेख मिलता है। दूसरे मत के अनुसार कालिदास गुप्तकालीन शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय, जिसने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी, के समकालीन थे। जो विद्वान् कालिदास को चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन मानते हैं, उनका तर्क है कि चूँकि प्रथम शताब्दी ई.पू. में विक्रमादित्य नामक राजा होने का कोई ऐतिहासिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता, अतः कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के ही समकालीन थे।

अधिकांश इतिहासकारों की मान्यता है कि कालिदास गुप्तवंशीय शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय (380-413 ई.) के समकालीन थे। इस मत को मानने वाले विद्वान् कालिदास के इस चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन होने के सम्बन्ध में निम्न तर्क देते हैं—(1) कालिदास ने जिस 'कुमार-सम्भव' नामक महाकाव्य की रचना की, वह सम्भवतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पुत्र कुमारगुप्त के जन्म के उपलक्ष में की थी। (2) कालिदास के महाकाव्य 'रघुवंश' में रघु-दिग्विजय का वर्णन, इलाहाबाद स्तम्भ अभिलेख में वर्णित समुद्रगुप्त, जो चन्द्रगुप्त द्वितीय का पिता था, की विजय-यात्रा वर्णन से मिलता-जुलता है। (3) कालिदास ने अपने महाकाव्य 'रघुवंश' में हूण नामक विदेशी जाति का उल्लेख किया है, जो गुप्त काल में ही भारत में प्रविष्ट हुए थे। (4) कालिदास की रचनाओं में 'गुप' (रक्षा करना) धातु का बार-बार प्रयोग, सम्भवतः गुप्त युग का सूचक है। (5) कालिदास के काव्यों में तथा बौद्ध कवि अश्वघोष की रचनाओं में, अनेक स्थानों पर, उल्लेखनीय समता पाई जाती है। दोनों रचनाओं में कालिदास की रचना, निर्विवाद रूप से श्रेष्ठ है। ऐसा प्रतीत होता है कि कालीदास ने अश्वघोष का अनुसरण कर अपनी शैली का परिष्कार व सुधार किया। चूँकि अश्वघोष का समय प्रथम शताब्दी ईसवी है, अतः कालिदास उससे पहले नहीं, बल्कि उसके बाद गुप्त-काल में ही हुए थे। (6) 473 ई. के गुप्तकालीन मन्दसौर अभिलेख में कालिदास की रचनाओं की स्पष्ट झलक मिलती है, जिससे स्पष्ट है कि कालिदास इस अभिलेख से पहले अर्थात् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय हुए थे। (7) जिस परिष्कृत संस्कृत भाषा, सुख, वैभव, शान्ति, समृद्धि तथा उल्लासमय वातावरण का वर्णन जो कालिदास के काव्यों में पाया जाता है, वह गुप्त काल में ही सम्भव था, अन्य किसी युग में नहीं। इन सभी तर्कों के आधार पर अधिकांश इतिहासकार कालिदास को गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन मानते हैं।

जीवन-परिचय—महाकवि कालिदास के काल निर्णय तथा जन्म-स्थान की भाँति उनके बाल्यकाल और शिक्षा आदि के सम्बन्ध में भी कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती। कालिदास के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में एक बड़ी रोचक कहानी प्रचलित है। कहा

जाता है कि कालिदास महामूर्ख थे। वे पेड़ की जिस डाल पर बैठते थे, उसी को काटने लग जाते थे। वहाँ के राजा की पुत्री विद्योत्तमा समस्त विद्याओं और कला में निपुण थी। राज्य के पंडितों ने इस राजकुमारी का मानमर्दन करने के लिए कालिदास को पकड़कर राजा के दरबार में ले गये। पण्डितों द्वारा राजा के समक्ष कालिदास के विद्वत्ता की मिथ्या प्रशंसा करने पर, राजा ने प्रसन्न होकर अपनी विद्वान् पुत्री का विवाह मूर्ख कालीदास के साथ कर दिया। विवाह के पश्चात् जव विद्योत्तमा को कालिदास की जड़ता-मूर्खता का ज्ञान हुआ तो उसने कालिदास को वहुत कुछ बुरा-भला कह दिया। अपनी पत्नी के तीखे शब्दबाणों से तिलमिला कर कालिदास घर छोड़कर विद्याध्ययन के लिये चले गये। अनेक वर्षों तक व्याकरण और काव्य-शास्त्र का अध्ययन करने के वाद जव वे घर लौटे तो विद्योत्तमा ने उनका हृदय से स्वागत किया। कहा जाता है कि विद्योत्तमा के स्वागत-वाक्य 'अस्तिकाश्चिद्वागर्थ' को आधार मानकर ही कालिदास ने 'कुमार-सम्भव','मेघदूत' और 'रघुवंश' की रचना की थी।

एक दूसरी मान्यता यह भी है कि अपनी पत्नी से अपमानित होकर वे घर से सीधे काली के मन्दिर आ गये। उन्होंने भगवती के चरणों में अपनी जीभ काट कर रख दी। उनकी इस श्रद्धा और भक्ति को देखकर देवी अत्यन्त प्रसन्न हुई तथा देवी काली की कृपा से कालिदास समस्त शास्त्रों के ज्ञाता और महान् कवि बन गये। ऐसा भी कहा जाता है कि देवी काली की आराधना और कृपा से ज्ञान प्राप्ति होने के कारण ही उनका नाम कालिदास पड़ा। किन्तु इस प्रकार की किंवदन्तियों का कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं है, जिससे कि इन्हें स्वीकार किया जा सके। इन किंवदन्तियों के सम्बन्ध में प्रसिद्ध उपन्यासकार मुंशी प्रेमचन्द का यह कथन उचित प्रतीत होता है कि, "ये अधिकांशतः निर्मूल एवं निराधार हुआ करती हैं और तथ्य से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। जहाँ इतिहास अधूरा रह जाता है या मौन हो जाता है वहाँ इस प्रकार की गाथाएँ गढ़ लेना साधारण सी बात है।" यदि प्रचलित किंवदन्तियों को अलग कर दें तो इतना स्पष्ट अवश्य हो जाता है कि कालिदास ने अनेक वर्षों तक विद्याध्ययन करके सभी शास्त्रों व व्याकरण में निपुणता प्राप्त की थी और बाद में गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर अनेक ख्याति-प्राप्त ग्रन्थों की रचनाएँ की थी।

कालिदास की रचनाएँ—कालिदास की रचनाओं में चार काव्य—ऋतु-संहार, कुमार-सम्भव, रघुवंश और मेघदूत तथा तीन नाटक—विक्रमोर्वशीय, मालविकाग्निमित्रम् और अभिज्ञान शाकुन्तलम् प्रमुख हैं।

(1) ऋतु-संहार—यह एक गीति-काव्य है। इसमें छः सर्ग हैं और प्रत्येक सर्ग में एक ऋतु, क्रमशः ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर और बसन्त ऋतु तक छः ऋतुओं का वड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है। अधिकांश विद्वानों ने ऋतु-संहार को कालिदास की प्रथम कृति माना है। उनकी मान्यता है कि ऋतु-संहार में महाकवि की भावनाओं तथा भाषा का वह परिष्कृत और विकसित रूप नहीं मिलता जो उनकी अन्य रचनाओं में मिलता है।

(2) कुमार-सम्भव—महाकवि कालिदास का यह एक उत्कृष्ट महाकाव्य है। इसमें 17 सर्ग हैं। कुमार-सम्भव की कथा-वस्तु का आधार शिव-पुराण और विष्णु-पुराण में वर्णित कथाएँ हैं, किन्तु कालिदास ने अपनी कल्पना के सम्मिश्रण से उन पौराणिक घटनाओं में जो नवीनता, सरलता एवं लालित्य उत्पन्न किया है, उससे यह काव्य मौलिक सा प्रतीत होता है। इसके प्रथम सर्ग में पर्वतराज हिमालय के सौन्दर्य का हृदयग्राही वर्णन, दूसरे सर्ग में

बसन्त ऋतु एवं वन की अनुपम शोभा, तीसरे में शिव की समाधि, चौथे में शिव द्वारा कामदेव का दहन तथा रति का करुण विलाप, पाँचवें में पार्वती की तपस्या तथा बटुवेशधारी शिव और पार्वती में संवाद तथा बाद के सर्गों में शिव-पार्वती विवाह, कुमार कार्तिकेय का जन्म, देवताओं का सेनापति नियुक्त होना तथा तारकासुर-वध आदि का वर्णन है। कुमार-सम्भव में पार्वती के यौवन-जनित रूप-सौन्दर्य, रति का विलाप तथा शिव-पार्वती विवाह आदि के कतिपय प्रसंग अत्यन्त ही भावपूर्ण, आकर्षक एवं सुन्दर बन पड़े हैं। काव्य कला की दृष्टि से यह बहुत उत्कृष्ट कोटि की रचना है।

(3) रघुवंश—कालिदास की रचनाओं में तथा सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में रघुवंश सर्वाधिक ख्याति प्राप्त महाकाव्य है, जिसमें 19 सर्ग हैं। रघुवंश का मूल स्रोत वाल्मीकीकृत रामायण है। रघुवंश में सूर्यवंशी राजा दिलीप से लेकर राम तथा राम के वंशज राजाओं का चरित्र वर्णन है। इसमें दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम, कुश आदि उन्तीस राजाओं की जीवन-घटनाओं और उनके एक सहस्त्राब्दि के बीच के इतिहास को महाकवि ने इस तरह क्रमबद्ध रूप से सजाया है कि बिखरी हुई घटनाओं और कथा के अविरल प्रवाह में कहीं भी विराम और शैथिल्य नहीं आया है। रघुवंश में सभी प्रधान रसों का समावेश हुआ है। वशिष्ठ तथा वाल्मीकि ऋषियों के आश्रमों के वर्णन में शान्त रस का, अज तथा राम के युद्धों के वर्णन में वीर रस का और राजा अग्निवर्ण के विलास-वर्णन में शृंगार रस का सुन्दर निष्पादन हुआ है। रघुवंश की रचना का मूल उद्देश्य रघु की वंश-परम्परा वर्णन के साथ राम की जीवन-घटनाओं का सविस्तार वर्णन करना रहा है। इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु राम और उनके जीवन-वृत्त का वर्णन 10वें सर्ग से 16वें सर्ग तक सात सर्गों में किया गया है, जबकि राम के पूर्वज दिलीप, रघु, अज और दशरथ के जीवन-वृत्तों का वर्णन प्रारम्भ के 9 वर्गों में तथा राम के आगे की वंश-परम्परा का वर्णन अन्तिम तीन सर्गों में संक्षिप्त रूप में पूरा कर दिया गया है। रघुवंश में रघु के पुत्र अज का इन्दुमति से विवाह, कोमल माला के गिरने से इन्दुमति की मृत्यु और अज का करुण विलाप, पुष्पक विमान द्वारा राम और सीता का रमणीय स्थलों का भ्रमण आदि का अत्यन्त मनोरम एवं चित्ताकर्षण चित्रण हुआ है। रघुवंश का प्रत्येक पद पाठक को आनन्दित एवं भावविभोर कर देता है।

(4) मेघदूत—मेघदूत संस्कृत साहित्य का ही नहीं बल्कि विश्व-साहित्य जगत् का ऐसा महाकाव्य है, जिसकी समता का कोई अन्य काव्य अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है। मेघदूत एक छोटा-सा खण्ड काव्य (100 से कुछ अधिक श्लोक) है जिसमें दो खण्ड हैं—पूर्व मेघ तथा उत्तर मेघ। इस काव्य में एक यक्ष का वर्णन है, जिसे अपने स्वामी कुबेर के शाप के कारण अपनी पत्नी को अलकापुरी में छोड़कर रामगिरी पर्वत पर निर्वासित होना पड़ा था। पत्नी से यह विछोह उसके लिए असहनीय सिद्ध हुआ। वर्षा ऋतु में जब उसने एक मेघ को, उत्तर दिशा में पर्वत की ओर जाते देखा, तो उसने उस मेघ को सम्बोधित करते हुए, अपनी प्रिया तक अपना विरह-सन्देश पहुँचाने का आग्रह किया। पूर्व मेघ में प्रकृति के मनोरम दृश्यों तथा बरसात की उन्मादक रंगीनियों का आकर्षक चित्रण है। इसमें रामगिरी से अलका तक पहुँचने के लिये मार्गनिर्देश किया गया है। उत्तर मेघ सौन्दर्य और प्रेम के नवीनतम, अनोखे और अभिरामतम चित्रण से भरा हुआ है। भावाभिव्यंजना तथा प्राकृतिक सौन्दर्य वर्णन की दृष्टि से यह अत्यन्त ही सुन्दर काव्य है।

उपर्युक्त महाकाव्यों के अतिरिक्त महाकवि कालिदास नाट्यविधाओं के भी ज्ञाता थे। उनके निम्न तीन नाटक विश्वविख्यात हैं—

(1) विक्रमोर्वशीय—विक्रमोर्वशीय नाटक का मूल स्रोत ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण तथा मत्स्य-पुराण में वर्णित पुरुरवा और उर्वशी की प्रेम-कथा है। यही पुरुरवा और उर्वशी नाटक के नायक और नायिका हैं। पुरुरवा का देवलोक की अप्सरा उर्वशी से प्रेम होना, निषिद्ध वन में जाने से उर्वशी का लता बन जाना, पुरुरवा का उसके वियोग में पागल होकर इधर-उधर भटकना, संगमनीय मणि द्वारा उर्वशी का पुनः अपने असली रूप में प्रकट होना और अन्त में दोनों का पुनर्मिलन होना आदि का वड़ा मार्मिक चित्रण इस नाटक में हुआ है।

(2) मालविकाग्निमित्रम्—यह एक ऐतिहासिक नाटक है। इसमें पाँच अंक हैं। इसमें शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र तथा उसकी रानी इरावती की परिचारिका मालविका की प्रेम-कथा है। मालविका अपने लावण्यमय सौन्दर्य से अग्निमित्र का हृदय जीत लेती है। रानी इरावती को जब इस प्रेम-व्यापार का पता लगा तो मालविका को कारावास में बन्द करवा देती है। अन्त में यह मालूम होने पर कि मालविका भी राजकुमारी है, तब अग्निमित्र से विवाह हो जाता है। नाट्य कला की दृष्टि से मालविकाग्निमित्र एक अत्यन्त सुन्दर रचना है तथा इसके संवाद वड़े ही आकर्षक एवं हृदय को छू कर झंकृत करने वाले हैं।

(3) अभिज्ञानशाकुन्तलम्—कालिदास का यह नाटक समस्त संस्कृत साहित्य का उत्कृष्ट नाटक है। इस नाटक की कथा-वस्तु के आधार महाभारत और पद्म-पुराण के मूलतः वे अंश हैं जिनमें ऋषि विश्वामित्र के तपोभंग, शकुन्तला की उत्पत्ति और दुष्यन्त से प्रेम तथा गन्धर्व-विवाह का वर्णन है। कालिदास ने इस पौराणिक कथानक के आधार पर सात अंको में हस्तिनापुर के महाराजा दुष्यन्त तथा शकुन्तला के प्रेम, वियोग तथा पुनर्मिलन की कथा का वर्णन किया गया है। प्रथम अंक में राजा दुष्यन्त-शकुन्तला में एक-दूसरे के प्रति अनुराग उत्पन्न होना, तीसरे अंक में दुष्यन्त तथा शकुन्तला का समागम और फिर गान्धर्व विवाह होना, चतुर्थ अंक में ऋषि कण्व द्वारा शकुन्तला को पति-गृह के लिए विदा करना, पंचम अंक में ऋषि दुर्वासा के शाप के कारण दुष्यन्त का शकुन्तला को न पहचानना तथा शकुन्तला का अपनी माता मेनका के साथ मारीच ऋषि के आश्रम में रहना, छठे अंक में अंगूठी के मिलने पर दुष्यन्त को शकुन्तला की याद आना और दुःखी होना, सातवें अंक में स्वर्ग से लौटते समय दुष्यन्त का मारीच ऋषि के आश्रम में अपने पुत्र सर्वदमन (भरत) तथा शकुन्तला से मिलना आदि प्रसंगों का अत्यन्त ही सुन्दर चित्रण किया गया है। नाटक के संवाद रोचक और भाषा पात्रों के अनुरूप है। नाटक में शृंगार और करुणा रस का सुन्दर निष्पादन हुआ है। शकुन्तला के हृदय में दुष्यन्त के प्रति प्रेम उत्पन्न होना, दोनों का मिलन और गान्धर्व विवाह में शृंगार रस का सुन्दर निष्पादन हुआ है और ऋषि कण्व द्वारा शकुन्तला को पतिगृह के लिये विदा करने के अवसर पर करुण रस का निष्पादन हुआ है। पाँचवें अंक में राजा दुष्यन्त द्वारा अपमानित होकर रोती हुई शकुन्तला के गमन का दृश्य भी बड़ा करुणाजनक है। इस नाटक के सम्बन्ध में तो प्रायः कहा जाता है कि जिसने इस नाटक को नहीं पढ़ा, उसने कुछ नहीं पढ़ा।

निःसन्देह महाकवि कालिदास की साहित्यिक विरासत अमूल्य और महान् है। यही कारण है कि कालिदास की गणना विश्व के महान् और श्रेष्ठ कवियों में की जाती है तथा

उनकी तुलना अंग्रेजी के प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर से की जाती है। कुछ विद्वानों ने तो कालिदास को भारत का शेक्सपियर कहा है। किन्तु भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में कालिदास की समता का कोई अन्य कवि और नाटककार नहीं है।

कालिदास के साहित्य की विशेषताएँ—कालिदास के साहित्य की अनेक विशेषताएँ हैं। पुराणों में जिस धार्मिक और सांस्कृतिक समन्वय का परिपाक हुआ उसने लालित्य की नई भावना को जन्म दिया और इस भावना की अमर प्रतिमा महाकवि कालिदास है। कालिदास द्वारा प्रस्तुत मर्यादित व्यवस्था और सन्तुलित जीवन के आदर्श ने, भारतीय धर्म और संस्कृति को विशिष्ट बल प्रदान किया है। समूचा साहित्यशास्त्र कालिदास के साहित्य से इस तरह उद्भासित है जैसे रात्रि, तारों से भरी होने पर भी चन्द्रमा से ही ज्योतिष्मती होती है। इसका कारण उनके साहित्य की निम्नलिखित अनुपम विशेषताएँ हैं—

(1) भाषा और छन्द योजना—अविरल गति से बहती हुई किसी सरिता के समान कालिदास की भाषा में प्रवाह है। उनके समूचे साहित्य में कहीं पर भी अनावश्यक अथवा अनुपयुक्त शब्दों का प्रयोग नहीं मिलता। उनकी भाषा और शैली अत्यन्त परिष्कृत है। किसी विषय के लम्बे-चौड़े वर्णन में भी न तो कहीं भाषा में शिथिलता आई है, न सरसता का अभाव हुआ है और न शैली का प्रवाह टूट पाया है। भाषा का माधुर्य, उसकी कोमलता, सुन्दर वाक्य-विन्यास और भावानुकूल शब्द-चयन उनके साहित्य की प्रमुख विशेषता है।

महाकवि कालिदास छन्द रचना में भी सिद्धहस्त थे। अपने विभिन्न काव्यों तथा नाटकों में घटना, रस एवं भावों के अनुकूल ही उन्होंने छन्दों का प्रयोग किया है। अपनी छन्द योजना का उन्हें इतना अधिक ध्यान रहता था कि जहाँ कहीं कभी रस और भाव में परिवर्तन होता था, वहीं उसी के अनुरूप उसके छन्द भी बदल गये। इससे उनके विचारों में प्रवाह आने के साथ-साथ छन्द, रस और भाव में सामंजस्य उपस्थित हो गया है।

(2) नीरस विषयों में सरसता—कालिदास ने अपनी अनुपम कल्पना-शक्ति और काव्य-प्रतिभा के बल से नीरस और शुष्क विषयों में भी कलात्मक सौन्दर्य एवं सरसता उत्पन्न कर दी है। वेद, पुराण, इतिहास, दर्शन आदि विषयों को, जिन्हें अन्य कवि एवं साहित्यकार नीरस समझते रहे, वह भी कालिदास की लेखनी से उतर कर अत्यन्त सरस एवं आकर्षक बन गये। ठूँठ वृक्षों और निर्जन खण्डहरों में भी कालिदास ने सौन्दर्य उत्पन्न किया है। ऋतु-संहार में वह अंश, जहाँ ग्रीष्म के तपते हुए दिनों में ठूँठ वृक्षों और जंगली झड़बेरियों में कालिदास ने सौन्दर्य ढूँढ़ निकाला है, अत्यन्त ही रोचक बन पड़ा है।

(3) रूपक एवं उपमाओं का प्रयोग—कालिदास का सम्पूर्ण साहित्य ऐसी असाधारण और नवीन उपमाओं एवं रूपकों से भरा पड़ा है जो काव्य-रसिको और साहित्य-प्रेमियों को आनन्दविभोर कर देता है। उनकी उपमाएँ ऐसी अनुकूल, सजीव एवं चित्रमयी हैं कि जिनके बिना छन्द पूर्णतया सौन्दर्यविहीन एवं नीरस हो जाते हैं। उपमाओं के प्रयोग में कालिदास ने प्रकृति के प्रत्येक अंग को छुआ है। गंगा की कलकल करती हुई लहरें, चन्द्रमा की शीतल चाँदनी, तारों की जगमगाहट,सूर्य का ताप, हिरण के चंचल नेत्र, खिलते हुए कमल का सौन्दर्य, कोयल की मदभरी कूक, पपीहे की पुकार, मयूर का नृत्य, कलकल करते पानी में हंसों की किलोलें आदि इस प्रकार की अनेक उपमाओं से कालिदास ने अपनी रचनाओं में नई जान डाल दी है।

(4) प्रकृति के साथ तादात्म्य—कालिदास का सम्पूर्ण साहित्य प्राकृतिक दृश्यों के सजीव चित्रण से भरा पड़ा है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् के प्रथम अंक में चंचल हिरणों की क्रीड़ाएँ, आलियों की रागभरी गुँजार, माधवी और केतकी की मादक सुगन्ध, शीतल छाया प्रदान करने वाले कदम्ब और नीम के वृक्ष सभी पाठकों के समक्ष आते हैं, किन्तु वे सब निर्जीव और जड़ पदार्थों की भाँति नहीं आते, बल्कि कालिदास ने इनको इतना सजीव बना दिया है कि वे चेतन प्राणी के समान प्रतीत होते हैं। अभिज्ञान शाकुन्तलम् के चौथे अंक में जब ऋषि कण्व शकुन्तला को पति-गृह के लिये विदा करते हैं तो आश्रमवासियों के साथ प्रकृति भी दुःखी दिखाई देती है। वृक्ष एवं लताएँ शकुन्तला के साथ प्रेम प्रकट करते हैं और कोयल की ध्वनि द्वारा उसे विदाई की स्वीकृति देते हैं। कालिदास ने अपनी रचनाओं में प्रकृति का मानवीकरण कर जिस सूक्ष्मता के साथ वर्णन किया है उससे प्रकृति और मानव, हृदय में अन्तर शेष नहीं रह जाता। रघुवंश में महाकवि कहते हैं, "मृग सीता के दुःख में मुँह से घास गिरा देते हैं, मोर नाचना छोड़ देते हैं, वृक्षों के पुष्प गिर पड़ते हैं। सीता के रोने पर सारा वन रो रहा है।" अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटक में शकुन्तला की विदाई के दृश्य में कहा गया है कि, "पतिगृह को जाने के लिये उद्यत शकुन्तला को वृक्षों ने अनेक उपहार दिये, परन्तु शकुन्तला के विछोह को वे सहन न कर सके। इसलिये शकुन्तला की विदाई के समय आश्रमवासियों के साथ प्रकृति भी दुःखी है। मृगियों ने तृण खाना छोड़ दिया है, मोरों ने नाचना छोड़ दिया है और लताएँ पत्तों के रूप में आँसू बहा रही हैं, यहाँ तक कि उसके द्वारा पाला हुआ मृग का बच्चा भी शकुन्तला से लिपट जाता है।" मेघदूत में भी कवि ने मानव और प्रकृति के बीच घनिष्ठता प्रदर्शित की है। प्रकृति के साथ मानव की ऐसी दातात्म्यता केवल कालिदास के ग्रन्थों में ही मिलती है।

(5) मानवीय भावनाओं का चित्रण—कालिदास की रचनाओं में मानव-हृदय की कोमल भावनाओं एवं विचारों का वर्णन अत्यन्त सुन्दर हुआ है। महाकवि ने मानव जीवन के ऐसे गुह्यतम रहस्यों का भी सजीव चित्रण किया है, जिन पर सर्वसाधारण की दृष्टि नहीं जाती। कालिदास ने मानव-हृदय की भावनाओं को इतने सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है कि सहृदय पाठक उनकी रचना के किसी अंश को पढ़कर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। उदाहरणार्थ, जब आश्रम में दुष्यन्त और शकुन्तला एक-दूसरे को देखते हैं तो दोनों के हृदय में प्रेम-भावनाओं की उदात्त तरंगें उत्पन्न होती हैं। यद्यपि दुष्यन्त संकेतों के माध्यम से अपना प्रेम प्रकट करता है, लेकिन शकुन्तला नारी-सुलभ लज्जा के कारण, नयन झुकाये मौन रह जाती है। महाकवि ने मनोभावों का अत्यन्त ही सुन्दर चित्रण किया है। शकुन्तला को विदा करते हुए समस्त संसार से विमुख होकर निर्जन आश्रम में रहते हुए वीतरागी कण्व की पीड़ा के वर्णन में कालिदास ने कण्व ऋषि के हृदय का एक-एक कोना छानकर उनकी मर्मान्तक व्यथा का जो वर्णन किया है, वह स्वयंमेव एक उदाहरण है। इसी प्रकार 'रघुवंश' में जहाँ इन्दुमति के स्वयंकर के पश्चात् विवाहोत्सव का वर्णन किया है, वहाँ पर भी कालिदास ने प्रेम-भावनाओं का एक ऐसा चित्रण किया है, जिसमें लज्जा की मर्यादा और प्रेम की उच्छृंखलता के बीच एक विचित्र संघर्ष दिखाई देता है।

(6) सौन्दर्य वर्णन—कालिदास प्रकृति और मानव के मिलन से अनुपम सौन्दर्य की उत्पत्ति मानते थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में प्रकृति और नारी के यौवनमय लावण्य और सौन्दर्य का हृदयग्राही वर्णन किया है। कुमार सम्भव में हिमालय पर्वत की शोभा-वर्णन,

रघुवंश में वशिष्ठ ऋषि का तपोवन तथा त्रिवेणी के सौन्दर्य का वर्णन तथा ऋतु-संहार में सारी ऋतुओं के सौन्दर्य का वर्णन अत्यन्त आकर्षक है। मेघदूत में भी प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन बहुत ही सुन्दर हुआ है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटक का प्रथम अंक तो प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण से भरा पड़ा है। जैसे मालिनी की रेती में खेलते हुए हंस-मिथुन, पर्वत की तलहटी में मृग के सींग से आँख खुजलाती हुई मृगी और वृक्षों की शाखाओं पर सूखती हुई ऋषियों के बल्कलों के अंकन से ही चित्रमयी शकुन्तला का लावण्य पूरी तरह खिलता है। तात्पर्य यह है कि कालिदास प्रकृति-सौन्दर्य के महान् उपासक थे। ऐसा प्रतीत होता है मानों प्रकृति का मनोरम सौन्दर्य ही उनकी भाषा है।

प्रकृति-सौन्दर्य के साथ-साथ कालिदास का नारी-सौन्दर्य-वर्णन भी मनमोहक है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी नारी-सौन्दर्य में विशेष रुचि थी। कुमार-सम्भव में महाकवि ने पार्वती के सौन्दर्य का नख-शिख तक वर्णन किया है। अभिज्ञान शाकुन्तलम् में शकुन्तला के यौवन और सौन्दर्य का वर्णन तो अत्यन्त सुन्दर हुआ है। महाकवि कहते हैं कि शकुन्तला को बनाते के पहिले ब्रह्मा ने उसे चित्त में परिकल्पित किया होगा। मेघदूत में यक्ष, मेघ से अपनी पत्नी के सौन्दर्य का वर्णन करता है। परन्तु महाकवि ने नारी के बाह्य सौन्दर्य को प्रधानता न देकर उसके शुभ गुणों के सौन्दर्य को प्रधानता दी है। अतः कालिदास ने सौन्दर्य के साथ-साथ मर्यादित व्यवस्था और सन्तुलित जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया है, जो एकदम अनूठा है।

इस प्रकार कालिदास संस्कृत साहित्य के महान् कवि एवं नाटककार थे। उन्होंने अपने समय के अनेक कवियों के यश को फीका कर दिया। उनके परवर्ती कवियों में भारवि, भट्टि, माघ; नाटककारों में भवभूति, मुरारी आदि सभी पर कालिदास के साहित्य की छाप स्पष्ट दिखाई देती है तथा समूचा सौन्दर्य-साहित्य महाकवि के सौन्दर्य-दर्शन पर टिका हुआ है।

गोस्वामी तुलसीदास

मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि एवं सर्वाधिक प्रसिद्ध और प्रभावशाली कवि गोस्वामी तुलसीदास हुए। गोस्वामी तुलसीदास का जिस समय आविर्भाव हुआ, उस समय जन-जीवन पर अत्याचार का साम्राज्य छाया हुआ था। जनता आविर्भाव और निष्क्रियता में डूबी हुई थी। अतः गोस्वामीजी कट्टरता की शृंखलाओं को शिथिल करते हुए लोक-कल्याण और मर्यादा का सन्देश लेकर अवतरित हुए। गोस्वामीजी (1532-1623 ई.) के जीवन के बारे में ठीक-ठीक जनकारी नहीं मिलती, किन्तु कहा जाता है कि तुलसीदास मुगल सम्राट अकबर के समकालीन थे। इनकी जन्म तिथि के बारे में विद्वानों में मतभेद है। अधिकांश विद्वान् आपकी जन्म-तिथि 1532 ई. के आस-पास मानते हैं। जनश्रुति के अनुसार आपका जन्म सोरों (उत्तर प्रदेश) में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आपके पिता का नाम आत्माराम दुबे तथा माता का नाम हुलसी था। कहा जाता है कि इनका जन्म मूल-नक्षत्र में होने के कारण इनके माता-पिता ने इन्हें त्याग दिया था। घर से निष्कासित होने के बाद तुलसी इधर-उधर भटकते रहे। काशी में रहते हुए गुरु नरहरिदास के निर्देशन में इन्होंने संस्कृत भाषा, वेद तथा पुराणों का अध्ययन किया। युवा होने पर इनका विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ। कहा जाता है कि तुलसीदास अपनी पत्नी रत्नावली में अत्यधिक आसक्ति रखते थे और एक क्षण भी उसका वियोग सहन नहीं कर सकते थे। एक दिन इनकी पत्नी उनकी अनुपस्थिति में अपने भाई के साथ अपने मायके चली गई। पत्नी के

वियोग को न सह सकने वाले तुलसीदास रात के समय भरी नदी को पार कर अपने ससुराल जा पहुँचे। इस कामासक्ति को देखकर रत्नावली ने तुलसीदास से कहा—

अस्थि चरम मय देह मम्, ता में ऐसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ, होती न तो भव भीति॥

अर्थात्, ''हाड़, मांस व चर्म की देह के प्रति आपकी जितनी प्रीति है, उतनी यदि राम में होती तो भवसागर पार उतर जाते।'' पत्नी की इस उक्ति ने तुलसी के भावुक हृदय पर इतना प्रभाव डाला कि उनका वासनायम अनुराग वैराग्य में बदल गया और तुलसी का सारा जीवन ही राममय हो गया। तत्पश्चात् अनेक स्थानों का भ्रमण करते हुए अन्त में वे काशी में आकर बस गये। यहाँ रहते हुए उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। अन्तिम समय में सुख व शान्ति के साथ राम का यश गाते हुए आपकी 1623 ई. (1680 वि.सं.) में मृत्यु हुई। उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में निम्न दोहा प्रसिद्ध है—

संवत सोलह सो असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

इस प्रकार गोस्वामीजी ने ब्राह्मण-वंश में जन्म लेकर शास्त्रों का परायण किया, दरिद्रता के तीखे आघात सहे, दर-दर भटके, कामासक्ति में फँस कर मर्यादा के मार्ग से फिसले, अनपढ़ और असंस्कृत लोगों के निकट रहे और पण्डितों एवं संन्यासियों की संगति भी की। इन विविध अनुभवों से उन्होंने पाप, दुःख और दरिद्रता, अभिभूत और कर्म, आस्था और साहस से विहीन तत्कालीन समाज की जरूरतों को पहचाना। इनमें सबसे बड़ी जरूरत लोक-धर्म और संस्कृति के बिखरे तारों को एकत्र करने की थी। गोस्वामीजी ने इस भागीरथ प्रयत्न का बीड़ा उठाया और समन्वय का महान् दर्शन प्रस्तुत किया।

गोस्वामी तुलसीदास एक महान् कवि होने के साथ-साथ एक महान् सन्त भी थे। उनके द्वारा लिखित सुविख्यात ग्रन्थ 'रामचरित-मानस' तो उनकी कीर्ति का स्तम्भ है, जिसने भारतीयों के हृदय पर व्यापक परभाव डाला है। आपने अनेक ग्रन्थ लिखे तथा उन ग्रन्थों में आपने धर्म, संस्कृति, जीवन, साहित्य और भाषा का व्यापक समन्वय प्रस्तुत किया। वस्तुतः तुलसी की साहित्यिक विरासत असंख्य नर-नारियों का प्राण है।

तुलसी का साहित्य—तुलसीदास भक्ति मार्ग की रामभक्ति शाखा के महान् कवि थे। उन्होंने हिन्दी साहित्य में प्रचलित सभी शैलियों में रचना की है। उन्होंने 'प्रबन्ध' और 'मुक्तक' दोनों प्रकार के काव्य लिखे। उनके द्वारा रचित साहित्य विशाल है। कहा जाता है कि आपने 25 श्रेष्ठ साहित्यिक ग्रन्थों की रचना की थी। उनके प्रमुख प्रमाणिक ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है—

(1) रामचरित-मानस—यह तुलसी की सर्वश्रेष्ठ रचना है, जिसने तुलसी को सदा के लिए अमर बना दिया। भाव, भाषा, प्रबन्ध कौशल, छन्द, अलंकार योजना, शैली आदि सभी दृष्टियों से रामचरित-मानस हिन्दी साहित्य का अद्वितीय ग्रन्थ है। इस काव्य में राम-कथा का विस्तृत वर्णन है।

रामचरित-मानस सात खण्डों में विभाजित है, जिसमें मर्यादा पुरुषोत्तम राम का विस्तृत चरित्र-चित्रण किया गया है। इसमें गोस्वामीजी ने अपने पात्रों के माध्यम से विभिन्न

आदर्श उपस्थित किये हैं। राजा के रूप में दशरथ और जनक, माता के रूप में कौशल्या और सुमित्रा, पुत्र के रूप में राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न स्त्री के रूप में सीता, शत्रु के रूप में रावण, मित्र के रूप में सुग्रीव, देशद्रोही के रूप में विभीषण तथा सेवक के रूप में हनुमान का चरित्र-चित्रण इस ग्रन्थ में सफलतापूर्वक किया गया है। इस महाकाव्य में जैसा आदर्श और उदात्त चरित्र-चित्रण हुआ है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

जहाँ चरित्र-चित्रण के दृष्टिकोण से यह आदर्श ग्रन्थ है वहाँ समन्वय की दृष्टि से भी एक महान् ग्रन्थ है। इसमें गोस्वामीजी ने शैव तथा वैष्णव मतों में, शिव-पार्वती तथा राम की स्तुति कर एकता स्थापित करने का प्रयास किया है। इसी प्रकार भक्ति तथा ज्ञान का, भाषा और संस्कृति का, निर्गुण व सगुण का, गृहस्थ एवं वैराग्य का और ब्राह्मण तथा चाण्डाल का अत्यन्त सुन्दर समन्वय इस ग्रन्थ में मिलता है। तुलसी का यह सम्पूर्ण काव्य डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "समन्वय की विराट चेष्टा" है।

साहित्य की दृष्टि से भी यह एक आदर्श काव्य है। इसमें शास्त्रीय लक्षणों का भली प्रकार निर्वाह हुआ है। सौन्दर्य वर्णन के अन्तर्गत अयोध्या, जनकपुरी, लंकावासियों का सौन्दर्य एवं चित्रकूट, पंचवटी आदि वनों का आकर्षक वर्णन इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। इसमें थोड़ा बहुत सभी रसों का, विशेषकर शृंगार, वीर और शान्त रस का भली प्रकार निर्वाह हुआ है, जिसमें शान्त (भक्ति) रस की प्रधानता है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी तुलसी ने महान् कौशल प्रदर्शित किया है। भाव तथा भाषा, दोनों पक्षों का सुन्दर निर्वाह हुआ है। यह सम्पूर्ण महाकाव्य दोहा और चौपाइयों में लिखा गया है। यह संगीतमय काव्य है, जिसके पद श्रोताओं को मन्त्र-मुग्ध कर देते हैं। इनमें मानव-समाज का जीता-जागता स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। समग्र रूप में यह भारतीय संस्कृति का आदर्श धार्मिक ग्रन्थ है। हिन्दू समाज में यह ग्रन्थ उतना ही आदरणीय है, जितना ईसाइयों में बाइबिल और मुस्लिम समाज में कुरान।

(2) विनय पत्रिका—ब्रज भाषा में लिखे हुए इस मुक्तक काव्य में अनेक राग-रागनियों में बँधे विनय सम्बन्धी पद हैं। इसमें मुक्ति के आत्मनिवेदन का तथा आराध्य देव राम से उद्धार की कामना का मार्मिक चित्रण हुआ है। भक्ति रस की यह उत्कृष्ट कृति है। इसके गीतों में दैन्य, शान्त रस तथा कहीं-कहीं ओज रस की प्रधानता है। इसमें ज्ञान, भक्ति और वैराग्य सम्बन्धी विचारों का सुन्दर वर्णन है तथा इसके गीत संवेदनापूर्ण तथा संगीत-प्रधान हैं। यद्यपि इसकी भाषा संस्कृत गर्भित ब्रज भाषा है, फिर भी इसमें फारसी-अरबी शब्दों का पुट मिला हुआ है।

(3) कवितावली—यह भी मुक्तक काव्य है, जिसमें गोस्वामीजी ने अपने इष्ट देवता राम का मार्मिक ढंग से स्तुतिगान किया है। इसमें वात्सल्य, शृंगार, वीर, वीभत्स तथा भयानक रसों का सुन्दर परिपाक है। इसमें केवल प्रसंग, लंका दहन तथा हनुमानजी के युद्ध-कौशल का बड़ा सजीव चित्रण मिलता है। यह नितान्त संग्रह-ग्रन्थ नहीं है। इसमें एक क्रम और व्यवस्था है। इसमें पात्रों की भावनाओं को मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

(4) गीतावली—यह भी तुलसी का एक सुन्दर गीति-काव्य है, जिसमें ब्रज भाषा के गीतों में रामचरित का सुन्दर वर्णन है। यह एक सरल तथा लीला-प्रधान रचना है, जिसमें वात्सल्य रस का वर्णन सजीव एवं हृदयग्राही है।

(5) दोहावली—इसमें दोहों के रूप में राम भक्ति का वर्णन है। इसमें कुल 573 दोहों का संकलन है।

(6) रामाज्ञाप्रश्न—इस ग्रन्थ में सात सर्ग है तथा रामकथा का दोहों में, जिसमें प्रश्न और उत्तर समाहित हैं, वर्णन किया गया है।

(7) बरवै रामायण—इसमें बरवै छन्द में रामकथा से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन किया गया है।

(8) रामललानहछू—इसमें पूर्वी अवधी में लिखित राम-कथा से सम्बन्धित कुछ छन्द हैं।

(9) कृष्ण गीतावली—इसमें व्रज भाषा में कृष्ण चरित्र का स्फुट पदों में वर्णन किया गया है।

(10) वैराग्य संदीपनी—इसमें वैराग्य सम्बन्धी छन्द हैं, जिनमें धर्म और ज्ञान के साधारण सिद्धान्तों का विवेचन है।

(11) पार्वती मंगल—इसमें शिव-पार्वती के विवाह का वर्णन है।

(12) जानकी मंगल—इसमें व्रज भाषा में राम और सीता के विवाह का वर्णन किया गया है।

महान् लोकनायक तुलसी—तुलसी एक महान् लोकनायक थे, जिन्होंने मध्यकाल में निराश तथा पद-दलित हिन्दू समाज का मार्गदर्शन किया और हिन्दुओं की रक्षा की। उनके युग की स्थिति यह थी कि शताब्दियों के मुस्लिम प्रभुत्व ने हिन्दुओं के चरित्र और मनोबल को नष्ट कर दिया था। हिन्दू समाज निराश और निर्जीव सा हो गया था। समाज में विशृंखलता तथा अव्यवस्था व्याप्त थी। समाज के सामने कोई निश्चित आदर्श या लक्ष्य नहीं था। देश की धार्मिक अवस्था भी बड़ी शोचनीय थी। भक्ति-काल के निर्गुणोपासक सन्त, धर्म और समाज में प्रचलित परम्पराओं की निन्दा कर सामाजिक और धार्मिक मर्यादाओं पर प्रहार कर रहे थे। इन सन्तों के प्रभाव से लोगों का विश्वास मूर्तिपूजा तथा पौराणिक धर्म से उठने लगा था। ऐसे समय में एक ऐसे महापुरुष की आवश्यकता थी जो उस संकटकाल में निराश, हीनता से ग्रसित और परम्परागत आदर्शों से विमुख हिन्दू समाज का मार्गदर्शन कर सके। गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी रचनाओं द्वारा जनता को उस समय की बुराइयों से अवगत कराया तथा भक्ति और प्रेम के मार्ग का अनुसरण करने का उपदेश दिया। उन्होंने भगवान राम को दीन-प्रतिपालक, सर्वशक्तिमान, लोकरक्षक तथा मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में प्रतिष्ठित किया। गोस्वामीजी ने सोचा, यदि जनता का आचरण शुद्ध हो जाता है तो यह दशा (दीनता और हीनता) स्वतः ही समाप्त हो जायेगी। इसके लिए आवश्यक था कि किसी उच्चकोटि के व्यक्ति के चरित्र का दिग्दर्शन जनता को कराया जाय। तुलसीदास जी ने मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र को जनता के समक्ष रखा और उसी के अनुसार जीवन व्यतीत करने का आदेश दिया। आपने भगवान राम को संस्कृति का रक्षक बताया। भय और हीनता से त्रस्त हिन्दू जनता ने राम के इस रूप में दर्शन कर अपने आपको आश्वस्त किया। डूबते हुए हिन्दुत्व को राम का दृढ़ आलम्बन प्राप्त हो गया। उनके द्वारा प्रचारित लोक-धर्म आज भी हिन्दू धर्म का आधार स्तम्भ है।

गोस्वामी तुलसीदास लोकनायक के साथ-साथ कवि भी थे। उन्होंने अपने सभी ग्रन्थ, विशेषकर 'रामचरित-मानस' को जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा अवधी में लिखकर सच्चे अर्थों में लोक कवि का यह पद प्राप्त किया। उन्होंने अपने इस ग्रन्थ में मानव-जीवन से सम्बन्धित कोई ऐसा पक्ष नहीं छोड़ा जिसका इसमें वर्णन न किया गया हो। वास्तव में महात्मा बुद्ध के बाद भारत में यदि कोई सबसे बड़े लोकनायक हुए तो वह गोस्वामी तुलसीदास थे, जिनका शिक्षित व अशिक्षित समाज पर समान रूप से प्रभाव है।

संस्कृति के रक्षक एवं समाज सुधारक—गोस्वामी तुलसीदास भारतीय संस्कृति के रक्षक थे। उनका व्यक्तित्व हिन्दू धर्म और संस्कृति के साथ एकाकार हो गया था। उन्होंने भारतीय संस्कृति के समग्र रूप का अंकन अपने 'रामचरित-मानस' में किया है। भारतीय संस्कृति के जीवन मूल्यों तथा आर्दशों का सुन्दर निरूपण इस ग्रन्थ में हुआ है। उन्होंने अपने इस ग्रन्थ में हिन्दू धर्म में प्रचलित आडम्बर तथा पाखण्डों का खण्डन करते हुए धर्म की व्यापकता पर बल दिया है। उन्होंने दया (दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान, तुलसीदास दया न छोड़िये, जब लग घट में प्राण), परोपकार (परहित सरिस धर्म नहीं भाई, पर पीड़ा सम नहीं अधमाई), अहिंसा आदि नैतिक गुणों को धर्म का आधार बताया तथा अभिमान, पर-पीड़ा, हिंसा आदि दुर्गुणों की तीव्र भर्त्सना की। आपने निर्गुण व सगुण भक्ति के वाद-विवाद में न पड़ते हुए लिखा, "सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा।" इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में तो गोस्वामीजी ने क्रान्ति ही उत्पन्न कर दी थी।

गोस्वामीजी भारतीय संस्कृति के रक्षक होने के साथ-साथ महान् समाज सुधारक भी थे। जिस समय तुलसीदास जी ने अपने ग्रन्थ लिखे उस समय समाज पतनोन्मुख हो रहा था, सदाचार पर दुराचार की विजय हो रही थी और धर्म का भय लोगों के हृदय से ही निकल गया था। ऐसी स्थिति का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी ने लिखा है—

दम्भ सहित कल धर्म सब, छल समेत व्यवहार।
स्वारथ सहित सनेह सब, रुचि अनुहरत अचार॥

ऐसी स्थिति देखकर गोस्वामीजी ने समाज के उद्धार का बीड़ा उठाया। उन्होंने अपने रामचरित-मानस में विविध पात्रों के चरित्र-चित्रण द्वारा या तो भारतीय संस्कृति के किसी आदर्श का निरूपण किया है या किसी सामाजिक बुराई पर प्रहार किया है। तुलसी ने समाज में प्रचलित बुराइयों को कलयुग में दिखाकर तथा अच्छाइयों को रामराज्य में दिखाकर लोगों को यह बताने का प्रयास किया कि समाज में क्या अच्छा है और क्या बुरा है। व्यवस्थित समाज के लिए उन्होंने मर्यादा पालन की आवश्यकता पर बल दिया तथा राम के चरित्र द्वारा समाज के समक्ष मर्यादा का आदर्श रखा। रामचरित-मानस में मर्यादा का तनिक भी उल्लंघन नहीं हुआ है। पारिवारिक जीवन में माता, पिता, भाई, पति, पत्नी, सखा, सेवक आदि सभी रूपों का स्वर्णिम आदर्श प्रस्तुत किया है। गोस्वामीजी समाज में जाति-पाँति के विरोधी थे। आपने शूद्र और ब्राह्मणों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं आने दिया। वास्तव में गोस्वामीजी का विचार था कि जिस प्रकार छोटी जाति या स्थिति वालों की रक्षा करना या सहायता करना उच्च वर्ग का कर्त्तव्य है, उसी प्रकार से निम्न वर्गों का भी कर्त्तव्य है कि उच्च वर्ग या स्थिति वालों के प्रति श्रद्धा एवं सम्मान का व्यवहार करें।

समाज में नारी की स्थिति के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का विचार है कि तुलसीदासजी नारी जाति के विरोधी थे तथा उनके अनुसार नारी को नियन्त्रित रखने के लिए उसे प्रताड़ित

करते रहना चाहिये। ये विद्वान् अपने कथन की पुष्टि हेतु गोस्वामीजी के एक पद का उदाहरण देते हैं, "ढोर गंवार शूद्र पशु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी।" किन्तु उन विद्वानों के कथन में सत्यता नहीं है। वास्तव में यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो यह विदित होगा कि तुलसीदासजी नारी के उस रूप के विरोधी हैं जिसको वह मानव-जाति और समाज की उन्नति के लिए हानिकारक समझते हैं। कौशल्या, सीता, मन्दोदरी और तारा के चरित्र-चित्रण में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आप नारी-समाज के प्रति कितनी श्रद्धा रखते थे। कौशल्या पतिव्रता नारी है और अपना दुःख छिपा कर भी अपने पुत्र राम को वन जाने की आज्ञा केवल इसी कारण से दे रही है कि माँ-बाप की आज्ञा मानना पुत्र का कर्त्तव्य है। सीता कितनी पतिव्रता नारी है जो वन के सभी कष्टों को सहन करके अपने पति राम के साथ वन जाने को तत्पर है। सुमित्रा के रूप में आपने आदर्श गृहिणी, आदर्श नारी एवं आदर्श माता का चित्रण किया है। वह लक्ष्मण से कहती है कि तुम किसी प्रकार के लोभ, मोह में न पड़ना और राम की सेवा करना ही अपना कर्त्तव्य समझना। इसके साथ ही बालि की पत्नी तारा तथा रावण की पत्नी मन्दोदरी के उत्तम चरित्र का दिग्दर्शन कराया है। अतः कुछ विद्वानों का यह कहना कि, 'गोस्वामीजी नारी-जाति के विरोधी थे', तथ्यों से परे और आधारहीन कथन है। भारतीय संस्कृति में जो स्थान नारी को प्राप्त है, उसका वे आदर करते हैं।

गोस्वामीजी की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक विरासत यही है कि उन्होंने हमारे सामने स्वच्छ और आदर्श समाज का चित्र प्रस्तुत किया है, जो भारतीय संस्कृति के अनुरूप है। वास्तव में रामचरित-मानस मर्यादा के धरातल पर रचित साहित्य की महान् कृति है।

समन्वयकारी सन्त—वास्तव में गोस्वामी तुलसीदास समन्वयकारी सन्त थे। उन्होंने तत्कालीन समाज में प्रचलित अनेक धार्मिक परम्पराओं तथा जातियों में सुन्दर समन्वय स्थापित किया है। वैष्णव तथा शैव सम्प्रदायों में प्रचलित द्वेषभाव को मिटाने तथा दोनों विचारधाराओं को निकट लाने के लिए उन्होंने अपने ग्रन्थ रामचरित-मानस में राम के मुख से यह कहलाकर कि राम का भक्त होने के लिए शिव की भक्ति आवश्यक है और शिव-द्रोही कभी भी राम का भक्त नहीं बन सकता। इसके साथ ही शिव के मुख से यह कहलाकर कि राम से बढ़कर शिव का भक्त कोई नहीं है, राम की महिमा में वृद्धि करके दोनों सम्प्रदायों में समन्वय की भावना जागृत करने का सफल प्रयास किया। इसी प्रकार उन्होंने सीता में आदि शक्ति का रूप प्रतिष्ठित कर शाक्त-सम्प्रदाय से भी समन्वय का प्रयत्न किया। इसके साथ ही आपने निर्गुण व सगुण विचारधारा में भी समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। आपने कहा कि जैसे बर्फ और पानी या पानी और तरंग अलग नहीं है, इसी प्रकार सगुण और निर्गुण भी अलग नहीं है। सगुण रूप तो उसकी लीला मात्र है। सगुण संधारण करने से उसके वास्तविक रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। केवल उसके नाम रूप में अन्तर पड़ जाता है। ब्रह्म का यथार्थ भाव ज्यों का त्यों बना रहता है। गोस्वामीजी ने शूद्र और ब्राह्मणों में भी समन्वय कराने का प्रयास किया। भगवान् श्रीराम शबरी (शूद्र) तथा अहिल्या (ब्राह्मणी) दोनों के निवास स्थान पर जाते हैं। आपने शबरी तथा अहिल्या दोनों के निवास स्थानों को 'आश्रम' शब्द से सम्बोधित किया है। शबरी और अहिल्या के प्रसंगों में शूद्र और ब्राह्मण समन्वय दृष्टिगोचर होता है। इतना ही नहीं, भगवान् राम ने शूद्र शबरी को अपने चरण छूने की अनुमति प्रदान की तथा उसके जूठे बेर तक खा लिये। इस प्रकार के वर्णन से

यही तात्पर्य है कि गोस्वामीजी उस समय की जातियों में समन्वय स्थापित करना चाहते थे। इसी प्रकार उन्होंने गृहस्थ और वैराग्य में, भक्ति और ज्ञान में, ब्रह्म और तत्त्वज्ञान में समन्वय करने का प्रयास किया।

इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी एक महान् भक्त, महान् कवि, भारतीय संस्कृति के रक्षक, समाज सुधारक, पथ-प्रदर्शक तथा युगदृष्टा थे। उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा जनता के चरित्र एवं मध्यकालीन सामाजिक एवं धार्मिक दशा सुधारने का प्रयत्न किया। इतिहासकार स्मिथ ने तुलसीदासजी के बारे में लिखा है—"अकबर की विजय वास्तव में क्षणिक थी और आपकी काव्य सम्बन्धी विजय सदैव के लिए थी, क्योंकि यह जनता के हृदय पर विजय थी।"

अभ्यास के लिए प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग पाँच पृष्ठों में दीजिए—

1. "महाकवि कालिदास की रचनाओं में तत्कालीन समाज और सांस्कृतिक चेतना के दर्शन होते हैं।" इस कथन के सन्दर्भ में महाकवि कालिदास की रचनाओं का सांस्कृतिक महत्त्व बताइये।
2. कालिदास के साहित्य की विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
3. भारतीय संस्कृति के रक्षक एवं समाज सुधारक की दृष्टि से गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं की विवेचना कीजिए।
4. "गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में धर्म और संस्कृति का सुन्दर समन्वय किया है।" विवेचना कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए—

1. महाकवि कालिदास किस युग के महाकवि थे? उनका काल निर्धारित कीजिए।
2. महाकवि कालिदास का संक्षिप्त जीवन परिचय दीजिए।
3. कुमार-सम्भव और मेघदूत महाकाव्यों की कथावस्तु का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
4. "कालिदास की रचनाओं में प्राकृतिक दृश्यों का सजीव चित्रण मिलता है।" इस कथन के सन्दर्भ में कालिदास के ग्रन्थों में प्राकृतिक चित्रण की विवेचना कीजिए।
5. गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' को भारतीय संस्कृति का आदर्श धार्मिक ग्रन्थ क्यों कहा गया है?
6. गोस्वामी तुलसीदास को 'लोकनायक' क्यों कहा गया है?
7. "गोस्वामी तुलसीदास एक समन्वयकारी सन्त थे।" विवेचना कीजिए।

अध्याय-15

भारतीय कला

ललित का आकलन ही कला है। महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' में 'ललिते कलाविधौ' का उल्लेख इसी प्रसंग में किया है। भगवतशरण उपाध्याय के अनुसार, "अभिराम अंकन चाहे वह वाग्विलास के क्षेत्र में हो, चाहे राग-रेखाओं में, चाहे वस्तु-शिल्प में, वह कला ही है।" कला अपनी दृष्टि से प्रकृति को देखती है। कलाकार उस दृश्य में पैठकर, प्राय: उससे एकी-भाव होकर उसे देखता है तथा अपनी तूलिका, छेनी अथवा लेखनी से संवार देता है, वही कला है। भारतीय कला का विस्तार असीम है। लगभग पांच शताब्दियों के लम्बे कला-प्रसार में जितना और जैसा कलाकार ने सृजन किया है, वह कला समीक्षक या इतिहासकार के लिए समस्या प्रस्तुत कर देता है। भारतीय स्थापत्य का अत्यन्त प्राचीन रूप नव-प्रस्तरयुगीन मानव ने प्रस्तुत किया, जब उसने गीली मिट्टी छापकर फूस की कुटिया अपने रहने के लिए खड़ी की तथा मिट्टी पत्थर के परकोटों से घेर कर वे अपने गाँव की रक्षा का प्रबन्ध करते थे। भारतीय स्थापत्य का कुछ परिष्कृत रूप हमें सैन्धव सभ्यता में दिखाई देता है।

सैन्धव कला

मोहनजोदड़ों और हडप्पा में जो खुदाई हुई है, उसके अवशेषों से सैन्धव कला की जानकारी मिलती है। यहाँ नगरों की रचना एक निश्चित योजना के अनुसार की गयी थी। यहाँ की सड़कें पर्याप्त चौड़ी है। सड़कों व गलियों के दोनों ओर मकानों का निर्माण किया गया था। मकानों की दीवारों की ऊँचाई लगभग पच्चीस फीट थी। सम्भवत: मोहनजोदड़ो के मकान ऊँचे और विशाल थे। शहर के गन्दे पानी को नालियों द्वारा नगर से बाहर ले जाने का उत्तम प्रवन्ध था। मकानों के स्नानागारों, रसोइयें और टट्टियों का पानी नालियों द्वारा बाहर आता था और शहर की बड़ी नालियों में मिल जाता था। प्रत्येक गली और सड़क के साथ-साथ पानी निकलने के लिए नाली बनी हुई थी। नालियों का निर्माण पक्की ईटों से किया गया था और उन्हें परस्पर जोड़ने के लिए मिट्टी मिले चूने का प्रयोग किया गया था। नालियों को ढकने के लिए ईटें प्रयुक्त होती थी। अधिक चौड़ी नालियों को ढ़कने के लिए पत्थर की शिलाएँ प्रयुक्त की जाती थी। मकान प्राय: दो मंजिले या और भी अधिक मंजिलों वाले होते थे। ऊपर की मंजिलों से गन्दे पानी को निकालने के लिए पाइप का प्रयोग किया गया था। मकानों के बाहर प्राय: चौबच्चे भी बना दिये जाते थे ताकि मकान का गन्दा पानी पहले इनमें एकत्र हो और उसका गन्द नीचे बैठ जाय, केवल पानी ही शहर की नालियों में जाने पाये।

मोहनजोदड़ो और हडप्पा की खुदाई द्वारा भवन स्थापत्य की भी जानकारी मिलती है। इन मकानों के निर्माण के लिए पक्की ईटों का प्रयोग किया गया था। ईटें अनेक आकारों की

होती थी। बड़ी ईटें विशेष कार्यों के लिए प्रयुक्त होती थीं। ये ईटें बहुत मजबूत, पक्की और रंग में लाल है। हजारों साल बीत जाने पर भी वे उत्तम दशा में है। दीवार में ईटों को जोड़ने के लिए मिट्टी का गारा प्रयुक्त होता था, किन्तु अधिक मजबूती के लिये कभी-कभी मिट्टी में चूना भी मिला दिया जाता था। मकान छोटे और बड़े दोनों प्रकार के थे। मोहनजोदड़ो में उपलब्ध मकानों की दीवारों की मोटाई इस बात का संकेत देती है कि वहाँ मकान कई मंजिलों के रहे होंगे। जो दीवारें 25 फीट के लगभग ऊँची मिली है, इनमें अभी तक वे छेद विद्यमान है, जिनमें शहतीरें लगाकर दूसरी मंजिल का फर्श बनाया जाता था। इस युग में छत बनाने की यह विधि थी कि पहले शहतीरें डाली जाती थी, फिर उन पर बल्लिया डालकर एक मजबूत चटाई बिछा दी जाती थी। उसके ऊपर मिट्टी बिठाकर उसे भलिभाँति कूट कर पक्का कर दिया जाता था। निचली मंजिल से ऊपर की मंजिल पर जाने के लिए सीढ़ियाँ थी, जो पत्थर और लकड़ी से बनाई जाती थी। सीढ़ियाँ बहुत ऊँची और तंग बनायी जाती थी। किन्तु कुछ ऐसी इमारतें भी थी जिनकी सीढ़ियाँ बहुत चौड़ी और सुविधाजनक थी। मकान के भीतर कमरों में दीवारों के साथ आलमारियां भी बनायी गई थी। मकानों के बीच में प्राय: सहन (आंगन) भी होता था, जिसके एक कोने में रसोईघर बनाया जाता था। रसोईघर में चूल्हे ईटों द्वारा बनाये जाते थे। स्नानागार प्रत्येक मकान का आवश्यक अंग होता था। स्नानागार में पानी संचित रखने के लिए मिट्टी के बने हुए घड़े और मटके प्रयोग में लाये जाते थे। स्नानागारों के फर्श पक्की ईटों से बनाये जाते थे तथा उन्हें चिकना व साफ रखने का विशेष प्रयत्न किया जाता था। स्नानागार, आकार में प्राय: चौकोर होता था। अनेक मकानों में स्नानागार के समीप शौचालय भी बनाये जाते थे। मोहनजोदड़ो की खुदाई से कुछ विशाल इमारतों के अवशेष भी मिले हैं, जिनकी लम्बाई 220 फीट से 242 फीट और चौड़ाई 112 फुट से 115 फुट तक है। बाहरी दीवार की मोटाई 5 फीट से भी अधिक है। सम्भवत: ये इमारतें या तो शासक वर्ग का राजप्रासाद रही होगी या अत्यन्त समृद्ध एवं वैभवशाली व्यापारी वर्ग से सम्बन्धित रही होगी।

मोहनजोदड़ो की इमारतों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एक विशाल जलाशय है, जो $39\frac{1}{4}$ फीट लम्बा 23 फीट चौड़ा और 8 फीट गहरा है। यह जलाशय पक्की ईटों का बना है तथा इसकी दीवारें बड़ी मजबूत है। इसमें अन्दर जाने के लिए पक्की सीढ़ियाँ बनी हुई है। जलाशय के चारों ओर एक गैलरी बनी हुई है, जो 15 फुट चौड़ी है इसके साथ ही जलाशय के दक्षिण-पश्चिम की ओर आठ स्नानागार बने हुए है। इन स्नानागारों में सीढ़ियों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं, जिनसे संकेत मिलता है कि इनके ऊपर और कमरे थे। संभवत: ऊपर के कमरे निवास के काम आते थे। उन तक पहुँचने का रास्ता स्नानागारों से होकर जाता था। जलाशय के समीप एक कुआँ भी था, जिसके जल से शायद इस जलाशय को भरा जाता था। जलाशय को पानी से भरने व उसके गन्दे पानी को निकालने के लिए नल भी थे। जलाशय के समीप एक अन्य इमारत है, जिसे हम्माम समझा जाता है। शायद यहाँ पानी को गरम करने का प्रबन्ध भी था।

मोहनजोदड़ो और हडप्पा के भग्नावशेषों में ऐसी कोई इमारतें नहीं मिली है, जिन्हें निश्चित रूप से मन्दिर माना जा सके। मोहनजोदड़ो के मुख्य खेड़े के समीप ही एक बौद्ध स्तूप है, जो स्वयं भी एक प्राचीन खेड़े के ऊपर बना हुआ है। पुरातत्व विभाग ने इस स्तूप

को गिराकर नीचे गड़े हुए प्राचीन भग्नावशेषों की खुदाई नहीं की है। फिर भी इस स्तूप के चारों ओर के स्थान से जो बहुत से अवशेष मिले हैं उनसे सूचित होता है कि इसके नीचे किसी विशाल इमारत के अवशेष दबे हुए हैं। अनेक विद्वानों की मान्यता है कि यह विशाल इमारत किसी मन्दिर की है।

सैन्धव सभ्यता के अवशेषों में कलात्मक मुद्राएँ और धातु-पत्थर व मिट्टी की बनी हुई मूर्तियाँ भी मिली है। पत्थर की बनी मूर्तियों में सबसे अधिक महत्त्व की वह मूर्ति है, जो कमर के नीचे से टूटी हुई है। इस मूर्ति में मनुष्य को एक ऐसा चोगा पहने हुए दिखाया गया है, जो बायें कन्धे के ऊपर और दाईं भुजा के नीचे से गया है। चोगे के ऊपर तीन हिस्से वाली पुष्पाकृति बनी है। मूर्ति के पुरुष की मूंछे मुंडी हुई है; लेकिन दाढ़ी विद्यमान है। मूर्ति में आँखें मुंदी हुई व ध्यानमग्न दिखाई गई है। मोहनजोदड़ो व हड़प्पा के भग्नावशेषों में प्राप्त स्त्री-मूर्ति भी उल्लेखनीय है, क्योंकि ऐसी मूर्तियाँ बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई है। यह स्त्री मूर्ति प्राय: नग्न दशा में बनाई गई है, यद्यपि कमर के नीचे जांघों तक एक प्रकार का कपड़ा भी प्रदर्शित किया गया है। मूर्ति पर बहुत से आभूषण भी अंकित किये गये हैं और सिर की टोपी पंखे के आकार की बनाई गई है, जिसके दोनों ओर दो प्याले या दीपक है। संभवत: ये स्त्री-मूर्तियाँ पूजा के काम आती थी। मोहनजोदड़ो व हडप्पा के भग्नावशेषों में मुद्राएँ भी प्रचुर संख्या में उपलब्ध हुई है। एक मुद्रा पर किसी ऐसे नग्न देवता की आकृति अंकित है, जिसके तीन मुख है और जिसके सिर पर सींग बनाये गये हैं। इस दैव मूर्ति के चारों ओर अनेक पशु-हिरण, गेंड़ा, हाथी, शेर और भैंस की आकृतियाँ बनायी गई है। अनेक विद्वानों के अनुसार यह आकृति पशुपति शिव की है। ऐसी तीन मुद्राएँ उपलब्ध हुई है। इस प्रकार सैन्धव सभ्यता में मूर्ति निर्माण कला उन्नत दशा में थी। जो बर्तन कुम्हार के चाक पर बनाये जाते थे, उन्हें अनेक प्रकार के चित्रों व आकृतियों से विभूषित किया जाता था। खुदाई में कटोरे-कटोरियां, कलश, थालियां, रकाबियां, सुराहियां आदि बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई है। बर्तन न केवल मिट्टी के बनाये जाते थे अपितु पत्थर और धातु के भी बनाये जाते थे। खुदाई में प्राप्त हाथी दांत का बना हुआ एक फूलदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह फूलदान बहुत ही सुन्दर है और इस पर अनेक प्रकार के रेखाचित्र भी उत्कीर्ण किये गये हैं। अत: सैन्धव सभ्यता में हाथी दांत को शिल्प के लिए प्रयुक्त किया जाता था।

सैन्धव सभ्यता में आभूषण बनाने की कला भी उन्नत अवस्था में थी। हडप्पा की खुदाई में एक कलश आभूषणों से भरा हुआ उपलब्ध हुआ है। कलश में सोने के बने हुए जो आभूषण व उनके खंड मिले हैं, उनकी संख्या 509 के लगभग है। इसमें सुवर्ण निर्मित बाजूबन्द और हार से लगाकर छोटे-छोटे मनके तक सम्मिलित है। मोहनजोदड़ो के भग्नावशेषों में भी आभूषणों से भरे कलश उपलब्ध हुए हैं। इन आभूषणों में अनेक लड़ियों वाले गले के हार, बाजूबन्द, चूड़ियाँ, कर्णफूल, झुमके, नथ आदि बहुत प्रकार के आभूषण विद्यमान है। कला की दृष्टि से ये अत्यन्त सुन्दर एवं उत्कृष्ट है। स्वर्ण के अतिरिक्त चांदी और बहुमूल्य पत्थरों (लाल, पन्ना, मूंगा आदि) का भी आभूषणों के लिए प्रयोग होता था। तांबे, हाथी दांत, हड्डी और मिट्टी के बने हुए बहुत से आभूषण इस सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त हुए हैं।

सैन्धव सभ्यता में धातुओं द्वारा बर्तन और औजार बनाने की कला भी उन्नत अवस्था में थी। धातुओं में तांबे का प्रयोग प्रचुरता से किया जाता था। चांदी के तो केवल तीन बर्तन

उपलब्ध हुए हैं, लेकिन तांबे और पीतल के बर्तन बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं। तांबे का प्रयोग औजारों के लिए विशेष रूप से किया जाता था। धातु-निर्मित औजारों में तांबे से बनी एक आरी भी उपलब्ध हुई है। इस आरी में दांते भी बने हुए हैं। इस आरी की सत्ता से यह सूचित होता है कि बढ़ई का शिल्प सैन्धव सभ्यता में भलिभाँति विकसित था। अस्त्र-शस्त्र की धातु के बनते थे। अवशेषों में परशु, तलवार, कटार, धनुष-बाण, बरछी, भाला, छुरी आदि अनेक प्रकार के हथियार मिले हैं, जो तांबे या पीतल के बने हुए हैं। छोटे-छोटे चाकू, पत्थर काटने की छेनिया और मछली पकड़ने के कांटे भी उपलब्ध हुए हैं। इनके अलावा तांबे और पीतल की बनी अनेक मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं, जो धातु-कला के श्रेष्ठ प्रमाण है। धातु की बनी हुई नर्तकी की एक मूर्ति इतनी सुन्दर है कि वलह बिल्कुल सजीव प्रतीत होती है। नर्तकी का शरीर नग्न है, यद्यपि उस पर बहुत से आभूषण बनाये गये हैं। सिर के केशों का प्रसाधन मूर्ति में बहुत ही सुन्दर रूप से प्रदर्शित किया गया है। अवशेषों में बच्चों के खेलने के अनेक खिलौने भी उपलब्ध हुए हैं। मिट्टी के बने कतिपय ऐसे खिलौने मिले है, जो पशु-आकृति के हैं और जिनका सिर हिलता है। कुछ खिलौनों में हाथ और पैर पृथक् है, जिन्हें तागे से जोड़ा गया था और तागे को खींचने से हाथ-पैर हिलते थे।

मौर्य कला

सैन्धव सभ्यता के बाद, ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के बाद वैदिक उदासीनता के कारण कला की प्रगति टूट जाती है और उस सभ्यता तथा मौर्य काल की कृतियों के बीच लगभग डेढ़ हजार साल की दीर्घ कलान्तर पड़ जाता है। किन्तु मौर्य युग से जो कला साधना प्रारम्भ होती है, वह अद्यावधि अटूट चली आती है, यद्यपि उसके रूप, प्रकारों और अभिप्रायों में आने वाली विदेशी जातियों के प्रभाव से अन्तर पड़ता जाता है। कला के अनेक रूप है, लेकिन स्थापत्य इनमें प्रथम और प्रधान है। मेगस्थनीज ने अपनी कृति 'इण्डिका' में मौर्य कालीन स्थापत्य का अद्भुत प्रमाण उपलब्ध है। मौर्य काल से लेकर गुप्त काल तक स्थापत्य में बौद्ध स्थापत्य और हिन्दू मन्दिरों का स्थापत्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। मौर्य-काल में बौद्ध धर्म की प्रधानता रही। अतः बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए ललित कलाओं का उपयोग किया गया था। भवन-निर्माण कला, मूर्तिकला, चित्रकला आदि का उपयोग बौद्ध धर्म के प्रसारण के लिए किया गया था। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से लेकर ईस्वी सन् की तीसरी और चौथी शताब्दी तक बौद्ध कला का विस्मयकारी विकास हुआ तथा बौद्ध धर्म में निहित आध्यात्मिकता, कला के माध्यम से अभिव्यक्त हुई। मौर्य काल के अनेक अवशेष इस समय उपलब्ध होते हैं। उनके अनुशीलन से उस युग की नगर रचना, बौद्ध स्तूप, चैत्य, विहार, गुफाएँ स्तम्भ और मूर्ति-निर्माण कला के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का परिचय मिलता है।

पाटलिपुत्र नगर—मौर्य सम्राटों की राजधानी पाटलिपुत्र एक बहुत ही विशाल नगरी थी। सीरिया के राजा सैल्युकस निकेटर का राजदूत मैगस्थनीज 303 ई.पू. में पाटलिपुत्र आया था और कई वर्षों तक यहाँ रहा था। उसने अपने यात्रा विवरण में इस नगरी का जो वर्णन किया है, उसमें कुछ बातें उल्लेखनीय है। उसके अनुसार पाटलिपुत्र नगरी गंगा और सोन नदियों के संगम पर स्थित थी। इसका निर्माण एक सामानान्तर चतुर्भुज के रूप में किया गया था। लम्बाई में यह 80 स्टेडिया ($9\frac{1}{5}$ मील) थी ओर चौड़ाई में 15 स्टेडिया (1 मील 1270

गज)। नगरी के चारों ओर लकड़ी की एक दीवार बनी हुई थी, जिसके बीच-बीच में तीर छोड़ने के लिए बहुत से छेद बने हुए थे। दीवार के चारों ओर एक खाई थी, जो 60 फीट गहरी और 600 फुट चौड़ी थी। यह खाई नगर को रक्षा और गन्दगी को बहाने के काम आती थी। लकड़ी की दीवार में नगर में आने-जाने के लिए 64 द्वार थे। दीवार पर लगभग 570 बुर्ज भी बने हुए थे। पाटलिपुत्र एक विशाल नगरी थी, जिसकी निर्माण एक सुदृढ़ दुर्ग के रूप में किया गया था।

मौर्य युग के नगरों के सम्बन्ध में एरियन की यह सूचना की उल्लेखनीय है—परन्तु उनके (भारतीयों के) नगरों की संख्या इतनी अधिक है कि ठीक-ठीक नहीं बतायी जा सकती। जो नगर नदियों के किनारे और समुद्रतट पर स्थित है, वे ईटों की बजाय लकड़ी के बने हुए हैं क्योंकि उन्हें स्वल्पकाल के प्रयोग के लिए ही बनाया जाता है। वहाँ वर्षा बहुत जोर से पड़ती है और नदियाँ अपने किनारों के ऊपर चढ़कर मैदानों में बाढ़ ले जाती है। लेकिन ऐसे नगर जो खुली जगह पर और ऊँचे टीलों पर बसे है, ईटों और गारे से निर्मित है। कोटलीय अर्थशास्त्र से भी मौर्ययुगीन नगरों की रचना के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त की जा सकती है। निःसन्देह पाटलिपुत्र इसी प्रकार का नगर था। नगर में किस-किस प्रकार के मार्ग हो और जनता के विभिन्न वर्गों के निवास की किस ढंग से व्यवस्था की जाय, इसका भी कौटिल्य ने विस्तार से वर्णन किया है। नगर में मुख्य बारह द्वार होने चाहिये, जिनसे तीन राजमार्ग पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाले और तीन राजमार्ग उत्तर से दक्षिण ओर जाने वाले बनाये जाय। राजमार्गों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार के मार्ग नगर में बनाये जाय। नगर में विभिन्न वर्गों के निवास के लिए कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विवरण मिलता है। नगर का कुल मिलाकर जितना क्षेत्र हो, उसके नौवें भाग में राजप्रासाद और अन्तःपुर का निर्माण किया जाय। राजकीय इमारतों के लिए नगर के मध्य भाग से उत्तर की ओर का प्रदेश सुरक्षित रखा जाय। राजप्रासाद के पूर्व-उत्तर भाग में आचार्य, पुरोहित और मंत्रियों का निवास हो और इज्या-स्थान (यज्ञ मण्डप) तक तोय-स्थान (जहाँ पेय उदक संचित हो) बनवाये जाएँ। दक्षिण-पूर्वी भाग में महानस (राजकीय पाकशाला), हस्तिशाला और कोष्ठागार रहे। उनके आगे पूर्व की ओर गन्ध, माल्य और रस (द्रव पदार्थ) की पण्य-शालाएँ हो, और प्रधान शिल्पी और क्षत्रियों के निवासस्थान रहे। दक्षिण-पूर्व भाग में भाण्डागार, अक्षपटल और विविध कर्मनिपद्य (कर्मान्त या कारखाने) बनवाये जाय। दक्षिण-पश्चिम भाग में आयुधागार रहे। उनके आगे दक्षिण दिशा की ओर नगर-अध्यक्ष, धान्य-अध्यक्ष, व्यवहारिक, कार्मान्तिक और विविध बलाध्यक्षों के निवास हो; और पक्वान्नपण्यों (पकवान बेचने वालों), सुरापण्यों (शराब बेचने वालों), मांसपण्यों (मांस बेचने वालों), रूपाजीवाओं (वेश्याओं), तालापचारों (नट, नर्तकी, वादक आदि) और वैश्यों के कारोबार के स्थान रहे। पश्चिम-दक्षिण भाग में गधों, ऊँटों आदि पशुओं की शालाएँ तथा कर्मगृह बनवाये जाएं और पश्चिम-उत्तर भाग में यानों और रथों की शालाएँ। उनके आगे पश्चिम की ओर ऊन और रूई के सूत को कातने तथा बुनने वाले शिल्पी, वेणु (बांस) तथा चर्म (खाल, फर आदि) के शिल्पी, शस्त्र और कवच बनाने वाले शिल्पी और शूद्र आबाद किये जाएं। उत्तर-पश्चिम भाग में पण्य-भैषज्यगृह (जहाँ औषधियाँ बेची जाती हों) बनवाये जाएँ। उत्तर-पूर्व भाग में कोषागार और गोशालाएँ तथा अश्वशालाएँ रहे। उनसे आगे उत्तर की ओर नगर-कारु, राज-कारु, देवता-कारु, लोह-कारु, और मणि-कारु वर्ग के लिए तथा ब्राह्मणों के लिए स्थान सुरक्षित

रखे जाएँ। बीच के विभिन्न कोनों में शिल्पियों की श्रेणियों और अन्य समूहों के लिए स्थान रहे। नगर के मध्य में अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त और वैजयन्त देवताओं के कोष्ठ और शिव, वैश्रवण, अश्विन्, श्री और मदिरा के गृह निर्मित कराये जाएँ और उनके कोष्ठकालयों (गर्भगृहों) में वास्तु-देवताओं (मूर्तियों) की स्थापना की जाय। परिखा से 100 धनु (600 फुट) की दूरी पर पुण्यस्थान बनवाये जाएं और सभी दिशाओं में यथा-स्थान दिग्देवता स्थापित किये जाएं। नगर के उत्तर-पूर्व में श्मशान के लिए स्थान सुरक्षित रखे जाएं। दक्षिण में एक पृथक् श्मशान हो, जिसका प्रयोग केवल उत्कृष्ट वर्णों के व्यक्ति ही कर सकें। पाखण्डों (ऐसे सम्प्रदाय जो परम्परागत धर्म के प्रति आस्था नहीं रखते थे) और चाण्डालों के लिए श्मशान से परे का स्थान रहे। नगर में कुएं इतनी अधिक संख्या में बनवाये जाएं कि दस परिवारों के लिए एक कुआं रहे। नगर में धान्य, चीनी, तेल, नमक, ईंधन आदि को इतनी मात्रा में संचित करके रखा जाए कि वह अनेक वर्षों के लिए पर्याप्त रहे।

कौटलीय अर्थशास्त्र के इस विवरण से मौर्य युग के नगरों के स्वरूप और रचना का एक स्पष्ट चित्र हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है। निःसन्देह, पाटलिपुत्र की रचना इसी ढंग से की गई थी। ग्रीक लेखकों के विवरण से भी इसकी पुष्टि होती है। काशी, श्रावस्ती, कौशाम्बी, चम्पा आदि मौर्य युग के अन्य नगरों का निर्माण भी प्रायः इसी ढंग से किया गया होगा। पाटलिपुत्र की खुदाई में मौर्य युग के जो अवशेष उपलब्ध हुए हैं, वे अनेक अंशों में अर्थशास्त्र के इस विवरण की पुष्टि करते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मौर्य युग के नगरों का निर्माण एक सुव्यवस्थित योजना के अनुसार किया जाता था। उनमें विभिन्न व्यवसाइयों के लिए पृथक् स्थान सुरक्षित रहते थे और जनता के विविध वर्ग पृथक् रूप से निवास करते थे।

स्तूप—स्तूप के उद्गम के विषय में एक कथा प्रचलित है। जब भगवान गौतम बुद्ध अपने अन्तिम क्षणों में रोग-शय्या पर पड़े हुए थे तब उनके पास बैठे रुदन करते हुए भिक्षुगण यह जानना चाहते थे कि भगवान बुद्ध की मृत्युपरांत बौद्ध संघ उनका अन्तिम संस्कार किस प्रकार करे ? भगवान बुद्ध ने उत्तर दिया, 'आनन्द' जैसे राजचक्रवर्ती का होता है। फलस्वरूप दाह-संस्कार के बाद अस्थियों के ऊपर स्मारक के रूप में पत्थरों का स्तूपाकार ढेर निर्मित किया गया। इस प्रकार बुद्ध और महान् अर्हतों की अस्थियों पर बनायी गई समाधियाँ स्तूप कहलाती हैं। कभी-कभी बौद्ध धर्म के स्मारक स्थानों पर भी स्तूप बनाये जाते थे। भगवान बुद्ध की मृत्यु के बाद उनकी अस्थियों के प्रश्न को लेकर झगड़ा हुआ था और उन्हें राजगृह, वैशाली, कपिलवस्तु, अल्लकप्प, पावा, कुशीनगर, रामग्राम और वैठद्वीप, आठ स्थानों पर स्तूप बनवाकर वहाँ रखवा दी गई। अनुश्रुति है कि अशोक ने उन आठ मूल स्तूपों की अस्थियों को निकालकर उन्हें चौरासी हजार स्तूपों में सुरक्षित कराया था। अशोक के बाद भी अनेक स्तूप बनाये गये। इनमें सांची और सारनाथ के स्तूप अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

स्तूपों की आकृति साधारणतः वृत्तात्मक या वर्गाकार है और उनके चारों ओर कहीं पत्थर की वेष्टनियाँ (Railings) हैं और कहीं नहीं भी हैं। सबसे प्राचीन स्तूप नेपाल की सीमा पर पिप्रहवा में है, जो सम्भवतः अशोक से भी प्राचीन और शायद बुद्ध के कुछ ही काल बाद का बना है। धरातल पर इसका व्यास 116 फुट है और ऊँचाई केवल 22 फुट है।

यह 35 से.मी. × 26 से.मी. × 8 से.मी. मोटी ईंटों का बना हुआ है। प्राचीन स्तूप भीतर से खोखले या ठोस कच्ची ईंटों के बने हैं और पत्थर की रेलिंग से घिरे हुए हैं। मिट्टी की ईंटों से बने होने पर भी अक्सर उन्हें पक्की जुड़ाई से ऊपर से ढक देते थे। सांची और सारनाथ के स्तूप इसी प्रकार के हैं। स्तूपों के नीचे आधार को 'मेधि' कहा जाता है। मेधि की भूमि, रेलिंग व स्तूप के बीच प्रदक्षिणा पथ का काम देती है। मेधि पर सोपान मार्ग से चढ़ते हैं। स्तूप के ठोस मध्यासीन भाग को अण्ड अथवा गर्भ कहते हैं, जो गुम्बजाकार होता है। उसके ऊपर हर्मिका होती है, जिससे ऊपर निकली हुई धातुयष्टि नीचे अण्ड को भेदती हुई गहरी चली जाती है। यह यष्टि ऊपर के छत्र या छत्रों का दंड बन जाती है। चोटी पर कलश बना होता है, जिसे वर्षस्थल कहते हैं। यह स्तूप का साधारण रूप है, वैसे उसके आकार-प्रकार में बाद में परिवर्तन होता गया है।

स्तूप को घेरने वाली रेलिंग के भी अनेक भाग होते थे। उसका आधार आलम्बन कहलाता है तथा बीच-बीच में स्तम्भ होते हैं। इस रेलिंग के चारों दिशाओं में चार तोरण-द्वार बने होते हैं। समूची रेलिंग व तोरण लकड़ी के बने होने का आभास देते हैं।

वाराणसी में सारनाथ के समीप धर्मराजिक स्तूप है जिसे सम्भवतः अशोक ने निर्मित कराया था। छठी से बारहवीं सदी तक इस स्तूप को छः बार आच्छादित (पत्थर की शिलाओं का आवरण) किया गया था। वह स्तूप पाषाण के ऊँचे चबूतरे पर बना है तथा इसके ऊपर का भाग ईंटों का बना है। सांची का स्तूप बौद्ध स्थापत्य कला में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में अशोक ने इसका निर्माण करवाया था। एक सदी बाद इसमें परिवर्द्धन हुए। इसके चारों ओर विशाल कलापूर्ण महाद्वार है। इसके चारों ओर पत्थर की रेलिंग है तथा प्रदक्षिणा-पथ भी है। स्तूप के सबसे ऊपरी भाग पर दण्डमय छत्र है। स्तूप के प्रवेश द्वारों और रेलिंगों पर बुद्ध-जीवन से सम्बन्धित अनेक गाथाएँ उत्कीर्ण हैं। पशु-पक्षी, देव, यक्ष, गन्धर्व, मानव आदि भी पाषाण में उत्कीर्ण हैं।

सांची का स्तूप बहुत बड़ा है। आधार के समीप इसका व्यास 100 फीट है। पूर्णावस्था में इसकी ऊँचाई 77 फीट के लगभग थी। वर्तमान समय में इसका ऊपर का कुछ भाग टूट गया प्रतीत होता है। स्तूप लाल रंग के बलुए पत्थर का बना है। यह अर्धमंडलाकार (अंड) रूप से बना हुआ है और इसके चारों तरफ एक ऊँची मेधि है, जो प्राचीन समय में प्रदक्षिणा पथ का काम करती थी। इस प्रदक्षिणा पथ तक पहुँचने के लिए स्तूप के दक्षिणी भाग में एक दोहरी सोपान है। सम्पूर्ण स्तूप के चारों ओर भूमि के समतल के साथ एक अन्य प्रदक्षिणा पथ है, जो कि पत्थर से बनी हुई पाषाण वेष्टनियों से परिवेष्टित है। यह वेष्टनी अत्यन्त ही सादे ढंग की है और उस पर किसी तरह की पच्चीकारी नहीं की गई है। यह चार चतुष्कोण-प्रकोष्ठों में विभक्त है, जिन्हें चार सुन्दर द्वार एक-दूसरे से पृथक् करते हैं। चारों द्वारों पर नानाविध मूर्तियाँ और उत्कीर्ण चित्रों तथा पच्चीकारी से युक्त तोरण है। इनमें बौद्ध धर्म की अनेक गाथाओं को व्यक्त किया गया है। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि सांची का यह विशाल स्तूप अशोक के समय का बना हुआ नहीं है। यह उससे लगभग एक सदी पीछे बना है। अशोक के समय में ईंटों का सादा स्तूप था, जिसे बढ़ाकर बाद में वर्तमान रूप दिया गया। सांची के भग्नावशेषों में सम्राट अशोक के समय की एक अन्य कृति भी उपलब्ध हुई है। स्तूप के दक्षिणी द्वार पर एक प्रस्तर-स्तम्भ के अवशेष मिले हैं। विश्वास किया जाता

है कि शुरू में यह स्तम्भ 42 फुट ऊँचा था। इसके शीर्ष भाग पर भी सारनाथ के स्तम्भ के सदृश सिंहों की मूर्तियाँ है। वर्तमान समय में ये मूर्तियाँ भग्न-प्रायः हो गई है, किन्तु अपनी भग्नावस्था में भी ये अशोक के काल की उत्कृष्टता का स्मरण दिलाती है। इस स्तम्भ पर अशोक का एक लेख भी उत्कीर्ण है। संभवतः सांची का यह स्तम्भ भी अपने असली रूप में सारनाथ के स्तम्भ के ही सदृश था।

इलाहाबाद से 15 मील दक्षिण-पश्चिम की ओर बुन्देलखण्ड की नागोद रियासत में भरहुत नामक स्थान से भी अशोक के समय की अनेक कृतियाँ उपलब्ध हुई है। श्री कनिंघम ने सर्वप्रथम 1873 ई. में इस स्थान का पता लगाया था। उस समय यहाँ एक विशाल स्तूप विद्यमान था। स्तूप के चारों तरफ एक पाषाण-वेष्टनी थी, जिस पर विविध बौद्ध-गाथाएँ चित्रों के रूप में अंकित की गई थी। पाषाण-वेष्टनी की ऊँचाई सात फीट से भी अधिक थी। सांची के स्तूप के समान ही यह पाषाण-वेष्टनी भी चार चतुष्कोण-प्रकोष्ठों से विभक्त थी, और प्रकोष्ठों के बीच में सुन्दर तोरणों से युक्त द्वार थे। पाषाण-वेष्टनी के ऊपर जो चित्र उत्कीर्ण है, उनमें जातक ग्रन्थों की गाथाओं की प्रधानता है और ये उत्कीर्ण चित्र मौर्य काल की कला के उत्कृष्ट उदाहरण है। भरहुत के स्तूप में सैकड़ों की संख्या में छोटे-छोटे आले बने हुए थे। उत्सव के अवसरों पर इनमें दीप जलाये जाते थे। वर्तमान समय में यह स्तूप नष्ट हो चुका है और इसकी पाषाण-वेष्टनी के बहुत से खण्ड कलकत्ता-म्यूजियम की शोभा बढ़ा रहे हैं। ध्यान देने योग्य तथ्य तो यह है कि भरहुत के सभी अवशेष मौर्य काल के नहीं है। उनमें से कुछ शुंग काल के तथा उसके बाद के भी है।

सारनाथ, सांची और भरहुत की पाषाण वेष्टनियों के सदृश ही अनेक वेष्टनियाँ और भी कई स्थानों से उपलब्ध हुई है। बोध गया में प्राप्त एक वेष्टनी के अवशेषों को अशोक के समय का समझा जाता है। प्राचीन पाटलिपुत्र के अवशेषों में भी कम से कम तीन इस प्रकार की पाषाण-वेष्टनियों के खण्ड प्राप्त हुए हैं, जो मौर्य-काल के है। सांची के समीप ही भीलसा के पास बेसनगर नामक स्थान पर इस प्रकार की पाषाण-वेष्टनी प्राप्त हुई है, जिस पर विविध प्रकार के चित्र उत्कीर्ण है। इसे भी मौर्य काल का माना जाता है। ये पाषाण-वेष्टनियाँ कला की दृष्टि से बड़े महत्त्व की है। ये प्रायः एक पत्थर की बनी हुई है और इसमें कहीं जोड़ नहीं है।

चैत्य—चैत्यों का स्तूपों के साथ घना सम्बन्ध रहा है। अनेक बार तो चैत्य शब्द का प्रयोग वहाँ हुआ है, जहाँ स्तूप का होना चाहिये था। कहीं-कहीं यह देवालय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आरम्भ में स्तूप की भाँति चैत्य भी महापुरुषों की अस्थिसंचायक समाधि को ही व्यक्त करता था। परन्तु आगे चलकर वह बौद्ध संघ के पूजा-गृह को व्यक्त करने लगा, जिसमें प्रतीक स्तूप अथवा बुद्ध की प्रतिमा आदि रहते थे अर्थात् जिस कक्ष में पूजा और आराधना होती थी उसे चैत्य कहते थे। यह समूचा कक्ष पर्वत की चट्टानों में, काटकर बनाया जाता था अथवा ईंटों और लकड़ी का भी बनता था। अधिकतर पर्वत में बने चैत्य गोल लम्बी-ऊँची सुरंग के से होते थे।

चैत्य में विस्तृत सदन या हॉल होता था, जिसमें बौद्ध उपासक और भिक्षु एकत्रित होते थे। सदन के दूसरे छोर पर स्तूप होता था। कभी-कभी इस स्तूप पर बुद्ध प्रतिमा उत्कीर्ण होती थी। स्तूप की परिक्रमा के लिए प्रदक्षिणा-पथ होता था। सदन की लम्बाई में दोनों ओर

सुन्दर कलापूर्ण पाषाण-स्तम्भों की पंक्तियाँ होती थीं। चैत्य का प्रवेश द्वार विशाल और कलाकृतियों द्वारा अलंकृत होता था। द्वार पर बने गवाक्षों में से, चैत्य में प्रकाश और वायु आते थे। ऐसे चैत्य मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र में अनेक हैं। इनका निर्माण दसवीं शताब्दी तक होता रहा।

ई.पू. तीसरी-चौथी सदी से ही चैत्यगृह बनते चले आये थे। अनेक तो पर्वत की चट्टानों में खोदकर बनाये गये हैं। अशोक के समय के चैत्य छोटे और सादे हैं। अजन्ता का हीनयानी चैत्यगृह उसी काल का है। इसकी छत अठ-पहले खम्भों पर टिकी हुई है। खम्भे, दीवारें, छत आदि सभी पहाड़ को काट कर बनाये गये हैं। अशोक के बनाये कुछ दरीगृह (गुफाएं व चैत्य) बराबर की पहाड़ियों में लोमश ऋषि, सुदामा आदि नामों से विख्यात हैं। उनकी दीवारों पर मौर्यकालीन पॉलिश चढ़ी हुई है।

पूना के समीप भाजा की गुफा और इसका चैत्य सर्वाधिक प्राचीन माना गया है। इसका निर्माण लगभग 200 ई.पू. हुआ था। इस चैत्य में मूर्तियों का अंकन भी हुआ है। ईस्वी पूर्व की पहली शताब्दी में बम्बई और पूना के बीच पश्चिमी घाट की पहाड़ियों में कार्ले का सुन्दरतम चैत्यगृह है। हीनयान सम्प्रदाय का यह आदर्श वास्तु है। इसका चैत्यसदन विस्तृत है और प्रवेश-द्वार दो-मंजिला बना है। प्रवेश-द्वार पर दान देने वाली दम्पत्ति और बुद्ध की प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। चैत्य सदन में अष्टकोणीय आकृति के कलात्मक स्तम्भ हैं। पहले सामने मंडपयुक्त तीन द्वार थे। हॉल में खुलने वाला मध्य द्वार संघ के सदस्यों के लिए था और शेष दोनों गृहस्थ उपासकों के लिए थे, जिससे वे बायें द्वार से प्रवेश कर बिना संघ के कार्य में विघ्न डाले, चैत्य, स्तूप या प्रतीक की प्रदक्षिणा कर दाहिने द्वार से बाहर निकल जायें। इस प्रकार के तीन द्वार प्रायः सभी चैत्यगृहों में होते थे। इसके अतिरिक्त बेडसा, जुन्नार और अजन्ता में भी बौद्ध गुफाएँ ओर चैत्य चट्टानों को काटकर बनाये गये। गुफाओं में बुद्ध से सम्बन्धित कथाएँ पाषाण पर उत्कीर्ण हैं। गुफाओं के स्तम्भ, छत, प्रवेश-द्वार, बरामदे आदि में नक्काशी व अलंकरण पर्याप्त मात्रा में हुआ है। अजन्ता के निकट एलौरा में भी बौद्ध गुफाओं, चैत्यों व आवास-गृहों का निर्माण सातवीं से दसवीं शताब्दी तक की अवधि में हुआ। यहाँ की विश्वकर्मा गुफा सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसकी वास्तुकला एक अभिनय शैली में है। इस गुफा के स्तूप में भगवान बुद्ध की एक महान् मूर्ति है। मध्यप्रदेश में धार जिले में पर्वत को काटकर बाघ की गुफा बनाई गई, जिसमें चैत्य और विहार दोनों शामिल हैं। इसमें एक गुफा में बुद्ध और बोधिसत्वों की विशाल प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं।

विहार—स्तूप और चैत्य दोनों प्राचीनकाल में शव-समाधि थे, फिर धीरे-धीरे स्तूप घटनाओं के स्मारक बने और चैत्य देवालय बन गये। विहार वह स्थल था, जहाँ बौद्ध संघ निवास करता था, अर्थात् ये एक प्रकार के मठ थे। अपने आचार्य के नेतृत्व में संघ के भिक्षु, साथ-साथ रहते थे, साथ-साथ श्रवण-वाचना होती थी और सभी भिक्षु धर्म की साधना करते थे। संघ व्यवस्था की रक्षा के लिए सभी भिक्षुओं को संघ का सम्मिलित आदेश मानना पड़ता था। बुद्ध की मृत्यु के बाद संघ की शक्ति काफी बढ़ गई थी। बौद्ध संघ की बैठकें उनके विहारों के संस्थागारों में होती थीं, निर्णय मतसंग्रह द्वारा लिया जाता था और निर्णय बहुमत के आधार पर होता था। विहार के अपने भवन थे जो उपासकों के अनुदानों से सदा सम्पन्न रहते थे। बौद्ध चैत्यों और तीर्थस्थानों से विहार सदा जुड़े रहते थे। विहार एक विशेष प्रकार के आवास थे जो सार्वजनिक गृहस्थ आवासों से भिन्न थे।

प्राचीन विहार चैत्यगृह के चारों ओर बने छोटे कमरों का समूह था। इन छोटे कमरों को कुटी भी कहते थे। सारनाथ के विहार में बुद्ध की कुटी का नाम बाद में मूलगंध कुटी पड़ा तथा उसके विहार का नाम मूलगंध कुटी-विहार। उन कुटियों के बीच बड़े चैत्यगृहों में ठोस स्तूप होता था अथवा सम्प्रदाय विशेष की पूजा मूर्ति प्रतिष्ठित होती थी। हीनयान विहार के चैत्यों के सामने की दीवार पर सम्प्रदाय का प्रतीक उभरा रहता था। ईंट-पत्थर से बने विहार तो अब उपलब्ध नहीं होते किन्तु पर्वत को काटकर बनाये गये प्राचीन विहार आज भी खड़े हैं। गोदावरी तट के प्राचीन नासिक का गौतमीपुत्र विहार हीनयान सम्प्रदाय का था। यह विहार कार्ले के चैत्यगृह का प्रायः समकालीन था। नासिक के उस विहार में भिक्षुओं के लिये छोटे-छोटे सोने के कमरे बने हुए हैं। विहार (बड़ा कमरा 46 फुट लम्बा और 41 फुट चौड़ा है) के भीतर दीवारों से लगी तीन ओर पत्थर की बेंचें बनी हैं, जिन पर बैठकर भिक्षु आचार्य के प्रवचन सुनते थे। हाल का द्वार एक बरामदे से होकर था। बरामदे के सामने छः स्तम्भ हैं, जिनकी आकृति कार्ले के स्तम्भों जैसी है, लेकिन इनके मस्तक के देवमिथुन गजों पर आरूढ़ न होकर वृषभों और सिंहों पर आरूढ़ हैं। वृषभ और सिंह अशोक के स्तम्भों के प्रिय प्रतीक थे।

सारे देश में बौद्ध विहार थे। बौद्ध भिक्षुओं की संख्या के अनुपात से ही उनकी संख्या भी प्रभूत रही होगी। चीनी यात्रियों ने ईंट-पत्थर से बने विहारों के सम्बन्ध में एक विशेष बात यह कही है कि वे कई मंजिले हुआ करते थे। विहार भिक्षुओं के आवास तो थे ही, साथ ही उनके लिये विद्यालय का कार्य भी करते थे। ह्वेनसांग ने अपने समय के बौद्ध विश्वविद्यालय नालन्दा का विस्तृत वर्णन किया है। वहाँ के विहार का वर्णन करता हुआ वह लिखता है कि भिक्षुओं का प्रत्येक आवास (विहार) चार मंजिला था। संघ के हॉल के स्तम्भों पर देवमूर्तियाँ बनी थीं और उसकी छत्रियों में इन्द्रधनुष के सातों रंग विद्यमान थे। सर्वत्र अर्थ चित्र उत्कीर्ण थे और चौखटों का सौन्दर्य अकथनीय था। पटना के निकट राजगीर से सात मील उत्तर में बड़गाँव के पास नालन्दा विश्वविद्यालय था। वहाँ की खुदाई में जो भवन निकले हैं उनमें एक छः मंजिले तक है, किन्तु इस प्रकार निर्मित विहारों की छतें उड़ गई है और उनके भग्नावशेष जैसे के तैसे खड़े हैं। किन्तु मामल्लपुर का चौंमजिला विहार चट्टान में कटा होने से आज भी खड़ा है तथा अपनी पिरामिडनुमा अनुपमेय आकृति से दर्शकों को चकित कर रहा है। यह विहार सातवीं सदी का है। मामल्लपुर में एक और विहार उसी सदी का है, जो दो-मंजिलों का उसी की भाँति मजबूत है।

स्तम्भ—हमारे देश में स्तम्भों का भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है। साधारणतया दो प्रकार के स्तम्भों का पता चलता है—प्रथम तो धार्मिक और दूसरे राजनीतिक या सामाजिक। विशुद्ध धार्मिक स्तम्भों की प्रचुरता इस देश में थी। अनेक धार्मिक स्तम्भ तो ऐसे भी खड़े किये गये जिनका उद्देश्य देव-विशेष का महत्त्व प्रदर्शित करना था। कुछ स्तम्भ राजनीति से सम्बन्धित थे, जैसे कीर्ति-स्तम्भ, लाटें, मीनारें आदि। कुछ स्तम्भों का प्रयोग दुर्गों, मन्दिरों, आवासों, राजप्रासादों, साधारण घरों आदि में हुआ। किन्तु हम यहाँ केवल ऐसे स्तम्भों का उल्लेख करेंगे जिनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता थी और जो बौद्ध धर्म से सम्बन्धित थे।

भारत में यज्ञों की परम्परा प्राचीन है। यज्ञों में पशुबलि दी जाती थी। उसमें भी किसी न किसी प्रकार के स्तम्भ या यूप का प्रयोग, बलि के पशु को बांधने में किया जाता था। दूसरे

स्तम्भ वे थे जो देव-प्रतिमा की भाँति यूप की मूर्ति मानकर पूजे जाते थे। इन्हीं यूपों ने आगे चलकर स्तम्भों का रूप ग्रहण कर लिया। धातु अथवा पत्थर सभी प्रकार के स्तम्भों में अशोक के स्तम्भ प्राचीनतम हैं, उनका शिल्प सौन्दर्य विशुद्ध ललितकला की शालीनता प्राप्त कर चुका है। उन स्तम्भों पर अपने अभिलेख लिखवा कर उसने प्रेम, सहिष्णुता और सौहार्द्र का संदेश दिया। ये स्तम्भ चुनार के पत्थर के बने हैं। किसी में कहीं जोड़ नहीं है, समूचा स्तम्भ एक पत्थर का बना है। चम्पारन जिले के लौड़िया नन्दनगढ़ वाला स्तम्भ 32 फुट, $9\frac{1}{7}$ इंच ऊँचा मोमबत्ती की भाँति नीचे मोटा, ऊपर पतला होता चला गया है। आधार पर इसका व्यास $35\frac{1}{2}$ इंच है और ऊपर $22\frac{1}{2}$ इंच। मुजफ्फरपुर जिले के बखीरा नामक स्थान के स्तम्भ पर लेख नहीं है। ये स्तम्भ दक्षिण में हैदराबाद और मैसूर तक मिले हैं। इन स्तम्भों पर अभिलेख भी कुशलता से काटे गये हैं। वस्तुत: प्रस्तर शिल्प की यह मौर्यकालीन कला इतनी परिष्कृत है कि अशोक की किसी घृति का जोड़ कहीं नहीं है।

इन स्तम्भों के शीर्ष अधिकतर पशुओं की आकृति से मण्डित हैं। सबसे ऊपर समूचा कोरा हुआ पशु है, जिसके नीचे पट्टिका है, फिर यष्टि की चोटी पर पारसीक घंटी। पट्टिका की गोलाकार दौड़ती बाड़ पर चारों ओर चित्र उत्कीर्ण हैं, जैसे वृषभ, अश्व, गज, सिंह आदि। सारनाथ के स्तम्भ का शीर्ष, जो 242 ई.पू. और 232 ई.पू. के बीच कभी बना था, परिष्कार, सौन्दर्य और शिल्पचातुरी में विश्व की कृतियों में अनुपम है। उसके पशुओं की सजीवता, उसका विन्यास और क्रिया सभी दर्शकों को चकित कर देते हैं। भारत सरकार ने तो उसे अपना राजकीय चिन्ह बना लिया है।

अशोक के स्तम्भों की वास्तु का कार्य अत्यन्त कुशलता से हुआ है। उसकी तकनीक, विशेषकर उसका कांचवत् चमकता पॉलिश सभी को उलझा देता है। इस प्रकार का निखार-परिष्कार और सर्वांग सुन्दरता जादू से एक दिन में अथवा एक शासनकाल में प्रस्तुत नहीं की जा सकती, वह सदियों की निष्ठा, प्रयोग और अभ्यास की परिणिति होती है। आश्चर्य है कि यह पॉलिश न केवल अशोक के काल में ही प्रारम्भ होकर उसके साथ ही समाप्त हो जाती है, बल्कि स्तम्भों के निर्माण की समूची परिपाटी, उन पर लिखे अभिलेखों की पद्धति, इस देश में नयी थी। अशोक के पहले स्तम्भ बनते थे या नहीं, इसमें संदेह हो सकता है, किन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं कि वे पत्थर के कभी नहीं बने और उन पर अभिलेख खुदवाने की परम्परा कभी नहीं रही। किन्तु पड़ौसी ईरान में शिला आदि पर लेख खुदवाने की तथा पशु मंडित स्तंभ खड़े करने की, दोनों परम्पराएं थीं। ईरान का शासन प्राय: डेढ़ सौ वर्षों तक पश्चिम पंजाब और सिन्ध पर रहा था। ये दोनों ईरानी राजा दारा के साम्राज्य का एक प्रान्त था तथा प्रतिवर्ष उसे एक करोड़ रुपये के ऊपर कर देते थे। इसी से प्रभावित होकर अशोक ने न केवल सीमा प्रान्त के अपने अभिलेख अरमई खरोष्ठी लिपि में लिखाए बल्कि कम से कम एक वार ईरानी भाषा का भी उनमें प्रयोग किया। इससे स्पष्ट है कि पारसीक शिल्प के ही अनुकरण में ये स्तम्भ बने, जहाँ स्तम्भों और उनकी पॉलिश की परम्परा थी, जहाँ बराबर प्रशस्ति आदि के अभिलेख सदियों से लिखे जा रहे थे, और जब अपने देश में इस कला का नामोनिशान नहीं था। अशोक ने उस वास्तु को ने केवल ग्रहण किया बल्कि

उसे परिष्कृत भी किया, उसका विकास भी किया, हालांकि उस शिल्प की शैली मौर्य काल के बाद बिल्कुल ही लुप्त हो गई।

अन्य वास्तु से संलग्न स्तम्भों की संख्या तो अनन्त है। बौद्ध चैत्य और विहारों में स्तम्भ बनाने की परम्परा थी। अजन्ता और एलोरा के कुछ वास्तु स्तम्भ तो गजब के सुन्दर हैं। उनके ऊपर बने अलंकरण भी अति सुन्दर हैं। कहा जाता है कि स्थापत्यकार कलावन्त जब नारी मूर्तियों का शृंगार कर चुके तब भी उनके मणि-मुक्ता आदि की इतनी अनन्त सम्पदा बच गई कि उन्होंने इन्हें इन पत्थरों के स्तम्भों पर बिखेर दिया। इस प्रकार स्तम्भों का अलंकरण अत्यन्त ही मनमोहक हुआ है।

मूर्तिकला

विश्व में मूर्ति का प्रतीक जितना शक्तिशाली रहा है उतना अन्य कोई-कोई प्रतीक नहीं। भारत ने मूर्तिकला को विज्ञान का पद प्रदान किया है। सौन्दर्य, समाधि, कल्पना और भावबोधकता में उसका किसी अन्य देश की कला समता नहीं कर सकती। भारतीय मूर्तिकला की शैली युग के साथ बदलती गई है। इन बदलते लक्षणों से हम युग-विशेष की कला पहचान सकते हैं। अतः मूर्तिकला का इतिहास युगों के इतिहास से सम्बद्ध है। लेकिन एक ही काल में दो शैलियाँ भी चलती रही हैं, जैसे शक-कुषाण युग के मध्य ही गांधार (यवन) शैली का चरम विकास हुआ। ईसा की प्रथम शताब्दी से पूर्व बुद्ध की मूर्ति नहीं बनती थी। तथागत की उपस्थिति का बोध प्रतीकों से कराया जाता था। महात्मा बुद्ध की पहली मूर्ति कब बनी, यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु अनेक कला समीक्षकों का विश्वास है कि सम्भवतः बुद्ध की पहली मूर्ति गान्धार शैली में बनी।

गान्धार कला-शैली—गान्धार कला से तात्पर्य एक विशिष्ट शैली से है, जिसका विकास ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी में गान्धार (पाकिस्तान का पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश, कबीलाई भूखण्ड से तक्षशिला तक) तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश में हुआ था। गान्धार कला को 'इण्डो-ग्रीक' (हिन्दू-यूनानी) कला के नाम से भी पुकारा जाता है, क्योंकि इस कला के विषय तो भारतीय हैं, किन्तु इसकी शैली यूनानी है। चूँकि बौद्ध धर्म उसकी प्रेरणा था, अतः इसे ग्रीको-बुद्धिष्ट भी कहा गया है। इस शैली की शिल्प विधि द्वारा जो बुद्ध की मूर्तियाँ निर्मित की गईं, वे यूनानी देवता अपोलो की मूर्तियों से काफी साम्यता रखती हैं। उनकी मुद्रायें तो बौद्ध हैं, जैसे कमलासन मुद्रा में बौद्ध बैठे हुए हैं, किन्तु मूर्तियों के मुखमंडल और वस्त्र निश्चित रूप से यूनानी हैं, जो स्पष्टतया यूनानी अथवा रोमन कला का प्रभाव है। बोधिसत्वों की मूर्तियों में बोधिसत्व यूनानी राजाओं की तरह लगते हैं। उनके वस्त्र भड़कीले हैं तथा वे रत्नाभूषणों से मण्डित हैं। अतः उन्हें देखने से वे किसी प्रकार आध्यात्मिक पुरुष प्रतीत नहीं होते, वरन् वे किसी देश के नृपति लगते हैं। भगवान बुद्ध को भी महाभिनिष्क्रमण के पूर्व उनकी मूर्तियों में यूरोपियन वेशभूषा तथा रत्नाभूषणों से युक्त दिखाया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन मूर्तियों की मुद्राएँ भारतीय होने पर भी उनकी शिल्प विधि यूनानी अथवा रोमन है। डॉ. ए. एल. बाशम ने भी लिखा है कि, "गान्धार शिल्पियों ने यूनानी-रोमन संसार के देवताओं को अपना आदर्श माना। कभी-कभी उनकी प्रेरणा पूर्णतया पश्चिमी प्रतीत होती है।"

गान्धार कला के नमूने विमरन, लैरियन, हस्तनगर, शाहजी की ढेरी, तक्षशिला, हड्डु आदि स्थानों पर प्राप्त हुए हैं। इनमें से अधिकांश पेशावर और लाहौर के अजायबघरों में सुरक्षित हैं। इन प्रतिमाओं के निर्माण में चूना, मसाला तथा सफेद रंग के पत्थर का प्रयोग किया गया था। आरम्भ में लगभग 150 वर्षों तक कला प्रगति पर रही। दूसरी शताब्दी में इसमें गिरावट आ गई, किन्तु तीसरी शताब्दी के आरम्भ में इसकी फिर प्रगति हुई। अन्तिम काल में इस पर मथुरा-शैली का भी प्रभाव पड़ा। इस कला शैली की मुख्य विशेषताएँ—मानव-शरीर की सुन्दर रचना तथा माँसपेशियों की सूक्ष्मता, पारदर्शक कपड़े और उनकी सलवटें तथा अनुपम नक्काशी हैं। अत्यधिक सुन्दर मूर्तियों के निर्माण के कारण एक समय ऐसा था, जबकि गान्धार मूर्तिकला को भारतीय कलाओं में श्रेष्ठतम और अन्य सभी मूर्तिकलाओं की जननी माना जाता था। किन्तु अब इसे स्वीकार नहीं किया जाता।

पाश्चात्य कला-समीक्षकों का विचार है कि भारत की सर्वश्रेष्ठ कला का निर्देशन गान्धार कला द्वारा ही होता है। किन्तु इस कथन में लेशमात्र भी सत्यता नहीं है। सत्य तो यह है कि कला के क्षेत्र में भारत पर पश्चिम का प्रभाव कभी गम्भीर न पड़ सका। क्योंकि भारतवासियों में विदेशी प्रभावों को ग्रहण करने की तत्परता तथा उन्हें अपने देश की मौलिक परम्पराओं में पचा लेने की अद्भुत क्षमता थी। भारतीय कलाकारों ने गान्धार कला के माध्यम द्वारा मूर्ति निर्माण की जो शिक्षा प्राप्त की, उसका एक-दूसरे केन्द्र मथुरा में मौलिक और स्वतन्त्र रूप से विकास किया। यह कहना सर्वथा अनुचित है कि गान्धार कला अत्यन्त उच्चकोटि की कला है। प्रो. कुमार स्वामी का मानना है कि गान्धार कला निगूढ़ मिथ्यात्व का आभास देती है तथा उसकी निर्जीव मुद्रायें बौद्ध विचारधारा की आध्यात्मिक शक्ति को अभिव्यक्ति प्रदान नहीं कर पातीं। वस्तुतः गान्धार की मूर्तियों में निर्जीवता दिखाई देती है तथा उनमें कलाकार की सच्चाई का अभाव दृष्टिगोचर होता है। डॉ. निहाररंजन के शब्दों में, "ऐसा मालूम पड़ता है कि वे किसी सिद्धहस्त कलाकार द्वारा निर्मित न होकर मशीनों से तैयार की गई हों।"

मथुरा कला-शैली—गान्धार के अतिरिक्त मथुरा भी कला का केन्द्र था। मथुरा में जिस शैली का विकास हुआ, उसे मथुरा शैली के नाम से पुकार गया। ईसा की प्रथम शताब्दी से प्रगति करती हुई इस शैली ने आने वाले समय में उत्तर भारत की मूर्तिकला की शैलियों में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त किया। गुप्त काल की श्रेष्ठ मूर्तिकला को मथुरा शैली का ही विकसित रूप माना गया है। मथुरा शैली की समस्त कृतियाँ आसानी से पहचानी जा सकती हैं। क्योंकि इनके निर्माण में लाल पत्थर का प्रयोग किया जाता था, जो मथुरा के समीप सीकरी नामक स्थान से प्राप्त होता था। मथुरा शैली की मूर्तियाँ अपनी विशालता के लिए विख्यात है। मथुरा की कुषाणकालीन मूर्तियों के दाहिने कन्धे पर वस्त्र नहीं रहता। दाहिना हाथ अधिकांशतः अभय मुद्रा में पाया जाता है। गान्धार कला में बुद्ध को बहुधा पद्मासन या कमलासन में दिखाया गया है, किन्तु मथुरा की मूर्तियों में सिंहासन पाया जाता है। मूर्तियों में प्रभा-मण्डल का प्रयोग दोनों तक्षण-कलाओं में दृष्टिगत होता है, किन्तु मथुरा की प्रतिमाओं में किनारों पर वृत्ताकार चिन्ह स्पष्ट दिखाई देता है। गान्धार और मथुरा शैलियों का सूक्ष्मता से अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों शैलियों का उद्भव और विकास पृथक्-पृथक् तथा स्वतन्त्र रूप से हुआ तथा मथुरा की कला स्वदेशी थी। मथुरा तथा उसके सीमावर्ती क्षेत्रों में प्राप्त बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियाँ इस कला-शैली के सुन्दर नमूने हैं।

दूसरी सदी के प्रारम्भ में इस कला पर कुछ प्रभाव गान्धार कला का और सम्भवतया कुछ प्रभाव रोमन कला का भी पड़ा था। इस काल में बनी मूर्तियाँ, आकार एवं शारीरिक अवयवों की दृष्टि से विशाल एवं ठोस हैं, किन्तु उनकी वेशभूषा रोमन है। मथुरा शैली में आध्यात्मिक भावना को भी प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया गया है। मथुरा शैली में भाव, भावना तथा शारीरिक सौन्दर्य सभी को प्रदर्शित किया गया और इसलिए यह कला-शैली धार्मिक विचार और शारीरिक सुख दोनों की अभिव्यक्ति का साधन बन सकी। पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि मथुरा कला-शैली पर न केवल गान्धार कला का प्रभाव है, बल्कि उसका उद्‌भव ही गान्धार कला की अनुकृति से हुआ है। किन्तु इस कथन को अन्य विद्वान् स्वीकार नहीं करते, जैसा कि रालिन्सन महोदय ने लिखा है, "उसी समय समकालीन कला का एक विशुद्ध देशी सम्प्रदाय, जिसका भरहुत और सांची से उद्‌भव हुआ था, मथुरा, भींटा, वेसनगर तथा अन्य केन्द्रों में प्रचलित था। पहले यह प्रवृत्ति थी कि बुद्ध, महावीर और हिन्दू देवताओं की मूर्ति निर्माण के आविष्कार को विदेशी प्रभावों के कारण बताया जाता था, परन्तु अब सामान्यतया इस बात पर विद्वान् सहमत हैं कि इसका उद्‌भव मथुरा के देशी कलाकारों के द्वारा खोजा जाना चाहिये न कि गान्धार के।"

अमरावती कला-शैली—गान्धार और मथुरा कला-शैलियों के साथ-साथ उस समय कृष्णा और गोदावरी के मुहाने पर अमरावती तथा गुन्टूर जिलों में अमरावती कला-शैली का भी विकास हुआ। अमरावती शैली भरहुत, गया और सांची तथा बाद में गुप्त और पल्लव कला को जोड़ने वाली कड़ी है। इस शैली में धर्म और त्याग की भावना ही प्रमुख नहीं है, बल्कि कलाकारों ने 'कला को कला के लिए' के आदर्श को अपनाया है। अमरावती की आकृतियों में बंकिम भंगिमा अपना जोड़ नहीं रखती। मूर्तियों में आभूषणों की भरमार है तथा इस शैली में वैराग्य और भक्ति को भी प्रदर्शित किया गया है। बुद्ध की प्रतिमा के समक्ष नत-मस्तक उपासिकाओं का दृश्य अत्यन्त सुन्दर है। अमरावती शैली की मुख्य विशेषता मूर्तियों के निर्माण में सफेद संगमरमर का प्रयोग था। इस प्रकार भारतीय मूर्तिकला के अन्य केन्द्रों से अमरावती भिन्न है।

गुप्तयुगीन कला-शैली—गुप्तयुग महान् और यशस्वी सम्राटों का युग था। अतः भारतीय कला का ऐश्वर्य गुप्त सम्राटों की संरक्षता में फला-फूला। उस काल की कृतियों में एक नई ताजगी आई। आकृतियाँ सर्वथा स्वाभाविक हो गई। अब कलाकार उन्हें कला के प्रतिष्ठित सौन्दर्य-भावों से नहीं, सीधे प्रवाहित जीवन से लेने लगा। बुद्ध-जिन की समाधिस्थ मूर्तियों के उलटे अंगूठे अपनी काष्ठरूपता को छोड़कर मांसल हो गये। मूर्तियों ने नये केश कलाप धारण किये तथा आभूषण सुरुचिपूर्ण होने लगे। बुद्ध के परिधान की चुन्नटें अलंकरण बन गईं। बुद्ध की मूर्तियों में मुख्य रूप से सारनाथ की बैठी और मथुरा की खड़ी मूर्तियाँ हैं। सारनाथ वाली मूर्ति धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा में बैठी है। उसकी शान्त और तुष्ट मुद्रा प्रासाद की छाया में जैसे खिल उठी है। भारत की सुन्दरतम मूर्ति मथुरा के बुद्ध की है, जो सवा सात फुट ऊँची एवं अभय मुद्रा में खड़ी है। यद्यपि उसके हाथ खण्डित हैं, फिर भी प्रतीत होती है कि दाहिना हाथ प्राणियों को अभयदान करता उठा हुआ था। मूर्ति के मुख पर असीम शान्ति दिखाई देती है। सम्भवतः मनुष्य ने भावबोध की दृष्टि से इतनी सफल मूर्ति का निर्माण कभी नहीं किया। मथुरा की खड़ी बुद्ध मूर्ति सुरुचि, परिष्कार आवयवीय अनुपात, व्यंजना और

सहानुभूति में अप्रतिम है तथा विश्व के बुद्धों में बेजोड़ है। गुप्तकाल में सुन्दर बुद्ध प्रतिमाएँ तांबे-पीतल आदि धातु की ढाली गई। इस प्रकार की एक साढ़े सात फीट ऊंची अभय मुद्रा में खड़ी भागलपुर जिले (बिहार) के सुलतानगंज में मिली थी, जो अब बर्मिंघम म्यूजियम में है। इसी प्रकार गया जिले के कुर्किहार गाँव में बुद्ध की धातु की मूर्तियों की एक राशि ही मिल गई, जिनमें कुछ गुप्त काल की थी।

गुप्तयुगीन मन्दिर

मौर्यों के पश्चात् महान् गुप्तों का युग निःसन्देह भारतीय राष्ट्र के इतिहास में नव-जागरण, नव-निर्माण और नवोत्कर्ष का द्वितीय महान् सर्जनात्मक युग था। गुप्त युग के राज-प्रासाद अथवा भवनों के कोई अवशेष हमें उपलब्ध नहीं हुए है। लेकिन कुमारगुप्त प्रथम के भिलसद-लेख में स्वामी महासेन के मन्दिर के वर्णन से स्पष्ट होता है कि देव-प्रासाद अत्यन्त भव्य और विशाल होते थे। मन्दिर के मुख्य भवन के साथ मुनियों अथवा साधुओं का निवास-गृह गुणवर भवन (ब्राह्मणों आदि के रहने के लिए) और धर्म-सत्र (धर्मशाला) आदि भवन भी संयुक्त होते थे। मन्दिर में प्रवेश के लिए मुख्य द्वार अथवा प्रतोली बनी होती थी, जिसमें स्वर्ण सोपान जैसी सीढ़ियाँ लगी होती थी और जो कौवेरछन्द (विशेष प्रकार की मोतियों की माला) सदृश तथा स्फटिक व मणियों की शुभ्र (गौर) द्युति से आभासित थी। गुप्त कालीन मन्दिरों की भव्यता व विशालता का अनुमान हम स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ लेख में भगवान चक्रभृत विष्णु के मन्दिर के विवरण से भी कर सकते हैं। उक्त लेखानुसार चक्रभृत के मन्दिर के निर्माण पर पर्याप्त धन और समय व्यय किया गया होगा। ऊर्ज्जयत पहाड़ी पर स्थित यह 'चूड़ारत्न मन्दिर' पहाड़ से उत्थित हुआ प्रतीत होता था और उसकी भव्यता ऐसी प्रतीत होती थी मानो नगर के मस्तक पर अपना प्रभुत्व प्रकट कर रहा हो। गुप्त युग के कुछ मन्दिरों के जो अवशेष मिले हैं, उनसे उस समय की वास्तुकला का अनुमान किया जा सकता है। सन् 320 ई. और 550 ई. के मध्य निर्मित गुप्त-कालीन मन्दिरों में भूमरा का शिव मन्दिर, नचना कुठार का पार्वती-मन्दिर और तिगवा का विष्णु-मन्दिर मुख्य हैं। सन् 551 ई. और 605 ई. के बीच बने गुप्त-युगोत्तर मन्दिरों में देवगढ़ का दशावतार मन्दिर और भिटर गाँव का मन्दिर आते हैं।

भूमरा का मन्दिर—गुप्तयुगीन मन्दिरों में भूमरा का मन्दिर सबसे प्राचीन है। भूमरा प्राचीन नागौध राज्य में स्थित था। इस मन्दिर के अवशेष का पता सन् 1920-1927 ई. में राखालदास बनर्जी ने लगाया। मन्दिर का पूरा क्षेत्र 35 वर्ग फुट था। इस क्षेत्र के आगे मण्डप का स्तम्भ-तल था। मण्डप के सामने सीढ़ियाँ बनी थी और उसके दोनों तरफ दो लघु मन्दिरों की नींव भी पायी गई है। मन्दिर का गर्भगृह कैमूर के लाल बलुए पत्थर का बना है, और उसकी छत दीर्घ चपटे पत्थरों की है। गर्भगृह के चारों ओर परिक्रमा के लिए आवेष्ठित प्रदक्षिणा-मार्ग भी बना था। इस मन्दिर के मण्डप का द्वार अत्यन्त अलंकृत था। मण्डप की छत को सहारा देने के लिए सुन्दर सूंड़ की आकृति वाले स्तम्भ बने थे। विद्वानों ने भूमरा मन्दिर के शोभनीय प्रतिमा-शिल्पों, अलंकृत द्वारों, लताओं व कीर्ति-मुखों (सिंह-मुखों) आदि से सज्जित छत की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उसकी चैत्य-खिड़कियों पर बने गणेश, ब्रह्मा, यम, कुबेर, कार्तिकेय, नटराज शिव, सूर्य, कामदेव व महिषमर्दिनी देवी की मूर्तियों का प्रतिमाकरण की बहुत सुन्दर हुआ है। मन्दिर के गर्भगृह में एक मुख शिवलिंग की मूर्ति

स्थापित है, जो मूर्तिकला का एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है। मन्दिर के द्वार-स्तम्भ के दाईं ओर गंगा और बांई बायीं यमुना की मूर्तियाँ है।

नचना कुठार के पार्वती-मन्दिर का स्थापत्य भूमरा के जैसा ही है। लेकिन नचना कुठार का मन्दिर भूमरा की तरह सुअलंकृत व सज्जित नहीं है। भूमरा मन्दिर का प्रदक्षिणा मार्ग और मण्डप विनष्टावस्था में मिले हैं किन्तु नचना-कुठार के मन्दिर का भवन अधिक सुरक्षित अवस्था में मिला था।

तिगवा मन्दिर—जबलपुर जिले के तिगवा नामक स्थान में स्थित तिगवा मन्दिर का वास्तु शिल्प गुप्तयुगीन मन्दिरों जैसा है। यह एक ऊँचे टीले पर स्थित हैं। इस मन्दिर के स्तम्भों के प्रकार और द्वार की बनावट तथा सजावट को देखते हुए सामान्यत: विद्वानों ने उसे गुप्तयुगीन वास्तुकला के उत्कृष्ट नमूनों में स्थान दिया है। तिगवा-मन्दिर के द्वार की ऊपरी सज्जा में एक ओर कच्छपवाहिनी यमुना और दूसरी तरफ मकरवाहिनी गंगा प्रतिमाकृत है। द्वार-स्तम्भों पर गंगा-यमुना के प्रतिमाकरण का प्रकार परवर्ती गुप्तयुगीन मन्दिरों में अधिकाधिक देखने को मिलता है। इस टीले पर दो मन्दिर है, एक ही छत चपटी है और दूसरे की छत पर शिखर है। चपटी छत वाला मन्दिर अधिक पुराना है। यह पांचवी सदी के शुरू में बना था। इसकी चौखट की कारीगरी तो बहुत ही सुन्दर है।

देवगढ़ का दशावतार-मन्दिर—यह मन्दिर झांसी जिले में मिला है। ईंटों का बना यह मन्दिर, प्रकार और बनावट में गुप्तयुगीन मन्दिरों के जैसा है। इस मन्दिर के चारों ओर आवेष्टित प्रदक्षिणा-मार्ग बना था, और इसके गर्भगृह में प्रवेश के लिए चार द्वार थे। मुख्य मन्दिर के चार कोनों में चार छोटे मण्डप भी बने थे। इसके प्रस्तर-स्तम्भ कलात्मक ढंग से विभूषित और द्वार के चौखट की सज्जा बहुत आकर्षक है। अनंतशायी विष्णु की प्रसिद्ध मूर्ति यही पर विद्यमान है। इस मन्दिर की सबसे मुख्य विशेषता इसके गर्भगृह के ऊपर शिखर का होना है। भारत के आधुनिक मन्दिरों के ऊपर शिखर अवश्य होता है। किन्तु गुप्त-काल में शुरू-शुरू में जो मन्दिर बने थे, उनकी छत चपटी होती थी और ऊपर शिखर नहीं होता था। सम्भवतया शिखर-शैली के मन्दिरों का प्रचलन इसी समय से आरम्भ होता है। डॉ. जायसवाल के अनुसार शिखर वाले मन्दिरों, जिन्हें नागर शैली का कहा जाता है, का उद्भव भारशिव-नागों के युग में माना जाना चाहिये। अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि गुप्त-काल के समाप्त होने से पूर्व ही मन्दिरों पर शिखरों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। डॉ. बनर्जी के अनुसार इस मन्दिर का निर्माण 575 ई. के आसपास हुआ होगा। देवगढ़ के इस दशावतार के मन्दिर का शिखर सम्भवत: भारत में सबसे पुराना है, और इसी कारण इस मन्दिर का अत्यधिक महत्त्व है।

भिटर गाँव का मन्दिर—कानपुर के निकट स्थित भिटर गाँव में गुप्तकाल का एक विशाल मन्दिर अब तक विद्यमान है, जो ईंटों का बना है। ऊपर जिन मन्दिरों का उल्लेख किया गया है, वे प्रस्तर-शिलाओं द्वारा निर्मित है। किन्तु भिटर गाँव का यह मन्दिर ईंटों का बना हुआ है और उसकी दीवारों का बाहरी अंश मिट्टी के पकाये हुए फलकों से बनाया गया है। इस मन्दिर के ऊपर भी देवगढ़-मन्दिर की तरह शिखर बना है। अत: यह मन्दिर भी छठी शती के अन्तिम चरण में बना समझा जाता है। स्मिथ महोदय का अनुमान है कि इसका निर्माण चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में हुआ था। मन्दिर की दीवारों के बाहरी अंशों की फलकों पर तरह-तरह की चित्रकारी व मूर्तियाँ अंकित की हुई है।

अन्य मन्दिर—गुप्त-युग की शैली के कुछ अन्य मन्दिर बोधगया व सांची, एरण, बीजापुर जिले में अपहोल तथा आसाम में ब्रह्मपुत्रा नदी के तट पर दहपरबतिया आदि स्थानों पर भी मिले हैं। इन मन्दिरों का गर्भगृह वर्गाकार है और सामने छोटे मण्डप या बरामदा बने है। बोधगया के मन्दिर पर, जिसे पांचवीं शती का समझा जाता है, आमलक-युक्त शिखर बना हैं। सांची और बोधगया के मन्दिर बौद्ध मन्दिर है। सम्भवतया बोधगया का गुप्त-मन्दिर वही है, जिसे समुद्रगुप्त की आज्ञा से लंका के राजा ने लंका के बौद्ध यात्रियों के लिए बनवाया था।

एरण का मन्दिर विष्णु मन्दिर है। यह मन्दिर विनष्टावस्था में मिला है। इस मन्दिर के पास ही हूण राजा तोरमाण के समय में धन्यविष्णु द्वारा प्रतिस्थापित विष्णु के वराह अवतार की मूर्ति स्थित है।

दक्षिण में बीजापुर जिले में अपहोल नामक स्थान पर एक पुराना मन्दिर है, जो गुप्तकाल का है। इसके भी प्रमुख द्वार पर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ है और इसकी खिड़कियाँ नक्काशीदार पत्थर की बनी हैं। इसी प्रकार आसाम में ब्रह्मपुत्रा नदी के तट पर दहपरबतिया नामक स्थान पर गुप्तयुगीन एक मन्दिर पाया गया है जो पूर्णतः भग्नावस्था में है।

विष्णु, शिव, सूर्य और अग्निदेव से सम्बन्धित मन्दिरों की कुछ मुहरें भी प्राप्त हुई है। वैशाली में प्राप्त विष्णुपद-मन्दिर की मुहर या मुद्रा पर 'श्री विष्णुपद स्वामी नारायण' लेख अंकित है और ऊपरी भाग पर विष्णु के प्रतीक गदा, शंख, चक्र तथा सूर्य और चन्द्र अंकित है। एक मुहर अमरातकेश्वर शिव की मिली है। 'भगवतो आदितस्य' के लेख के साथ एक मुहर सूर्य की मिली है। भीटा में प्राप्त कुछ मुहरों पर अग्नि-वेदिका बनी है। सम्भवतया ये मुहरें मन्दिर के प्रबन्धकों द्वारा मन्दिर के अधिष्ठातृ देवता के नाम पर शासन प्रेषित करने के लिए प्रयोग में लाई जाती होगी। प्रो. राधाकुमुद मुखर्जी के मत में गुप्त युग में मन्दिरों की व्यवस्था के लिए श्रेणियों बनी थी जो अपनी निजी मुहरें प्रेषित किया करती थी।

मुगल स्थापत्य कला

मुगल काल में सभी ललित कलाओं की अभूतपूर्व उन्नति हुई। मुगल सम्राट स्थापत्य कला के प्रेमी थे। मुगल काल में ईरानी और हिन्दू स्थापत्य शैली के समन्वय द्वारा मुगल शैली का उद्भव एवं विकास हुआ था। फर्ग्युसन के अनुसार मुगल शासकों की निर्माण-शैली विदेशी है, जबकि हावेल के अनुसार मुगल कला देशी और विदेशी शैलियों का उत्तम सम्मिश्रण है। लेकिन हावेल का यह भी मानना है कि विदेशी कला ने भारतीय कला को प्रभावित किया था। इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीय कला को विदेशी कला से प्रेरणा प्राप्त हुई थी। लेकिन सत्य तो यह है कि मुगल काल में अकबर के राज्यारोहण तक भारतीय कला पर ईरानी प्रभाव अधिक रहा। लेकिन अकबर के काल में भारतीय कला परम्परा को ईरानी आदर्श के हित में अपना लिया। अकबर के शासन के अन्तिम वर्षों में विदेशी तथा भारतीय तत्त्व ऐसे घुलमिल गये कि अब भारतीय अथवा ईरानी कला के पृथक् अस्तित्व का पता लगाना कठिन हो गया।

मुग़लवंश के संस्थापक बाबर को दिल्ली और आगरा की तुर्क तथा अफगान सुल्तानों द्वारा निर्मित इमारतें पसन्द नहीं आई। वह ग्वालियर में मानसिंह व विक्रमाजीत के महलों की

स्थापत्य शैली से अत्यधिक प्रभावित हुआ। ग्वालियर के महल हिन्दू कला के सुन्दर उदाहरण थे और जब बाबर ने अपने लिए महल बनवाये तब वे उसके लिए नमूने बन गये। उसके महल बहुत ही मामूली रूप से बने हुए प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे अधिक समय तक काल के प्रहारों को न सह सके। उसकी केवल दो इमारतें बची हैं—पानीपत की काबुली बाग की विशाल मस्जिद और रुहेलखण्ड में सम्भल की जामा मस्जिद। इनमें विशालता को छोड़कर कोई शिल्प सौन्दर्य दिखाई नहीं देता। हुमायूं भी यद्यपि कला प्रेमी था, किन्तु उसकी कोई कलात्मक इमारत नहीं बची हैं। दीन पनाह नामक उसका दिल्ली का महल मजबूती की दृष्टि से बनाया गया था। संभवतः इसे शेरशाह ने नष्ट कर दिया था। उसकी दो अन्य इमारतें—एक आगरा के निकट मस्जिद तथा दूसरी हिसार के फतेहाबाद में मस्जिद शिल्प कला की दृष्टि से महत्त्वहीन इमारतें हैं। फिर भी बाबर और हुमायूं ने अप्रत्यक्ष रूप से इमारत बनवाने की उस परम्परा की स्थापना कर दी, जिसके कारण दिल्ली के सुल्तानों की इमारतों की अपेक्षा भविष्य में अच्छी इमारतें बनने लगी।

अकबरकालीन स्थापत्य कला—अकबर के शासनकाल की सबसे पहली इमारत दिल्ली का हुमायूं का मकबरा है, जिसे अकबर की सौतेली मां हाजी बेगम ने बनवाया था। हाजी बेगम ईरानी आदर्शों से प्रभावित थी और फिर इस मकबरे को बनाने वाला प्रधान कारीगर मीरक मिर्जा गियास भी ईरानी था। प्रधान कारीगर की सहायता के लिए अनेक भारतीय शिल्पकारों ने भी काम किया था। अतः यह मकबरा फारसी आदर्श की भारतीय अभिव्यक्ति है। इस इमारत का मेहराबयुक्त विशाल मण्डप फारसी शैली का है, जबकि सुन्दर छतरियों वाले कलात्मक मण्डप भारतीय शैली के हैं। इसका गुम्बद सफेद संगमरमर का है और शेष इमारत में सफ़ेद और काले संगमरमर के साथ लाल बलुआ पत्थर का प्रयोग किया गया है।

अकबर को स्थापत्य कला के प्रति गहरी रुचि थी। उसके काल में जो सुन्दर इमारतें बनीं वे अबुल फजल के इस कथन को युक्तिसंगत ठहराती हैं कि, "सम्राट सुन्दर इमारतों की योजना बनाता है और अपने मस्तिष्क एवं हृदय के विचार को पत्थर और गारे का रूप दे देता है। अकबर ने तत्कालीन शैलियों की बारीकी को समझा और अपने शिल्पकारों को इमारतें बनाने के लिए नये-नये विचार दिये। अतः अकबर के काल में स्थापत्य कला की जो नई शैली विकसित हुई वह वास्तव में हिन्दू-मुस्लिम शैलियों का समन्वय थी। अकबर की नवीन शैली का सबसे सुन्दर पहला नमूना आगरे का लाल किला है। यह लगभग $1\frac{1}{2}$ मील के घेरे में बना है और पूरी लाल गढ़े हुए पत्थरों की बनी इसकी दीवारें लगभग 70 फीट ऊँची हैं। प्रवेश-द्वार के ऊपरी भाग की सजावट का ढंग बड़ा ही दिलचस्प है। मेहराबों और पेनलों पर सफेद संगमरमर जड़ कर सुन्दर डिजायनें बनाई गई हैं जबकि रंगीन टाइलों से परदार सांप, हाथी और फूल-पत्तियाँ, चिड़ियाँ निर्मित की गई हैं। किले का दूसरा छोटा-सा दरवाजा अमरसिंह दरवाजा कहलाता है। दर्शक किला देखने के लिए इसी द्वार से प्रवेश करते हैं। इस दरवाजे की बनावट में कोई कलात्मकता नहीं है। इस किले की चहारदीवारी के भीतर अकबर ने 500 से भी अधिक इमारतें लाल पत्थर की बनवाई थीं। इनमें बहुतों को शाहजहाँ ने गिरवाकर उनके स्थान पर सफेद संगमरमर के मण्डप बनवा दिये। किले के अन्दर अकबर के समय बनवाई गई सबसे महत्त्वपूर्ण इमारतें अकबरी महल और जहांगीरी

महल हैं। ये महल लाल पत्थर के बने हुए हैं। जहांगीर महल हिन्दू डिजाइन का है और इसमें सजावट भी हिन्दू ढंग की ही है। अकबरी महल में सजावट का काम नहीं है। आगरे के किले की रूपरेखा मानसिंह द्वारा बनवाये गये ग्वालियर के किले से मिलती-जुलती है। अकबर द्वारा बनवाया गया लाहौर का किला भी लगभग आगरे के किले के समान ही है। लाहौर के किले की इमारतें आगरे के किले के जहांगीरी महल के समान ही हैं। उनमें केवल थोड़ा-सा अन्तर यह है कि लाहौर के किले की सजावट आगरा के किले की अपेक्षा अधिक और घनी है। तोड़ों में हाथी और सिंहों की मूर्तियाँ और छत के नीचे कारनिस में मोरों के चित्रों को देखकर यह अनुमान किया जाता है कि इसके शिल्पकार अधिकतर हिन्दू थे और मुगल निरीक्षक का दृष्टिकोण सहिष्णुतापूर्ण था।

अकबर की शिल्पकला की सबसे बड़ी सफलता उसकी नई राजधानी फतेहपुर सीकरी की सुन्दर इमारतों में है। अबुल फजल ने लिखा है, "चूँकि उसके (अकबर) श्रेष्ठ पुत्रों (सलीम और मुराद) ने सीकरी में जन्म लिया था और शेख सलीम (एक मुस्लिम सन्त जिसके आशीर्वाद से सलीम का जन्म हुआ था) की दिव्य ज्ञान युक्त आत्मा उनमें प्रवेश कर गई थी, इसलिये अकबर के पवित्र हृदय में इस आध्यात्मिक वैभव से परिपूर्ण स्थान को भौतिक वैभव प्रदान करने की इच्छा थी .... (इसलिये) आदेश हुआ कि प्रमुख कारीगर बादशाह के निजी इस्तेमाल के लिए उच्च अट्टालिकाओं का निर्माण करें।" अकबर की यह नई राजधानी आगरा के पश्चिम में 26 मील की दूरी पर स्थित है, जिसके निर्माण में लगभग ग्यारह वर्ष लगे थे (1569-1580 ई.)। फ़तेहपुर सीकरी की इमारतों में दीवाने खास, दीवाने आम, पंचमहल, मरियम का महल, जोधाबाई और बीरबल के महल मुख्य हैं। चहारदीवारी के बाहर जामा मस्जिद के फाटक का ऊँचा मेहराब है जो बुलन्द दरवाजे के नाम से प्रसिद्ध है। मस्जिद के भीतर शेख सलीम चिश्ती की दरगाह बनी हुई है। यहाँ की अधिकांश इमारतें हिन्दू-मुस्लिम मिश्रित कला के द्वारा बनी हैं, किन्तु हिन्दू शैली की प्रधानता है। इनमें से कुछ की सजावट, जैसे दीवाने खास में लगे हुए खम्भों की शोभा बढ़ाने वाले तोड़े, पंचमहल और जोधाबाई के महल में लगे हुए उभरे घण्टे तथा जंजीर और मरियम के महल में पत्थर खोदकर बनाये गये पशुओं के चित्र आदि हिन्दू तथा जैन मन्दिर की ही नकल हैं। संगमरमर और लाल पत्थर का बना हुआ बुलन्द दरवाजा स्वयं ही एक पूरी इमारत है, जो शिल्पकला की दृष्टि से वैसा देश में अन्यत्र कहीं नहीं है। यह इमारत भारतीय बौद्ध स्थापत्य शैली पर बनी हुई है। शेख सलीम चिश्ती का मकबरा फतेहपुर सीकरी की एक ऐसी इमारत है जिसमें केवल संगमरमर का प्रयोग किया गया है। पर्सी ब्राउन तथा स्मिथ का कहना है कि अकबर के समय यह इमारत लाल पत्थर की बनी थी, लेकिन जहाँगीर और शाहजहाँ ने बिना इसके डिजाइन में परिवर्तन किये इसे संगमरमर की इमारत में बदल दिया था। डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव ने लिखा है कि, "फतेहपुर सीकरी की स्थापत्य कला की शैली भारतीय प्राचीन संस्कृति में विभिन्न तत्त्वों को समन्वित करने और मिलाने की अकबर की नीति को ही जैसे पाषाण रूप में प्रस्तुत करती है।" वास्तव में "फतेहपुर सीकरी उस महान् व्यक्ति के, जिसने कि इसे बनाया था, मस्तिष्क की प्रतिच्छाया है।" अकबर के काल की इस समन्वित स्थापत्य शैली को डॉ. श्रीवास्तव ने "राष्ट्रीय स्थापत्य कला शैली" कहा है।

फतेहपुर सीकरी के अतिरिक्त अकबर ने अटक का किला, मेड़ता और अजमेर की मस्जिदें तथा अन्य स्थानों में किले इत्यादि अनेक सुन्दर इमारतें बनवाई थीं। सिकन्दरे में

अकबर का जो मकबरा है उसका नक्शा स्वयं अकबर ने बनाया था और बाद में उसके पुत्र ने उसे पूरा करवाया था। अकबर ने स्थापत्य की जो नई शैली विकसित की उसका प्रभावन सारे देश पर और राजस्थान के राजपूत राजाओं पर पड़ा। अकबर के शासनकाल में अजमेर, बीकानेर, जोधपुर, आमेर, ओरछा और दतिया में जो महल बने, उन पर मुगल कला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। यहाँ तक कि हिन्दुओं के मन्दिर भी इस शैली के प्रभाव से नहीं बच सके।

जहाँगीरकालीन इमारतें—जहाँगीर की रुचि शिल्पकला की अपेक्षा छोटी चित्रकारी और बागवानी में अधिक थी, अतः इस काल में बहुत कम इमारतें बनीं। जो इमारतें बनीं उनमें शिल्पकला का उत्कृष्ट रूप नहीं था। जहाँगीर के काल में नूरजहाँ द्वारा बनवाया गया एतमादुद्दौला का मकबरा उस काल की इमारतों में सबसे अच्छा है। यह सफेद संगमरमर का बना हुआ है और संगमरमर के टुकड़ों के बराबर कीमती पत्थर लगे हुए हैं। इनमें नक्काशी या पच्चीकारी का काम अत्यन्त सुन्दर है। यह मकबरा अकबर और शाहजहाँ की शैलियों को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में माना जा सकता है। जहाँगीर के काल की दूसरी उल्लेखनीय इमारत सिकन्दरे में अकबर का मकबरा है। यद्यपि इसका नक्शा अकबर ने तैयार किया था, किन्तु इसका निर्माण जहाँगीर की देखरेख में हुआ था। इस इमारत से अकबर और उसके विलासप्रिय पुत्र की अभिरुचि का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। अकबर की ठोस और विशाल इमारतों की तुलना में यह इमारत आडम्बरपूर्ण तथा नाजूक शैली में बनी है। मुसलमानों के सभी मकबरों में गुम्बद बनाने की प्रथा प्राचीन समय से प्रचलित थी, लेकिन इस मकबरे पर कोई गुम्बद नहीं है और इसकी बनावट बौद्ध विहार जैसी है। इसलिए कुछ आलोचकों का कहना है कि यह कट्टर मुसलमानी ढंग का मकबरा नहीं है। इसके मुख्य प्रवेश-द्वार पर सुन्दर जड़ाऊ काम किया हुआ है तथा इसके चारों कोनों पर सफेद संगमरमर की सुन्दर मीनारें इसकी सुन्दरता में वृद्धि करती हैं। लाहौर के पास शाहदरा में जहाँगीर का मकबरा उसकी बेगम नूरजहाँ ने बनवाया था, जिसका नक्शा स्वयं जहाँगीर ने बनाया था। इसके ऊपर संगमरमर का एक मण्डप था जिसे बाद में सिक्खों ने उतार लिया था। इसका भीतरी भाग संगमरमर की पच्चीकारी से सुशोभित है। चिकने और रंगीन खपरैल इसकी सुन्दरता को अधिक बढ़ा देते हैं।

स्थापत्य कला का स्वर्ण-काल—शाहजहाँ का शासनकाल मुगल स्थापत्य का चरमोत्कर्ष काल था, इसीलिए शाहजहाँ को 'निर्माताओं का प्रिन्स' कहा जाता है। शाहजहाँ ने अकबरकालीन हिन्दू शैली को त्याग कर पुनः फारसी शैली को अपनाने का प्रयास किया था। शाहजहाँ संगमरमर की इमारतें बनवाना अधिक पसन्द करता था, क्योंकि सांभर के पास मकराना की खानों में संगमरमर असीम मात्रा में मिल रहा था। आगरा के किले में जहाँगीरी महल के उत्तर में बहुत-सी इमारतें बनवाई थीं, किन्तु शाहजहाँ ने उनको गिरवाकर उनके स्थान पर दीवाने आम, दीवाने खास, खास महल, शीश महल, मुसम्मनबुर्ज, मच्छी भवन और मोती मस्जिद इमारतें बनवाई थीं। दीवाने आम एक खुली विशाल इमारत है, जिसमें दुहरे खम्भों की 40 कतारें हैं और ये खम्भे संगमरमर की सुन्दर मेहराबों से जुड़े हुए हैं। दीवाने खास भी संगमरमर की एक आयताकार इमारत है, जिसके खम्भों और मेहराबों पर सुन्दर खुदाई व जड़ाई का काम है तथा दीवारें उभरे हुए फूलदानों, फूलों व पत्तियों से सुसज्जित हैं। मोती मस्जिद आगरा के किले की सबसे सुन्दर इमारत है। इसके चारों ओर

एक सुन्दर गैलेरी और खम्भोंदार बरामदा है। मस्जिद के सामने एक सुन्दर फव्वारा है। इसमें अनेक कमरे बने हुए हैं जिन्हें संगमरमर के जालीदार पर्दों से एक-दूसरे से अलग कर दिया गया है। मोती मस्जिद शिल्प कला के श्रेष्ठ सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है।

1638 ई. में शाहजहाँ ने दिल्ली के पास शाहजहांबाद नामक एक नगर की नींव डाली थी। वहां पर एक किला बनवाया जो लाल किले के नाम से विख्यात है। इस किले के भीतर सफेद संगमरमर की सुन्दर-सुन्दर इमारतें बनवायी गई हैं; जिनमें मोती महल, हीरा महल और रंग महल विशेष उल्लेखनीय हैं। दीवाने आम और दीवाने खास आदि सरकारी इमारतों के अतिरिक्त नौबतखाना, शाही निवास, नौकरों के निवास आदि भी बने हुए हैं। हर महल के सामने फूलों की क्यारियों से सिंचाई के साधनों तथा अलंकृत फव्वारों से सुशोभित बाग थे। दीवाने खास का तो अलंकरण आगरा की इमारतों से बहुत आगे हैं। रंग महल बादशाह का निजी निवास था, जिसे अत्यन्त ही शोभायमान बनाया गया है। इसमें पर्दे के लिये संगमरमर की जालियों का प्रयोग किया गया है तथा दीवारों पर चमकीले शीशों को जड़कर आंखों को चकाचौंध उत्पन्न करने वाला प्रभाव उत्पन्न किया गया है।

शाहजहाँ ने किले के पास ही दिल्ली की प्रसिद्ध जामा मस्जिद बनवाई थी, जो बड़ी सुन्दर और शाही ढंग की इमारत है। किन्तु आगरा का ताजमहल शाहजहाँ की इमारतों में सर्वश्रेष्ठ है। इसे शाहजहाँ ने अपनी सर्वाधिक प्रिय बेगम मुमताज महल के प्रति गहरे प्रेम को अमर बनाने के लिए उसकी कब्र पर अद्वितीय सुन्दर मकबरा बनवाया। यह विश्व के सात आश्चर्यों में से एक है। इतिहासकार स्मिथ का कहना है कि इसका निर्माण यूरोपियन तथा एशियाई कलाकारों ने किया, किन्तु अन्य इतिहासकार इससे सहमत नहीं हैं। सम्भवतः इसका मुख्य शिल्पकार एक तुर्क या फारसी उस्ताद इशा था, जिसे बड़ी संख्या में हिन्दू कारीगरों का सहयोग प्राप्त था। इसकी सजावट की प्रेरणा एतमादुद्दौला के मकबरे से ली गई प्रतीत होती है। इमारत की पूरी की पूरी योजना आयताकार है तथा चहारदीवारी से घिरा हुआ है, जिसके चारों कोनों पर चार चौड़े-चौड़े मेहराबदार मण्डप हैं। अहाते के भीतर एक वर्गाकार बाग है जिसके उत्तरी सिरे पर ऊंची कुर्सी पर सफेद संगमरमरी मकबरा है। मुख्य चबूतरे के चारों कोनों पर तिमंजिली मीनार ऊपरी छतरी सहित बनाई गई है। पूरा का पूरा ताजमहल बनावट, शैली और कारीगरी में भारतीय है। पूरी इमारत शुद्ध संगमरमर की बनी हुई है। इसकी अत्यन्त सुन्दर खुदाई और जड़ाई में भारतीय शिल्पकारों का असीम धैर्य और कौशल स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। यह एक उत्तम संगमरमर से बनाया गया है कि प्रकाश बदलने के आश्चर्यजनक रूप में विविध हल्के रंगों की छायायें और आभायें आ जाती हैं। ताजमहल को देखने से लगता है कि पत्थर के शिल्पकार की छैनी का स्थान अब संगमरमर करने वाले और पोलिश करने वाले के बारीक औजारों ने ले लिया था। मेहराबों की बनावट में भी परिवर्तन महत्त्वपूर्ण था। लगभग सभी मेहराबें पत्तियोंदार या नौकदार हैं। हावेल के अनुसार यह, "भारतीय स्त्री जाति का देवतुल्य" स्मारक है। सुन्दर बाग और अनेक फव्वारों के मध्य स्थित ताज एक काव्यमय रोमाण्टिक सौन्दर्य का सृजन करता है। वस्तुतः ताजमहल दाम्पत्य प्रेम का प्रतीक और कला प्रेमियों का मक्का बन गया है।

पतनोन्मुख स्थापत्य कला—शाहजहाँ की मृत्यु के बाद मुगल स्थापत्य कला का पतन आरम्भ हो गया। औरंगजेब को कला के प्रति कोई रुचि नहीं थी। अतः उसने बहुत ही

कम इमारतें बनवाई और जो बनवाई वे बहुत ही साधारण थीं। लाल किले में मोती मस्जिद, लाहौर में जामा मस्जिद व बादशाही मस्जिद औरंगजेब द्वारा बनवाई गई मुख्य इमारतें हैं, लेकिन शिल्पकला की दृष्टि से बड़ी भद्दी हैं। औरंगाबाद के पास अपनी पत्नी रबिया-उद-दौरानी का मकबरा बनवाया, जिसमें ताजमहल की नकल करने का असफल प्रयास किया है। इस प्रकार औरंगजेब के काल में मुगल स्थापत्य कला पतनोन्मुख हो गयी और 18वीं शताब्दी के अन्त में तो वह मृतप्रायः हो गयी। सही रूप में मुगल-स्थापत्य कला अकबर के राज्य-कला से विकसित होकर शाहजहाँ के काल में अपनी उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच गई और औरंगजेब के काल में वह पतनोन्मुख होकर पतन के गर्त में जा गिरी।

राजपूत चित्रकला

राजस्थानी चित्रकला का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रहा है और भारतीय चित्रकला के इतिहास में भी इसका अपना विशिष्ट स्थान है। राजस्थानी चित्रकला अनेक राजपूत शैलियों का सम्मिलित रूप है। इन शैलियों में मेवाड़, मारवाड़ किशनगढ़, जयपुर, अलवर, बीकानेर, कोटा, बून्दी, नाथद्वारा आदि शैलियाँ मुख्य हैं।

आहड़, बैराठ, रंगमहल आदि स्थानों पर की गई खुदाई से प्राप्त सामग्री से यह प्रमाणित हो चुका है कि राजस्थान में चित्रकला की वैभवशाली परम्परा विद्यमान थी। सातवीं तथा आठवीं सदी के चित्रकारों ने अजन्ता चित्रकला शैली में स्थानीय मौलिक शैलियों को सम्मिलित कर राजस्थानी चित्रकला में एक नवीन परिवर्तन ला दिया। परन्तु दुर्भाग्यवश इस नवीन शैली के अधिकांश नमूने नष्ट हो चुके हैं। मंडोर द्वार के गोवर्धन धारण और वाडोली तथा नागदा गाँव की मूर्तिकला में इस नवीन शैली के चिह्न देखने को मिलते हैं। कुछ विद्वान् इस नवीन शैली को जैन शैली भी कहते हैं। क्योंकि अनेक जैन ग्रन्थ इसी शैली में चित्रित किये गये थे। ताम्रपत्र पर इस शैली के कुछ नमूने जैसलमेर भण्डार में उपलब्ध हैं। परन्तु आजकल इस शैली के नामकरण को लेकर काफी मतभेद हैं। कुछ विद्वान् इसे "गुजरात शैली" कहते हैं तो कुछ "पश्चिम भारतीय शैली" कहते हैं तो कुछ इसे "अपभ्रंश शैली" कहना पसन्द करते हैं। नाम कुछ भी रखें, सार की बात यह है कि यह शैली कई सदियों तक राजस्थान में पल्लवित होती रही। वस्तुतः राजस्थान और गुजरात की शैलियों में विशेष अन्तर नहीं रह गया था क्योंकि गुजरात के अनेक चित्रकार एवं कलाकार राजपूत राज्यों में आकर बस गये थे जो "सोमपुरा" कहलाते थे। सुप्रसिद्ध सूत्रधार मण्डन गुजराती था जो मेवाड़ में बस गया था।

15वीं सदी के उत्तरार्द्ध में राजस्थानी चित्रकला के इतिहास में एक नया मोड़ आया। यद्यपि गुजरात या जैन शैली का प्रभाव तो यथावत् बना रहा, लेकिन अब अनुपात से बड़ी आँखों का चित्रण, जो जैन शैली की एक मुख्य विशेषता थी, तो त्याग दिया गया। अब तत्कालीन वेशभूषा दर्शायी जाने लगी, दैनिक जीवन के चित्र बनने लगे तथा भिन्न-भिन्न रंगों का प्रयोग कर चित्र को रंग-बिरंगा बनाया जाने लगा। अब प्राकृतिक दृश्यों के चित्रांकन पर भी अधिक ध्यान दिया जाने लगा। अभी तक केवल हिन्दू तथा जैन ग्रन्थों को ही चित्रित किया जाता था, परन्तु अब फ़ारसी ग्रन्थों को भी स्थानीय चित्रकारों से चित्रित करवाया जाने लगा। अब गैर-धार्मिक ग्रन्थों को भी चित्रित करने का प्रचलन आरम्भ हो गया। यद्यपि इस काल में गुजरात अथवा जैन शैली की प्रधानता बनी रही तथापि कुछ नवीन तत्त्वों का

समावेश भी हुआ। पुरुप आकृति को अब कूल्हा पगड़ी (फैली हुई) पहने हुए दिखाया जाने लगा। अतः इस श्रेणी के चित्रों को "कूल्हेदार समूह" के चित्र कहा जाने लगा। कुछ विद्वान् इन चित्रों को मेवाड़ी चित्रों की श्रेणी में रखते हैं। क्योंकि मेवाड़ के लघु चित्रों में पगड़ी पहले से ही प्रदर्शित की जाती रही है। कार्ल खण्डालवाला इस प्रकार के चित्रों को "लोदी शैली" का मानते हैं जो 1526 ई. तक कुछ न कुछ अंशों तक प्रचलित रही थी।

मुगल चित्रकला का प्रभाव—अकबर के साथ राजपूत शासकों के बढ़ते हुए सम्पर्क ने राजस्थान की चित्रकला को भी प्रभावित किया और उस पर धीरे-धीरे मुगल चित्रकला शैली का प्रभाव परिलक्षित होने लगा। 1567 ई. में अकबर ने अपने दरबारी चित्रकारों—मीर सैयद अली व अब्दुस्समद को "हमजानामा" ग्रन्थ चित्रित करने का काम सौंपा। इस प्रयोजन में 1400 बड़े आकार के कपड़ों पर चित्र बनाने थे। अतः राजपूत राज्यों सहित मुगल साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों के श्रेष्ठ चित्रकारों को इस कार्य के लिए बुलाया गया। 1582 ई. में कार्य पूरा हो गया और सभी चित्रकार अपने-अपने राज्यों में वापस चले गये। लेकिन लम्बे समय तक मुगल दरबार में ईरानी चित्रकारों के निर्देशन में कार्य करने से उन्होंने चित्रकला के नये तत्त्व ग्रहण कर लिये थे, जिनका प्रयोग उन्होंने अपने राज्य में बनाये जाने वाले चित्रों में किया। यद्यपि आरम्भ में उन चित्रों पर भी गुजरात शैली तथा लोदी शैली की प्रधानता बनी रही परन्तु ज्यों-ज्यों राजपूत राजाओं का मुगल दरबार के साथ सहयोग बढ़ता गया त्यों-त्यों राजस्थानी चित्रकला पर मुगल शैली का प्रभाव भी बढ़ता गया। परिणाम यह निकला कि अब गुजरात एवं लोदी शैली का प्रभाव क्षीण होने लगा और चित्रों को बनाने में मुगल तकनीक का अधिक रुचिपूर्वक प्रयोग किया जाने लगा। इसलिए प्रो. हीरेन मुकर्जी तथा कुछ अन्य विद्वानों ने यहाँ तक कह दिया है कि राजपूत शैली का जन्म मुगल चित्रकला शैली में हुआ है। परन्तु इस प्रकार के कथन आधारहीन एवं भ्रान्तिपूर्ण हैं। क्योंकि इस काल में मुगलों के राजनीतिक प्रभाव के उपरान्त भी राजपूत राजाओं की सांस्कृतिक रुचि में कोई विशेप परिवर्तन नहीं आ गाया था। अतः राजस्थानी चित्रकला, अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रख सकी। इस सम्बन्ध में कार्ल खण्डालवाला ने बीकानेर में उपलब्ध इसी काल के कुछ चित्रों का उल्लेख करते हुए स्पष्ट लिखा कि यद्यपि ये चित्र मुगल शैली के काफी निकट प्रतीत होते हैं; फिर भी ये चित्र स्थानीय विशेषताओं के कारण मुगल शैली से भिन्न हैं और अपना स्वतन्त्र अस्तित्व प्रकट करते हैं।

परन्तु समय के साथ-साथ राजस्थानी चित्रकला मुगल शैली के प्रभावान्तर्गत विकसित होने लगी। मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह ने 1605-06 ई. में चावण्ड में "रागमाला" चित्रित करने के लिए नासिरुद्दीन नामक एक मुस्लिम चित्रकार को आमंत्रित किया था। इस समय के बने "रागिनी" और "भागवत" चित्रों में चमकदार रंगों, चेहरों की कोणीयता और वेशभूपा की दृष्टि से गुजरात शैली और मुगल शैली दोनों का प्रभाव देखा जा सकता है। नई परिवर्तित शैली में स्थानीय विशेषताएँ सम्मिलित होने के कारण 17वीं और 18वीं शताब्दी में राजस्थान में मेवाड़, मारवाड़, बून्दी, कोटा, बीकानेर, सिरोही, जैसलमेर, आमेर और बाद में जयपुर आदि राज्यों में नई शैलियाँ विकसित होने लगीं। कार्ल खण्डालवाला ने 17वीं और 18वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल को राजस्थानी चित्रकला का स्वर्ण युग कहा है और इसके बाद, यद्यपि इस क्षेत्र में कुछ अच्छे चित्रों की रचना भी हुई परन्तु कुल मिलाकर चित्रकला पराभव की ओर अग्रसर होने लग गई थी।

पराभव के इस काल में भी यत्र-तत्र अपवाद दिखाई देता है। किशनगढ़ का महाराजा सांवतसिंह (1699-1764 ई.) जो हिन्दी काव्य साहित्य में नागरी दास के नाम से विख्यात हैं, न केवल उच्चकोटि का कवि और कला का संरक्षक ही था, बल्कि वह स्वयं भी एक दक्ष चित्रकार था। महाराजा के संरक्षण और निर्देशन में निहालचन्द नामक चित्रकार ने 1737 ई. से 1760 ई. तक कार्य किया था। सांवतसिंह और निहालचन्द द्वारा निर्मित उच्चकोटि के चित्रों से एक स्वतन्त्र चित्रकला शैली का विकास हुआ जिसने कला-जगत में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया। इसी प्रकार , 1628-53 ई. के काल में मेवाड़ में साहेबदीन नामक मुस्लिम चित्रकार की शैली की धूम मची रही। वह कुछ समय तक मुगल दरबार के चित्रकारों के निर्देशन में कार्य कर चुका था और इस कार्य में पूर्ण दक्षता प्राप्त करने के बाद मेवाड़ में आ बसा था। अत: उसके द्वारा बनाये गये चित्रों में मुगल शैली के प्रभाव के साथ-साथ एक नवीन शैली के दर्शन होते हैं, जो समय के साथ-साथ विकसित होती गई। भागवत पुराण, रामायण, रागमाला, गीत गोविन्द आदि ग्रन्थों के चित्रण में इस शैली के दर्शन होते हैं। 1740 ई. के आस-पास चित्रित ग्रन्थ महाभारत जिसमें लगभग 3,000 चित्र हैं, के चित्रण में भी इसी शैली का उपयोग किया गया, परन्तु इन चित्रों में साहेबदीन के समय के विशिष्ट लक्षण और आभा दिखाई नहीं देती।

मेवाड़ी चित्रकला शैली ने राजस्थान के लगभग सभी चित्रकला केन्द्रों को कम या अधिक मात्रा में प्रभावित किया, लेकिन इस प्रभाव के अन्तर्गत प्रत्येक राज्य ने अपनी स्वयं की शैली को भी विकसित किया। बून्दी शैली के चित्रों में हम पेड़, पत्तियों के गुच्छे, बहते हुए पानी, पानी के जीव-जन्तु, स्थापत्य का प्रदर्शन करते हुए टाइल्स की दीवारें और फर्श आदि की प्रधानता देखते हैं। स्त्रियों की आकृतियों में उनका चेहरा छोटा और गोलाकृति में मस्तिष्क अपनी विशेषताएँ लिए हुए हैं। 1760 ई. के बाद बून्दी के चित्रों में मुगल प्रभाव अधिकाधिक दिखाई देने लगता है, जिनमें चेहरे पर अत्यधिक गहरा रंग और ऐसे विषय जिन पर मुगल शैली में चित्र बनते थे, जैसे लैला-मजनूं के प्रणय चित्र आदि। विषयों और आकृतियों की दृष्टि से बून्दी और कोटा के चित्रों में भेद करना अत्यन्त कठिन है, लेकिन 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कोटा की चित्रकला में शिकार के दृश्यों की प्रधानता दिखाई देती है। बून्दी और कोटा दोनों की चित्रकला में हाथियों के लड़ाई के चित्र आमतौर पर प्रचलित थे। बीकानेर में बने चित्रों में मुगल शैली की प्रधानता है। इसका मुख्य कारण यह है कि बीकानेर के मुख्य चित्रकारों में मुसलमानों की प्रधानता बनी रही। लेकिन बीकानेर के चित्र भी अपनी स्वयं की कुछ विशेषताएँ लिए हुए हैं। सिरोही की चित्रकला में मेवाड़ी शैली का प्रभाव अधिक दिखाई देता है; लेकिन चित्रों की रंग-योजना मेवाड़ी शैली से कहीं अधिक समुन्नत है। मारवाड़ राज्य में प्रारम्भिक चित्रकला अधिक प्रभावशाली दिखाई देती है। उदाहरणार्थ, जोधपुर दुर्ग में चोकेलाव महल में मालदेव के काल में बने राम-रावण युद्ध के दृश्य अत्यधिक प्रभावशाली हैं। 1624 ई. के आस-पास पाली में चित्रित रागमाला भी इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके बाद मारवाड़ की चित्रकला और भी अधिक समृद्ध हुई। इस प्रकार, राजस्थान में प्रत्येक राज्य ने अपनी स्वयं की शैली विकसित की। उनकी स्वयं की अपनी अलग पहचान है तथा उनकी अपनी रंग-योजना है, जिससे वे अपना अलग अस्तित्व प्रकट करती हैं।

18वीं सदी में मुगल साम्राज्य तेजी के साथ पतन की ओर अग्रसर होने लगा और राजपूत राजाओं ने भी पहले की भाँति दरवार में उपस्थिति देना बन्द कर अपनी राजधानियों को वापस लौट आये। उधर जब कलाकारों और चित्रकारों को दिल्ली दरबार का संरक्षण मिलना बन्द हो गया तो वे भी अपनी जीविका की तलाश में राजपूत राजाओं के दरबार में जा पहुँचे, जहाँ उन्हें आश्रय प्रदान किया गया। यह समय ऐश्वर्य के साथ-साथ विलासिता का भी था। राजपूत राजाओं का आश्रय पाकर मुगल दरवार से आये चित्रकारों ने समय की गति को पहचानकर राजस्थानी चित्र शैली को नूतन स्वरूप प्रदान किया, जिसमें ऐश्वर्य और विलास-वासना का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इस प्रभाव के फलस्वरूप अब चित्रों के विषय में परिवर्तन आ गया। अब शासकों के ऐश्वर्यपूर्ण तथा विलासी जीवन के दृश्यों पर जोर दिया जाने लगा जैसे कि शासक को अपने दरबारियों के साथ चित्रित करना, शासक के शिकार के दृश्य, दरवार में संगीत और नृत्य के आयोजन के दृश्य और शृंगार विषयों की प्रधानता। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार के चित्रों की प्रेरणा मुगल चित्रकला से ली गई थी। 18वीं शताब्दी के अन्त तक राजस्थानी चित्रकला में मुगल शैली पूरी तरह से विलीन हो चुकी थी। अत: इस काल के बने चित्रों में मुगल शैली को ढूँढ़ना प्राय: असम्भव हो गया, जिससे इस काल के चित्रों में राजस्थानी शैली का विशुद्ध रूप दिखाई देने लगा। तत्कालीन युग के राग-रंग और ऐश्वर्य विलास प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब तब के चित्रों में भी स्पष्ट दिखाई पड़ता है। कृष्ण-लीला तथा राधा-कृष्ण सम्बन्धी धार्मिक चित्रों में भी मानवीय कामुकता का ही चित्रण होता था। इन चित्रों में पूरी-पूरी राजकीय तड़क-भड़क एवं अत्यधिक अलंकरण पाया जाता है। चित्रकला की यह प्रवृत्ति केवल राजस्थानी शासकों तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि इसका विस्तार इस सीमा तक हो गया कि प्रत्येक महत्त्वपूर्ण सामन्त अपनी जागीर की हवेली में चित्रकारों को आश्रय देने लगा। ऐसे सामन्तों में घाणेराव, देवगढ़, उणियारा, शाहपुरा, बदनोर, सलूम्बर, कोठारिया आदि प्रमुख थे। इनमें से कुछ जागीरों की चित्रकला पर अभी भी शोध कार्य चल रहा है।

19वीं सदी के प्रारम्भ में राजस्थानी शैली में बने चित्रों में भाव-चित्रण की दृष्टि से निर्जीवता आने लगी। इस काल में राजपूत राज्यों पर ब्रिटिश अंकुश बढ़ता गया। अंग्रेजों को भारी खिराज तथा सैन्य व्यय चुकाने के फलस्वरूप शासकों की आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी जिससे सांस्कृतिक गतिविधियों को गहरा धक्का लगा। इस बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति के कारण चित्रकारों को भी पर्याप्त प्रोत्साहन नहीं मिल पाया जिससे उनकी आर्थिक स्थिति पर भी बुरा प्रभाव पड़ा। अत: चित्रकारों ने भी अपनी आजीविका हेतु व्यावसायिक चित्रकला को अपना लिया। इससे न केवल परम्परागत विकास का मार्ग ही अवरुद्ध हो गया अपितु चित्रकला की आत्मा भी मर गई। फिर भी, यत्र-तत्र रजवाड़े अपनी-अपनी शैलियों को जीवित रखने में समर्थ रहे। लेकिन इसे अपवाद ही कहना होगा। व्यावसायिक चित्रकला में अब आम जनता के जनजीवन को प्रदर्शित किया जाने लगा; जिसमें मात्र छिछलापन ही अधिक दिखाई देता है। हाँ, कुछ व्यक्तिगत चित्रों के निर्माण में अवश्य ही परम्परागत सौन्दर्य के दर्शन हो उठते हैं।

राजपूत चित्रकला की विभिन्न शैलियाँ

मेवाड़ शैली—मेवाड़ के क्षेत्र में चित्रकला का उद्‌भव तो मानव सभ्यता के प्रथम चरण के साथ ही हो गया, परन्तु 11वीं शताब्दी तक उसके विकास की विभिन्न कड़ियों को खोज निकालना दुष्कर कार्य है। केवल इतना कहा जा सकता है कि इससे पूर्व गुजरात के कई चित्रकारों ने अजन्ता शैली के आधार पर विभिन्न राजघरानों के आश्रय में अनेक चित्र बनाये थे जिनमें से अधिकांश अब लुप्तप्रायः हैं। परन्तु बाद के काल में बने चित्रों से मेवाड़ की चित्रकला का विकास आसानी से समझा जा सकता है। 1260 ई. का "श्रावकप्रतिक्रमणं सूत्रचूर्णि" और 1423 ई. का "सपासनाचार्यम्" ग्रन्थों के चित्र तत्कालीन चित्रशैली पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। पोशाकों और आभूषणों में अजन्ता परम्परा तथा गुजरात की जैन शैली का सामंजस्य स्पष्ट दिखाई देता है। इस शैली की मुख्य विशेषताएँ थीं—गरुड़ जैसी लम्बी नाक, कौड़ी सी फटी आँखें, जिसमें एक आँख चेहरे की सीमा से बाहर अधर में लटकी हुई, घुमावदार लम्बी अंगुलियाँ, चटकदार सीमित (लाल, पीला, काला) रंग, छाया और प्रकाश का नितान्त अभाव आदि-आदि। पुरुष आकृतियों में उसका विशाल वक्ष व शेर के समान कटि बनाई गई है और स्त्री-आकृतियों में उसकी उभरी हुई गोल छातियाँ, तीखी नाक व छोटी ठुड्डी दिखाई गई है।

16वीं सदी के अन्त में इस शैली में धीरे-धीरे परिवर्तन आता गया। अब चेहरे में सुघड़ता आने लगी। फटी-फटी आँखें मीनाक्षी हो गयीं और अधर में लटकी हुई आँख लुप्त हो गई; रंगों में विविधता आ गई; आकृतियों का भवात्मक आधार पर रूपान्तर किया जाने लगा, अंगुलियाँ नेत्रों के समान वाचाल हो गई और आँखें मछली के समान हो गई। इन चित्रों में पेड़-पौधों का आलेखन अलंकरण स्वरूप हुआ है। आम और ताड़ के वृक्ष परम्परागत ढंग के हैं; जानवरों और पक्षियों की आकृतियाँ यथार्थ से काफी भिन्न हैं। आदमी की वेशभूषा में टखने तक धोती, कंधे पर उत्तरीय, (बाद में पारदर्शक चटकदार जामा) भिंचा हुआ पायजामा, कूल्हेदार टोपी अथवा पगड़ी दिखाई देती है। औरतें घाघरा, बारीक कलफदार ओढ़नी, नाभि के ऊपर चिपकी हुई चोली, कर्णफूल, गले में हार, हाथों में चूड़ियाँ, भुजबन्द से लटकते हुए फुँदे व चोटियों में गुँथे मोती व फूलमालाएँ आदि पहने हुए चित्रित की गई हैं। नदी बल खाती रेखाओं की आकृति द्वारा बनाई गई है, जिसमें कहीं-कहीं मछलियाँ या कमल तैरते हुए दिखाई देते हैं। लाल रंग की पृष्ठभूमि में नीले, पीले, हरे और काले रंग की रूपाकृतियाँ उभारी गई हैं। बादल गोलाकार दर्शाये गये हैं। कहीं-कहीं स्वर्ण रंग का भी प्रयोग किया गया है, जो फारसी प्रभाव को सूचित करता है।

17वीं सदी में आते-आते मेवाड़ की अपनी एक शैली विकसित हो चुकी थी। महाराणा अमरसिंह द्वारा 1605 में चातण्ड में तैयार करवाया गया, 'रागमाला' के चित्रों का सेट इसका प्रमाण है। इन चित्रों में अत्यन्त चटकदार रंगों का प्रयोग हुआ है तथा इसकी कोणनुमा आकृतियाँ गुजरात शैली के प्रभाव को स्पष्ट करती हैं। 1615 ई. में मेवाड़ ने भी मुगलों के साथ समझौता कर लिया था और इसके बाद मेवाड़ी शैली में भी मुगल शैली की

विशेषताओं का समन्वय होना शुरू हो गया। राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित 1640 के आसपास बने नायिका भेद के चित्र इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं। मध्यकाल में भक्ति और प्रेम की जो धारा प्रवाहित हुई, उसका प्रतिविम्ब भी मेवाड़ शैली के चित्रों में देखने को मिलता है। महाराणा जगत सिंह का काल (1628-52 ई.) इस दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण रहा। इस काल में राधा-कृष्ण चित्रों के केन्द्रविन्दु बने रहे। भागवत पुराणों की अनेक प्रतियाँ चित्रित की गई जिनमें साहेबदीन द्वारा चित्रित भागवत पुराण बहुत ही अच्छी है। रामायण भी मेवाड़ी चित्रकारों का प्रिय विषय रहा। 1649 ई. में मनोहर नामक चित्रकार ने रामायण की प्रति को चित्रित किया जो आज भी सुरक्षित है। इसी प्रकार, 1651 ई. में ''*आर्य रामायण*'' की प्रति को चित्रित किया गया। इन प्रतियों के चित्रों से स्पष्ट हो जाता है कि राजस्थानी और मुगल शैली किस सीमा तक एक-दूसरे से घुलमिल गई थीं। औरतों की वेशभूषा और चमकदार रंग मेवाड़ी शैली के हैं, परन्तु रूपाकृतियाँ और स्थापत्य मुगल शैली के हैं। इसी शैली के अन्तर्गत केशव की रसिकप्रिया का चित्रांकन हुआ है जिसमें नायक-नायिका की मानसिक अवस्थाओं का बड़ा मार्मिक अंकन हुआ है।

महाराणा जगतसिंह के काल में बने चित्रों की विशेषताएँ हैं—सफेद, लाल, पीले, हरे, गुलावी, काले और लाजवर्द (एक प्रकार का नीला रंग जो फारस से भारत आया था) रंगों का चटकदार प्रयोग, समतल एकरंगीय पृष्ठभूमि में विविध विरोधाकृत रंगों से उभरती कलाकृतियाँ, स्त्रियों व पुरुषों की भारी नाक, अण्डाकार चेहरे, मछली की सी आँखे, पतले बदन व लम्बी आकृतियों वाले पुरुष, ठिगनी आकृतियों वाली स्त्रियाँ आदि-आदि। पुरुषों की वेषभूषा में सादा गोल घेरदार जामा, स्त्रियों की विशेभूषा में फूल-बूँटों से सज्जित छींट के लहँगे, फँसी हुई छोटी चोलियाँ पारदर्शक चिपकी ओढ़नी दिखाई गई है। 1652 ई. में जगतसिंह की मृत्यु हो गई और उसके उत्तराधिकारियों—राजसिंह (1652-80 ई.) और जयसिंह (1680-98 ई.) के काल में उपर्युक्त शैली अपनी उन्नति के शिखर पर पहुँच जाती है। अब इस शैली में मुगल शैली का ठाठ अधिक बढ़ता चला गया। इसकी पुष्टि इस काल में चित्रित ग्रन्थों—गीत गोविन्द, रागमाला, वारहमासा, कादम्बरी, एकादशी महात्म्य आदि से होती है। इन चित्रों में शृंगार की प्रधानता होते हुए भी तत्कालीन समाज की झाँकी दिखाई देती है। इनमें पेड़-पौधों का चित्रण, मण्डप बनाना, दरवाजों पर पर्दों का प्रदर्शन और फर्श पर कालीन का चित्रण मुगल शैली की देन है। इसी प्रकार रंगों में चिकनाहट और चमक मुगल शैली के बढ़ते हुए प्रभाव को स्पष्ट करती है। 18वीं सदी में व्यक्ति-चित्र, दरवारी दृश्य, हरम की झाँकियाँ, सवारी और शिकार के नजारे अब मेवाड़ कलम के विषय बन गये। मेवाड़ की चित्रकला में भित्ति-चित्र शैली की समृद्ध परम्परा भी विकसित होती रही। महाराणाओं के पुराने महलों एवं सामन्तों की हवेलियों में भित्ति-चित्रों की श्रेष्ठ परम्परा को आज भी देखा जा सकता है।

मारवाड़ शैली—मेवाड़ की भाँति मारवाड़ की [redacted]कला भी बहुत प्राचीन है। परन्तु इसका वास्तविक विकास राव मालदेव (1531-62 ई.) [redacted] समय से ही हुआ। राव मालदेव ने चित्रकला को प्रोत्साहन दिया। उसकी रुचि जोधपुर [redacted] चोखेलाव महलों के चित्रों से

प्रकट होती है, जहाँ राम-रावण युद्ध तथा सप्तशती के दृश्यों को अत्यधिक सुन्दरता के साथ अंकित किया गया है। इन चित्रों की मुख्य विशेषताएँ थीं—भावों की अभिव्यक्ति, तना हुआ दृढ़ चेहरा, मछली की सी आँखें तथा गोलाकृति में पेड़-पौधों का चित्रण आदि आदि। मोटे राजा उदयसिंह (1583-95 ई.) ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली और तब से मारवाड़ की चित्रकला पर भी मुगल शैली का प्रभाव पड़ने लग गया। इस प्रभाव की प्रथम झलक 1610 ई. में चित्रित भागवत पुराण में मिलती है, जिसमें कृष्ण-अर्जुन की बहुवादी आकृतियाँ तो स्थानीय शैली की हैं परन्तु उनकी वेशभूषा मुगलों के समान है। इसी प्रकार गोपिकाओं के चित्रों में वेशभूषा तो मारवाड़ी दिखाई गई हैं, परन्तु आभूषण मुगलों के हैं। आगे चलकर "ढोला मारू" के चित्रों में मुगल शैली का प्रभाव अधिक हो गया। इन चित्रों में ढोला की पगड़ी जहाँगीरी शैली की है, जबकि सम्पूर्ण चित्र स्थानीय शैली की मौलिकता लिए हुए हैं। स्वयं महाराजा सूरसिंह का चित्र मुगल शैली के अधिक निकट का है जिसमें वेशभूषा मोम अथवा किसी सफेद धातु की बनी प्रतीत होती है। 1616-20 के काल में बना "विलाबिल रागिनी" नामक चित्र वैसे तो परम्परागत शैली का है परन्तु उसका स्थापत्य मुगल शैली का है। महाराजा गजसिंह के कुछ चित्र तो बिल्कुल मुगल शैली में बने हुए हैं।

महाराजा जसवन्तसिंह (1638-78 ई.) ने बहुत से मुगल कलाकारों को अपने दरबार में आमन्त्रित कर उन्हें आश्रय दिया। उसने स्थानीय चित्रकारों एवं कलाकारों को भी आश्रय प्रदान करके चित्रकला को प्रोत्साहन दिया। वस्तुतः जसवन्तसिंह को मुगल कला के प्रति अधिक मोह था। जसवन्तसिंह के बने कुछ चित्रों में मुगल शैली का प्रभाव स्पष्ट देखने को मिलता है। इन चित्रों में रंगों का चयन, आभूषणों की बनावट, वेषभूषा, पृष्ठभूमि के भवन, उद्यान की सजावट, हुक्का, शाही दरबार की पोशाक आदि सभी कुछ विशुद्ध मुगल शैली के अनुरूप है। अन्य चित्रों में भी इसी प्रकार का प्रभाव दृष्टिगत होता है लेकिन स्त्रियों की वेशभूषा मारवाड़ी है। इस समय में बने चित्रों के विषय विभिन्न हैं। उनमें तत्कालीन प्रचलित प्रेम-कथाओं के चित्रण तथा ढोला-मारू और सोहनी-महीवाल के साथ-साथ केशव और मतीराम की साहित्यिक कृतियों पर आधारित चित्र, विभिन्न ऋतुओं का चित्रण और रागमाला के अतिरिक्त धार्मिक विषयों को भी चित्रित करने का प्रयास किया गया है। चित्रों में लाल, पीले, काले, नीले और सुनहरे रंगों को प्रधानता दी गई है। इन चटकीले रंगों से यहाँ के चित्र बड़े चित्ताकर्षक प्रतीत होते हैं।

महाराजा अजीतसिंह (1708-54 ई.) के शासनकाल के अन्तिम वर्षों में मुगल शैली का प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया और मारवाड़ की चित्रकला में एकाएक ही मुगल हरम, फव्वारा, तुर्की स्नानागार आदि का चित्रण बहुलता से होने लगा। चित्रों के विषय तो स्थानीय ही बने रहे परन्तु प्रस्तुतीकरण पूर्णतया मुगल शैली में किया जाने लगा। फ़लस्वरूप धीरे-धीरे मारवाड़ी शैली की अपनी विशेषताएँ लुप्त होने लगी और वह मुगल शैली की अनुकृति मात्र रह गई। इसका प्रमाण 18वीं शताब्दी के मध्य में बना "शाही हरम" नामक चित्र है, जिसमें रंगों का संयोजन मात्र स्थानीय है, अन्यथा शेष सम्पूर्ण चित्र मुगल शैली की अनुकृति मात्र है। विजयसिंह के शासनकाल (1752-93 ई.) में भक्ति रस और शृंगार रस के चित्रों की

प्रधानता रही। मानसिंह के शासनकाल में भी चित्रकला को प्रोत्साहन मिलता रहा और कुछ अच्छे चित्रों का निर्माण भी हुआ परन्तु उसके बाद मारवाड़ चित्रकला का विकास अवरुद्ध हो गया।

बीकानेर शैली—बीकानेर की शैली मारवाड़ शैली से काफी साम्य रखती है। रायसिंह (1574-1612 ई.)के समय से इस शैली पर मुगल शैली का प्रभाव बढ़ने लगा। यहां भी "भागवत पुराण" केशव की "रसिक प्रिया" और "राग-रागिनी" पर बहुत से चित्र बनाये गये। 1600 ई. के आसपास चित्रित "रसिकप्रिया" बीकानेर शैली और मुगल शैली के सामंजस्य का सुन्दर नमूना है। इसमें मकान का स्पष्ट अंकन, अर्द्ध चन्द्र और तारों का चित्रण आदि मुगल शैली के अनरूप है, जबकि गहरे लाल, नीले और हरे रंगों का प्रयोग मेवाड़ी शैली के अनुरूप हैं। इसी में घास के उगे हुए गुच्छों का चित्रण मुगल शैली के आधार पर हुआ है। यह शैली धीरे-धीरे विकसित होती रही और महाराजा अनूपसिंह के काल (1669-1698 ई.) में चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। वस्तुत: 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अनेक मुस्लिम चित्रकार बीकानेर में आकर बस गये थे। ये सभी चित्रकार मारवाड़ शैली और मुगल शैली में सामंजस्य स्थापित करने में दक्ष थे। इस काल में बने अनेक चित्र जिनमें दरबार के चित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय थे, अत्यन्त आकर्षक हैं। इन चित्रों में दरबारी अनुशासन एवं औपचारिकताएँ मुगल शैली के अनुरूप ही प्रदर्शित की गई हैं। परन्तु 18वीं सदी में बने चित्रों में बीकानेर शैली पर मारवाड़ की शैली का प्रभाव अधिक दिखाई देता है। बीकानेर दुर्ग के महलों के भीतरी भागों की दीवारों पर शिकार के दृश्य, हरम की स्त्रियों के जीवन की झाँकी और पुराणों आदि का चित्रण इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। ब्रिटिश काल में बीकानेर की मौलिक शैली का पतन हो गया। राज्याश्रय के अभाव में बीकानेर के चित्रकारों को व्यावसायिक चित्रकला की ओर उन्मुख होना पड़ा।

किशनगढ़ शैली—राजस्थानी चित्रकला की किशनगढ़ शैली का सुन्दरता और रोचकता की दृष्टि से अपना एक स्वतन्त्र तथा महत्त्वपूर्ण स्थान है। अन्य स्थानों की भाँति किशनगढ़ में भी प्राचीनकाल से चित्र बनते रहे, लेकिन इस शैली का समृद्ध रूप राजा सांवतसिंह (1699-1764 ई.) जो नागरीदास के नाम से विख्यात थे, के शासनकाल में देखने को मिलता है। सांवतसिंह स्वयं भी अच्छे चित्रकार थे। किशनगढ़ शैली को समृद्ध बनाने में सांवतसिंह की वैष्णव धर्म के प्रति श्रद्धा तथा कवि के नाते उसकी कल्पना शक्ति और भावुकता और उसकी प्रेमिका बनी-ठनी का विशेष योगदान रहा था। कार्ल खण्डालवाल के मतानुसार किशनगढ़ शैली का उद्भव और विकास नागरीदास के काल से ही मानना चाहिए। नागरीदास को निहालचन्द नामक एक श्रेष्ठ चित्रकार भी मिल गया, जिसने नागरीदास और बनी-ठनी के प्रेम में राधा-कृष्ण की अनुभूति करते हुए अनेक चित्र बनाये। राधा के रूप में बनी-ठनी को चित्रित किया गया। फलस्वरूप, राधा का यह स्वरूप एक ऐसा नमूना बन गया कि आगे के समय में बनने वाले राधा के चित्र उसी नमूने पर बनने लगे। किशनगढ़ शैली के विशेषज्ञ डॉ. फैयाजअली का मत हैं कि राधा के उपर्युक्त चित्र बनी-ठनी के अनुरूप नहीं हैं। वस्तुत: नागरीदास और निहालचन्द ने राधा के चित्र का एक नवीन नमूना तैयार किया था

जिसका अनुकरण आगे भी होता रहा। किशनगढ़ शैली की राधा के चित्र में, उसकी सुन्दर वेषभूषा, नुकीली नाक, खंजर के समान आँखें, उभरा हुआ कोणीय चेहरा आदि एक नये सौन्दर्य के प्रतीक थे। 1757 ई. के आसपास बना ''बनी-ठनी'' का चित्र इन्हीं विशेषताओं से युक्त है। निहालचन्द की कलम में अलंकरण भी था। पारदर्शी रंग, पक्का रेखण और श्रेष्ठ वर्गीकरण के माध्यम से निहालचन्द ने राजस्थानी चित्रकला को मोहक कला के शिखर पर पहुँचा दिया। उसके चित्रों में कला, प्रेम और भक्ति का एक अद्भुत सामंजस्य दिखाई देता है। उसके द्वारा प्रतिपादित शैली 19वीं शताब्दी तक फलती-फूलती रही।

निहालचन्द द्वारा बनाये गये अन्य चित्रों में कृष्ण-लीला का चित्र अत्यन्त मोहक है। इसमें पेड़ों, फूलों और पानी के श्रेष्ठ रंगों का प्रयोग किया गया है, जिससे चित्र में सजीवता उत्पन्न हो गयी है। चित्र में कृष्ण दो गोपियों के गले में बाँहें डाले हुए हैं, अन्य चार गोपियाँ कृष्ण की ओर बढ़ती हुई तथा दो अन्य गोपियाँ पास में पेड़ के नीचे बैठी कृष्ण की ओर अंगुली से इशारा करती हुई बताई गई हैं। इसी प्रकार का एक अन्य चित्र दीपावली का है, जिसमें कृष्ण और राधा एक सुन्दर सिंहासन पर विराजमान हैं तथा मध्य में एक गोपी नृत्य कर रही है। दायें और बायें चार-चार गोपियाँ खड़ी हैं। पानी में दो बतखें तैर रही हैं और सारा चित्र मानो दीपावली की रोशनी से जगमगा रहा है। काले रंग की पृष्ठभूमि में सुनहरे रंगों का प्रयोग चित्र को अत्यधिक आकर्षक बना देता है। स्पष्ट है कि इस शैली के चित्रों के विषय ब्रज भाषा की कविताओं से प्रेरित हैं। निहालचन्द के बाद नेगराम और रामलाल नामक चित्रकारों ने इस शैली को आगे बढ़ाया। इस शैली में राधा की रूपाकृति बनी-ठनी की रूपाकृति से इतनी अधिक मिलती-जुलती है कि आधुनिक विद्वानों में यह मतभेद हो गया है कि अमुक चित्र में दिखायी गई स्त्री बनी-ठनी है या राधा है।

जयपुर शैली—राजस्थान के राजाओं में सर्वप्रथम आमेर (जयपुर) के राजा ने मुगलों के साथ पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित किये थे, अतः आमेर के कछवाहों पर ही सबसे पहले मुगल संस्कृति का प्रभाव पड़ा। परिणामस्वरूप यहाँ की चित्रकला शैली भी मुगल शैली से प्रभावित हुई तथा आमेर में अकबरी शैली के चित्र बनने लगे। आमेर के महलों में अलंकरण और सजावट तथा बैराठ के उद्यान-भवन के भित्ति-चित्रों की तकनीक मुगलों के अनुरूप है, लेकिन चित्रों के विषय हिन्दूधर्म से सम्बन्धित हैं। धीरे-धीरे स्थानीय चित्रकार मुगल शैली के ढाँचे में ढलते गये। परिणामस्वरूप आमेर की स्थानीय शैली और मुगल शैली एक-दूसरे से घुलमिल गई। इस मिलीजुली शैली के दर्शन 1600-1625 के मध्य में बने ''रसिकप्रिया'' के चित्र और 17वीं सदी के उत्तरार्द्ध में बने अनेक चित्रों में होते हैं। 17वीं सदी के उत्तरार्द्ध में वने चित्रों में सम्पन्नता, सूक्ष्म रेखांकन, रंगों का संयोजन और भावयुक्त कोमल रेखाएँ दिखाई देती हैं। 17वीं सदी के अन्त में तथा 18वीं शताब्दी के आरम्भ में, यद्यपि कृष्ण उपासना के प्रभाव से अन्तःमुखी चित्र अधिक बने; फिर भी उनमें मुगल शैली के दृश्य और सुन्दर फारसी शैली की रेखाएँ यथावत बनी रहीं।

17वीं और 18वीं शताब्दी के चित्रों में, कृष्ण-लीला, गोवर्धन-धारण, गोवर्धन-पूजा, रागमाला, बारहमासा आदि के चित्र उल्लेखनीय हैं। जयपुर के पोथीखाने में (पोथीखाने के

कुछ चित्र अब जयपुर पैलेस म्यूजियम में उपलब्ध हैं) आसावरी रागिनी के चित्र में शबरी की वेशभूषा व आभूषण आदि में अब भी जयपुर शैली की प्राचीनता देखी जा सकती है। इसी प्रकार 17वीं शताब्दी में चित्रित भागवत में भी स्थानीय मौलिकता का प्रदर्शन हुआ है। 18वीं शताब्दी में चित्रित भागवत में स्थानीय मौलिकता होते हुए भी रंगों का संयोजन मुगल शैली के आधार पर हुआ है। कृष्ण-अर्जुन के एक चित्र में उनकी वेषभूषा मुगलिया है। 1751-52 में बने एक चित्र में सवाई माधोसिंह और उसकी रानी को साथ-साथ स्थानक रूप में दिखाया गया है। राजा और रानी के सामने एक सेवक हाथ जोड़े खड़ा है और पीछे दो दासियाँ दिखाई गई हैं, उनमें से एक के हाथ में मोरछल है। स्त्रियों की वेशभूषा में मुगलपन दिखाई देता है तथा सवाई माधोसिंह के हाथ में फूल दर्शाया गया है, जो मुगल शैली के अनुरूप है। गौरवर्ण के चेहरे, चिकनाई लिये हुए फारसी शैली की याद दिलाते हैं। सवाई जयसिंह (1700-1743) के काल के चित्रों में हिन्दू शैली की चमक पुनः दिखाई देने लगती है। यह शैली जयपुर महलों के भित्ति चित्रों में विशेष रूप से देखी जा सकती है। इनमें कृष्ण और गोपियों के चित्रों में आँखें बादाम की तरह तथा मोटे ओंठ वक्रानुकृति में अपनी विशेषताएँ लिये हुए हैं।

19वीं शताब्दी के चित्र यद्यपि अलंकारपूर्ण हैं, किन्तु इनमें मौलिक शैली अवनत होती दिखाई देती है। 19वीं शताब्दी के एक चित्र में अन्तःपुर की दो स्त्रियों को इस प्रकर आलिंगनबद्ध दिखाया गया है मानो स्त्री और पुरुष आलिंगनबद्ध हों। यह चित्र देखने में सर्वथा अस्वाभाविक लगता है। इसमें चित्रित कामुकता मुगलों की विलासिता की याद दिलाती है। इस काल में जयपुर के महलों में बने भित्ति-चित्र यद्यपि मुगल ढंग के हैं, लेकिन पहाड़ों व समुद्रतट की रेखाओं में राजस्थानी शैली दिखाई देती है। संगीतकारों की एक मण्डली के चित्र में भी हिन्दू भावनाओं एवं तत्त्वों का प्रदर्शन हुआ है। सवाई रामसिंह के काल में चित्रित देवी सरस्वती के चित्र में (1850 ई. के आस-पास बना हुआ) हिन्दू देवी को मुगलों के सदृश दिखाया गया है। इसमें छोटे-छोटे पौधो का अंकन तथा आंगन पर बूँटदार कालीन भी मुगल शैली के अनुरूप है, किन्तु हिन्दू देवी को यूरोपियन शैली की कुर्सी पर बैठा दिखाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जयपुर की चित्रकला का यूरोपीयकरण होने लग गया था, जिसके फलस्वरूप जयपुर कलम की आत्मा ही समाप्त हो गई। 20वीं शताब्दी में फोटोग्राफी आरम्भ होने तक यही प्रवृत्ति जयपुर की चित्रकला में प्रचलित रही।

बून्दी चित्रकला शैली—राजस्थानी चित्रकला शैली के अन्तर्गत बून्दी-शैली का भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। घने जंगलों और पहाड़ियों के बीच बून्दी एक छोटा सा राज्य था (कोटा को अलग करने के बाद) 1569 ई. में अकबर द्वारा रणथम्भोर पर विजय प्राप्त करने पर राव सुर्जन हाड़ा ने जो मेवाड़ का एक सामन्त था, शाही दरबार में पहुँच कर मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली और उसे अपना पैतृक राज्य बून्दी प्राप्त हो गया। राव सुर्जन ने मुगल साम्राज्य की बड़ी सेवा की थी। तत्पश्चात् राव सुर्जन के पौत्र राव रतनसिंह के भी मुगलों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहे। अतः बून्दी की कला पर मुगल प्रभाव स्वाभाविक ही था।

बून्दी के शासक मुगल सम्राट की ओर से युद्ध में लड़ने के लिये दक्षिण में भी कई बार गये थे, अतः बून्दी का दक्षिण की कला से भी सम्पर्क हुआ। राव शत्रुशाल (1631-1658) ने अनेक चित्रकारों को आश्रय दिया था। शत्रुशाल के पुत्र और पौत्र शाही सेना के साथ दक्षिण गये थे।

प्रारम्भ में बून्दी पर मेवाड़ का राजनैतिक प्रभाव होने के कारण यहाँ की चित्रकला मेवाड़ी शैली से प्रभावित थी। इस स्थिति को व्यक्त करने वाले 1625 ई. के आसपास बने दो चित्र 'रागमाला' जो बनारस के भारतीय कला भवन में उपलब्ध है तथा दूसरा 'रागिनी-भैरव' जो इलाहाबाद के म्युनिसिपल म्यूजियम में उपलब्ध है। इसमें 'रागिनी-भैरव' के चित्र में तीन विभिन्न शैलियों का सामंजस्य दिखाई देता है। गोल चेहरे और ठुड्डी तथा रंग-योजना मेवाड़ी शैली के आधार पर हुई है और वेशभूषा भी मेवाड़ी है। घने पेड़, फूल, चिड़ियों, मछलियों आदि का चित्रण स्थानीय वातावरण के आधार पर हुआ है। चित्र में नीचे की और दिखाये गये पानी में कमल के फूलों और बतखों के अंकन में माण्डू (मध्य भारत) का प्रभाव दिखाई देता है। इस प्रकार इस चित्र में तीन शैलियों का विचित्र संगम हुआ है, जो अपने आप में एक नई शैली का प्रदर्शन कर रहा है।

राव सुर्जन द्वारा मुगल अधीनता स्वीकार करने के बाद बून्दी-चित्रकला पर मुगल प्रभाव पड़ने लगा। राव रतनसिंह जहाँगीर का कृपापात्र था और राव माधोसिंह शाहजहाँ का विश्वासपात्र था। मुगल दरबार से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण बून्दी दरबार में मुगल शान-शौकत बढ़ने लगी। राव भावसिंह (1659-1682) के काल में बने चित्रों में भी थोड़ा मेवाड़ी प्रभाव दिखाई देता है, लेकिन पेड़-पौधे, मोर और बतखों का अंकन बून्दी शैली की मौलिकता लिये हुए है। 1692 ई. का एक चित्र 'बसन्त रागिनी' में बून्दी शैली और अधिक समृद्ध दिखाई देती है। इस चित्र में राजा और रानी बगीचे में खड़े नये चाँद का अवलोकन कर रहे हैं। इसमें वृक्षों, फूलों, पानी के कुण्ड अथवा तालाबों का अंकन केवल पृष्ठभूमि के लिये नहीं हुआ है, बल्कि इनके अंकन द्वारा सम्पूर्ण चित्र को रोमाण्टिक बनाने का प्रयास किया गया है। रंगों का संयोजन मुगल शैली से उन्नत है, लेकिन सरू के वृक्ष (Cypress tree) चारों कोनों में फव्वारे आदि में मुगल व दक्षिणी प्रभाव दिखाई देता है। 17वीं शताब्दी का एक चित्र 'वासुकसज्जा नायिका' का राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित है, जिसमें घने वृक्ष, पशु-पक्षी और फूलों से युक्त बाग के मध्य नायिका को दिखाया गया है। इसमें दिखाये गये बगीचे (या जंगल) का सौन्दर्य बून्दी के जंगलों के अनुरूप है, लेकिन सम्पूर्ण चित्र की बनावट और डिजाइन मुगल शैली के अनुरूप है।

महाराव उम्मेद सिंह (1739-1771) के काल में तो बून्दी चित्रकला शैली अपने समृद्धि के शिखर पर पहुँच गई थी। इस काल में बने चित्र विभिन्न ऋतुओं का प्रदर्शन करते हैं, जैसे—वर्षा ऋतु दिखाने के लिए चित्र में काले बादल, झूमते हाथी, नाचते मोर, बहते हुए झरने और पहाड़ों पर घूमते हुए शेर का अंकन हुआ है। महल की खिड़की में नायक-नायिका वर्षा ऋतु में रोमांस के नमूने पर अंकित किये गये हैं। इसमें काले और नीले रंग का प्रयोग अधिकता से हुआ है। ग्रीष्म ऋतु के चित्र में शिकारियों को पेड़ की छाया में बैठे

दिखाया गया है। कुछ चित्रों में प्रेमी-प्रेमिका को फव्वारों के पास बैठे दिखाया गया है। शीत ऋतु के चित्रण में प्रेमी युगल को आलिंगनबद्ध दिखाया गया है, तालाब में कुमुदनी के फूल, जलती हुई आग के पास किसानों आदि का चित्रण हुआ है। इस काल के नायिका भेद के चित्र भी विशेष कुशलता से बनाये गये, जिनका आधार राधा और कृष्ण हैं। यद्यपि इनमें अत्यधिक चमकीले रंगों का प्रयोग हुआ है, लेकिन ये चमकीले रंग मोहक विहीन नहीं लगते। महाराव बिशनसिंह (1773-1821) के काल में शिकारके दृश्य अधिक मिलते हैं। अत: पूर्व में बनने वाले प्रेम और रोमांस के चित्रण में कमी आ गई। लेकिन चित्रों की बनावट और रंगों के संयोजन में अधिक परिपक्वता आ गई। महाराव रामसिंह (1821-1862) की श्रद्धा वैष्णव धर्म के प्रति थी। अत: बून्दी महाराजा के चित्र-संग्रह में महाराव रामसिंह को विष्णु की पूजा करते दिखाया गया है। कृष्ण और गोपियों के भी अनेक चित्र उपलब्ध होते हैं। एक 'गजलक्ष्मी' के चित्र में, दोनों ओर हाथी अपनी सूंड से मध्य में आसनस्थ लक्ष्मी को नहला रहे हैं। चित्र में एक तरफ गणेश और दूसरी तरफ सरस्वती को दिखाया गया है। एक अन्य चित्र में कृष्ण को गायें चराते दिखाया गया है। इसके बाद 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अन्य राज्यों की भाँति यहाँ भी बून्दी कलम पतनोन्मुख दिखाई देती है। बून्दी महाराजा के चित्र संग्रह में एक चित्र में, एक अंग्रेज पुरुष और उसकी पत्नी को पियानो बजाते बताया गया है। स्पष्टत: यह अंग्रेजों से बढ़ते हुए सम्पर्क का परिणाम था।

कोटा चित्रकला शैली—बून्दी के राव रतनसिंह के द्वितीय पुत्र माधोसिंह ने 1631 ई. में कोटा राज्य की स्थापना की थी। माधोसिंह बादशाह शाहजहाँ का विशेष कृपापात्र था। अत: उसका मुगल दरबार से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। अत: कोटा की चित्र शैली में बून्दी शैली और मुगल शैली का सामंजस्य होते हुए भी कोटा में एक नवीन शैली आरम्भ होती है। इसमें स्त्रियों के चित्र प्रतिमा के समान दिखाई देते हैं, जो या तो शीशे में अपना मुँह देख रही हैं या वृक्ष की डाली को पकड़े हुए है, सिर के बाल काफी ऊँचाई से आरम्भ होते हैं तथा अस्वाभाविक रूप से लम्बे दिखाये गये हैं जिससे उनका ललाट काफी चौड़ा दिखाई देता है, आँखें बड़ी-बड़ी खजनानुकृति अथवा बादामानुकृति में दिखाई गई हैं और नाक छोटी दिखाई गई है। ठुड्डी गोल, वक्षस्थल काफी ऊँचा उठा हुआ और कमर अत्यधिक पतली दिखाई गई है। ओंठ पूरे फैले हुए तथा आभूषण बहुलता से दिखाये गये हैं। इन चित्रों को हम बून्दी शैली की प्रतिछाया कह सकते हैं। महाराव रामसिंह (1686-1708) और महाराव भर्जुनसिंह (1720-1724) के काल में इस चित्र शैली में मौलिकता आने लग गई, लेकिन बून्दी शैली का प्रभाव यथावत् बना रहा। इलाहाबाद में म्यूनिसिपल म्यूजियम में उपलब्ध एक चित्र जो 1720 ई. के आसपास बना था, में एक नायिका अपने प्रेमी का चित्र बना रही है। उसकी आँखें बड़ी-बड़ी खंजनानुकृति में हैं तथा स्थापत्य में चावण्ड (मेवाड़ में) शैली दिखाई देती हैं।

महाराव उम्मेदसिंह (1771-1820) के काल में तो कोटा की चित्रकला अपने चरम बिन्दु पर पहुँच गई। इस काल में तो चित्रकला एक महत्त्वपूर्ण कार्यकलाप बन चुकी थी। चूंकि महाराव उम्मेदसिंह बचपन से ही शिकार के शौकीन थे, अत: कोटा की गद्दी पर बैठने

के बाद अधिकांश चित्रों में उन्हें शिकार करते हुए बताया गया। 1800 ई. के आस-पास बना एक ऐसा ही चित्र विक्टोरिया एवं एल्बर्ट म्यूजियम, लन्दन में सुरक्षित है। इसमें पहाड़ वृक्ष, शेर आदि का चित्रण सादे ढंग से हुआ है, लेकिन शेरों की गतिविधि तथा पेड़ पर बैठे दो दरबारी के हाथ में बन्दूक और शेर को उनकी तरफ झपटते हुए इस ढंग से बताया गया है कि चित्र में सजीवता आ गई है। शिकारियों के समूह, पेड़-पत्तियाँ और पशुवर्ग का चयन स्थानीय आधार पर हुआ है, जिसमें चित्रकार की कलम में अत्यधिक कुशलता दिखाई देती है। कुछ चित्रों के पीछे चित्रकार का नाम भी मिलता है और चित्र के पीछे स्वयं चित्रकार का रेखाचित्र भी उपलब्ध होता है, जिससे हम उस काल के चित्रकारों की वेशभूषा की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

कोटा, वल्लभ सम्प्रदाय की पुष्टि-मार्ग शाखा का केन्द्र रहा है। अतः कुछ चित्रों में कोटा के शासकों को श्रीनाथ जी की पूजा करते दिखाया गया है। मथुराधीश के मन्दिर में श्रीनाथ जी की प्रतिमा के पीछ लगने वाले कपड़ों पर भी सुन्दर चित्र बनाये गये। ऐसे चित्रों को 'पिछवाई के चित्र' कहा जाता है। पिछवाई के चित्रों में राधा अपनी सखियों के साथ, राधा और कृष्ण तथा कृष्ण को गायें चराते दिखाया गया है। सम्भवतः पिछवाई के चित्रों के आधार पर ही आगे चलकर भित्ति-चित्रकला का विकास हुआ था। झाला जालिमसिंह की हवेली के ऊपर वाले बायें हाथ की तरफ वाले कमरें में और द्वार के पास बने हुए भित्ति चित्र, बून्दी शैली में बने नायिका के स्नान के चित्र की हूबहू नकल है। इससे स्पष्ट है कि कोटा-शैली, बून्दी शैली से अलग नहीं हो सकी। कोटा के अन्य भित्ति चित्रों में हाथियों की लड़ाई, स्वस्तिक, मंगलकलश, तोते और मोर के चित्र विशेष उल्लेखनीय हैं। कोटा-शैली के चित्रों में स्त्रियों के चित्र विशेष आकर्षक बनाये गये हैं। उनके अंग-प्रत्यंगों का चित्रण रीति-काल के काव्यों के आधार पर बनाये गये हैं। इन चित्रों में तीखे रंगों का प्रयोग किया जाता था। चित्रों के किनारे लाल रंग, काले रंग और सुनहरे रंगों से बनाये जाते थे। गहरे नीले और हरे रंगों का प्रयोग भी अधिकता से हुआ है।

महाराव रावसिंह (1828-1866) के काल में भी परम्परागत रूप से शिकार के दृश्य, चमकदार रंगों से दरबार के दृश्य और भित्ति चित्रों का निर्माण होता रहा, लेकिन अब धीरे-धीरे कोटा शैली में विदेशी तत्त्वों का मिश्रण आरम्भ हो गया। यद्यपि लड़ाई के दृश्य अब भी बनते रहे, लेकिन उनमें मुगल और यूरोपीय प्रभाव अधिक दिखाई देता है। महाराव छत्रसिंह (1866-1889) के काल में भी अनेक सुहावने चित्र बने, लेकिन उनमें यूरोपीय प्रभाव बढ़ता गया। फिर भी 19वीं शताब्दी के अन्त में कोटा के बाजार में जो चित्र विक्री हेतु आये, उनमें अब भी महाराव उम्मेदसिंह के काल के चित्रों की आत्मा दिखाई देती थी। लेकिन उत्तरोत्तर इस आत्मा का ह्रास भी होता गया।

अन्य शैलियाँ—उपर्युक्त मुख्य शैलियों के अलावा राजस्थान में अलवर शैली, उणियारा शैली और नाथद्वारा शैली का भी अपना महत्त्व है। अलवर म्यूज़ियम की कला दीर्घा में मुगल सम्राटों व उनके अधिकारियों के चित्र और राग-रागिनी के चित्र अलवर शैली में देखे जा सकते हैं। अलवर शैली में मुगल प्रभाव की अधिक प्रधानता दिखाई देती है। यद्यपि

उणियारा, जयपुर राज्य की एक जागीर थी, लेकिन उणियारा के चित्रों में आँखों की बनावट, जयपुर शैली से सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार नाथद्वारा, मेवाड़ राज्य से सम्बन्धित होते हुए भी, नाथद्वारा के चित्र मेवाड़ी शैली से भिन्न अपनी विलक्षणता लिये हुए है। 1671 ई. में जब ब्रज से श्रीनाथजी की मूर्ति यहाँ लाई गई उस समय ब्रज के अनेक चित्रकार भी यहाँ आकर बस गये और श्रीनाथजी की छवि बनाने लगे। धीरे-धीरे नाथद्वारा वैष्णव सम्प्रदाय का प्रमुख केन्द्र बन गया। फलस्वरूप श्रीनाथजी की छवि के चित्र, वैष्णव गुसांइयों के चित्र तथा कृष्णलीला के चित्रों की माँग बढ़ने लगी, जिसने अन्य राज्यों के चित्रकारों को यहाँ आकर बसने के लिये प्रेरित किया। चित्रों के विषय वही मौलिक अर्थात् श्रीनाथजी की छवि, गुसाइयों का दैनिक जीवन तथा उनको श्रीनाथजी की पूजा करते हुए दिखाना और कृष्णलीला ही रहे, लेकिन इसमें राजस्थान के तथा अन्य उत्तरी भागों की शैलियों का समावेश हो गया। फलस्वरूप एक नई नाथद्वारा शैली का प्रादुर्भाव हुआ। 18वीं शताब्दी में बने चित्रों में श्रीनाथजी, यमुना स्नान, हिंडौला (कृष्ण के बाल-स्वरूप को झूले में दिखाना) जन्माष्टमी, अन्नकूट आदि उत्सवों के चित्र विशेष उल्लेखनीय हैं। इन चित्रों में गहरे नीले, पीले और सुनहरे रंगों का प्रयोग हुआ है। 19वीं शताब्दी के अन्त में नाथद्वारा शैली व्यावसायिक चित्रकला की ओर उन्मुख हो गयी, फलस्वरूप उन चित्रों में मौलिकता होते हुए भी वह रोचकता नहीं रही जो हमें 18वीं शताब्दी के चित्रों में दिखाई देती है।

राजस्थान की इन समस्त शैलियों के अध्ययन से एक बात निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो जाती है कि शैलियों में विभिन्नता होते हुए भी सभी में एक मौलिक एकता है। प्रारम्भ के चित्रों में सभी शैलियों में अजन्ता परम्परा शैली के दर्शन किये जा सकते हैं। विषयों के चयन में राग-रागिनी, बारहमासा, भागवत पुराण, रामायण, गीत गोविन्द, राधा-कृष्ण, रासलीला आदि सभी शैलियों में पाये जाते हैं। पुरुषों की वेशभूषा में पगड़ी, जामा, पायजामा आदि भी सभी शैलियों में दिखाये गये हैं। स्त्रियों की वेशभूषा अपनी स्थानीय परम्परा के अनुकूल होते हुए भी उनके आभूषणों में साम्यता देखी जा सकती है। शृंगारी चित्र भी सभी राज्यों के प्रमुख विषय रहे हैं। सभी राज्यों की शैली मुगल शैली से प्रभावित देखी जा सकती है। मुगलों की शान-शौकत और विलासिता सभी राज्यों की चित्रकला में प्रविष्ट हुई थी और 19वीं शताब्दी के अन्त में सभी शैलियाँ, यूरोपीय कला से प्रभावित होकर व्यावसायिक कला के रूप में परिवर्तित हुई थीं। सभी राज्यों की चित्रकला से हम तत्कालीन समाज और संस्कृति की भी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। कुछ विद्वान् राजस्थानी चित्रकला की उत्पत्ति मुगल कला से मानते हैं। लेकिन प्रसिद्ध विद्वान् रेने ग्राउजेट ने अपनी पुस्तक 'द् सिविलाइजेशन ऑफ द् ईस्ट' में राजस्थानी और मुगल चित्रकला में अन्तर स्पष्ट किया है। उसने लिखा है कि मुगल चित्रकारी एक प्रकार से दरबारी चित्रकला है, यह लघु चित्रों की चित्रकारी में विशिष्ट है जिसके साथ ही उसकी उत्पत्ति हुई थी। यह हस्तलिखित ग्रन्थों के चित्रण और फारसी सुलेखों की सुन्दर रेखाओं से विकसित हुई। किन्तु इसके विपरीत राजपूत शैली देशी मिट्टी की उपज है। इसकी तकनीक लघु चित्रों से नहीं बल्कि भित्ति चित्रों से विकसित हुई है। वास्तव में इस शैली का स्रोत अजन्ता और बाघ की प्राचीन कला थी जो

15वीं सदी की गुजरात शैली की जैन पाण्डुलिपियों से विकसित होकर आई थी। इसने मुगल कला की कुछ विशेषताओं को भी ग्रहण कर लिया था। इससे स्पष्ट है कि राजस्थानी चित्रकला मुगल कला की उपज न होकर अपने आप में एक स्वतन्त्र कला है। राजस्थान के चित्रकारों ने सदैव प्रसिद्धि की भावना से कला की सेवा की है और वही उसकी मौलिकता और सम्पन्नता का प्रमुख कारण रहा है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग पाँच पृष्ठों में दीजिए—

1. सैन्धव कला की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. मौर्यकालीन नगर निर्माण कला की प्रमुख विशेषताएँ बताइए।
3. मौर्यकालीन बौद्ध कला की विस्तृत विवेचना कीजिए।
4. गान्धार एवं मथुरा कला शैली का वर्णन कीजिए।
5. गुप्तकालीन मन्दिर स्थापत्य की प्रमुख विशेषताएं बताइये।
6. "अकबर कालीन स्थापत्य कला शैली हिन्दू-मुस्लिम शैलियों का समन्वय थी।" इस कथन के सन्दर्भ में मुगल स्थापत्य कला की विवेचना कीजिए।
7. राजपूत चित्रकला शैली की प्रमुख विशेषताएँ बताइये।

लघूत्तरात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए—

1. स्तूप क्या है? इसकी निर्माण कला का विवेचन कीजिए।
2. चैत्य और विहार क्यों बनाये जाते थे ? इनकी कला विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. शाहजहाँकालीन स्थापत्य कला का वर्णन कीजिए।
4. राजपूत चित्रकला पर मुगल प्रभाव की विवेचना कीजिए।
5. मेवाड़ी चित्रकला शैली का वर्णन कीजिए।
6. बून्दी चित्रकला शैली की प्रमुख विशेषताएँ बताइये।
7. "राजस्थान में चित्रकला की शैलियों में विभिन्नता होते हुए भी सभी में मौलिक एकता है।" स्पष्ट कीजिए।

◆

अध्याय-16

भक्ति आन्दोलन और सूफी मत

मध्यकालीन भारत की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक देन भक्ति आन्दोलन है। इस भक्ति आन्दोलन की प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई, इस प्रश्न पर विद्वान् एक मत नहीं है। किन्तु अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि भारत में इस्लाम के आगमन पर हिन्दुओं की बौद्धिक तथा आध्यात्मिक प्रतिक्रिया भक्ति आन्दोलन के रूप में प्रकट हुई। भारत पर मुस्लिम विजय के बाद हिन्दुओं का अस्तित्व ही संकट में पड़ गया था तथा निराशा और पलायनवाद की जो भावना हिन्दुओं में घर कर गई थी, वह भक्ति भावना के प्रसार में विशेष सहायक हुई। मध्यकाल में यह भक्ति आन्दोलन वहुत ही व्यापक हो गया और लगभग समस्त उत्तरी भारत में भक्ति का स्वर गूंज उठा।

मध्यकालीन राजनीतिक परिस्थितियों ने भारतीय जन-जीवन में एक नवीन चेतना का बीजारोपण किया, जिनके लहलहाते हुए विशालकाय पादक वृन्दों से आच्छादित भक्ति की शीतल छाया में नवीन संस्कारों का उदय हुआ, वस्तुतः भारत में इस्लाम के आगमन पर, निरन्तर इस्लाम के घातों-प्रतिघातों से हिन्दू संस्कृति का जाज्वल्यमान दीपक हीन और मन्द प्रतीत होने लगा। उस समय भारत में हिन्दुओं के अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे, जैसे बौद्धों की साधना हेतु वज्रयान तथा वाममार्ग, मीमांसकों का याज्ञिक कर्मकाण्ड, अद्वैतवादियों का ज्ञान मार्ग तथा नाथ सम्प्रदाय का हठयोग। किन्तु इनमें से कोई भी हिन्दू धर्म की रक्षा करने में समर्थ न था। अतः इस शुष्क राजनीतिक वातावरण में हिन्दू धर्म के ऐसे स्वरूप की आवश्यकता थी जो वाह्य आडम्बरों तथा कर्मकाण्डों से मुक्त हो, जो समाज के उच्च व निम्न वर्ग को भी अपनी ओर आकर्षित कर सके तथा इस्लाम के अत्याचारों से पीड़ित हिन्दुओं में आत्मविश्वास और आशा का संचार कर सके। मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन ने इस माँग को पूरा किया और भक्त सन्तों की अभिव्यक्ति से सांस्कृतिक चेतना में पुनः आशा और विश्वास की फुलवाड़ी झड़ने लगी।

भक्ति आन्दोलन की पृष्ठभूमि—कुछ विद्वान् भक्ति को इस्लाम की देन बताते हैं। किन्तु भक्ति के अंकुर हमें सिन्धु सभ्यता में उपलब्ध हो जाते हैं। सिन्धु सभ्यता के प्राप्त अवशेषों से पता चलता है कि उस युग के लोग मूर्तिपूजक थे। वैदिक युग के आर्य विविध प्राकृतिक शक्तियों की पूजा करते थे। वेदों में सूर्य, इन्द्र, उषा इत्यादि देवी-देवताओं की जो प्रार्थनाएँ मिलती हैं उनमें श्रद्धा का भाव झलकता है। गीता में हमें भक्ति का स्पष्ट प्रमाण मिलता है, जिसमें मोक्ष प्राप्ति के तीन मार्गों—ज्ञान, कर्म और भक्ति मार्ग को श्रेष्ठ माना गया है। इसी समय के आस-पास राम और कृष्ण को उपास्य देव बनाकर भक्ति की धारा प्रवाहित हुई जो आगे चलकर वैष्णव धर्म में परिणित हो गई। ईसा के पूर्व ही भारत में

भागवत-धर्म का विकास हो चुका था। भागवत-धर्म में याज्ञिक कर्मकाण्डों के स्थान पर नारायण की भक्ति का उपदेश था। इसमें निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सगुण ईश्वर की प्रतिष्ठा की गई तथा भक्ति को मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ साधन बताया गया। पौराणिक काल में प्राकृतिक देवताओं को स्पष्ट, साकार और सजीव रूप प्रदान किये गये तथा उनके सम्बन्ध में अनेक उपाख्यानों की भी रचना कर दी गई। भागवत-पुराण में भक्ति का अत्यन्त ही विशद् वर्णन मिलता है। भागवत-पुराण के अनुसार भगवान को पूर्ण आत्मसमर्पण कर हम ब्रह्म को आनन्दमय अवस्था में प्राप्त कर सकते हैं। अब भागवत-धर्म में नये तत्त्वों का समावेश होने लगा। अब भगवान के भिन्न-भिन्न अवतारों की कल्पना भी की जाने लगी। अब भक्ति का स्वरूप केवल प्रार्थना एवं ईश्वरार्पण के भाव तक सीमित नहीं रह गया, बल्कि देवताओं की भिन्न-भिन्न मूर्तियाँ स्थापित की जाने लगीं और उनके लिए भव्य एवं विशाल मन्दिरों का निर्माण होने लगा। देवताओं के स्वभावों तथा कार्यों की भिन्न-भिन्न प्रकार से कल्पना करके उनका वर्गीकरण भी कर दिया गया। सारे विश्व के सृजन का भार ब्रह्मा को सौंप दिया गया, विश्व के पालन का भार विष्णु को सौंपा गया तथा शिव को संहार के लिए उत्तरदायी ठहरा दिया गया।

पौराणिक युग में जिस भक्ति का अधिक प्रचार हुआ, वह गुप्त काल के समाप्त होते-होते उत्तर भारत में कम दिखाई देने लगी। वह धीरे-धीरे दक्षिण भारत की ओर अग्रसर हुई। दक्षिण भारत में भक्ति धारा का विकास आलवार तथा नयनवार सन्तों ने किया। ये लोग बहुत ही कम शिक्षित थे और साधारण जीवन व्यतीत करते थे। इनकी संख्या तय करना कठिन है, क्योंकि आठ-नौ सौ वर्षों तक एक के बाद एक सन्त महापुरुष अवतरित होते रहे। आलवार सन्तों ने विष्णु को आराध्य देव मानकर गीतों और भजनों के माध्यम से भक्ति की धारा प्रवाहित की तो नयनवार शिव की उपासक रहे। इन नयनवारों को सारा जगत् शिवमय प्रतीत होता था और वे प्रायः अपने ईष्ट देव को किसी प्रेमपात्री के रूप में तथा स्वयं अपने को प्रेमी के रूप में प्रदर्शित करते हुए गम्भीर भक्तिमय उद्‌गार प्रकट करते थे।

भारत में जब हिन्दू धर्म में विभिन्न देवी-देवताओं के मन्दिर और मूर्तियाँ बनने लगीं तथा भगवान के विभिन्न अवतारों की कल्पना कर ली गई तब अनेक मत-मतान्तरों का भी उदय हुआ। इन मत-मतान्तरों के उदय से भक्ति की मूल भावना के स्थान पर अनेक प्रकार के अन्धविश्वास तथा कुरीतियों का प्रचलन हो गया। ऐसे समय में महान धर्म-सुधारक शंकराचार्य हुए। उन्होंने तर्क और बुद्धि के आधार पर हिन्दू अद्वैतवाद की श्रेष्ठता स्थापित की और बौद्धों के अनात्मवादी सिद्धान्त का जोरदार खण्डन किया। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत में बौद्ध धर्म का लगभग सफाया हो गया। शंकराचार्य ने ज्ञान मार्ग को प्राथमिकता दी। परन्तु उनका ज्ञान मार्ग जन-साधारण के लिए न तो आकर्षक रहा और न समझने के लिए सरल। तब दक्षिण के यमुनाचार्य ने शंकर के अद्वैतवाद का खण्डन कर जीवात्मा की अलग सत्ता का प्रतिपादन किया और प्रपत्ति के सिद्धान्त का प्रचार किया। रामानुज ने इसी विचारधारा को विकसित कर उसे दार्शनिक रूप प्रदान किया। रामानुज ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खण्डन कर एक नया मत प्रतिपादित किया जो विशिष्टाद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने भक्ति को ही मोक्ष प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन बताया। इस प्रकार भक्ति के महत्त्व को पुनः प्रतिष्ठित करने के प्रयास शुरू हुए ही थे कि भारत में मुस्लिम सत्ता की नींव पड़ गई।

भक्ति आन्दोलन और इस्लाम—कुछ विद्वानों की मान्यता है कि प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से भक्ति-आन्दोलन इस्लाम के प्रभाव का परिणाम था। उन्होंने अपने मत के पक्ष में कई तर्क भी प्रस्तुत किये हैं। पहला तर्क यह है कि मध्ययुग में भक्ति आन्दोलन का आधार तैयार करने वाले श्री रामानन्द को इस्लामी विचारों से अवश्य ही प्रेरणा मिली होगी। दूसरा यह कि इस्लाम के एकेश्वरवाद, बन्धुत्व और सामाजिक एवं धार्मिक समानता की भावना से भक्ति आन्दोलन के प्रचारकों को प्रभावित किया होगा। तीसरा और सबसे सबल तर्क यह है कि भक्ति आन्दोलन तत्कालीन वातावरण की देन था। भारत में इस्लाम का प्रवेश और मुस्लिम राज्य की स्थापना भारतीय धर्म और संस्कृति के बहुत से मूल्यों और मान्यताओं के लिए बड़ी चुनौती सिद्ध हुआ। मुसलमानों ने पवित्र मन्दिरों और देवमूर्तियों का ध्वंस कर तथा गो-ब्राह्मणों की हत्या करके हिन्दुओं के धार्मिक विश्वासों पर प्राणघातक प्रहार किया था। उस युग के कवि पद्मनाभ ने क्रोध से विह्वल होकर शिव को पुकारा था, "ओ शत्रुनाशक रुद्र! तेरा भयंकर त्रिशूल कहाँ चला गया है ?" परन्तु देव मौन रहे। उस युग के योगी, तान्त्रिक, सहजयानी और नाथपंथी भी अपनी समस्त ऋद्धि-सिद्धियों, टोने-टोटकों और मुद्रा-मण्डलों से इस्लाम के अत्याचारों से जनता को बचाने में असमर्थ रहे। अतः स्वाभाविक रूप से भारतीय जनता का प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों और विश्वासों से विश्वास डगमगाने लग गया। राजनीतिक क्षेत्र में पराजित हिन्दुओं के लिए 'पलायनवाद' के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं रहा। इस प्रकार के निराश वातावरण में जनसाधारण को आत्मिक शान्ति प्रदान करने के लिए भक्ति का सहारा लिया गया। शीघ्र ही यह आन्दोलन देश के कोने-कोने में फैल गया। परन्तु उपर्युक्त सभी तर्क केवल आंशिक रूप से सही माने जा सकते हैं। भक्ति आन्दोलन का जन्म इस्लाम के आवागमन या मध्ययुगीन निराशाजनक वातावरण का परिणाम न था। यह तो प्राचीनकाल से चली आ रही भक्ति का ही नया रूप था। हाँ, तत्कालीन परिस्थितियों ने इसे व्यापक आधार प्रधान करने में अवश्य सहयोग दिया।

भक्ति आन्दोलन के कारण—दिल्ली के मुस्लिम शासकों के निरंकुश एवं संकीर्ण शासन के अन्तर्गत हिन्दुओं को राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक सुविधाओं से वंचित हो जाना पड़ा क्योंकि अधिकांश मुस्लिम शासकों ने तो उन्हें अपनी प्रजा ही नहीं माना। परिणामस्वरूप वे अपने ही देश में विदेशी बन गये। उनसे सख्ती के साथ जजिया कर वसूल किया जाता था। फिर भी उनकी जान-माल और इज्जत सुरक्षित न थी। उनके लिए न्याय के द्वार भी बन्द थे। उनके मन्दिरों और मूर्तियों को नष्ट किया जा रहा था और उन्हें बलात् मुसलमान बनाने के प्रयास भी किये जा रहे थे। ऐसी स्थिति में पीड़ित हिन्दू जनता ने ईश्वर को पुकारना शुरू कर दिया। वे उसकी भक्ति में डूबकर अपने दुःख-दर्द को भुलाने लगे। इस मनोवृत्ति से भक्ति आन्दोलन को बल मिला और वह शीघ्र ही समूचे उत्तरी भारत में व्यापक हो गया।

मुसलमानों के भारत में बस जाने के बाद हिन्दु-मुसलमानों में धीरे-धीरे सामाजिक सम्पर्क का विकास हुआ। सांस्कृतिक क्षेत्र में भी विचारों का आदान-प्रदान होने लगा। इस नये वातावरण में दोनों तरफ के सुधारक नेताओं ने दोनों के मध्य समानता एवं एकीकरण की आवश्यकता का अनुभव किया। भक्ति आन्दोलन इसी का परिणाम था। सूफी सन्तों ने जिस उदारता, सहिष्णुता एवं प्रेम के साथ एकेश्वरवादी इस्लाम का प्रचार किया, उससे भी बहुत से

हिन्दू विचारक प्रभावित हुए। उन्हें उनकी कई बातें अच्छी लगीं और हिन्दुओं में भी अपने धर्म को बुराइयों तथा आडम्बरों से दूर रखने की इच्छा जागृत हुई। भक्ति आन्दोलन इसी भावना का परिणाम था।

अन्तिम कारण, इस्लाम के बढ़ते हुए प्रसार को रोकने के लिए हिन्दू धर्म को जनवादी बनाना आवश्यक हो गया था। इसके लिए हिन्दू धर्म में सुधार करना भी आवश्यक था। निम्न जातियों के लिए भी मोक्ष का द्वार खोलना जरूरी था क्योंकि वे ही इस्लाम की तरफ सबसे अधिक आकर्षित हो रही थीं। मूर्तिपूजा तथा बहुदेववाद के स्थान पर निराकार एवं एकेश्वरवाद की पूजा व उपासना का प्रचलन आवश्यक था। इस प्रकार, हिन्दुत्व में एक सुधारवादी लहर उठी जिसने भक्ति आन्दोलन का रूप ले लिया। इस प्रकार यह आन्दोलन तत्कालीन परिस्थितियों की उपज था। हिन्दू-मुस्लिम के मध्य सामाजिक-धार्मिक भाईचारे का प्रतिपादन करने की इच्छा का प्रतीक था।

भक्ति का स्वरूप—भक्ति आन्दोलन ने जिस भक्ति पर जोर दिया था उसका स्वरूप सरल एवं पवित्र था। उसका कोई धर्मग्रन्थ, पुरोहित तथा कर्मकाण्ड न थे। भक्तिमार्गी सन्त बहुदेववाद के विरोधी थे। वे एकेश्वरवाद में विश्वास रखते थे और राम, कृष्ण, शिव, करीम, रहीम, अल्लाह आदि को उस एक ईश्वर के ही विभिन्न नाम मानते थे। अधिकांश सन्तों ने मूर्तिपूजा का भी विरोध किया। परन्तु सभी ने एक स्वर से जाति-पाँति का विरोध किया और यह घोषित किया कि कोई भी व्यक्ति भक्ति के माध्यम से मोक्ष प्राप्त कर सकता है। उनका कहना था कि भक्त को पूर्ण निष्ठा, त्याग एवं श्रद्धा के साथ ईश्वर की भक्ति करनी चाहिए और उसके साथ एकाकार होने का प्रयास करना चाहिए। उनकी मान्यता थी कि ईश्वर किसी स्थान विशेष में नहीं रहता बल्कि वह प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में निवास करता है और केवल भक्ति के माध्यम से ही उससे सम्पर्क किया जा सकता है। इसके लिए भक्त को शरीर और मस्तिष्क से सभी विकारों को मुक्त करना जरूरी है और मार्गदर्शन के लिए एक सच्चे गुरु का होना भी आवश्यक है। भक्तिमार्गी सन्तों ने लोकभाषा के माध्यम से भजन, गीत और दोहों के सहारे लोगों को उपदेश दिये।

भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तक सन्त

रामानुजाचार्य—रामानुजाचार्य को मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन का जन्मदाता कहा जाता है। उनका जन्म 1016 ई. में श्रीरंगम् के आचार्य परिवार में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद उन्हें कांजीवरम् के यादव प्रकाश के पास वेदान्त की शिक्षा के लिए भेजा गया। अध्ययनकाल में वेद की रचनाओं का अर्थ निकालने में अपने गुरु से मतभेद हो गया और उन्होंने स्वतन्त्र रूप से अपने विचारों का प्रचार आरम्भ किया। कुछ दिनों तक गृहस्थ जीवन बिताने के बाद उन्होंने संन्यास ले लिया और दक्षिण तथा उत्तर भारत के धार्मिक स्थानों का भ्रमण किया तथा उपलब्ध धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया। इसके बाद उन्होंने अपने विचारों की पुष्टि के लिए पाँच ग्रन्थों की रचना की—(1) वेदान्त सारम् (2) वेदान्त संग्रहम्, (3) वेदान्त दीपक, (4) भगवद्गीता की टीका, और (5) ब्रह्मसूत्र की टीका जो "श्रीभाष्य" के नाम से अधिक प्रसिद्ध है।

रामानुज ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद में कुछ संशोधन करके "विशिष्टाद्वैतवाद" की स्थापना की। शंकर का ब्रह्म शुद्ध, बुद्ध और निराकार था। उसका मनुष्य से कोई सीधा

सम्पर्क नहीं है। साधारण मनुष्य उसकी कल्पना भी नहीं कर पाता था। इसी ब्रह्म में ईश्वरत्व का आरोप कर रामानुज ने उसे साधारण मनुष्य की बुद्धि की पकड़ में लाने का प्रयास किया। रामानुज ने ईश्वर, जगत् और जीव—तीनों को सत्य और अनादि माना तथा जीव और जगत् को अनिवार्य रूप से ईश्वर पर आश्रित माना। रामानुज का ईश्वर सगुण है, सर्वगुणसम्पन्न है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान है और सर्वत्र है, वह इस सृष्टि का निर्माता है और उसकी रचना सीमित अर्थ में उससे अलग है। यही द्वैध का आधार भक्ति के सिद्धान्त का आधार है। इस स्थिति में जीव अपने ईश्वर से व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित कर सकता था। रामानुज ने "प्रपत्ति" का मार्ग भी बतलाया। मोक्ष प्राप्ति के लिए यह मार्ग अधिक सरल है, क्योंकि इसमें न ज्ञान की आवश्यकता है और नही विद्याभ्यास तथा योग साधना की। ईश्वर में पूर्ण विश्वास कर उसे पूर्ण आत्मसमर्पण कर देना ही प्रपत्ति है। उनका यह मार्ग सभी के लिए खुला था। इससे लाखों शूद्रों और अन्त्यजों के लिए भी हिन्दू धर्म में आशा की किरण का संचार हुआ। अब उन्हें धार्मिक तथा आध्यात्मिक सन्तोष के लिए दूसरा मार्ग ढूँढ़ने की आवश्यकता न रही।

निम्बार्क—रामानुज ने विष्णु भगवान की आराधना का प्रचार किया तो निम्बार्क ने कृष्ण भक्ति का। उनका जन्म मद्रास प्रान्त के वेलारी जिले में हुआ था। वे रामानुज के समकालीन थे और उन्हीं की भाँति शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खण्डन किया। निम्बार्क मध्यममार्गी थे अर्थात् वे द्वैतवाद को भी मानते थे और अद्वैतवाद को भी। इसलिए उनका सिद्धान्त "द्वैताद्वैतवाद" कहलाया। इनके अनुसार जीव तथा ईश्वर व्यवहार में भिन्न है। किन्तु सिद्धान्ततः अभिन्न है। अपने इस मत के आधार पर उन्होंने राधाकृष्ण की भक्ति प्रतिपादित की। उनके अनुसार कृष्ण के प्रति प्रेमपूर्ण भक्ति और आत्मसमर्पण की भावना से मोक्ष की प्राप्ति सरल हो जाती है। उनके मत को "सनक सम्प्रदाय" भी कहा जाता है। सनक सम्प्रदाय में शरणागति का भाव तो स्वीकार्य था परन्तु ध्यान योग को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया। निम्बार्क का कृष्ण सभी अच्छे गुणों से युक्त तथा सभी विकारों से परे है। उनका अवतारवाद में भी विश्वास था। उन्होंने नैतिकता के नियमों के पालन पर जोर दिया।

मध्वाचार्य—मध्वाचार्य का जन्म 1197 ई. में कन्नड़ जिले के उडिपी नगर के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। अपनी शारीरिक शक्ति के कारण वे भीम समझे जाते थे। युवावस्था में ही उन्होंने संन्यास ले लिया। वे भी रामानुज की भाँति विष्णु के उपासक थे। उन्होंने वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर "विष्णु" की प्रतिष्ठा की। वे अद्वैत के स्थान पर द्वैतवाद में विश्वास रखते थे। मध्वाचार्य में वाद-विवाद करने की अद्भुत योग्यता थी। अपने विचारों की पुष्टि के लिए उन्होंने देश के विभिन्न भागों का भ्रमण किया और अनेक विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। मध्वाचार्य का सिद्धान्त "द्वैतवाद" कहलाता है जो रामानुज के सिद्धान्त से काफी मिलता-जुलता है। दोनों ईश्वर की भक्ति में विश्वास रखते हैं और विष्णु को ही ईश्वर मानते हैं। अन्तर इतना ही है कि मध्वाचार्य जीव और जगत् को ईश्वर से सर्वथा भिन्न मानते हैं। उनके विचार से अन्य सभी तत्त्व ईश्वर से भिन्न होते हुए भी उस पर आधारित हैं। केवल ईश्वर की ही अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। उनका ईश्वर सर्वगुणसम्पन्न है और उसका सम्पूर्ण ज्ञान मानवशक्ति से परे है। ज्ञान द्वारा ईश्वर की प्राप्ति सम्भव नहीं हो सकती। उसकी प्राप्ति केवल भक्ति से ही हो सकती है। इसके लिए निष्काम कर्म, उचित गुरु का मार्गदर्शन और ईश्वर की उपासना आवश्यक है।

रामानन्द—रामानुज, निम्बार्क और मध्वाचार्य ने भक्तिमार्ग को प्रेरणा दी परन्तु फिर भी अभी तक यह मार्ग अधिक लोकप्रिय न बन सका था। रामानन्द ने भक्तिमार्ग को लोकप्रिय बना दिया। रामभक्ति को प्रचारित कर उसे जनधर्म बनाने का श्रीगणेश भी रामानन्द ने ही किया। प्रमाणों के अभाव में उनका जीवनकाल निश्चित करना बहुत कठिन है परन्तु बहुत से विद्वानों के अनुसार उनका जन्म 1299 ई. में प्रयाग के एक अन्य कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ। उन्होंने बनारस में शिक्षा प्राप्त की तथा वहाँ स्वामी राघवानन्द से श्री सम्प्रदाय की दीक्षा ली। किन्तु रामानन्द ने बैकुण्ठवासी विष्णु के स्थान पर मानव शारीरधारी और राक्षसों का संहार करने वाले भगवान् राम की प्रतिष्ठा की। वस्तुतः उस समय में हिन्दू समाज को एक ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो वीरता को उभार सके और त्याग एवं बलिदान की प्रेरणा दे सके। यद्यपि विष्णु के एक अवतार के रूप में भगवान राम को पहले से ही मान्यता प्राप्त हो चुकी थी परन्तु राम की भक्ति और उपासना का व्यापक प्रचार रामानन्द ने ही किया था। रामानन्द ने "ब्रह्मसूत्र" पर "आनन्द भाष्य" लिखा जिसमें ब्रह्म के रूप में श्रीराम को मान्यता प्रदान की। उन्होंने ईश्वर के सगुण और निर्गुण—दोनों रूपों का समर्थन किया। उनके द्वारा स्थापित सम्प्रदाय "रामावत सम्प्रदाय" कहलाता है। वे रामानुज के विशिष्ट दर्शन में आस्था रखते थे और रामानुज के विचारों का समस्त उत्तरी भारत में प्रचार किया। कहा जाता है कि दक्षिण भारत में भक्ति की जो परम्परा आलवार सन्तों एवं वैष्णव आचार्यों के नेतृत्व में विकसित हुई थी, रामानन्द उसे उत्तरी भारत में ले आये।

रामानुज चारों वर्णों और अनेक जातियों की एकता में विश्वास नहीं करते थे परन्तु रामानन्द का दृष्टिकोण संकुचित नहीं था और देश के सभी भागों का भ्रमण करने से तथा विभिन्न मतों और सम्प्रदायों के लोगों के सम्पर्क में आने के बाद उनके विचारों में उदारता आ गई थी। उन्होंने जाति-पाँति और ऊँच-नीच का भेद नहीं माना और शूद्रों, मुसलमानों तथा स्त्रियों को भी अपना शिष्य बनाया। उनके पूर्व स्त्रियों को धार्मिक विचार-विमर्शों और कार्यों में भाग नहीं लेने दिया जाता था। रामानन्द ने इस प्रतिबन्ध को नहीं माना। उनकी मान्यता थी कि राम के भक्ति बिना भेदभाव के एक साथ खा-पी सकते हैं। भगवान के भक्तों के लिए *वर्णाश्रम का बन्धन व्यर्थ है। परमेश्वर का एक गोत्र और परिवार है, अतः सभी भाई-बाई हैं* और सबकी एक जाति है। इस सार्वभौम मानववाद के आधार पर रामानन्द ने समाज के सभी तत्त्वों को एकता के सूत्र में पिरोने का प्रयास किया। उनके प्रसिद्ध बारह शिष्यों में उच्च वर्ग के शिष्यों के साथ निम्न जाति के लोग भी थे। उनके शिष्यों में धन्ना नामक जाट, सेन नामक नाई, रैदास नामक चमार और कबीर नामक जुलाहा भी था। भवानन्द, सुखानन्द, आशानन्द, सुरसुरानन्द, परमानन्द, महानन्द—ये सभी ब्राह्मण थे। पद्मावती और सुरसरी उनकी प्रमुख शिष्याएँ थीं और गंगा नामक एक वेश्या ने भी उनसे दीक्षा ली। इस प्रकार, रामानन्द ने जाति, वर्ग और यौन भेद से रहित तथा समानता और बन्धुत्व पर आधारित नई सामाजिक व्यवस्था का सूत्रपात किया।

रामानन्द ने वैष्णव सम्प्रदाय और भक्ति आन्दोलन को मुख्यतः तीन प्रकार से प्रभावित किया। प्रथम, उन्होंने राम-सीता की भक्ति पर बल दिया। द्वितीय, उन्होंने हिन्दी के माध्यम से अपने उपदेश दिये। इस क्षेत्र में उनके पहले के धर्मगुरुओं (रामानुज, निम्बार्क और मध्वाचार्य) ने संस्कृत का प्रयोग किया था। इसलिए उनके सन्देश संस्कृत समझने वाले

लोगों तक ही पहुंच पाये थे। लेकिन रामानन्द ने हिन्दी में उपदेश दिये जिससे उनका सन्देश आसानी के साथ जनसाधारण तक पहुँच गया। इसका दोहरा लाभ हुआ—एक, उनके उपदेश, जनसाधारण की सीधी पहुँच में आये और दूसरा यह कि इससे देश में हिन्दी साहित्य का विकास हुआ। तृतीय, उन्होंने व्यावहारिक दृष्टि से सभी जातियों और स्त्री-पुरुषों को समान स्थान दिया। उनके प्रयत्नों से भक्ति आन्दोलन और वैष्णव सम्प्रदाय लोकप्रिय बना, निम्न जातियों के लोगों में जागृति आयी और स्त्रियों का स्तर भी ऊँचा उठा। रामानन्द ने रीति-रिवाज, धार्मिक उत्सवों और तीर्थ-यात्राओं पर इतना जोर नहीं दिया जितना प्रेम और भक्ति पर। उन्होंने पहले से चली आ रही कोई बड़ी परम्परा को तोड़े बिना सामाजिक समानता को स्थापित करने का प्रयास किया। इसीलिए यह कहा जाता है कि मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन रामानन्द से प्रारम्भ होता है।

वल्लभाचार्य—यदि रामानन्द ने रामभक्ति का प्रचार किया तो वल्लभाचार्य ने कृष्णभक्ति का प्रचार किया। उनका जन्म एक तैलंग ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता एक उच्चकोटि के विद्वान् थे और बनारस को ही उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र बना रखा था। 13 वर्ष की आयु में ही वल्लभ सभी धर्मग्रन्थों में पारंगत हो गये। भागवत में उनका अटूट विश्वास था और कृष्णभक्ति का उन्होंने समूचे भारत में पूरी लगन के साथ प्रचार किया।

वल्लभाचार्य के विचारों पर विष्णु स्वामी के भक्ति सिद्धान्तों का विशेष प्रभाव पड़ा। वल्लभ ने उनके विचारों को अधिक सुस्पष्ट कर उनका प्रतिपादन किया। उन्होंने पुष्टि मार्ग की स्थापना की। उनकी प्रेरणा से स्थान-स्थान पर श्री भागवत का परायण होने लगा। उन्होंने ब्रह्मसूत्रं, श्रीमद्भागवत और गीता को अपने पुष्टि मार्ग का प्रमुख साहित्य घोषित किया। उन्होंने प्रेम लक्षणा भक्ति पर विशेष बल दिया। उन्होंने वात्सल्य रस से ओत-प्रोत भक्ति की शिक्षा दी। भगवान के यशोगान को वे अपने पुष्टिमार्ग का मंत्र मानते थे उन्होंने शंकराचार्य के मायावाद का विरोध करके यह सिद्ध किया कि जीव उतना ही सत्य है जितना कि ब्रह्म। फिर भी, वह ब्रह्म का अंश और सेवक ही है। उन्होंने कहा कि जीव भगवान् की भक्ति के बिना शान्ति नहीं पा सकता। भगवान् के अनुग्रह होने पर जीव का पोषण होता है। भगवान् श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है। उनकी सेवा ही जीव का परम कर्त्तव्य है। संसार की अहंता और ममता का त्याग करके श्रीकृष्ण के चरणों में सर्वस्व समर्पण कर भक्ति के द्वारा उनका अनुग्रह पाना ही ब्रह्म सम्बन्ध है।

वल्लभाचार्य के जीवन का अधिकांश समय ब्रज में व्यतीत हुआ। उनके परमप्रिय शिष्य सूरदास थे। वल्लभाचार्य दर्शनशास्त्र के भी प्रकाण्ड विद्वान् थे। उनका मत "शुद्धाद्वैतवाद" कहलाता है। उनकी मुख्य रचनाएँ अणुभाष्य, सिद्धान्त रहस्य और भागवत टीका सुबोधिनी हैं। इन ग्रन्थों में उन्होंने अपने दार्शनिक विचारों की व्याख्या की है। उनकी मान्यता थी कि आत्मा और जड़जगत् ब्रह्म के ही स्वरूप हैं। ब्रह्म बिना किसी वस्तु अथवा शक्ति की सहायता से विश्व का निर्माण करता है। वह सगुण है और सच्चिदानन्द है। अविद्या के कारण हमें जगत् से अलग जान पड़ता है। इस अविद्या से मुक्ति पाने का मार्ग है भक्ति। यह भक्ति ईश्वर की प्रेमपूर्ण उपासना और सेवा है। ईश्वर के प्रति इस प्रकार की अनुरक्ति तभी सम्भव है जब अन्य सभी वस्तुओं से विरक्ति हो जाय क्योंकि प्रेम में एक से अधिक का स्थान नहीं है। वल्लभ का लक्ष्य मुक्ति नहीं है। वह तो अपने आराध्य देव कृष्ण

के पास पहुँचकर सदैव के लिए उनकी सेवा में रत रहना चाहते हैं। वल्लभ के अनुयायियों में अष्टछाप् के कवि हुए, जिन्होंने कृष्णभद्ति का अपनी रचनाओं के माध्यम से सर्वसाधारण में प्रचार किया।

चैतन्य महाप्रभु—चैतन्य महाप्रभु भक्ति आन्दोलन के महानतम सन्त थे। उनका जन्म 1485-86 ई. में कलकत्ता से 75 मील उत्तर में स्थित नादिया ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उस समय मुसलमानों के आतंक से भयभीत वैष्णव भक्त बंगाल के विभिन्न स्थानों से भागकर नवद्वीप (नादिया) में ही शरण ले रहे थे। अत: नवद्वीप में वैष्णव भक्ति की धारा अबाध गति से बह रही थी। चैतन्य ने गाँव की पाठशाला में ही संस्कृत व्याकरण और काव्य का अध्ययन किया और फिर घर पर ही भागवत तथा अन्य पुराणों का अध्ययन किया। चूँकि उनके बड़े बाई विष्णुरूप ने संन्यास ने लिया था, इसलिए उनकी माता ने वाल्यकाल में ही इनका विवाह कर दिया। 11 वर्ष की आयु में चैतन्य के पिताजी का देहान्त हो गया। पिता के पिण्डदान और श्राद्ध के लिए 1505 ई. में चैतन्य को गया जाना पड़ा। वहाँ उनकी भेंट ईश्वरपुरी नामक संन्यासी से हुई और उसका प्रभाव चैतन्य पर ऐसा पड़ा कि वे उसके शिष्य हो गये। गया से वापस आने के बाद चैतन्य गृहस्थ जीवन से विरक्त होकर कृष्णभक्ति में लीन होने लग गये। उनका विचार देशाटन करके कृष्णभक्ति का प्रचार करना था। अत: 24 वर्ष की आयु में केशवभारती से दीक्षा लेकर संन्यासी हो गये। संन्यास लेने के बाद आठ वर्ष तक चैतन्य ने देश का भ्रमण किया।

कहा जाता है कि वेदों और उपनिषदों के अध्ययन से भी तब चैतन्य की जिज्ञासा शान्त न हुई तो उन्होंने इन ग्रन्थों को समुद्र में फेंक दिया। उन्होंने भक्ति तथा प्रेम के माध्यम से ही ईश्वर को प्राप्त करने का मार्ग अपनाया। उनका कहना था कि ईश्वर कई रूप धारण करता है परन्तु उनमें सबसे मोहक और आकर्षक रूप कृष्ण का है। वे कृष्ण को ईश्वर का अवतार न मान कर स्वयं ईश्वर मानते थे। उनके विचार से सबसे ऊँची भक्ति और प्रेम का घनिष्ठ स्वरूप पति और पत्नी के सम्बंन्ध से मिलता है जिसमें किसी प्रकार का व्यवहार नहीं होता और कोई सीमा नहीं होती। इसी प्रकार का सम्बन्ध भक्त और ईश्वर के मध्य होना चाहिए। इसीलिए राधा और कृष्ण की कल्पना की गई है। कृष्ण परम ब्रह्म है और उनके भक्त राधा स्वरूप हैं। इसलिए भक्त का कृष्ण के प्रेम में विह्वल होना स्वाभाविक है। चैतन्य आत्मविभोर हो अपना अस्तित्व भूलकर अपने आराध्यदेव में लीन हो जाते थे और इसके लिए उन्होंने संगीत और नृत्य का सहारा लिया जो संकीर्तन कहलाता था। मथुरा-वृन्दावन से लेकर पूर्वी-बंगाल तक कीर्तन की परम्परा शीघ्र ही लोकप्रिय हो गई। इसमें व्यक्ति सामूहिक रूप से मिलकर गाते-बजाते हुए कृष्ण का नाम लेते हुए भजन गाते थे। चैतन्य और उनके अनुयायी सड़कों पर भजन-कीर्तन करते हुए नाचते-गाते थे और इतने मस्त हो जाते थे कि उनमें से अनेक मूर्छित अथवा आधे पागल की स्थिति में पहुँच जाते थे। स्वयं चैतन्य भक्ति के आवेश में कभी मूर्छित और कभी समाधिस्थ हो जाते थे।

चैतन्य ने लोगों को कृष्णभक्ति का मन्त्र दिया। कृष्णभक्ति एवं कीर्तन का प्रचार उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था। उनके निर्मल चरित्र एवं प्रेमपूर्ण व्यवहार से असंख्य लोग उनके अनुयायी बन गये। अपने जीवन के अन्तिम बारह वर्ष में वे कृष्ण के विरह में व्याकुल रहा करते थे तथा उनके नेत्रों से प्रेम के आँसू प्रवाहित हुआ करते थे। उनके

भक्तगण उन्हें कृष्ण की प्रेम-लीलाएँ सुना-सुना कर सान्त्वना दिया करते थे। एक दिन भक्ति के उन्माद में दौड़-कर समुद्र में घुस गये तथा 48 वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया।

चैतन्य का धर्म रस्मों और आडम्बरों से मुक्त था। उन्होंने परमात्मा में पूर्ण आस्था रखने का उपदेश दिया। उनकी उपासना का स्वरूप प्रेम, भक्ति, कीर्तन और नृत्य था। प्रेमावेश में भी भक्त परमात्मा से साक्षात्कार का अनुभव करता है। चैतन्य का कहना था कि यदि कोई जीव कृष्ण पर श्रद्धा रखता है, अपने गुरु की सेवा करता है तो वह मायाजाल से मुक्त होकर कृष्ण के चरणों को प्राप्त करता है। चैतन्य ने ज्ञान के स्थान पर प्रेम और भक्ति को प्रधानता दी। परन्तु राधा-कृष्ण के प्रेम का दुरुपयोग न हो सके इसके लिए उन्होंने स्त्रियों को पुरुषों से पृथक् रहने का उपदेश दिया। वे मूर्तिपूजा और धर्मग्रन्थों के विरोधी नहीं थे परन्तु कर्मकाण्ड और आडम्बरों से उन्हें घृणा थी। चैतन्य के अनुसार सभी लोग समान रूप से ईश्वर भक्ति कर सकते हैं। भक्ति मार्ग में ऊंच-नीच का भेदभाव नहीं होता, सभी भक्तजन भगवान श्रीकृष्ण के चरणाश्रित होने के अधिकारी है। चैतन्य और उनके अनुयायियों ने मुसलमान एवं निम्न वर्ग के लोगों को भी कृष्णभक्ति की शिक्षा दी थी। चैतन्य के प्रभाव से ब्राह्मणों की शक्ति पर कुठाराघात हुआ और शूद्रों को भी भक्ति का अधिकार मिल गया। चैतन्य ने अपने "शिक्षाष्टक" में कृष्ण भक्ति के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार भक्ति का प्रथम और प्रमुख साधन "हरिनाम-संकीर्तन" है। चैतन्य को संगीत प्रवर्तक भी कहा जाता है।

चैतन्य की मृत्यु के पश्चात् कृष्णभक्ति के इस आन्दोलन ने अधिक ठोस रूप धारण कर लिया और वह एक सम्प्रदाय के रूप में विकसित होने लगा। वृन्दावन के गोस्वामियों ने चैतन्य सम्प्रदाय के धार्मिक सिद्धान्तों और रीति-रिवाजों को व्यवस्थित रूप प्रदान किया। वृन्दावन के गोस्वामी चैतन्य को अपना प्रभु मानते थे परन्तु नादिया ग्राम के उनके अनुयायी उन्हें कृष्ण का प्रतीक मानने लगे और गौसंग महाप्रभु के रूप में स्वयं चैतन्य की पूजा होने लगी।

नामदेव—15वीं सदी में नामदेव ने महाराष्ट्र में भक्ति मार्ग को बहुत लोकप्रिय बनाया। उनका जन्म एक दर्जी परिवार में हुआ था और तत्कालीन प्रथा के अनुसार बाल्यावस्था में ही उनका विवाह कर दिया गया। पिता की मृत्यु के बाद परिवार का बोझ भी उनके कन्धों पर आ पड़ा। माता और पत्नी ने उन पर पैतृक व्यवसाय करने के लिए बहुत दबाव डाला परन्तु नामदेव ने हरिकीर्तन का व्यवसाय कर लिया। कुछ दिनों बाद वे पण्डरपुर में जाकर बस गये। यहाँ से वे भारत भ्रमण के लिए निकले। पंजाब आदि प्रान्तों में भक्ति का प्रचार करके वे पुनः पण्डरपुर में आ बसे। नामदेव ने जनसाधारण को प्रेम एवं भक्ति का पवित्र उपदेश दिया और उनके मस्तिष्क से परम्परागत रीति-रिवाज और जाति-पाँति के बन्धनों का प्रभाव हटाने का प्रयास किया। उनके शिष्यों में सभी जातियों और वर्गों के लोग थे। नामदेव भी अन्य सन्तों की भाँति एकेश्वरवादी थे और मूर्तिपूजा तथा पुरोहितों के नियन्त्रण के विरुद्ध थे। उनकी भी मान्यता थी कि भक्ति के माध्यम से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। उनकी वाणी से इस कथन की पुष्टि होती है। जैसे कि—

हिन्दू अन्धा, तुरको काना। दूवौं तो ज्ञानी सयाना।

हिन्दू पूजै देहरा, मुसलमान मसीद नाभा। सोई सेविया जहं देहरा न मसीद॥

रैदास—रैदास का जन्म काशी के एक चमार परिवार में हुआ था। वे रामानन्द के बारह प्रमुख शिष्यों में से एक थे। वे बचपन से ही साधुसेवी थे। उनकी पत्नी भी थी। वे जूते बनाकर अपनी जीविका चलता थे। रैदास तीर्थयात्रा, जातिभेद, उपवास आदि के विरोधी थे। हिन्दू तथा मुसलमानों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं मानते थे। वे निर्गुण भक्ति में विश्वास रखते थे। उनमें ईश्वर के प्रति समर्पण की भावना स्पष्ट झलकती है। श्री हरि चरणों का अनन्य आश्रय ही उनकी साधना का प्राण है। उनके प्रभाव के कारण निम्न जातियों के लोगों में भक्ति आन्दोलन की धारा बह चली और उन्हें भी अब हिन्दू धर्म में आकर्षण दिखलाई देने लगा। रैदास से "रैदासी सम्प्रदाय" प्रारम्भ हुआ और आज भी अधिकांश हिन्दू चमार इस सम्प्रदाय के अनुयायी हैं।

दादू—भक्ति आन्दोलन के नेताओं में "दादू" का नाम भी विशेष महत्त्व रखता है। यद्यपि इनका जन्म अहमदाबाद में हुआ था, किन्तु इनका अधिकांश जीवन राजस्थान में व्यतीत हुआ। कबीर व नानक की भाँति दादू ने भी अन्धविश्वासों, मूर्तिपूजा, जाति-पाँति, तीर्थयात्रा, उपवास आदि का विरोध किया और जनता को सीधा और सच्चा जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया। दादू एक अच्छे कवि भी थे। उन्होंने अपने भजनों के माध्यम से विभिन्न सम्प्रदायों के मध्य प्रेम एवं भाईचारे की भावना बढ़ाने पर जोर दिया। उन्होंने जो पन्थ चलाया वह दादू-पन्थ के नाम से विख्यात हुआ। उनकी मृत्यु के बाद उनके शिष्यों-गरीबदास और माधोदास ने उनके उपदेशों को फैलाने का अथक प्रयास किया।

रामानन्द, निम्बार्क, मध्वाचार्य, रामानन्द, वल्लभाचार्य आदि धर्म सुधारक सन्त अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् व्यक्ति भी थे। उन्होंने धर्मशास्त्रों को गहन अध्ययन किया था और उनके सिद्धान्तों में विशेष हेरफेर की आवश्यकता न समझ कर समाज की आवश्यकता के अनुकूल ही उनका अर्थ निकालने की चेष्टा भी की थी। उपनिषदों और शास्त्रों के सिद्धान्तों में आमूल परिवर्तन करने का न तो उनमें साहस था और न वे उनकी आवश्यकता ही समझते थे। यह काम कबीर और नानक ने किया।

कबीर—कबीर के जन्म के सम्बन्ध में कई किंवदन्तियाँ हैं। इसलिए उनकी जाति और जन्म के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। सामान्य मान्यता यह है कि वे एक हिन्दू विधवा के पुत्र थे जिसने लोक-लज्जा के भय से उन्हें नवजात अवस्था में बनारस के एक तालाव के किनारे छोड़ दिया था। नीरु नामक एक मुसलमान जुलाहा उस नवजात शिशु को उठाकर अपने घर ले आया और उसका पालन-पोषण किया। बाद में कबीर का विवाह भी कर दिया गया। उनकी पत्नी का नाम लोई था। उससे उन्हें एक पुत्र कमाल और पुत्री कमाली हुई। गृहस्थ जीवन में रहते हुए तथा अपना पैतृक व्यवसाय करते हुए कबीर साधु-सन्तों की सेवा करते थे और उनसे ज्ञान प्राप्त करते थे। कवीर अनपढ़ थे किन्तु उनमें ज्ञान प्राप्ति तथा सही मार्ग ढूँढ़ने की तीव्र उत्कण्ठा थी। बाद में वे रामानन्द स्वामी के शिष्य बन गये। उनके विचारों से पता चलता है कि उन्हें हिन्दू-मुस्लिम दोनों के धर्मग्रन्थों का ज्ञान था।

कबीर ने भक्ति आन्दोलन को नया मोड़ दिया। उन्होंने गृह-त्याग किये बिना ही आध्यात्मिक विकास किया और आस-पास के लोगों को धर्म का असली अर्थ समझाया। उनके उपदेशों के दो मुख्य लक्ष्य थे—(1) धर्म के बाह्याडम्बरों से मुक्त होकर आध्यात्मिक

विकास करना और (2) हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच में सद्‌भावना का वातावरण बनाना। कबीर ने मध्यकाल में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था के विकृत रूप तथा जाति-पाँति के भेदभाव का प्रबल विरोध किया। उन्होंने ऊँच-नीच और छुआछूत की भावनाओं का भी खण्डन किया। उनका कहना था कि, "सभी मनुष्यों का जन्म समान रूप से होता है, सभी में भगवान का वास है, यह ऊँच-नीच कैसी?" कबीर ने दूसरों की निन्दा करने वालों की भी कड़ी आलोचना की है। उनका कहना था कि मनुष्यों को दूसरों की निन्दा त्याग करके भगवान का स्मरण करना चाहिए। कबीर स्त्री-जाति के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने स्त्री को "कामणि काली नागणी" कहकर सम्बोधित किया है। उनका मानना था कि मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु "काम" है और स्त्री काम को बढ़ाती है। इसलिए कबीर ने "स्त्री" तथा "काम" दोनों की निन्दा की है। उन्होंने कुसंग की निन्दा तथा कपट का विरोध किया। उनके अनुसार जिस प्रकार लोहा पानी में डूब जाता है उसी प्रकार मूर्खों के साथ रहकर मनुष्य भी भवसागर में डूब जायेगा। कबीर ने हिन्दू और मुस्लिम दोनों के अर्थहीन आडम्बरों और रस्मों का खण्डन किया। वे यदि हिन्दुओं के जाति-पाँति, ऊँच-नीच की भावना ओर मूर्ति-पूजा के विरोधी थे तो उन्हें मुसलमानों की नमाज, रमजान के उपवास, मक़बरों और कब्रों की पूजा आदि भी पसन्द न थी। उन्होंने एकेश्वरवाद, प्रेम मार्ग और भक्ति पर जोर दिया। उनके धर्म की परिभाषा भी अलग थी। वे ईश्वर और मानवता के प्रति प्रेम को ही धर्म मानते थे। उनके अनुसार भक्ति के बिना कोई धर्म नहीं हो सकता।

कबीर ने हिन्दू और इस्लाम दोनों धर्मों के बाह्याडम्बरों की निन्दा करते हुए दोनों की मूलभूत एकता पर जोर दिया। एक बार उन्होंने कहा था कि—

कांकर पाथर जोरि के मस्जिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहरा भया खुदाय॥

उन्होंने मुस्लिम हजयात्रियों को भी लताड़ा। उनका कहना था कि, "यदि तुम्हारे दिल में भक्ति-भावना का उदय नहीं होता तो इस यात्रा से कोई लाभ नहीं है।" इसी प्रकार कबीर ने हिन्दू पण्डितों की भी निन्दा की है। हिन्दुओं की तीर्थयात्रा और मूर्तिपूजा का उन्होंने कड़ा विरोध किया। उनका मुख्य उद्देश्य हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता स्थापित करना था। उनका मानना था कि प्रेम मार्ग द्वारा ही दोनों जातियों में समन्वय हो सकता है।

कबीर की वाणी का संग्रह "बीजक" के नाम से प्रसिद्ध है। बीजक के तीन भाग हैं—(1) रमैनी, (2) सबद, और (3) साखी। कबीर की भाषा खिचड़ी है जिसमें पंजाबी, राजस्थानी, खड़ी बोली, अवधी, पूर्वी ब्रजभाषा इत्यादि अनेक भाषाओं का पंचमेल है। उनकी भाषा साहित्यिक न होने पर भी बहुत जोरदार है।

कबीर सत्य, अहिंसा, सदाचार इत्यादि सद्‌गुणों के उपासक थे। उन्होंने ईश्वर के निर्गुण अर्थात् निराकार रूप की पूजा की। उनका ईश्वर सभी गुणों से परे था। वे कहते हैं—

"कोई ध्यावे निराकार को, कोई ध्यावे आकार।
वह तो इन दोउन तै न्यारा, जाने जानन हारा॥"

उन्होंने ईश्वर को कभी मित्र, कभी माता-पिता और कभी पति के रूप में देखा है। कभी वे कहते हैं "हरि मोर पिउ, मैं राम की बहेरिया" और कभी कहते हैं "हरि जननी, मैं

बालक तोरा।" उनके अनुसार ईश्वर की सच्ची भक्ति से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है और भक्ति के लिए गुरु का होना परमावश्यक है। वे गुरु को ईश्वर से भी अधिक महत्त्व देते हैं। उन्होंने कहा है—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पांय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दिया बताय॥

कबीर निगुर्ण सन्त थे। उनका ईश्वर सर्वव्यापी था। वह केवल एक ही है और वह कभी अवतार नहीं लेता। वह मन्दिर में नहीं रहता, वह मस्जिद में भी नहीं है, न हो वह काबा में निवास करता है और न काशी में। वह तो हमारे भीतर ही विद्यमान है। वस्तुतः उनका सबसे बड़ा काम हिन्दू-मुसलमानों में सद्भावना उत्पन्न करना था। इसीलिए उनका कहना था कि राम, रहीम, कृष्ण, करीम आदि उसी एक परमेश्वर की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। विभिन्न धर्मों और ईश्वर में केवल नाम का अन्तर है। सोना एक जैसा ही होता है परन्तु उसके जेवर बन जाने के पश्चात् नाम अलग-अलग हो जाते हैं। धर्म के कारण झगड़ा करने वाले अज्ञानी होते हैं। उनका कहना था कि नामों के विवाद को छोड़कर भक्ति और प्रेम से ईश्वर को याद करो। वही सत्य है और वही निर्वाण प्राप्ति का मार्ग है। इसके लिए आसन लगाना, आँखें मूँदना, डण्डा-मुद्रा धारण करना, खप्पर, सिंगी, जगौटा आदि योगी का वेश ग्रहण करना, जप-तप और मन्त्र-तन्त्र में लीन रहना तथा घरबार और काम-धंधा छोड़कर मठों, अखाड़ों और सम्प्रदायों में शामिल होना सब बेकार है।

कबीर की वाणी सामाजिक संघर्ष की ज्वाला है। वे शास्त्रीयता, शरीयत, प्रदर्शन, पाखण्ड और उपचार के शत्रु हैं। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को खरी-खरी सुनाई है। इनके धार्मिक आडम्बरों पर कठोर आघात किये हैं। उनकी दृष्टि में भगवान एक है, अतः मानवता भी एक है और उसमें आचार तथा उपचार के आधार पर भेद करना भ्रांति है। जाति, धर्म, सम्प्रदाय आदि के नाम पर मनुष्यों के बीच भेदभाव की दीवारें खड़ी करना अक्षम्य अपराध है। कबीर के उपदेशों का निम्न जातियों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उनके अनुयायी 'कबीरपंथी' कहलाये।

गुरु नानक—निर्गुण विचारधारा के दूसरे प्रमुख सन्त थे गुरु नानक । गुरु नानक भी कबीर की भाँति हिन्दू-मुस्लिम एकता में विश्वास करने वाले तथा पारिवारिक जीवन व्यतीत करने वाले सन्त थे। उनका जन्म पंजाब में लाहोर से 30 मील दूर तलवंडी (आधुनिक ननकाना साहिब, जो पाकिस्तान में है) नामक ग्राम में 1469 ई. में एक खत्री परिवार में हुआ था। उनके पिता कालू ग्राम के पटवारी थे। नानक की प्रारम्भिक शिक्षा गाँव की पाठशाला में ही हुई थी। उन्होंने हिन्दी, संस्कृत और फारसी भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। किन्तु शिक्षा से उन्हें कोई मोह नहीं था। बचपन से ही वे विचारमग्न रहते थे एवं जीवन एवं मृत्यु की समस्याओं पर विचार करते रहते थे। उनकी ऐसी स्थिति देखकर उनके पिता ने उनकी 18 वर्ष की आयु में विवाह कर दिया और तत्पश्चात् आपके दो पुत्र भी हुए। नानक के पिता ने उन्हें काम सीखने के लिये उनके श्वसुर के पास भेज दिया, परन्तु नानक हिसाब-किताब का काम ठीक से नहीं कर पाये और साधु संन्यासियों की संगति में रहने लगे। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए वे भगवान की ओर आकृष्ट हुए। किन्तु वे भी कबीर की तरह भगवान की निर्गुण भक्ति के समर्थक थे। साधु-संन्यासियों की संगति में रहते-रहते वे स्वयं

धर्मगुरु बन गये और लोगों को उपदेश देने लगे। उन्होंने गृहस्थ जीवन का परित्याग नहीं किया। कबीर की भाँति उनका भी विचार था कि गृहस्थ जीवन आध्यात्मिक उन्नति में बाधक नहीं है।

नानक एक लम्बे समय तक भ्रमण करते रहे और भ्रमण का यह क्रम जीवनभर चलता रहा। कहा जाता है कि वे श्रीलंका और मक्का एवं मदीना तक गये थे। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक केन्द्रों की यात्रा की तथा अनेक साधुओं, सन्तों एवं फकीरों से भी मिले, जिनसे उन्होंने धर्म के विभिन्न पहलुओं पर बहस की। नानक अपने शिष्य मर्दाना के साथ घूम-घूम कर अपने विचारों का भजन के रूप में प्रचार करने लगे। उन्होंने बहुत से प्रेरक पदों की रचना की। उनके द्वारा रचित पदों और गीतों को एक ग्रन्थ के रूप में संकलित कर लिया गया, जो बाद में आदिग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुआ। नानक का रहन-सहन तथा उपासना का ढंग सूफी सन्तों के समान था। नानक का आदिग्रन्थ उनके अनुयायियों के लिए सबसे बड़ा धर्मग्रन्थ है, जिसे 'गुरु ग्रन्थ साहिब' कहा जाता है।

नानक के मतानुसार ईश्वर एक है, जो सर्वव्यापक है और सर्वशक्तिमान है, जिसकी केवल अनुभूति हो सकती है उसे किसी भी प्रकार से शब्दों में वर्णित नहीं किया जा सकता। उन्होंने उस ईश्वर के लिये हरिराम, गोपाल, अल्लाह, खुदा, साहिब आदि नामों का प्रयोग अपने भजनों में किया है। वह निर्गुण, निराकार, आचिन्त्य, शाश्वत, अन्तर्यामी, और सर्वव्यापी है। उनका कहना था कि ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण कर, उसका नाम जपने से, नम्रतापूर्वक व्यवहार करने से और सभी प्रकार के छल-कपट का त्याग कर मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है। नानक का ईश्वर सर्वोच्च, स्वतन्त्र तथा गतिहीन है। उसकी कोई जाति नहीं है, न वह जन्म लेता है और न वह मृत्यु को प्राप्त होता है, जिसकी प्राप्ति प्रेम और भक्ति द्वारा ही सम्भव है। नानक कर्मवाद और पुनर्जन्मवाद में विश्वास रखते थे और इसलिये वे मुक्ति को मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य समझते थे। मुक्ति से उनका अभिप्राय आत्मा का अलग अस्तित्व समाप्त हो जाना तथा आत्मा का परमात्मा में लीन हो जाने से था। अन्य सन्तों की भाँति नानक भी गुरु को महत्त्व देते थे। उनका भी मानना था कि गुरु के ज्ञान के बिना साधक को सन्मार्ग नहीं मिल सकता। साधक के लिये वे नैतिकता, नम्रता, सत्य, दान, दया आदि गुणों का होना आवश्यक मानते थे।

कबीर अशिक्षित थे, जबकि नानक एक सुशिक्षित व्यक्ति थे। यही कारण है कि नानक के कथनों और विचारों में तीव्रता और गर्वोक्ति के स्थान पर मृदुलता और विनम्रता है। उन्होंने समाज के दोषों की, अत्यन्त ही शिष्ट भाषा का प्रयोग करते हुए, आलोचना की। उनके विचारों में भारतीय दार्शनिक परम्परा की स्पष्ट झलक मिलती है। उनके पदों और गीतों में उर्दू-फारसी के तत्कालीन प्रचलित शब्दों का प्रयोग मिलता है। संभवतः इसका कारण यह था कि उनका जन्मस्थान और प्रचार-क्षेत्र पंजाब था, जहाँ उन शब्दों का जनसाधारण में प्रचलन हो चुका था। अतः जनसाधारण की भाषा में अपने विचार रखना अधिक युक्तिसंगत था। उनकी संयत और शिष्ट भाषा तथा उदार विचारों के कारण उनके सिद्धान्तों का प्रभाव उच्च वर्ग के लोगों पर भी पड़ा, जबकि कबीर के अनुयायी केवल निम्न वर्ग के ही लोग थे।

नानक का मुख्य उद्देश्य हिन्दू धर्म में सुधार करना तथा कबीर की भाँति हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना था। वे किसी नवीन धर्म या सम्प्रदाय की

स्थापना करना नहीं चाहते थे और उनके जीवनकाल में सिक्ख धर्म का कोई अस्तित्व भी नहीं था। उनके अनुयायियों तथा शिष्यों को अवश्य सिक्ख कहा जाता था। यह पंजाबी भाषा में संस्कृत 'शिष्य' शब्द का ही रूपान्तर था। 1538 ई. में नानक की मृत्यु के बाद ही उनके अनुयायियों और शिष्यों ने 'सिक्ख धर्म' की स्थापना की थी। कालान्तर में, दस गुरुओं के नेतृत्व में इस धर्म ने महत्त्वपूर्ण उन्नति की। देश में और विशेषकर पंजाब में इस धर्म का आज भी भारी प्रभाव है।

कबीर की भाँति नानक का भी मानना था कि धर्म के बाह्य आडम्बर और उपचार निरर्थक है और इन्हीं बाह्य आडम्बरों के कारण लोगों के बीच अन्तर पैदा होता है और वे गुमराह होते हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही इन बाह्य आडम्बरों में फँसकर इधर-उधर भटक रहे हैं। नानक का उपदेश था कि, "मनुष्य मात्र की भलाई करो, मनुष्य मात्र से प्रेम करो तथा प्रत्येक प्राणी से भ्रातृ-भाव से स्नेह करो।" उन्होंने हिन्दू और मुसलमानों दोनों ही धर्मों के बाह्य आडम्बरों का खण्डन किया। उन्होंने मुसलमानों से कहा कि, "दया को अपनी मस्जिद मानो, भलाई एवं निष्कपटता को अपनी नमाज की दरी मानो, जो कुछ भी उचित एवं न्यायसंगत है, वही तुम्हारी कुरान है। नम्रता को अपनी सुन्नत मानले, शिष्टाचार को अपना रोजा मानले और इस प्रकार तू मुसलमान बन जायेगा।" उन्होंने पाँचों नमाजों की व्याख्या करते हुए कहा, "पहली नमाज सच्चाई है, दूसरी इन्साफ है, तीसरी दया है, चौथी नेक नियति है और पाँचवी भगवान का स्तवन है।" वे जन्म पर आधारित जाति-भेद को नहीं मानते थे। उनकी मान्यता थी कि मनुष्य अपने कर्मों द्वारा ही उच्च व नीच होता है तथा उसे ईश्वर भक्ति द्वारा ही इस संसार से छुटकारा मिल सकता है। नानक ने हिन्दुओं से भी कहा कि, "मैंने चारों वेद पढ़े हैं, अड़सठ तीर्थों पर स्नान किया है, वनों और जंगलों में निवास किया है और सातों ऊपरी व निचली दुनियाओं का ध्यान किया है और मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि मनुष्य चार कर्मों द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकता है—भगवान से भय, उचित कर्म, ईश्वर तथा उसकी दया में विश्वास और एक गुरु में विश्वास जो उचित मार्ग का प्रदर्शन कर सके। नानक ने हिन्दुओं के प्रायः सभी बाह्य आडम्बरों का खण्डन किया, जैसे मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, संसार त्याग आदि। वे मध्यम मार्ग पर चलने का उपदेश देते थे तथा हृदय व मस्तिष्क की पवित्रता पर जोर देते थे। वस्तुतः नानक का लक्ष्य हिन्दुओं और मुसलमानों को एक करना था। उन्होंने धार्मिक झगड़ों को धिक्कारते हुए कहा—

बन्दे इक्क खुदाय के, हिन्दू मुसलमान।
दावा राम रसूल कर, लड़दे बेईमान॥

नानक का उपदेश था—संसार में ईश्वर एक है, दूसरा कोई नहीं और नानक सच कहता है। नानक के उपदेशों का अन्य सन्तों से अधिक प्रभाव पड़ा; क्योंकि जहाँ कबीर की कटुता ने लोगों को रुष्ट कर दिया था, वहाँ नानक ने लोगों के हृदय पर विजय प्राप्त की।

नानक की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे दुर्गुणों से घृणा करते थे, दुर्गुणियों से नहीं। उन्होंने पतितों से प्रेम किया और उन्हें सन्मार्ग का पथिक बनाया। उन्होंने प्रेम, तर्क और मधुर वाणी से दूसरों के हृदय को जीता। उन्होंने नेक कमाई करने का उपदेश दिया और बाँटकर खाने की आदत अपने शिष्यों में डाली। नानक की शिक्षाओं के विषय में कनिंघम ने लिखा है कि, "जगदीश्वर ही सब-कुछ है। मानसिक पवित्रता ही सब-कुछ है। मानसिक

पवित्रता ही प्रथम धर्म है और श्रेष्ठ प्रार्थनीय और श्लाघनीय वस्तु है।" नानकजी आत्मोत्सर्ग और आराधना सीखने का उपदेश देते थे। वे अपने को अन्य प्रवर्तकों की अपेक्षा श्रेष्ठ और असाधारण गुणी तथा शक्तिशाली नहीं समझते थे। उनका कहना था कि दूसरों की भाँति वे भी एक प्राणी हैं। अपने स्वदेशवासियों को पवित्र जीवन बिताने का वे सदा उपदेश देते थे।

नानक कोई धर्म अथवा सम्प्रदाय के प्रवर्तक नहीं थे, बल्कि एक सुधारक थे। वे वेदों और कुरान को नहीं मानते थे। वे जाति-पाँति, ब्राह्मणों की प्रमुखता तथा मुल्लाओं की प्रधानता, तीर्थयात्राओं और मूर्तिपूजा के घोर विरोधी थे। उनके द्वार मानव मात्र के लिये खुले थे और उन्होंने सभी जातियों के लोगों को, यहाँ तक कि अछूतों को भी अपना शिष्य बनाया था। वे सदैव 'पुण्य की प्रशंसा' और 'पाप की निन्दा' इन दो बातों पर बल देते थे। वे एक महान् व्यक्ति थे।

सूरदास—अन्ध कवि एवं भक्त सूरदास संभवत: 16वीं सदी के अन्त में अथवा 17वीं सदी के आरम्भ में पैदा हुआ थे। भवित आन्दोलन के महान् सन्तों में उनका अपना एक विशिष्ट स्थान है। सूरदास एक उच्चकोटि के सन्त थे। वे न उपदेशक थे, न ही सुधारक। उन्होंने किसी सम्प्रदाय अथवा पन्थ की स्थापना नहीं की थी। उनकी तीन रचनाएँ—सूरसारावली, साहित्यलहरी और सूरसागर जनसाधारण में अत्यधिक लोकप्रिय रहीं। सूरदास ने यद्यपि अपने पदों के विषय भागवत पुराण से लिए हैं, किन्तु वह भागवत पुराण या किसी भी रूप में उसका अनुवाद नहीं हैं, सूरसागर पूर्ण रूप से उनकी मौलिक रचना है। सूरदास सगुण भक्त थे और उनके कृष्ण उनके आराध्य देव थे। सूर के काव्य में भक्ति, वात्सल्य और शृंगार—तीनों रसों की त्रिवेणी का सुन्दर संगम हुआ है। पुष्टि मार्ग में दीक्षित होने से सूरदास की कृष्ण भक्ति में दास्य भावना की प्रधानता थी। इसीलिए उन्होंने सूरसागर का आरम्भ "चरण कमल बन्दौं हरि राई" से किया है। वल्लभाचार्य से दीक्षा लेने के बाद सूर की भक्ति का स्वरूप बदल गया और उन्होंने सखाभाव को अपना लिया। सूरसागर प्रेम और भक्ति से ओत-प्रोत तो है ही परन्तु वह कृष्ण के बाल चरित्र-चित्रण के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। अन्ध कवि की तीक्ष्ण मनोवैज्ञानिक दृष्टि ने बालक के अन्तरतम में पैठ कर उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म आन्तरिक भावों का इस खूबी से चित्रण किया मानों स्वयं सरस्वती ने किसी भावुक बालक की जिह्वा पर बैठकर उसके सुकुमार अन्तर्भावों को वाणी दे दी हो। सूर ने व्रजभाषा में अपनी रचनाएँ कीं। उनकी रचनाएँ भगवद् भक्ति का पाठ पढ़ाती हैं तथा, पिछले 300 वर्षों से अधिक समय से सम्पूर्ण उत्तरी भारत के नर-नारियों के लिए प्रेरणा स्रोत रही हैं।

तुलसीदास—गोस्वामी तुलसीदास की जन्मतिथि के बारे में आज भी विद्वानों में गहरा मतभेद बना हुआ है। अधिकांश विद्वानों के अनुसार उनका जन्म 1532 ई. के आसपास हुआ था। तुलसीदास को अपनी पत्नी रत्नावली से अत्यधिक प्रेम था और वे उसके बिना एक क्षण भी घर में नहीं रह पाते थे। कहा जाता है कि एक दिन तुलसीदास की अनुपस्थिति में उनकी पत्नी अपने भाई के साथ अपने पीहर चली गई। घर आने पर जब तुलसीदास को इसका पता चला तो वे तुरन्त अनेक कठिनाइयों को सहकर पत्नी के पास जा पहुँचे। तुलसीदास की इस कामासक्ति को देखकर रत्नावली ने तुलसीदास से कहा कि "हाड़, मांस और चर्म की देह के प्रति आपकी जितनी प्रीति है, उतनी यदि श्रीराम में होती तो भवसागर

पार उतर जाते।'' पत्नी के इन शब्दों ने तुलसी के ज्ञान-चक्षु खोल दिये और उनका वासनामय अनुराग वैराग्य में बदल गया। वे उसी क्षण पत्नी को छोड़कर चले आये और राम की भक्ति में डूब गये। अब उनका सारा जीवन ही राममय हो गया। उन्होंने अपने श्रेष्ठतम और विख्यात ग्रन्थ ''रामचरितमानस'' की रचना 1575 ई. में आरम्भ की थी और दो वर्ष सात माह के अथक परिश्रम के बाद उसे पूरा किया। इस महान् ग्रन्थ के अलावा तुलसीदास ने अन्य ग्रन्थों की भी रचना की, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—गीतावली, कवितावली, विनय-पत्रिका, हनुमानबाहुक आदि। रामभक्ति की महिमा का गुणगान करते हुए 1623 ई. (1680 वि.सं.) में तुलसी का देहान्त हो गया।

तुलसी न केवल एक महान् भक्त कवि ही थे अपितु वे समाज एवं धर्म सुधारक भी थे। उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से तत्कालीन समाज एवं धर्म के क्षेत्र में व्याप्त बुराइयों से जनता को परिचित करवाया और उसे भक्ति तथा प्रेम का मार्ग अपनाने का उपदेश दिया। तुलसी ने प्रचलित मतों में समन्वय करने का प्रयास किया। उन्होंने शूद्रों और ब्राह्मणों में भी समन्वय करने का प्रयास किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में गुरु भक्ति, नारी के प्रति श्रद्धा, भ्रातृ स्नेह, शासक के कर्त्तव्य और सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों पर बहुत अधिक जोर दिया। उन्होंने किसी नये सम्प्रदाय अथवा धर्म की स्थापना नहीं की अपितु प्रचलित धार्मिक मतों में ही समन्वय करने का प्रयत्न किया। उदाहरणार्थ, भगवान श्रीराम लाल या सफेद रंग का चन्दन लगाये हुए हैं, उस समय में यह एक साम्प्रदायिक विवादग्रस्त प्रश्न था। तुलसी ने समन्वयवादी दृष्टि अपनाते हुए लिखा कि जैसा चन्दन उनके शरीर पर अच्छा लगता है, वही चन्दन भगवान श्रीराम लगाये हुए हैं। तुलसी ने निर्गुण और सगुण विचारधारा में भी समन्वय स्थापित करते हुए लिखा है, ''सगुनहि अगुनहिं नहिं कछु भेदा।'' उनका कहना था कि जैसे जल और तरंग अलग नहीं हैं, इसी प्रकार सगुण और निर्गुण भी अलग नहीं है। सगुण रूप तो उसकी लीला मात्र है। सगुण सधारण करने से उसके वास्तविक रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता, केवल उसके नाम रूप में अन्तर पड़ जाता है। ब्राह्मण का यथार्थ भाव ज्यों का त्यों बना रहता है। तुलसी जातीय क्षेत्र में भी उदार थे। उनके भगवान् श्रीराम शबरी (शूद्र) तथा अहिल्या (ब्राह्मण) दोनों के निवासस्थान पर जाते हैं। इतना ही नहीं, भगवान राम ने शूद्र शबरी के जूठे बेर तक खा लिए। इस प्रकार के प्रसंगों के माध्यम से तुलसी ने उस समय की जाति-पाँति में समन्वय करने का प्रयास किया। गोस्वामीजी ने धार्मिक क्रान्ति का जो बिगुल बजाया, वह धर्म के साथ-साथ सामाजिक क्षेत्र के लिए भी महत्त्वपूर्ण था। उनका विश्वास था कि यदि जनता का आचरण शुद्ध हो गया तो सामाजिक अनैतिकता स्वतः ही दूर हो जायेगी। इसी दृष्टि से उन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चरित्र को जनता के समक्ष रखा और उसी के अनुसार जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया। कबीर और नानक की भाँति तुलसी ने भी गुरु के महत्त्व को स्वीकार किया। उन्होंने लिखा है ,''बन्दौं गुरु पद कंज, कृपा सिन्धु नररूप हरि।'' इतना ही नहीं उनके मत से गुरु की वन्दना तो राजा को भी करनी चाहिए। गुरु को वे परमेश्वर के समान मानते थे।

तुलसी जाति-पाँति के विरोधी थे। उन्होंने निम्न और ऊँची जातियों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं माना। परन्तु उनका मानना था कि जिस प्रकार निम्न जातियों की रक्षा करना अथवा उनकी सहायता करना उच्च वर्ग का कर्त्तव्य है, उसी प्रकार निम्न वर्गों का भी कर्त्तव्य

हैं कि वे उच्च वर्ग के लोगों के प्रति श्रद्धा एवं सम्मान का व्यवहार करें। कुछ लोगों ने तुलसी के इस पद को—"ढोर गंवार शूद्र पशु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी" लेकर उन पर स्त्री-विरोधी होने का आरोप लगाया है। परन्तु इस प्रकार का अरोप न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः तुलसी नारी के उस रूप के विरोधी थे जिनको वह मानव-जाति और समाज की उन्नति के लिए हानिकारक समझते थे अन्यथा उन्होंने कौशल्या, सीता, मन्दोदरी और तारा का जो चरित्र-चित्रण किया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी नारी समाज के प्रति कितनी अधिक श्रद्धा रखते थे। इस प्रकार, तुलसी ने अपनी रचनाओं द्वारा जनता के चरित्र एवं मध्यकालीन सामाजिक जीवन की बुराइयों को सुधारने का प्रयाश किया। इतिहासकार स्मिथ ने उनके वारे में लिखा है कि, "अकबर की विजय वास्तव में क्षणिक थी और आपकी काव्य सम्वन्धी विजय सदैव के लिए थी, क्योंकि यह जनता के हृदय की विजय थी।"

मीरावाई—राजस्थान में सगुण भक्ति रस की धारा प्रवाहित करने वालों में सन्त शिरोमणि मीरा का नाम सर्वोपरि है। मीरा की जन्मतिथि विवादास्पद है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मीरा का जन्म वि.सं. 1573 (1516 ई.) माना है, जबकि नरोत्तमदास स्वामी वि.सं. 1595 और 1561 के बीच मानते हैं। प्राप्त साक्ष्यों के अनुसार मीरा मेड़ता के राठौड़ राव दूदा के पुत्र रतनसिंह की इकलौती पुत्री थी। अधिकांश विद्वान् मीरा का जन्म 1498 ई. के आसपास निर्धारित करते हैं, जो उचित प्रतीत होता है। दो वर्ष की आयु में उन्हें मातृ-शोक का दुःख उठाना पड़ा और राव दूदा ने ही मीरा का पालन-पोषण किया। दूदा का परिवार कृष्ण भक्त था। अतः मीरा के मन में भी बचपन से ही कृष्ण भक्ति का संचार हुआ। 1516 ई. में मीरा का विवाह मेवाड़ के महाराणा सांगा के बड़े पुत्र भोजराज के साथ कर दिया गया। दुर्भाग्य से विवाह के सात वर्ष बाद ही मीरा विधवा हो गई। मीरा को इस दुःखद घटना से इतना भारी आघात लगा कि उसका मन संसार से उचट गया और वह अपना अधिकांश समय सत्संग और भजन-कीर्तन में व्यतीत करने लगीं। थोड़े दिनों बाद खानवा के युद्ध में उसके पिता रतनसिंह मारे गये और एक वर्ष बाद ही श्वसुर राणा सांगा का भी देहान्त हो गया। उधर उसके चाचा वीरमदेव से मालदेव ने मेड़ता छीन लिया। सांगा की मृत्यु के बाद रतनसिंह और उसके बाद विक्रमादित्य मेवाड़ के राणा बने और उन दोनों ने मीरा को घोर यातनाएँ दी परन्तु कृष्ण भक्ति में लीन मीरा इन यातनाओं को पी गई। अन्त में मीरा चित्तौड़ छोड़कर वृन्दावन जा पहुँची। वहाँ से वह द्वारिका चली गई और वहीं उसका देहान्त हुआ।

मीरा में कृष्ण भक्ति के प्रति बीजारोपण बाल्यकाल में ही हो गया था। इस सम्वन्ध में अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। यदि मीरा के पदों का समुचित अध्ययन किया जाय तो मीरा की आध्यात्मिक यात्रा तीन सोपानों से गुजरती दिखाई देती है। पहला सोपान प्रारम्भ में उसका कृष्ण के लिये लालायित रहने का है, जबकि वह व्यग्र होकर गा उठती है, "मैं विरहणी वैठी जागूं, जग सोवी री आली" और कृष्ण मिलन की तड़प में बोल उठती है, "दरस विन दूखण लागे नैण"। दूसरा सोपान वह है जब उसे कृष्ण भक्ति में उपलब्धियों की प्राप्ति हो जाती है और वह कहती है, "पायोजी मैंने राम रतन धन पायो"। तीसरा और अन्तिम सोपान वह है जव उसे आत्मवोध हो जाता है जो सायुज्य भक्ति की चरम सीढ़ी है। वह अपनी भक्ति में सख्य भाव से ओत-प्रोत होकर कहती है, "म्हारे तो गिरधर गोपाल दूजो न कोई"। मीरा अपने प्रियतम से मिलकर उसके साथ एकाकार हो गयी है।

वास्तव में मीरा नारी सन्तों में ईश्वर प्राप्ति हेतु लगी रहने वाली साधिकाओं में प्रमुख है। उसका भक्ति से ओत-प्रोत साहित्य अन्य भक्तों के मार्ग को प्रशस्त करने में सहयोगी रहा है। मीरा के काव्य में सांसारिक बन्धनों को त्याग कर ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण का भाव मिलता है। कृष्ण को ही वह परमात्मा और अविनाशी मानती थी। उसकी भक्ति में कहीं आडम्बर दिखाई नहीं देता। उसकी भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता है भावना और श्रद्धा। वह किसी सम्प्रदाय विशेष से बँधी नहीं और उसके मन्दिर के द्वार सबके लिये खुले थे। महादेवी वर्मा के अनुसार मीरा के पद विश्व के भक्ति साहित्य के रत्न हैं। मीरा ने बहुत से पदों की रचना की थी। उसने "राग गोविन्द" नामक ग्रन्थ की भी रचना की थी, परन्तु यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाया है।

भक्ति आन्दोलन की विशेषताएँ—भक्ति आन्दोलन के सन्तों की शिक्षाओं में बहुत-सी बातें एक समान थीं। उनकी वाणी की विशेषताएँ भी समान रही हैं। भक्ति आन्दोलन की कुछ मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार थीं—

(1) भक्ति आन्दोलन के सभी सन्तों ने सामाजिक समानता पर जोर दिया। उन्होंने जाति-पाँति और ऊँच-नीच की भावना का खण्डन किया और मानवमात्र को मोक्ष का अधिकारी घोषित किया। उन्होंने सभी जातियों के लोगों को बिना किसी भेदभाव के अपनी शिष्य-मण्डली में स्थान दिया। समानन्दी सूत्र "जाति-पाँति जानै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई॥" को ग्रहण किया और इसका प्रचार किया।

(2) सभी सन्तों ने धर्म के बाह्याडम्बरों और कर्मकाण्डों का खण्डन किया। उनका मानना था कि मोक्ष की प्राप्ति के लिए उनकी कोई उपयोगिता नहीं है। इसके लिए व्यक्ति को अपने आचरण और चरित्र की शुद्धता पर ध्यान देना चाहिए और ईश्वर की भक्ति करनी चाहिए। भक्ति के द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति सम्भव है। इसके लिए व्यक्ति को पूर्ण रूप से ईश्वर को आत्मसमर्पण कर देना चाहिए।

(3) सभी सन्तों ने एकेश्वरवादी विचारधारा का प्रचार किया। यह बात दूसरी है कि उनमें से अधिकांश सगुण ईश्वर की उपासना पर जोर देते थे। उनमें से कुछ ने राम भक्ति पर जोर दिया तो कुछ ने कृष्ण भक्ति पर, परन्तु सभी एक ईश्वर में आस्था रखने वाले थे। बहुदेववाद का सभी ने खण्डन किया। निर्गुण सन्तों ने भी एकेश्वरवादी विचारधारा का प्रचार किया। उन्होंने मूर्तिपूजा का भी विरोध किया। ईश्वर के सगुण व निर्गुण रूपों के उपासक होते हुए भी इनमें एक-दूसरे के अनुयायियों के प्रति उच्च कोटि की धार्मिक सहिष्णुता थी।

(4) भक्ति मार्ग के सभी सन्तों ने लोक भाषाओं को अपने प्रचार का माध्यम बनाया। संस्कृत के विद्वान् एवं पंडित होते हुए भी कई सन्तों ने संस्कृत की अपेक्षा जनसाधारण की भाषा में ही अपनी रचनाएँ कीं तथा उसी में अपने उपदेश दिये जिसके परिणामस्वरूप जनसाधारण में भक्तिभावना का विकास हुआ।

(5) भक्ति आन्दोलन के अधिकांश सन्तों ने निवृत्ति मार्ग का विरोध किया। उनके अनुसार भक्ति के लिए घर-गृहस्थी को छोड़कर संन्यासी होना आवश्यक नहीं था। इस संसार में रहते हुए और अपने सांसारिक कर्त्तव्यों को पूरा करते हुए भी ईश्वर की भक्ति की जा सकती है।

(6) भक्ति आन्दोलन के अधिकांश सन्तों ने हिन्दुओं और मुसलमानों में विद्यमान पारस्परिक मतभेदों की खाई को पाटने का काम किया। उन्होंने दोनों जातियों के लोगों को एक-दूसरे के समीप लाने तथा उनमें आपसी सद्भावना तथा प्रेम स्थापित करने के उपदेश दिये।

(7.) इस आन्दोलन की एक विशेषता यह रही कि इसे न तो राज्याश्रय प्राप्त था और न उच्च वर्ग का समर्थन। यह एक जनवादी आन्दोलन था और सामान्य जनता ने इसको पूरा-पूरा सहयोग दिया था। फिर भी, इसका द्वार सभी के लिए खुला था।

भक्ति आन्दोलन का महत्त्व और प्रभाव—भक्ति आन्दोलन ने सम्पूर्ण भारत को प्रभावित किया और उसका प्रभाव कई सदियों तक कायम रहा। बौद्ध धर्म के पतन के पश्चात् भक्ति आन्दोलन जैसा देशव्यापी जन आन्दोलन हमारे देश में दूसरा नहीं हुआ था। डॉ. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव ने भी लिखा है कि, ''यह जन आन्दोलन था और इसने लोगों को गहरे रूप से प्रभावित किया था।''

भक्ति आन्दोलन की सबसे बड़ी देन सार्वभौम मानवता के आधार पर लोग धर्म और संस्कृति के समस्त सूत्रों को इकट्ठा करना था। इस मार्ग के सन्तों ने जाति-पाँति और वर्ग भेद को मिटाकर सब मनुष्यों को समान घोषित किया। मानववाद के साथ उन्होंने व्यक्तिवाद को भी जोड़ दिया। उनके विचारानुसार प्रत्येक व्यक्ति का भगवान से सीधा और व्यक्तिगत सम्बन्ध है। इसकी खोज में गुरु से मार्गदर्शन मिलता है और इस खोज के लिए व्यक्ति को अपना रास्ता चुनने का अधिकार है। परन्तु सबसे सरल रास्ता है भक्ति। इसके लिए घर-गृहस्थी को छोड़ना आवश्यक नहीं था। आवश्यक था सदाचार और मन संयम तथा बाह्य आडम्बरों का त्याग। भक्ति में ही मुक्ति का अनुभव हो जाता है। इस दृष्टि से भक्ति आन्दोलन धार्मिक पुनर्जागरण और सुधारवादी आन्दोलन था। सभी सन्तों ने बहुदेववाद, वाह्याडम्बर, धार्मिक पाखण्ड, कर्मकाण्ड, जाति-पाँति, ऊँच-नीच की भावना व बन्धन, पुरोहित वर्ग की प्रमुखता आदि का घोर विरोध किया। इससे समाज में सुधारों की लहर दौड़ गई और पीड़ित हिन्दुओं में आत्मविश्वास की भावना जागृत हुई।

भक्ति आन्दोलन ने हिन्दू और मुसलमानों में आपसी एकता, सद्भावना एवं मैत्री को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। कबीर, नानक, दादू तथा सूफी सन्तों ने अपने उपदेशों और सिद्धान्तों से दोनों सम्प्रदायों में विद्यमान पारस्परिक विद्वेष और मनोमालिन्य को दूर करने का प्रयास किया। उन्होंने धार्मिक संकीर्णता का अन्त करके सहिष्णुता का अंकुर उत्पन्न किया, जिसके परिणामस्वरूप दोनों धर्मों के लोग एक-दूसरे के समीप आने लगे।

इस्लाम के आगमन के बाद हिन्दू-समाज एक विचित्र-सी निराशा, उदासीनता और ग्लानि में डूब गया था। राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं सामाजिक सुविधाओं से वंचित तथा मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित हिन्दू समाज घोर निराशावादी हो गया था। भक्ति आन्दोलन ने ऐसे समाज में नवस्फूर्ति और नवजागृति फूँक दी; नवीन प्राण फूँक दिये जिससे हिन्दू समाज को दृढ़ आत्म विश्वास, आत्मशक्ति और अपूर्व नैतिक बल मिला। इसी के सहारे धार्मिक अत्याचार और दमन के उस युग में भी हिन्दू समाज अपनी सभ्यता एवं संस्कृति को सुरक्षित रख पाया।

भक्ति आन्दोलन ने केवल नैतिक जागृति का काम ही नहीं किया अपितु राजनैतिक पुनर्जागरण के बीज भी बो दिये। हिन्दुओं में अपने धर्म, संस्कृति और समाज की सुरक्षा के भाव उत्पन्न हुए और उनमें राष्ट्रीय भावना जागृत हुई। सर्वप्रथम दक्षिण के हिन्दुओं ने विजयनगर साम्राज्य की स्थापना की। बाद में उत्तर भारत में सिक्खों और जाटों का तथा दक्षिण में मराठों का उदय हुआ।

दिल्ली के सुल्तान फारसी और अरबी साहित्यकारों के आश्रयदाता थे। उन्होंने संस्कृत तथा भारत की लोक भाषाओं को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। संस्कृत के अध्ययन एवं अध्यापन की सुविधा न थी और हिन्दू विद्यालयों के अभाव में हिन्दुओं का बौद्धिक स्तर गिरता जा रहा था। भक्ति आन्दोलन के सन्तों ने अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषाओं में अपने उपदेश दिये तथा कविताओं, दोहों आदि की रचना की। इससे एक तरफ तो हिन्दुओं का बौद्धिक स्तर उन्नत हुआ और दूसरी तरफ प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य के निर्माण में सहायता मिली। इस प्रकार, हिन्दू-आत्मा को जीवित रखने और उसे शक्ति प्रधान करने में उसका अमूल्य योगदान रहा।

आधुनिक समय में भक्ति आन्दोलन के महत्त्व का पुनः मूल्याँकन करने का प्रयास किया जा रहा है। आधुनिक विद्वानों का मानना है कि भक्ति आन्दोलन के मुख्य उद्देश्य दो थे—(1) हिन्दू धर्म एवं समाज में सुधार लाना, और (2) हिन्दू-मुस्लिम एकता कायम करना। अपने प्रथम उद्देश्य की पूर्ति में इस आन्दोलन को आंशिक सफलता ही मिल पाई। परन्तु यह सफलता न तो स्थायी थी और न देशव्यापी। हिन्दू धर्म की सुदृढ़ प्राचीरों को गिराने में भक्ति आन्दोलन को सफलता नहीं मिल पाई। आज भी हिन्दू समाज में उन्हीं बातों की प्रधानता है जिसके विरुद्ध भक्ति आन्दोलन ने आवाज उठाई थी। इस प्रकार धर्म के क्षेत्र में भी बहुदेववाद, मूर्तिपूजा, धार्मिक आडम्बर आदि ज्यों के त्यों प्रचलित हैं। इसका एक कारण तो यह रहा कि विभिन्न धर्म प्रचारकों के न चाहते हुए भी उनकी मृत्यु के बाद उनके शिष्यों ने पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों का निर्माण करके हिन्दू धर्म के सम्प्रदायों की संख्या में वृद्धि कर दी। ये नवीन सम्प्रदाय हिन्दू समाज और धर्म में कोई सुधार नहीं ला सके और उनमें से कुछ तो हिन्दू धर्म एवं समाज से पृथक् ही हो गये, जैसे सिक्ख सम्प्रदाय। इस प्रकार हिन्दू धर्म में सुधार करने का उद्देश्य पूरा नहीं हो सका।

इसी प्रकार, भक्ति आन्दोलन को अपने दूसरे उद्देश्य में भी सफलता नहीं मिली। उस युग में भी भक्ति आन्दोलन इस दिशा में विशेष प्रगति नहीं कर पाया क्योंकि मुस्लिम शासक और जनता अपने विशेषाधिकारों को त्याग कर हिन्दू समाज के साथ समानता का व्यवहार करने को तैयार न थे। ऐसी स्थिति में हिन्दू-मुस्लिम एकता की कल्पना करना ही निरर्थक था। इस पर भी, भक्ति आन्दोलन के महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। हमें पहली बार, उस युग में एक अनुपम सांस्कृतिक अभ्युत्थान का दर्शन होता है।

भक्ति आन्दोलन की उपर्युक्त समीक्षा के बाद स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति आन्दोलन के सन्तों पर इस्लाम का कोई विशेष प्रभाव नहीं था। निम्न जातियों के प्रति उनकी दयालुता एवं उदारता का कारण इस्लाम का प्रभाव नहीं था। इस्लाम के भारत आगमन के पूर्व भी कई योगी-महात्माओं ने धर्म के बाह्याडम्बरों, कर्मकाण्डों और जाति-पाँति का खण्डन किया था। उनकी परम्पराओं से भक्ति आन्दोलन के सन्तों ने भी प्रेरणा ली। इसी प्रकार, गुरु पूजा को

इस्लाम की देन बताना न्यायसंगत नहीं होगा। गुरु भक्ति की परम्परा तो उपनिषद काल से ही विकसित हो चुकी थी। भक्ति आन्दोलन के सन्तों में केवल कबीर और नानक ही ऐसे सन्त हुए जिनके विचारों पर इस्लाम का प्रभाव देखने को मिलता है।

सूफी मत

'सूफी' शब्द के मूल स्रोत के सम्बन्ध में विद्वानों में काफी मतभेद हैं। कुछ लोग इसे ग्रीक शब्द 'सोफिया' (ज्ञान) का रूपान्तर मानते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि जो व्यक्ति पवित्र थे, वे 'सूफी' कहलाये। कुछ का कथन है कि मदीना में मुहम्मद साहब द्वारा बनवाई गई मस्जिद के बाहर 'सुफ्फ' अर्थात् चबूतरे पर जिन गृहहीन व्यक्तियों ने आकर शरण ली थी तथा जो पवित्र जीवन बिताते हुए ईश्वर आराधना में लीन रहते थे, वे 'सूफी' कहलाए। अबू नस्त्र-अल-सिराज का कहना है कि सूफी शब्द सूफ अर्थात् ऊन से निकला है। मुहम्मद साहब के बाद जो संन्यासी ऊन-कम्बल ओढ़कर घूमा करते थे तथा अपने मत का प्रचार करते थे, वही सूफी कहलाये। अधिकांश विद्वान् इस अन्तिम मत को मानते हैं। किन्तु ग्रीक शब्द 'सोफिया' (ज्ञान) से यह शब्द बना है। इस कथन में भी कुछ यथार्थता दिखाई देती है, क्योंकि सूफी अनुभव सिद्ध ज्ञान को ही महत्त्व देते हैं।

उत्पत्ति और विकास—विश्व के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी रहते हैं, लेकिन सभी व्यक्ति एक सर्वशक्तिमान् ईश्वर की उपासना करते हैं, हालांकि उनके साधन भिन्न-भिन्न हैं। आगे चलकर इन धर्मों से भी अनेक मत या सम्प्रदाय उत्पन्न हो जाते हैं जो अपने आप को एक धर्म के रूप में प्रतिष्ठित कर लेते हैं। ऐसा ही एक धर्म सूफी धर्म है, जो इस्लाम धर्म से उत्पन्न हुआ है।

सूफी मत को बहुत से सूफियों ने सबसे प्राचीन धर्म कहा है और बताया है कि इसके मूल प्रवर्तक स्वयं आदम या आदिम पुरुष थे। कुछ सूफी लोग इसके प्रथम प्रचारक हजरत मुहम्मद साहब को मानते हैं और कुछ लोग इसके मौलिक सिद्धान्तों का 'कुरान शरीफ' में अभाव पाकर इसके प्रचार का श्रेय अली या किसी ऐसे महापुरुष को देते हैं जो पैगम्बर का साथी रह चुका हो। इस मत के सिद्धान्त कुरान शरीफ में न होने के कारण बहुत से कट्टर मुसलमानों ने इसे विधर्मियों का मत ठहराते हुए इसकी निन्दा की है। सरदार इकबाल अली शाह ने लिखा है कि सूफी शब्द मुहम्मद साहब के देहान्त के दो सौ वर्ष बाद सत्ता में आया प्रतीत होता है। सूफी शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 869 ई. में बसरा (अरब) निवासी जिहाज द्वारा किया गया था। परन्तु जामी के अनुसार इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग 800 ई. से पूर्व कूफा के अबू हाशिम के लिए हुआ था। वास्तव में इस शब्द का प्रचार 8वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ था। डॉ. ताराचन्द सूफी मत का उद्गम—कुरान, मुहम्मद साहब का जीवन, ईसाई धर्म, अभिनव अफलातूनी, हिन्दू एवं बौद्ध धर्म और जरथुस्त्र धर्म मानते हैं। किन्तु अनेक विद्वान् सूफी का इस्लाम से उत्पन्न हुआ नहीं मानते। इस विषय में श्रीरामधारी सिंह दिनकर का विचार महत्त्वपूर्ण है। उनका कहना है कि, "यह मत इस्लाम के स्वाभाविक विकास का परिणाम नहीं है, इस मत पर अनेक विद्वान् बहुत जोर देते हैं। किन्तु सच यह है कि रहस्यवाद सभी धर्मों के ऊपर धर्म है, अतः यह सभी धर्मों के मूल में रहता है.......रहस्यवाद का कोई न कोई रूप हमें प्रत्येक धर्म में मिलता है।" इन कथनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विधि-विधानों से मुँह मोड़कर इस विश्व की झलक पाकर जो

रहस्य मुस्लिम साधकों ने अभिव्यक्त किया है, उन्हीं के सामंजस्य का नाम सूफी मत है। सूफी मत एक रहस्यवाद है, जो स्वतन्त्र होते हुए भी मूलतः मुस्लिम सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता है।

सूफीवाद के इतिहास में अबू याजीद उल बिस्तानी नामक सूफी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसने 'तसव्वुफ' (अपने को मानसिक इच्छाओं से ऊपर करके हर चीज में भगवान का रूप देखना) में चरम आनन्द और जगत् व्यापी ईश्वर को मानकर एक नवीन धारा प्रदान की। उसने कहा कि, ''मैं ईश्वर हूँ, अतः मेरी उपासना करो।'' उलेमाओं ने इसका विरोध किया और उसे देश से निकाल दिया। 875 ई. में उसका देहान्त हो गया। उसके पन्थ का नाम 'तैफूरी' पड़ा, जिसका फारस में काफी प्रचार हुआ। एक अन्य सूफी शेख जुनैद ने 'तसव्वुफ' के पुराने विचारों का नये विचारों के साथ समन्वय करने का प्रयास किया। 910 ई. में उसकी मृत्यु के बाद मंसूर नामक संत ने उसके विचारों का प्रचार किया। हुसेन इन मंसूर अल हल्लाल नामक सूफी ने, जो तसव्वुफ प्रकाण्ड विद्वान् और तत्त्वज्ञानी था, फारस, खुरासान, तुर्किस्तान और उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण किया और घोषित किया कि मानव ईश्वर का अवतार हो सकता है। ईश्वर की अनुभूति प्राप्त कर उसने 'अनल हक' (मैं ईश्वर हूँ) का उद्घोष किया। फलतः उसे न्यायालय ने फाँसी की सजा दे दी। आगे चलकर इब्न-उल-अरबी और अब्दुल करीम जिली ने उसकी विचारधारा का प्रचार किया। उलेमा लोग सूफी मत का विरोध किया करते थे, क्योंकि सूफी मत इस्लाम के अनुकूल नहीं था। अतः अबू हामिद मुहम्मद अल गजाली नामक सूफी संत ने सूफीवाद को इस्लाम के अनुकूल करके उसके महत्त्व को बढ़ा दिया। 11वीं शताब्दी के अन्त से 12वीं शताब्दी के आरम्भ तक (1112 ई. तक) उसने बगदाद और खुरासान में अपने मत का प्रचार किया।

भारत में सूफी सम्प्रदाय—ऐसी मान्यता है कि भारत पर मुसलमानों के प्रथम आक्रमण (769 ई.) से पूर्व सूफी सम्प्रदाय का भारत में प्रवेश हो चुका था। उमरय्या वंश के शासनकाल में अरब व्यापारियों के साथ कभी-कभी सूफी फकीर भी आ जाते थे तथा दक्षिण भारत एवं सिन्ध में अपने मत का प्रचार करते थे। किन्तु सूफी मत की वास्तविक शुरुआत भारत में उस समय हुई जबकि अबुल हसन हज हुज्विरी (मृत्यु 1129 ई.) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'कश्फूल महजूब' की रचना की। वे गजनी के निवासी थे और लाहौर में एक बन्दी की स्थिति में लाये गये थे। सूफी मत की दीक्षा इन्होंने बगदाद में प्राप्त की थी। वे अविवाहित जीवन के समर्थक थे और स्वयं ने भी विवाह नहीं किया था। उनकी इतनी प्रतिष्ठा थी कि कालान्तर में जितने भी सूफी बाहर से भारत आये, वे उनकी समाधि पर उपस्थित हुए। 'कश्फूल महजूब' की रचना उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम समय में की थी। उनकी मृत्यु लाहौर में हुई, जहाँ उनकी कब्र अभी तक विद्यमान है। उनके इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि आपने सूफी मत को इस्लाम धर्म के सच्चे रूप का प्रतीक माना और इसी दृष्टिकोण से प्रचार किया।

हुज्विरी के बाद प्रसिद्ध सूफियों में बाबा फखरुद्दीन (मृत्यु 1225 ई.) का नाम उल्लेखनीय है जो दक्षिण भारत में पेन्नु कोंडा नामक स्थान पर रहते थे। एक अन्य प्रभावशाली सूफी सैयद मुहम्मद बन्दा निवाज गेसू दराज हुए। इनकी रचना 'मेराजुल आशकीन' को हिन्दी भाषा का आदि रूप उपस्थित करने वाली पुस्तक कहा जाता है। इन

लोगों के अतिरिक्त भारत में अनेक सूफियों ने यहाँ प्रचार किया, किन्तु वे अपना स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ सके। भारत में सूफी मत का स्थायी प्रभाव डालने वाले व्यक्तियों में वे लोग थे, जो इस मत के भिन्न-भिन्न चार उप-सम्प्रदायों चिश्तियाँ, सुहरवर्दिया, कादिरिया, तथा नक्सवंदिया से सम्बन्ध रखते थे। ये लोग बाहर से ही संगठित होकर आये थे।

सूफी दर्शन एवं सिद्धान्त—जिस समय सूफी धर्म का विकास हुआ उस समय भारत में वेदान्त धर्म एवं दर्शन और यूरोप में धार्मिक पुनर्जागरण की लहर फैल रही थी। अतः सूफी दर्शन एवं सिद्धान्तों पर समकालीन घटनाओं का प्रभाव पड़ा।

सूफी धर्म में प्रेम को बहुत महत्त्व दिया जाता है। सूफी लोग एक ईश्वर को मानते हैं। ये लोग ईश्वर को 'प्रियतमा' का रूप मानते हैं, जिसकी खोज में आत्मा रूपी 'प्रियतम' समस्त सांसारिक सुखों का त्याग कर चला जाता है। साधक को चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये 'इश्क' रूपी मार्ग का अनुसरण करना पड़ता है। इनका विश्वास है कि ईश्वर अमर सौन्दर्य है तथा उसकी प्राप्ति प्रेम संगीत से की जा सकती है। अतः इस धर्म में सौन्दर्य और संगीत को अधिक महत्त्व दिया जाता है। सूफी लोग लौकिक प्रेम में पड़कर ईश्वरीय-प्रेम (इश्क-ए-खुदा) का अनुभव और तसव्वुर एवं सौन्दर्य-पूजा (हुस्नपरस्ती) में ईश्वर के सौन्दर्य (अल्लाह के जमाल) का साक्षात्कार करते हैं। अतः प्रेम के मार्ग का अनुसरण करके विभिन्न अवस्थाओं को पार करके चरम लक्ष्य की प्राप्ति करते हैं। सूफियों की मान्यता है कि ईश्वर निर्गुण है। उनकी यह भी मान्यता है कि मनुष्य में तीन प्रवृत्तियाँ होती हैं—शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक। आत्मिक प्रवृत्ति को शुद्ध रखने से व्यक्ति उच्च व पवित्र बन जाता है, लेकिन यह कार्य गुरु के पथ-प्रदर्शन से ही सम्भव है। सूफियों ने साधक को कुछ हिदायतें दी हैं, जो इस प्रकार हैं—

स्वभावतः मनुष्य कामी, क्रोधी, लालची तथा बन्धनयुक्त होता है। यह मनुष्य की 'उबूदियत' अवस्था है। 'उबूदियत' की अवस्था में साधक का यह कर्तव्य है कि वह अपने पापों (गुनाहों) के लिये पछतावा (तोबा) करे और विश्वास (ईमान) अर्जित करे। तत्पश्चात् उसको शरीयत के अनुसार नमाज, रोजा, तोहीद, जकात और हज का पालन करना चाहिये ताकि दुर्गुणों का नाश हो सके और 'इश्क-ए-खुदा' में पड़ सके। जब वह पूर्णतः अनुशासित हो जाता है तो वह 'तरीकत' अवस्था में प्रवेश करता है। 'तरीकत' में साधक को गुरु (शेख अथवा पीर) की आवश्यकता होती है, जो उसकी आचरण शुद्धि तथा प्रवृत्तियों का संयम रखने का आदेश देता है, जिससे उसे ईश्वर की अनुभूति हो सके। शिष्य को गुरु के प्रति समर्पित होना चाहिये, क्योंकि गुरु पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है। गुरु की प्रत्येक आज्ञा शिरोधार्य करनी चाहिये तथा गुरु के आदेशानुसार उसे संस्मरण (जिक्र) में भाग लेना चाहिये। जिक्र दो हैं—जिक्र अली (चिल्लाकर मन्त्रोचारण करना) और जिक्र खफी (हृदय की एकाग्रता)। दोनों का मंत्र 'ला-इल्लाह-इल्लल्लाह' (खुदा एक है) ही है। जिक्र के साथ 'मुराकेबा' नामक क्रिया भी की जाती है, जिसमें हृदय की व्याकुलता को दूर करने के लिये कुरान का पाठ, रोजा और भोजन एकत्र करना पड़ता है। 'मारिफत' की अवस्था दयालुता और कृपालुता से प्राप्त होती है। इससे मस्तिष्क दैवीज्ञान से प्रकाशित हो उठता है और 'हकीकत' की अवस्था में साधक को सात्विक ज्ञान की प्राप्ति होती है। 'फना' की अवस्था में सांसारिक प्रवृत्तियों का विनाश होता है और साधक ईश्वरोन्मुख हो जाता है।

साधक की अन्तिम अवस्था 'बका' कहलाती है, जिसमें साधक (प्रेमी) और प्रियतमा (ईश्वर) के बीच की दूरी समाप्त हो जाती है और दोनों एकरूप हो जाते हैं। साधक स्वयं ईश्वर हो जाता है (अनलहक) और इस अवस्था का कभी अन्त नहीं होता।

सूफी मत के सिद्धान्तों का विवेचन निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है—

(1) सूफी धर्म में गुरु का अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि यह संसार अन्धकारपूर्ण बीहड़ वन है, जिसमें मार्ग खोजना दुष्कर है। इसलिये पथ-प्रदर्शक रूप में गुरु अपने ज्ञान रूपी दीपक से मार्ग दिखाता है और शिष्य को अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचाता है। गुरु की परिचर्या एवं सेवा-शुश्रुषा से साधक को विश्वास हो जाता है कि वह सन्मार्ग का पथिक हो गया है।

(2) ईश्वर एक है, अतः हमें उसकी एकता में अटूट विश्वास करना चाहिए। संसार की प्रत्येक वस्तु ईश्वर प्रदत्त है और सम्पूर्ण विश्व उसी के दिव्य प्रकाश से आलोकित हो रहा है। सूफी मत में 'एकत्व' से तात्पर्य दो पदार्थों (ईश्वर और जीव) का मिलना नहीं वरन् अद्वैत भावना से है जिनमें 'मैं' और 'तू' में कोई अन्तर नहीं रहता।

(3) ईश्वर सौन्दर्यमय है तथा प्रेम (इश्क) के द्वारा ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। ईश्वर ने अपने ही सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अपने को प्रदर्शित किया है। यदि ईश्वर में सौन्दर्य न होता तो संसार इतना सुन्दर कभी न होता। प्रेम से काँटे भी पुष्प बन जाते हैं। यदि ईश्वर के सच्चे प्रेमी से प्रश्न किया जाय कि, "तुम कहाँ से आये ?" उत्तर मिलेगा, "प्रियतम के पास से"। "तुम्हें कहाँ जाना है ?", "प्रियतम के पास"। "तुम क्या चाहते हो ?", "अपना प्रियतम"। "यह प्रियतम की रटना कब तक रहेगी ?", "जब तक मिलन न होगा"।

(4) हृदय एक शीशे के समान है, जिसमें ईश्वर की प्रतिच्छाया दिखाई पड़ती है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब हृदय को सांसारिक प्रलोभनों से दूर रखा जाय, क्योंकि जब हृदय पवित्र होगा तभी ईश्वर की प्राप्ति होगी।

(5) मनुष्य एक श्रेष्ठ प्राणी है, अतः वह पूर्णता की उच्चतम श्रेणी तक पहुँच सकता है। मनुष्य की आत्मा उसके शरीर से भिन्न है। मनुष्य की आत्मा यद्यपि अच्छी है, तथापि उसकी यह कमजोरी है कि वह बुरे कामों से प्रभावित हो जाती है। किन्तु फिर उसकी अच्छी प्रवृत्ति उसे अच्छे रास्ते की ओर अग्रसर कर देती है।

(6) यदि मनुष्य के कर्म अच्छे हैं तो उसकी मृत्यु उसे ईश्वर के समीप ले जायेगी। अतः साधक को, जो पवित्र जीवन व्यतीत करते हैं, मृत्यु से नहीं डरना चाहिये, क्योंकि 'स्वर्ग' और 'नरक' ईश्वर की 'समीपता' और 'दूरी' के प्रतीक है, जिनमें से एक प्रसन्नता प्रदान करता है तो दूसरा कष्ट और परेशानी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सूफी धर्म प्रभावशाली दर्शन एवं सिद्धान्तों की नींव पर आधारित है, जिसका भारत में अत्यधिक प्रचार एवं प्रसार हुआ। यह धर्म एक ओर कुरान की शिक्षाओं पर आधारित है तो दूसरी ओर वेदान्त का प्रभाव भी इस पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। अतः यह धर्म हिन्दू और मुस्लिम विचारों का सम्मिश्रण है।

सूफी धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय

सूफी धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की संख्या 175 तक मानी जाती है, किन्तु इनमें 11 सम्प्रदाय महत्त्वपूर्ण हैं। 'आइने अकबरी' में उन 14 सम्प्रदायों का उल्लेख किया गया है, जो उस समय प्रचलित थे। सूफी धर्म के मुख्य सम्प्रदाय निम्नलिखित हैं—

चिश्तिया सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय की स्थापना खुरासान निवासी ख्वाजा अब्बू अब्दुल्ला ने की थी, किन्तु भारत में सर्वप्रथम इसका प्रचार ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने किया। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती का जन्म सीस्तान (अफगानिस्तान) में सन् 1143 ई. में हुआ था। ये गियासुद्दीन के पुत्र और ख्वाजा उस्मान हारून के शिष्य थे। युवावस्था से आपने सत्य की खोज में अनेक स्थानों का भ्रमण किया। सीस्तान से अपने माँ-बाप के साथ खुरासान आये और वहाँ से निशापुर चले गये। यहाँ आपने ख्वाजा हारून से गुरु-दीक्षा ली और उन्होंने ही आपको भारत में जाने का आदेश दिया। सन् 1190 ई. में ये भारत आये और सर्वप्रथम मुस्लिम विद्या के केन्द्र लाहौर में ठहरे। लाहौर में आपने कुछ समय प्रसिद्ध सूफी अली हुजरवी के मकबरे में ध्यानावस्था में व्यतीत किया तथा यहाँ आपने 'कश्फूक महजूल' की रचना की, जो इस्लाम के धार्मिक सिद्धान्तों पर आधारित है। लाहौर से दिल्ली और इसके पश्चात् आप अजमेर आ गये। अजमेर में ख्वाजा ने अपार ख्याति अर्जित की। कुछ हिन्दुओं ने ख्वाजा को अजमेर से निष्कासित करने की मांग की। अत: आपने पानी पीना छोड़ दिया। किन्तु कुछ लोगों का कहना है कि जाति-भेद के कारण अनेक बार आपको पानी पीने तक को मना कर दिया। अनुश्रति है कि उन्हें राज्य सीमा से बाहर निकालने के लिए रामदेव नामक पुजारी को भेजा गया। रामदेव ख्वाजा के व्यक्तित्व से इतना प्रभावित हुआ कि वह ख्वाजा का शिष्य हो गया और अपना शेष जीवन ख्वाजा के समान दीन-हीनों की सेवा में व्यतीत किया। ख्वाजा ने हिन्दुओं के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाया तथा बहुत से ब्राह्मण इनके प्रभाव के कारण 'हुसैनी ब्राह्मण' कहलाकर प्रसिद्ध हो गये। 1234 ई. में आपकी मृत्यु हो गयी।

ख्वाजा ने सर्वव्यापी एकेश्वरवाद का प्रचार किया। उनका सिद्धान्त था कि मानवता की सेवा करना ही ईश्वर की सर्वोच्च कोटि की भक्ति है। चिश्तिया सम्प्रदाय के अनुयायी 'चिल्ल' का अभ्यास करते हैं, जिसके अनुसार वे 40 दिनों तक किसी मस्जिद या किसी कमरे में एकान्तवास किया करते थे। वे 'जिक्र' के समय 'कलमा' के शब्दों पर अधिक जोर देते हैं और अपना शरीर व ऊपरी भाग हिलाते हैं। इस्लामी धर्म के अनुसार यद्यपि संगीत अवैध है किन्तु चिश्ती सम्प्रदाय के सन्तों ने संगीत के आध्यात्मिक मूल्य पर बल दिया तथा उच्चकोटि के संगीतज्ञों को प्रश्रय दिया। ये अधिकतर रंगीन वस्त्र पहिनते हैं। ख्वाजा की मृत्यु के बाद उनके असंख्य शिष्यों ने प्रचार कार्य जारी रखा। अजमेर में ख्वाजा की दरगाह (समाधि) बनी हुई है, जहाँ प्रतिवर्ष 6 दिनों तक उर्स (मेला) लगता है। अजमेर के अतिरिक्त दिल्ली, अम्बाला, पाकपत्तन और डेरा गाजी खां इनके प्रमुख तीर्थस्थान हैं।

शेख कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी ख्वाजा साहब के प्रमुख शिष्यों में अग्रणी थे। इनका जन्म 1186 ई. में फरगना में हुआ था। ये सुल्तान इल्तुतमिश के शासनकाल में भारत आये। सुल्तान इल्तुतमिश धार्मिक प्रवृत्ति का व्यक्ति था तथा शेख का आदर करता था। उसने शेख से प्रार्थना की कि वह उसके यहाँ रहे, किन्तु स्वतन्त्र प्रकृति के होने के कारण शेख ने

सुल्तान का प्रस्ताव ठुकरा दिया और नगर के बाहर एक मठ में रहने लगे। इल्तुतमिश ने उन्हें 'शेख-उल-इस्लाम' के उच्च पद पर आसीन करना चाहा, किन्तु शेख ने इस पद को लेने से अस्वीकार कर दिया। अन्त में इस पद पर शेख नज्मउद्दीन सुगरा की नियुक्ति की गई। सुगरा की ईर्ष्या के कारण उन्होंने दिल्ली छोड़ देने का निश्चय किया। इस पर सुल्तान के नेतृत्व में दिल्ली की जनता कई मील तक शेख के पीछे-पीछे आई। सुल्तान की प्रार्थना पर ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने उन्हें दिल्ली में ही रहने का आदेश दिया। शेख ने सुल्तान की सांस्कृतिक योजनाओं का नैतिक समर्थन किया। शेख रहस्यवादी गीतों के प्रेमी थे। एक गायक गोष्ठी में वे भक्ति के आवेश में मूर्छित हो गये। चार दिन मूर्छित रहने के बाद पाँचवी रात्रि (15 नवम्बर, 1235) में उनका देहान्त हो गया।

शेख काकी के शिष्य फरीदउद्दीन मसूद गजशंकर, जो बाबा फरीद के नाम से प्रसिद्ध थे, शेख काकी के उत्तराधिकारी हुए। आपने हाँसी और अजोधन में सूफी धर्म का प्रचार किया। एकान्तप्रिय होने के कारण इन्होंने अपना निवासस्थान राजधानी से बहुत दूर बनाया। निर्धन रहते हुए भी वे सुल्तान और अमीरों के साथ सम्बन्ध रखने के विरुद्ध थे। इन्होंने सदैव हृदय की एकाग्रता पर बल दिया। सुल्तान बलबन बाबा फरीद का बड़ा आदर करता था। उनकी मृत्यु 1265 ई. में हुई तथा उनकी इच्छानुसार उन्हें पाकपत्तन (पंजाब) में दफनाया गया।

बाबा फरीद का मुख्य शिष्य निजामुद्दीन औलिया (1236-1325 ई.) था। जिसने सात सुल्तानों का शासन देखा था। औलिया की संगीत में रुचि के कारण सुल्तान गियासुद्दीन ने उन पर अभियोग चलाया, किन्तु अपने विलक्षण व्यक्तित्व के कारण बरी हो गये। औलिया ने सुल्तान के पुत्र उलूगखां को अपना शिष्य बना लिया, जिससे सुल्तान उससे और चिढ़ गया। कहा जाता है कि जब सुल्तान बंगाल विजय से लौट रहा था तब सुल्तान ने औलिया को आदेश दिया कि उसके (सुल्तान के) दिल्ली पहुँचने से पहले वह (औलिया) दिल्ली छोड़कर चला जाय। औलिया ने उत्तर भेजा कि 'हुनूज दिल्ली दूरअस्त' (अभी दिल्ली दूर है)। संयोगवश सुल्तान दिल्ली पहुँचने से पूर्व ही दुर्घटनाग्रस्त हो गया। ऐसी मान्यता है कि ऐसा औलिया के अभिशाप से हुआ। औलिया जीवनपर्यन्त वहीं रहे तथा 'महबूब-ए-इलाही' (प्रभु के प्रिय) के नाम से प्रख्यात हुए। औलिया के संत जैसे गुणों एवं मानवता के प्रति उनके प्रेम व सेवा भावना के कारण चिश्ती सम्प्रदाय भारत में लोकप्रिय हो गया। 1325 ई. में आपकी मृत्यु के बाद यह सम्प्रदाय दो भागों में विभाजित हो गया—प्रथम निजामिया सम्प्रदाय और दूसरा शबीरिया सम्प्रदाय। औलिया के प्रमुख शिष्यों में शेख नासिरुद्दीन महमूद चिराग को ही अखिल भारतीय ख्याति प्राप्त हुई थी। सुल्तानों से उसका मनमुटाव रहा, लेकिन उन्होंने कभी सुल्तान के समक्ष अपना सिर नहीं झुकाया। 1336 ई. में इनकी मृत्यु हो गयी।

चिश्ती सम्प्रदाय के अन्तिम महान् सूफी सन्तों में शेख सलीम चिश्ती का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अकबर के शासनकाल में वे फतेहपुर सीकरी में रहने लगे। कहा जाता है कि शाहजादा सलीम का जन्म शेख के आशीर्वाद से हुआ था। अकबर उसका बड़ा आदर करता था। शेख सलीम ने चिश्ती परम्पराओं को बनाये रखा। मृत्यु के बाद उन्हें फतेहपुर सीकर की जामा-मस्जिद के प्रांगण में दफनाया गया। अकबर के काल में चिश्ती सम्प्रदाय अत्यधिक लोकप्रिय हुआ।

उपर्युक्त सन्तों के प्रयासों से भारत में चिश्ती सम्प्रदाय का विकास एवं प्रचार हुआ। इसकी सफलता के कारणों में सुल्तानों द्वारा प्रोत्साहन, प्रेम की शिक्षा और सन्तों के उज्ज्वल चरित्र का बड़ा हाथ रहा। अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा भारत में इसका प्रचार अधिक हुआ।

सुहरवर्दिया सम्प्रदाय—चिश्तिया सम्प्रदाय के बाद सुहरवर्दिया शाखा को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इस सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक जियाउद्दीन अबुलजीव थे तथा शेख शहाबुद्दीन सुहरवर्दी इस सम्प्रदाय के प्रख्यात सन्त थे। यह सम्प्रदाय मुख्य रूप से उत्तरी-पश्चिमी भारत में स्थापित हुआ था। भारत में सर्वप्रथम इस सम्प्रदाय का प्रचार कार्य शेख बहाउद्दीन जकरिया सुहरवर्दी ने किया। शेख जकरिया 13वीं शताब्दी के बड़े प्रभावशाली सूफी सन्त थे। वे चिश्तियों की भाँति निर्धनता, उपवास, आत्म दमन और शरीर को यातना देने में विश्वास नहीं करते थे, बल्कि उन्होंने आरामदेह जीवन व्यतीत किया। उन्होंने धन-संग्रह भी किया और तात्कालिक राजनीतिक मामलों में रुचि ली। 1262 ई. में शेख जकरिया की मृत्यु के बाद सुहरवर्दी सूफियों में वंशानुगत उत्तराधिकार का नियम लागू हो गया था। इस सम्प्रदाय के सन्तों ने सिन्ध, पंजाब, गुजरात, बिहार और बंगाल में अपने मत का प्रचार किया।

इस सम्प्रदाय में सैयद जलालुद्दीन सुर्खपोश (1291 ई.), सईद जलाल और बुरहार अल्दीन कुतुबे आलम (1453 ई.) आदि कुछ सन्त अधिक प्रसिद्ध हुए। इसके अतिरिक्त शेख मूसा और शाहदौला दरियाई का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। शेख मूसा स्त्री-वेश धारण किये रहते थे तथा नृत्य एवं संगीत में उन्हें विशेष रुचि थी। शाहदौला, मूसा के शिष्य थे। वे गुजरात निवासी और शाही वंश के थे, किन्तु सूफी बनने के कारण सब-कुछ त्याग दिया था।

कादिरिया सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय की स्थापना 12वीं शताब्दी में बगदाद के शेख अब्दुल कादिर जीलानी ने की थी। भारत में इस शाखा का प्रचार सर्वप्रथम शाह नियमतउल्ला और मखदूम जीलानी ने 15वीं शताब्दी में किया। मखदूम ने उच्छ को अपना निवास बनाया। मखदूम के बाद इस सम्प्रदाय का नेतृत्व अब्दुल कादिर के प्रपौत्र शेख हमीदगंज बख्श ने किया। इसके बाद उनके दो पुत्रों ने प्रचार कार्य किया। शेख मूसा ने अकबर के काल में राजकीय पद स्वीकार किया।

प्रसिद्ध सूफी सन्त शेख मीर मोहम्मद (मियाँ मीर) जहाँगीर और शाहजहाँ के समकालीन थे। शाहजादा दाराशिकोह शाहजहाँ के साथ शेख के पास गया और उससे अत्यधिक प्रभावित हुआ। किन्तु उसी वर्ष (1635 ई.) में शेख की मृत्यु हो गयी। अतः उनके उत्तराधिकारी मुल्ला शाह बदख्शी हुए। दाराशिकोह ने इनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया तथा तसव्वुफ से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ लिखे और हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयास किया।

नक्सबंदिया सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय की स्थापना 14वीं शताब्दी में ख्वाजा बहाउद्दीन नक्सबंद ने की थी, किन्तु भारत में इसका प्रचार ख्वाजा बाकीबिल्लाह ने (1563-1603 ई.) ने किया 1600 ई. में वे भारत आये और 1603 ई. में उनका देहान्त हो गया। वे सनातन इस्लाम में आस्था रखते थे तथा नवीन परिवर्तनों के विरोधी थे। ख्वाजा के प्रमुख शिष्य अहमद फारुक सरहिंदी, थे जो अकबर और जहाँगीर के समकालीन थे। उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली था और उनका परिवार आध्यात्मिकता के लिये विख्यात था। उन्होंने

'प्रत्यक्षवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया और कहा कि मनुष्य और ईश्वर का सम्बन्ध स्वामी और सेवक का है, प्रेमी और प्रेमिका का नहीं, जैसाकि अन्य सूफी सोचते हैं। वास्तव में उनका उद्देश्य सूफी रहस्यवाद के सिद्धान्त को सनातन इस्लाम के साथ समन्वित करना था। उन्होंने शिया सम्प्रदाय और अकबर द्वारा प्रतिपादित 'दीन इलाही' की कटु आलोचना की।

इस सम्प्रदाय के दूसरे प्रमुख सन्त शाह वलीउल्लाह औरंगजेब के समकालीन थे। उन्होंने एकात्मवाद (वहदत-उल-वजूद) और प्रत्यक्षवाद (वहदत-उश-शुहूद) को समन्वित करने का सफल प्रयास किया। वे प्रतिष्ठित विद्वान्, असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति और लेखक थे। ख्वाजा मीर दर्द इस सम्प्रदाय के अन्तिम विख्यात सन्त थे। उनका झुकाव मुस्लिम रूढ़िवादिता की ओर था, जिसके अनुसार उन्होंने 'इल्मे इलाही मुहम्मद' (मुहम्मद के उपदेशों में ईश्वरीय ज्ञान) नामक एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसके अनुसार मनुष्य का कर्त्तव्य है कि कुरान की शिक्षाओं का पालन करे, ईश्वर की भक्ति में दास बनकर रहे।

अन्य सम्प्रदाय—सूफी धर्म के उपर्युक्त चार प्रमुख सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य कई छोटे-मोटे सम्प्रदाय थे। इनमें से कुछ सम्प्रदाय तो ऐसे थे जिनका कार्यक्षेत्र भारत नहीं रहा और कुछ सम्प्रदाय भारत के किसी विशेष भाग में प्रचार-प्रसार का कार्य करते रहे। जैसे कि शाद-विलिया सम्प्रदाय, निमातुल्लादिया सम्प्रदाय और तेजानिया सम्प्रदाय के अनुयायी उत्तरी अफ्रीका, तुर्की, रूमानिया, इराक, अल्जीरिया आदि देशों में पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त शत्तारिया सम्प्रदाय का प्रचार भारत में हुआ था और इसका कार्यक्षेत्र गुजरात था, जहाँ इस सम्प्रदाय वालों ने एक मदरसा भी स्थापित किया था। कलंदरिया सम्प्रदाय के लोग अपने साथ एक खपरा (प्याला) रखते थे तथा अपने केश मुंडित रखते थे। इस सम्प्रदाय के सन्त सैयद खिज्र रूमी कलंदर ने चिश्तिया सम्प्रदाय के शेख बख्तियार काकी से भेंट की थी तथा दोनों ने एक-दूसरे के सम्प्रदाय को स्वीकार लिया था। फलस्वरूप 'चिश्तिया-कलंदरिया' उप-सम्प्रदाय का जन्म हुआ। मदारिया सम्प्रदाय के प्रवर्तक शेख बदीउद्दीन शाह मदार थे। वे अध्ययन और आत्मशान्ति के लिए मक्का और मदीना गये तथा वहाँ से भारत आये। अजमेर में ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की आत्मा के निर्देशानुसार मकनपुर (कानपुर, उत्तर प्रदेश के निकट) को अपना निवासस्थान एवं प्रचार-केन्द्र बनाया था।

सूफी मत का समाज पर प्रभाव—सिन्ध में मुस्लिम सत्ता (अरब) की स्थापना के बाद कुछ सूफी सन्त भारत आये थे। भारत में मुस्लिम सत्ता की स्थापना के बाद, कुछ लोग तो राजनीतिक दबाव के कारण, कुछ लोग मुसलमानों की शक्ति के भय से और कुछ लोग करों के भार से बचने के लिये इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। लेकिन सूफियों ने ऐसा कोई प्रयास नहीं किया। सूफियों ने तो समाज में प्रचलित कर्मकाण्डों का विरोध किया। हिन्दुओं के प्रति उन्होंने दयालुता और प्रेम का व्यवहार किया। अतः हिन्दुओं में सूफियों के प्रति आदर बढ़ा और वे लोग भी सूफियों की मजारों पर फूल चढ़ाने लगे। इससे हिन्दू-मुसलमानों में धार्मिक भेदभाव, छुआछूत का त्याग और समानता एवं भ्रातृत्व की भावना का विकास हुआ। भारत के अधिकांश सूफी मुसलमान (सुहरवर्दी एवं नक्सबंदी सम्प्रदायों को छोड़कर) सूफी मत की चिश्तिया शाखा के प्रति निष्ठावान बने रहे, जो एक प्रकार से हिन्दुओं के वेदान्त का परिवर्द्धित रूप था। अतः भारत में सूफी मत का बड़ी तेजी से प्रसार हुआ। सूफी

सन्तों ने भारत की देशी भाषाओं का प्रयोग एवं प्रसार किया। प्रसिद्ध सूफी कवि अमीर खुसरों ने 'हिन्दवी' में ग्रन्थ लिखे तथा उर्दू गद्य शैली का विकास किया। सूफियों ने चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ईश्वर-भक्ति पर जोर दिया था। अतः मध्यकालीन भारतीय समाज में भक्ति आन्दोलन को बल प्राप्त हुआ।

संक्षेप में सूफी सम्प्रदाय की विभिन्न शाखाओं ने अपने प्रचार से सम्पूर्ण भारत को प्रभावित किया। उन्होंने अपने धार्मिक सिद्धान्तों की कुछ बातों की ओर विशेष ध्यान दिलाने का प्रयास किया तथा भारत में अपने मूल धर्म 'इस्लाम' की जड़ जमाने में सफल हो गये। सूफियों में इस्लामी कट्टरपन अधिक नहीं था। हिन्दू समाज व हिन्दू परम्परा की अनेक बातों को वे शीघ्र अपना लेते थे और इसी कारण, साधारण जनता में घुलमिल कर अपनी बातें सरलतापूर्वक समझा देते थे। हृदय की शुद्धता, बाह्य आचरण की पवित्रता, ईश्वर के प्रति अपार श्रद्धा, पारस्परिक सहानुभूति, विश्व-बन्धुत्व और विश्व-प्रेम की बातों की ओर लोगों का ध्यान आकिर्षित कर, इन्हें अपने मत की मुख्य देन बताते हुए, इन्हें स्वीकार करने का आग्रह भी करते थे। सूफियों में अनेक ऐसे प्रचारक और व्यवहारकुशल व्यक्ति थे, जिन्होंने भारत में काफी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। यही कारण है कि आज भी जब सूफी सन्तों की मजार पर उर्स लगता है, तब अनेक हिन्दू भी उनकी मजार पर बड़ी श्रद्धा से चादर चढ़ाते हैं।

अभ्यास के लिए प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग पाँच पृष्ठों में दीजिए—

1. मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन में प्रमुख सन्तों की भूमिका का विवेचन कीजिए।
2. मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन में कबीर और गुरु नानक के योगदान का वर्णन कीजिए।
3. मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन की विशेषताएँ एवं प्रभावों की विवेचना कीजिए।
4. सूफी मत की उत्पत्ति एवं विकास का वर्णन करते हुए सूफी दर्शन एवं सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।
5. सूफी धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों का वर्णन कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए—

1. "भारत में भक्ति आन्दोलन इस्लाम के प्रभाव का परिणाम था।" इस कथन के सन्दर्भ में भक्ति आन्दोलन के कारण बताइये।
2. भक्ति मार्ग को लोकप्रिय बनाने का श्रेय रामानन्द को क्यों दिया जाता है ?
3. भक्ति आन्दोलन में गोस्वामी तुलसीदास की भूमिका का वर्णन कीजिए।
4. भक्ति आन्दोलन का महत्त्व बताइये।
5. सूफी धर्म के चिश्तिया सम्प्रदाय का विवेचन कीजिए।
6. सूफी मत का भारतीय समाज पर क्या प्रभाव पड़ा ?

◆

अध्याय-17

भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य प्रभाव

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। भारतीय संस्कृति की विलक्षण बात यह रही कि इसने अपने मौलिक स्वरूप को बनाये रखते हुए अन्य संस्कृतियों को आत्मसात् कर लिया। शुंग-सातवाहन-शक युग में यवन, शक, पल्हव व कुषाण जैसे विदेशी आक्रान्ता भी पूर्ण रूप से भारतीय बन गये। तत्पश्चात् भारत में मुस्लिम सत्ता स्थापित हो जाने के बाद हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का समन्वय हुआ। इस प्रकार-पहली बार मध्यकाल में इस्लामी आघात के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति जर्जरित हुई। मुगल शासन काल में ही 15वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में पुर्तगाली लोग भारत आये, जो मूल रूप से व्यापारी थे। लेकिन इन पुर्तगाली व्यापारियों ने यहाँ भारतीय स्त्रियों से विवाह भी किये। अतः पुर्तगालियों व भारतीयों के सम्पर्क से भारत में एक नवीन जाति का जन्म हुआ। यह वर्णसंकर जाति 'गोआनी' कहलायी। पुर्तगालियों ने भारत में कैथोलिक धर्म के प्रसार के लिए भी कार्य किया। पुर्तगाली सभ्यता के साथ सम्पर्क के फलस्वरूप भारतीय भाषा में अनेक पुर्तगाली शब्दों का समावेश हुआ; जैसे कमरा, नीलाम, पादरी, मेज, कमीज आदि तथा उनके सम्पर्क से एक नई भाषा चल पड़ी जो पुर्तगाली भाषा का विकृत रूप थी। पुर्तगालियों के बाद तो पश्चिम से अनेक व्यापारी जत्थे भारत आये, जिनमें डच, अंग्रेज और फ्रांसीसी मुख्य थे। डचों की गतिविधियाँ व्यापार करने तथा व्यापार के लिए कुछ भू-भागों पर आधिपत्य स्थापित करने तक सीमित रही। डचों के बाद अंग्रेज आये, जिन्होंने 1600 ई. में पूर्वी देशों से व्यापार करने के लिए एक ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की। उन दिनों इंग्लैण्ड की गद्दी पर महारानी एलिजाबेथ प्रथम थी और भारत पर मुगल सम्राट जहाँगीर का शासन था। जहाँगीर के शासन काल में सन् 1610 ई. में सर टामस रो अंग्रेजों का दूत बनकर जहाँगीर के दरबार में आया, जिसने जहाँगीर से व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त कीं। अंग्रेजों के आने के कुछ ही समय बाद फ्रांसीसी भारत आ गये, जिससे अंग्रेजों व फ्रांसीसियों के बीच व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता आरम्भ हो गयी।

इसके बाद की घटनाएँ भारत के राजनैतिक इतिहास से अधिक सम्बन्ध रखती हैं। भारत में मुगल साम्राज्य के पतनोन्मुख होने पर यहाँ अव्यवस्था फैल गई तथा यहाँ के देशी राजाओं में पारस्परिक झगड़े और उत्तरधिकार के झगड़े उठ खड़े हुए। अंग्रेज और फ्रांसीसी इस अव्यवस्था का लाभ उठाना चाहते थे। अतः इन दोनों के बीच व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता, राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विता के रूप में परिणित हो गयी। दोनों शक्तियों ने भारत के देशी राजाओं के पारस्परिक झगड़ों तथा उत्तराधिकार के मामलों में हस्तक्षेप कर भूमि, धन व अन्य व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त कर लीं। धीरे-धीरे ये व्यापारी एक राजनीतिक शक्ति बन गये।

राजनैतिक अव्यवस्था के कारण उनकी राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा जागृत हो उठी और राजनैतिक प्रभुत्व के लिए दोनों के बीच तीन युद्ध (1744-1763) हुए। अन्त में अंग्रेजों को निर्णायक सफलता प्राप्त हुई। तत्पश्चात् अंग्रेजों ने भारत की अन्य शक्तियों को पराजित किया और भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुए। 18वीं शताब्दी के मध्य में बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना होने के बाद शनैःशनैः सारा देश अंग्रेजों के अधीन हो गया। फलस्वरूप भारतीय संस्कृति को एक और जबरदस्त आघात लगा। वह था भारत में पाश्चात्य संस्कृति का प्रसार।

भारतीय संस्कृति पर अब तक अनेक विदेशी संस्कृतियों ने प्रभाव डाला था, किन्तु पिछले समस्त प्रभावों की अपेक्षा पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव भिन्न था, क्योंकि पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव ने भारत में एक नई और भिन्न व्यवस्था को जन्म दिया। आरम्भ में अंग्रेजों का विचार यहाँ रहने का नहीं था, बल्कि यहाँ केवल व्यापारिक एकाधिकार प्राप्त करना था। इसलिए वे भारतीय संस्कृति से पृथक् रहे। किन्तु जब यहाँ की राजनैतिक परिस्थितियाँ उनके अनुकूल हुईं, तब उन्होंने अपनी कूटनीति से यहाँ की संस्कृति को प्रभावित करना आरम्भ कर दिया।

उन्होंने सुधारों के नाम पर अपनी सभ्यता और संस्कृति का प्रचार भी किया, जिससे भारतीय संस्कृति की बड़ी दुर्दशा हुई। 19वीं शताब्दी के आरम्भ तक भारतीय संस्कृति, पश्चात्य संस्कृति से पूर्णतः प्रभावित हो गयी थी। भारत का शिक्षित वर्ग पाश्चात्य संस्कृति और ज्ञान को श्रेष्ठ मानने लगा था और अपनी सभ्यता और संस्कृति में उनका विश्वास समाप्त होता जा रहा था। भारतीय समाज में इतनी कुरीतियाँ उत्पन्न हो गयी थीं कि लोग उन्हें अपनाने में लज्जा अनुभव करने लगे और अनेक हिन्दू ईसाई धर्म को ग्रहण करने लगे। कुछ समय तक तो ऐसा मालूम होने लगा कि कदाचित् हमारी संस्कृति सदा के लिये समाप्त हो जायेगी। इससे भारतीय सामाजिक एवं धार्मिक जगत् तिलमिला उठा और बुद्धिजीवी वर्ग में नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्रीमती एनीबीसेन्ट, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर, लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी जैसी महान् विभूतियों ने भारतीय संस्कृति में पुनः एक नई चेतना-शक्ति भर दी। जिससे भारतीयों को अपनी सभ्यता और संस्कृति की श्रेष्ठता का ज्ञान हुआ, और उन्होंने न केवल भारतीय सांस्कृतिक विरासत को बनाये रखा, अपितु भारत के राजनैतिक आन्दोलन को भी जीवन प्रदान किया।

वस्तुतः पाश्चात्य संस्कृति ने हमारे जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित किया, जैसाकि प्रोफेसर हुमायूं कबीर ने लिखा है कि, "चपल यूरोपीय भावनाओं ने प्रत्येक वस्तु की सूक्ष्म परीक्षा की। एक ओर तो भौतिक जीवन की अवस्थाओं में परिवर्तन हो गया और दूसरी ओर विश्वासों और परम्पराओं के आधार को नष्ट कर दिया।" इस प्रकार पाश्चात्य संस्कृति ने किसी भी भारतीय जीवन के क्षेत्र को अछूता नहीं छोड़ा।

सामाजिक प्रभाव

पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव ने भारतीय समाज में क्रान्ति उत्पन्न कर दी। मध्यकालीन सांस्कृतिक समन्वय के काल में भी जाति-पाँति के भेद को समाप्त करने के प्रयत्न किये गये थे, किन्तु वे सभी प्रयत्न असफल रहे। पाश्चात्य सभ्यता ने हमारी जाति-

प्रथा पर प्रहार किया। पश्चिम के लोग जाति-पाँति में विश्वास नहीं रखते थे तथा वे व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मान्यता देते थे। उन्होंने अपनी शिक्षा के माध्यम से भारतीयों को भी यही मूल-मन्त्र दिया। अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से शिक्षित भारतीय ब्रिटिश प्रशासकों के सम्पर्क में आये, जिससे भारतीयों में सुधारात्मक दृष्टिकोण विकसित हुआ। सर्वाधिक ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि अंग्रेजों ने हमारी जाति-प्रथा पर कोई सीधा प्रहार नहीं किया और न ही इस सम्बन्ध में कोई नियम बनाये। वस्तुतः पाश्चात्य सभ्यता ने अप्रत्यक्ष रूप से हमारी जाति-प्रथा पर प्रहार किया। शुरू-शुरू में तो ब्राह्मणों ने अंग्रेजों द्वारा लाये गये आलू और टमाटर का सेवन करना भी ठीक नहीं समझा। किन्तु बाद में तो वे चाय, बिस्कुट, सोडा आदि का भी सेवन करने लगे तथा शराब से बनी औषधियों का प्रयोग भी बिना किसी हिचकिचाहट के करने लगे। रेलों, ट्रामों और बसों में ऊँची-नीची सभी जातियों के लोग साथ-साथ यात्रा करने लगे और इस प्रकार छुआछूत की भावना भी शिथिल पड़ने लगी। राजकीय जलदाय विभाग में हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, हरिजन आदि सभी जातियों के लोग काम करते थे और ब्राह्मणों सहित सभी जातियों के लोग उसी जल का प्रयोग करने लगे। यहाँ तक कि हिन्दुओं के देवी-देवताओं को स्नान भी उसी जल से कराया जाने लगा।

अंग्रेजों के सम्पर्क के परिणामस्वरूप भारतीयों के खान-पान में, कपड़े आदि पहनने में तथा उनकी आदतों में पाश्चात्य ढंग आ गया। होटल आदि में जाना और वहाँ खाद्य पदार्थों का सेवन करना एक फैशन बनता जा रहा था। इन होटलों में परिचारक (बैरे) आदि का काम प्रायः निम्न जाति के लोग करते थे। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग निःसंकोच इन होटलों में जाने लगे, जिससे छुआछूत और शुद्धता या पवित्रता का विचार स्वतः ही समाप्त होने लगा। यातायात के साधनों के विकास के फलस्वरूप नगरों और गाँवों के बीच दूरियाँ समाप्त हो गयीं तथा ग्रामीण व शहरी लोगों के बीच विचारों का आदान-प्रदान हुआ, जिससे गाँवों में भी जाति-पाँति के प्रति उतनी कट्टरता नहीं रही। इसके अतिरिक्त राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामदास, स्वामी विवेकानन्द आदि विद्वानों ने जाति-प्रथा का खण्डन किया और समानता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। फलस्वरूप समाज में जाति-प्रथा के बन्धन ढीले पड़ते गये। किन्तु जहाँ तक वैवाहिक सम्बन्धों का प्रश्न है, वहाँ जाति-प्रथा की कट्टरता अभी भी विद्यमान है, हालांकि वर्तमान शताब्दी के अन्तिम भाग में, वैवाहिक सम्बन्धों में भी कट्टरता कुछ शिथिल होती दिखाई दे रही है। किन्तु कुछ विद्वानों की मान्यता है कि आधुनिक युग में होने वाले अन्तर्जातीय विवाह, पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव का परिणाम हैं। उनकी मान्यता है कि पाश्चात्य सभ्यता ने स्वच्छन्द प्रेम का प्रचार किया। फलस्वरूप नवयुवक और नवयुवतियाँ, जो साथ-साथ पढ़ते हैं, खेलते हैं या कार्यालयों में साथ-साथ काम करते हैं उनमें प्रेम अंकुरित होता है और फिर दो विभिन्न जातियों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं। किन्तु विद्वानों की यह मान्यता पूरी तरह सत्य नहीं है। भारतीय संस्कृति में अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों का प्रचलन रहा है। सूत्रकाल के बाद जब जाति-प्रथा के बन्धन कठोर हो गये तब शास्त्रकारों ने 'अन्तर्जातीय विवाहों का निषेध कर दिया था। लेकिन अब बढ़ती हुई शिक्षा ने उन्हें पुनः मान्यता प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया है। इसमें पूर्णतः पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता। हाँ, पाश्चात्य सभ्यता के स्वच्छन्द प्रेम के प्रचार ने अन्तर्जातीय विवाह की विचारधारा को बल अवश्य प्रदान किया है।

पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता और औद्योगीकरण ने तो हमारे सम्पूर्ण सामाजिक ढांचे को ही बदल दिया है। पाश्चात्य शिक्षा से भारतीयों के जीवन में पाश्चात्य व्यक्तिवाद का बीजारोपण कर दिया, जिससे प्राचीनकाल से चली आ रही संयुक्त परिवार प्रथा का विघटन आरम्भ हो गया। पाश्चात्य शिक्षा के कारण नवयुवक अपने प्राचीन बन्धनों को तोड़ना चाहता है, किन्तु उसके माता-पिता अपने प्राचीन संस्कारों को कायम रखना चाहते हैं। सास, बहू से पर्दा कराना चाहती है, किन्तु शिक्षित बहू अपनी रुचियों का और अपनी आकांक्षाओं का गला घोंटने को तैयार नहीं। ऐसी स्थिति में संयुक्त परिवार प्रथा का बना रहना असम्भव हो जाता है। संयुक्त परिवार प्रथा कृषिजीवी व्यवसाय के लिये सर्वथा उपयुक्त थी। किन्तु अब आर्थिक ढाँचा बदल गया है। परिवार के सभी सदस्यों का एक ही व्यवसाय में लगे रहना सम्भव नहीं है। अत: परिवार के सदस्य जीविकोपार्जन के लिए दूर-दूर के नगरों में जाकर रहने लगते हैं। वे लोग अपनी पत्नी और बच्चों के साथ वहीं पर स्थायी रूप से बस जाते हैं और फिर धीरे-धीरे उनमें पारिवारिक भावना समाप्त हो जाती है। कभी-कभी परिवार में सदस्यों की बढ़ोतरी के साथ ही आवास की समस्या उठ खड़ी होती है, जिससे परिवार के सदस्यों को अपने अलग घर बसाने पड़ते हैं। पाश्चात्य समाज में संयुक्त परिवार का कोई महत्त्व नहीं है। अत: शादी के बाद पुत्र अपने माता-पिता से अलग हो जाता है। भारतीय समाज ने भी इसका अनुकरण करना प्रारम्भ कर दिया। "मेरा घर, मेरी पत्नी, मेरे बच्चे, मेरा धन, अपने माता-पिता व अन्य भाइयों से कोई लेना-देना नहीं", यह पाश्चात्य विचार है, जिसने भारतीय समाज को जबरदस्त प्रभावित किया है।

धार्मिक प्रभाव

पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का भारतीय धर्म पर भी गहरा एवं व्यापक प्रभाव पड़ा। पाश्चात्य शिक्षा के कारण हमारे धार्मिक विश्वासों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। ईसाई धर्म प्रचारकों ने भारतीय धर्म की खिल्ली उड़ाई तथा निम्न जातियों की शोचनीय स्थिति का लाभ उठाते हुए उन्हें ईसाई बना लिया। ईसाई धर्म के एकत्व और बन्धुत्व की भावना ने न केवल निम्न जाति के लोगों को बल्कि शिक्षित वर्ग को भी ईसाई धर्म और पाश्चात्य सभ्यता के प्रति आकर्षित किया। लोगों में प्राय: हर पाश्चात्य वस्तु के लिए आकर्षण था और मौन स्वीकृति भी थी। हिन्दू धर्म की सामाजिक प्रथाओं के विरोध में बहुत से हिन्दू ईसाई धर्म की ओर आकर्षित हुए और बंगाल के कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों ने अपना धर्म बदला। धीरे-धीरे हजारों भारतीय ईसाई धर्म स्वीकार करने लगे। फलस्वरूप भारतीय धर्म और संस्कृति के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो गया। इसलिए बुद्धिजीवी वर्ग में नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। राजा राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन ने इस बात पर विशेष बल दिया कि धर्म को नये वातावरण के अनुकूल किया जाय। बंगाल के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों के लोगों ने भी इस प्रकार के सुधारवादी उपाय किये। स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द आदि विचारकों ने भारतीयों में अपनी धार्मिक एवं आध्यात्मिक विरासत के प्रति विश्वास उत्पन्न किया। देश में सुधारवादी आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। इन सुधारवादी आन्दोलनों ने भारतीय समाज को, विशेषकर हिन्दू समाज को पुन: संगठित किया और ईसाई धर्म की प्रगति को रोका। सुधारवादी आन्दोलनों के फलस्वरूप अन्धविश्वास, जादू-टोने आदि का स्थान तर्क और ज्ञान ने ले लिया। धर्म पर छाया हुआ पाखण्ड और बाह्य

आडम्बरों का आवरण हटने लगा और लोगों में धर्म के वास्तविक रूप को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। भारतीयों में आत्मविश्वास तथा अपनी प्राचीन गौरवमयी परम्पराओं के प्रति श्रद्धा उत्पन्न की, जिससे देश में राष्ट्रीय चेतना का संचार हुआ।

आर्थिक प्रभाव

पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का जितना प्रभाव आर्थिक क्षेत्र पर पड़ा उतना शायद किसी क्षेत्र में नहीं पड़ा। इसका कारण यह था कि अंग्रेज भारत में व्यापारिक उद्देश्य लेकर आये थे, संयोग से उन्हें राज्य भी मिल गया। अपनी राज्य सत्ता का लाभ उठा कर उन्होंने अपने व्यापार को बढ़ाने तथा अधिकाधिक व्यापारिक लाभ कमाने के प्रयास आरम्भ कर दिये। अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत के कुटीर उद्योग समृद्ध स्थिति में थे तथा कुटीर उद्योगों की बहुत सी वस्तुएँ अन्य देशों को निर्यात की जाती थीं, जिसके बदले में भारत को विदेशों से सोना और चाँदी प्राप्त होते थे। किन्तु अंग्रेजों ने बड़े घृणित ढंग से यहाँ के उद्योग-धन्धों को नष्ट करने का उपाय किया। कम्पनी के 'गुमाश्तों' की बेईमानी और भारतीयों पर किये जाने वाले अमानवीय अत्याचार के प्रमाण तत्कालीन अंग्रेजों की रिपोर्टों में मिलते हैं। अंग्रेजों ने अपने लाभ के लिए भारतीयों का आर्थिक शोषण किया। अंग्रेजों की मुक्त व्यापार नीति के कारण इंग्लैण्ड का निर्मित माल अधिकाधिक मात्रा में भारत के बाजारों में आने लगा। इंग्लैण्ड का निर्मित माल सस्ता होने के कारण बिक जाता था और भारत का निर्मित माल पड़ा रह जाता। फलस्वरूप भारतीय उद्योग प्रायः नष्ट हो गये। उद्योग और व्यापार नष्ट होने से कारीगर बेकार हो गये। अतः वे कृषि पर निर्भर होने का प्रयास करने लगे। इस प्रकार खेती पर जनसंख्या का भार अधिक हो गया। किन्तु भूमि सीमित थी और अंग्रेजों द्वारा समय-समय पर की गई भूमि-व्यवस्था जिसमें अंग्रेजों की अधिक भू-राजस्व प्राप्ति की मनोवृत्ति ने किसानों को भी भूमिहीन और बेकार कर दिया।

इसके अतिरिक्त संयुक्त परिवार प्रथा टूटने लगी थी, जिससे भूमि का बँटवारा होने लगा। फलस्वरूप किसानों के पास जो कुछ भूमि थी, वह छोटे-मोटे टुकड़ों में विभक्त हो गई। इधर अंग्रेजों ने इंग्लैण्ड की कृषि उत्पादन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विभिन्न क्षेत्रों में नई फसलें उगाने के आदेश दिये, जिससे कुछ क्षेत्र तो विशेष फसलों के लिए प्रसिद्ध हो गये, जैसे—पंजाब गेहूँ और रूई के लिये, बम्बई रूई के लिए, बंगाल पटसन व नील के लिये, बिहार अफीम के लिये तथा असम चाय के लिये। भारत से खाद्यान्न का निर्यात भी किया जाता था। 1876-78 ई. में दक्षिण भारत में भयंकर अकाल पड़ा, फिर भी इस समय 69 लाख पौंड मूल्य का अनाज निर्यात किया गया और किसानों को आधे पेट रहकर गुजारा करना पड़ा।

सर्वप्रथम लार्ड कर्जन ने केन्द्रीय और प्रांतीय कृषि विभागों का पुनर्गठन किया। उच्च कृषि शिक्षा के लिये 1903 ई. में 'एग्रीकल्चर इंस्टीट्यूट', पूना की स्थापना हुई। 1905 ई. में भारत सरकार ने 'अखिल भारतीय कृषि बोर्ड' की स्थापना की। 1906 ई. में 'इण्डियन एग्रीकल्चर सर्विस' की व्यवस्था की गई तथा कृषि विज्ञान की शिक्षा स्कूलों व कॉलेजों में दी जाने लगी। 1908 ई. में पूना में एग्रीकल्चर कॉलेज और तत्पश्चात् कानपुर, नागपुर, लायलपुर, कोयम्बटूर आदि कई स्थानों में एग्रीकल्चर कॉलेज स्थापित हुए। 1919 ई. के सुधारों के बाद कृषि को प्रांतीय विषय बना दिया गया और प्रत्येक प्रांत में एक कृषि विभाग

स्थापित किया गया। केवल कृषि अनुसंधान संस्थाओं का उत्तरदायित्व भारत सरकार पर था। किसानों व खेतिहर मजदूरों को जमींदारों तथा महाजनों के अत्याचारों से मुक्ति दिलाने के लिए अनेक कानून पारित किये गये।

18वीं शताब्दी के अन्त और 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति हुई, फलस्वरूप वस्तुओं का उत्पादन मशीनों से होने लगा। इसलिए इंग्लैण्ड को कच्चे माल की आवश्यकता हुई और अपने कारखानों में उत्पादित माल के लिए बाजारों की आवश्यकता हुई। अंग्रेजों को भारत में पर्याप्त कच्चा माल मिल गया और अपने माल की खपत के लिए मण्डी भी मिल गयी। इस प्रकार भारत का कच्चा माल इंग्लैण्ड भेजा जाने लगा और वहाँ से कारखानों में निर्मित माल भारत आने लगा। अतः भारत मात्र कच्चे माल की मण्डी बनकर रह गया। भारत का विदेशी व्यापार भी इंग्लैण्ड के हाथों में आ गया। 1857 ई. के विप्लव के बाद 1860 ई. में भारत में उद्योग-धन्धों का विकास प्रारम्भ हुआ। भारत में अनेक स्थानों पर कपड़ा मिले स्थापित हुई। किन्तु अंग्रेजों की दूषित नीति के कारण कपड़ा उद्योग को कोई सहायता अथवा संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ। ब्रिटिश प्रशासक प्रत्येक उद्योग को राजनैतिक दृष्टि से देखते थे। फलस्वरूप वे भारत के औद्योगिक विकास के प्रति उदासीन रहे, क्योंकि भारत के औद्योगिक विकास से इंग्लैण्ड के उद्योगों को खतरा उत्पन्न हो सकता था। अंग्रेजों ने केवल उन्हीं उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया जो इंग्लैण्ड की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। अन्य उद्योगों को संरक्षण न मिलने के कारण उन्हें वैज्ञानिक ढंग से संगठित करना सम्भव नहीं था। यद्यपि 1923 ई. में उद्योगों को संरक्षण देने के लिए 'टेरिफ बोर्ड' का गठन किया गया, लेकिन इस टेरिफ बोर्ड ने समस्त उद्योगों को एक इकाई के रूप में न मानकर विभिन्न उद्योगों के प्रति भिन्न-भिन्न नीतियाँ निर्धारित कीं। 1937 ई. में लोकप्रिय प्रांतीय सरकारों के गठन के बाद औद्योगिक विकास की योजनाओं को कार्यान्वित किया गया। फलस्वरूप देश में गैर-सरकारी भारतीय व्यापारिक संस्थाओं ने (जैसे इण्डियन चेम्बर ऑफ़ कॉमर्स) उद्योग-धन्धों के विकास के लिए कदम उठाये।

पाश्चात्य शासन के आर्थिक प्रभावों की विवेचना, 'धन के निष्कासन' की विवेचना के बिना अधुरी रह जायेगी वह धन जो भारत से बाहर जाता था और जिसके बदले में कुछ भी प्राप्त नहीं होता था, वह धन का निष्कासन कहलाता है। यह धन का निष्कासन धातु मुद्रा के रूप में कम तथा वस्तुओं के व्यापार के रूप में अधिक था। अंग्रेज भारत से जितना राजस्व वसूल करते थे, उस धन से वस्तुएं खरीद कर बाहर भेज देते थे। उन वस्तुओं के बदले धातु मुद्रा प्राप्त नहीं होती थी। सोने-चाँदी को भारत से इंग्लैण्ड ले जाना इस धन के निष्कासन का बहुत छोटा अंश था। दादाभाई नौरोजी की दृष्टि में भारत के अंग्रेज अधिकारियों द्वारा इंग्लैण्ड में अपने परिवारों को धन भेजना, अपनी समस्त बचत को इंग्लैण्ड भेजना, अंग्रेज अधिकारियों द्वारा इंग्लैण्ड में निर्मित वस्तुएँ खरीदना, भारत में रेल निर्माण तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों के लिए धन व ब्याज चुकाना तथा मुद्रा परिवर्तन का घाटा भी धन का निष्कासन था। जो धन भारत से निष्कासित हो जाता था, वही निष्कासित धन सार्वजनिक ऋण के रूप में पुनः भारत आ जाता था, जिसे चुकाने के लिए ब्याज सहित अधिक धन निष्कासित करना पड़ता था। दादाभाई नौरोजी ने कहा है कि, "भारत का धन ही भारत से बाहर जाता और फिर वही धन भारत को ऋण के रूप में दे दिया जाता, जिसके लिए उसे और धन ब्याज के रूप में जुटाना पड़ता और यह सब एक ऐसा दुष्चक्र था, जिसे तोड़ना

कठिन था।'' आर. सी. दत्त ने एक काव्यात्मक उदाहरण से धन के निष्कासन की इस प्रक्रिया को समझाने की चेष्टा की है, ''भारतीय राजाओं द्वारा कर लेना तो सूर्य द्वारा भूमि से पानी लेने के समान था, जो कि पुनः वर्षा के रूप में भूमि पर उर्वरता देने के लिए फिर वापस आता था, किन्तु अंग्रेजों द्वारा लिया गया कर फिर भारत में वर्षा न करके इंग्लैण्ड में ही वर्षा करता था।''

शिक्षा पर प्रभाव

शिक्षा संस्कृति की धात्री है,क्योंकि शिक्षा के माध्यम से ही संस्कृति के अणु राष्ट्रीय जीवन में प्रवेश करते हैं। ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक व्यापारिक संस्था थी, अतः प्रारम्भ में उसने शिक्षा या संस्कृति के प्रसार की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। किन्तु जब वह एक विस्तृत भू-भाग पर शासन करने लगी, तब इसका ध्यान शिक्षा की ओर गया। सिद्धान्त रूप से कम्पनी हिन्दू-मुस्लिम शासकों की उत्तराधिकारिणी थी। अतः मध्यकाल से चली आ रही मदरसों और पाठशालाओं की व्यवस्था बनाये रखना चाहती थी और साथ ही प्रभावशाली वर्ग के लोगों को उच्च पद देकर उन्हें शासन का समर्थक बनाना चाहती थी। अतः कम्पनी ने कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कॉलेज की स्थापना की। इस समय अंग्रेजों की नीति यह थी कि वह न तो मिशनरियों के ईसाई बनाने के कार्यों में भाग ले और न पाश्चात्य ढंग की शिक्षा लागू करे। वह केवल यहाँ की प्राच्य भाषाओं—संस्कृत, फारसी और अरबी को यथासम्भव प्रोत्साहित करे। दूसरी ओर मिशनरियों ने भी कुछ शिक्षा के प्रसार का काम किया। प्रारम्भ में इन मिशनरियों को कम्पनी का संरक्षण और सहायता मिली, लेकिन 1765 ई. के बाद, जबकि उसके अधिकार में कई क्षेत्र आ गये, तब उसे धार्मिक तटस्थता स्वीकार करनी पड़ी। किन्तु 1813 ई. में कम्पनी की नीति में परिवर्तन आया।

1813 ई. में जब कम्पनी के चार्टर का नवीनीकरण किया गया तब इंग्लैण्ड की सरकार ने दो महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये। प्रथम तो यह कि मिशनरी भारत में जाकर धर्म प्रचार कर सकते हैं तथा दूसरा यह कि प्रतिवर्ष एक लाख रुपया ब्रिटिश भारत के लोगों की शिक्षा के लिए निश्चित किया जाय। इस प्रकार पहली बार कम्पनी ने शिक्षा के प्रति अपना दायित्व स्वीकार किया। फिर भी अगले 10 वर्षों तक कम्पनी ने इस ओर कोई कदम नहीं उठाया। 1823 ई. में गर्वनर-जनरल लार्ड एमहर्स्ट ने इस विषय पर सुझाव देने के लिए एक समिति नियुक्त की। इस समिति के प्रायः वे लोग थे जो प्राच्य शिक्षा के समर्थक थे। अतः इस समिति ने 1823 ई. से 1833 ई. के बीच कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कॉलेज का पुनर्गठन किया। कलकत्ता में एक संस्कृत कॉलेज स्थापित किया। आगरा और दिल्ली में दो ओरियण्टल कॉलेज स्थापित किये, संस्कृत और अरबी की पुस्तकों के प्रकाशन का प्रबन्ध किया तथा पूर्वी विद्वानों को, अंग्रेजी पुस्तकों का पूर्वीय भाषा में अनुवाद करने के लिए नियुक्त किया।

किन्तु राजा राममोहन राय ने कलकत्ता में संस्कृत कॉलेज की स्थापना का विरोध किया तथा यह मेमोरियल प्रस्तुत किया कि शिक्षा की उदार नीति का अवलम्बन किया जाय जिसमें गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायन-शास्त्र, एनोटॉमी तथा अन्य लाभदायक विज्ञान की शिक्षा दी जाय। इससे पता चलता है कि स्वयं भारतीयों में अंग्रेजी शिक्षा के प्रति रुचि बढ़ रही थी। मिशनरी संस्थाएँ अंग्रेजी को लोकप्रिय बना रही थीं। अंग्रेजी का महत्त्व दिन-

प्रतिदिन बढ़ रहा था। अच्छी नौकरी और समाज में सम्मान प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी बोलना-चालना आवश्यक था। अतः अंग्रेजी शिक्षा की माँग प्रबल होती गई। समिति ने कलकत्ता व आगरा के कॉलेजों में अंग्रेजी दर्जे जोड़ दिये तथा कई जगह अंग्रेजी स्कूल खोल दिये। परन्तु इससे लोकमत को सन्तोष न हो सका। यहाँ तक कि शिक्षा समिति में भी मतभेद उत्पन्न हो गये। एक विचारधारा के प्रवर्तक एच. एच. विल्सन तथा दूसरी विरोधी विचारधारा के जनक चार्ल्स ट्रेवेलियन थे। विल्सन का कहना था कि भारत में प्राच्य शिक्षा प्रणाली अपनायी जाय, जबकि ट्रेवेलियन का कहना था कि भारत में पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार किया जाय। प्राच्य शिक्षा के समर्थकों का कहना था कि 1813 ई. के चार्टर एक्ट द्वारा जो एक लाख रुपया शिक्षा के लिए निर्धारित किया गया था, उसके पीछे मूल भावना प्राच्य शिक्षा के विकास की थी, क्योंकि इसी शिक्षा से अच्छे गुणों का विकास किया जा सकता है। अतः यह राशि दूसरे प्रकार की शिक्षा पर खर्च नहीं की जा सकती। इन सभी तर्कों के पीछे छिपा हुआ तर्क यह था कि भारतीयों को पाश्चात्य विचारों से अनभिज्ञ रखने से वे अंग्रेजों के प्रति सदैव निष्ठावान बने रहेंगे। दूसरी ओर पाश्चात्य शिक्षा के समर्थकों का कहना था कि 1813 ई. के चार्टर एक्ट द्वारा निर्धारित राशि केवल पाश्चात्य शिक्षा के विकास पर खर्च की जा सकती है, अतः इस राशि को भारत में स्कूल और कॉलेज खोलने तथा विश्वविद्यालयों की स्थापना पर खर्च किया जाय तथा उनके माध्यम से अंग्रेजी शिक्षा और विज्ञान का प्रसार किया जाय।

1835 ई. में लार्ड विलियम बैंटिक ने लार्ड मेकाले को इस शिक्षा समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया, जिसने फरवरी, 1835 ई. में भारतीय शिक्षा प्रणाली पर अपना एक एतिहासिक लेख प्रकाशित किया, जिसमें पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली पर जोर दिया गया। मेकाले ने कहा कि भारत में पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार होना चाहिये, क्योंकि "हमें एक ऐसा वर्ग तैयार करने का प्रयत्न करना चाहिये जो हमारे और शासितों के बीच वार्तालाप का माध्यम बन सके, जो रक्त और रंग से तो भारतीय हो लेकिन बुद्धि और विचारों से भारतीय न हो।" बैंटिक, मेकाले के विचारों से सहमत था। अतः 7 मार्च, 1835 को बैंटिक ने अपनी कौंसिल में प्रस्ताव पारित कर आदेश प्रसारित किया कि भारत में अंग्रेजी भाषा का प्रसार किया जायेगा, भारत में राजकीय भाषा अंग्रेजी होगी और न्याय का आधार अंग्रेजी भाषा होगी। बैंटिंग के इस निर्णय से भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार आरम्भ हो गया। 1835 ई. में कलकत्ता में मेडिकल कॉलेज की नींव रखी गई। तत्पश्चात् ब्रिटिश अधिकारियों और ईसाई मिशनरीज के प्रयत्नों से भारत में पाश्चात्य शिक्षा का विकास हुआ।

लार्ड डलहौजी के काल में शिक्षा के इतिहास में एक युगान्तकारी परिवर्तन आया। 1854 ई. में कम्पनी के बोर्ड ऑफ कंट्रोल के अध्यक्ष चार्ल्स वुड ने शिक्षा के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण नीति निर्धारित की, जिसके अनुसार प्रत्येक प्रान्त में एक शिक्षा विभाग खोला गया, जिसका प्रबन्ध एक डायरेक्टर ऑफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन को सौंपा गया। कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इस नीति के अनुसार निजी शिक्षण संस्थाओं को अनुदान देने की प्रथा आरम्भ हुई और अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए संस्थाएँ स्थापित हुई। इसमें स्त्री-शिक्षा का भी प्रबन्ध था। अतः कलकत्ता में एक महिला विद्यालय स्थापित कर स्त्री-शिक्षा के आन्दोलन को शक्तिशाली बनाया गया।

नई शिक्षा का प्रभाव—नई शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य पाश्चात्य साहित्य और विज्ञान का प्रसार करना था। इस नई शिक्षा से भारत में पाश्चात्य ज्ञान और क्रान्तिकारी विचारों का

प्रवेश हुआ। पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त भारतीयों ने यह अनुभव किया कि हमारे देश की भाषाओं में भी उसी कोटि के साहित्य का सृजन होना चाहिये। अतः उन्होंने इस प्रकार के साहित्य का सृजन करने के लिए सोसाइटियाँ स्थापित की। छापाखाने स्थापित हुए और समाचार-पत्रों का प्रकाशन आरम्भ हुआ। नई शिक्षा का सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में भी प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी पढ़कर लोगों में यह इच्छा उत्पन्न हुई कि वे अपने समाज में भी सुधार करें। यह सुधार की प्रवृत्ति विशेषतः हिन्दुओं में दिखाई देती थी। इसी कारण हिन्दुओं में जाति-प्रथा के उन्मूलन, विधवा-विवाह के प्रचार, तलाक, विवाह की आयु बढ़ाने का प्रयास, खान-पान के नियन्त्रण को हटाने, छुआछूत का बहिष्कार, हरिजनोद्धार आदि की ओर प्रयास आरम्भ हुए।

इस शिक्षा का देश के राजनीतिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ा। पहले दो देशप्रेमियों का ध्यान सामाजिक और धार्मिक सुधारों की ओर गया, क्योंकि कुछ लोगों का विश्वास था कि राजनैतिक सुधारों के पहले सामाजिक सुधार आवश्यक है। परन्तु कुछ नवयुवकों ने सोचा कि देश की समृद्धि राजनैतिक सुधारों के बिना असम्भव है। अतः बुद्धि जीवियों का एक नया वर्ग उत्पन्न हुआ, जिसने लोगों में स्वतन्त्रता और प्रजातंत्र के विचारों का प्रचार किया और इसे प्राप्त करने के लिये संघर्ष किया। अंग्रेजी भाषा के ज्ञान से अब पूरे भारत के लिये समान भाषा द्वारा विचारों का आदान-प्रदान प्रारम्भ हुआ। समान भाषा और समान विचारों से भारतीयों में राजनीतिक एकता उत्पन्न हो गयी।

इस युग में एक महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि पूर्वीय धर्म, दर्शन और साहित्य के प्रति पाश्चात्य विद्वानों की धारणा में परिवर्तन आया। अब तक ईसाई मिशनरीज ने भारतीय धर्म और संस्कृति के बारे में बड़ी बेढंगी बातें उड़ा रखी थीं। इस धारणा को दूर करने के लिए कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने प्रयास किये। 1801-1802 ई. में उपनिषदों का फ्रेन्च भाषा में अनुवाद हुआ। उसकी एक प्रति जर्मन दार्शनिक शोपेनहावर के हाथ लग गई। उसने इसके महत्त्व को समझा। वहीं से प्राच्य दर्शन का पाश्चात्य दर्शन पर प्रभाव प्रारम्भ हुआ। विलियम जॉन्स ने 'शकुन्तला' का अनुवाद किया, मैक्समूलर ने वेदों का अनुवाद किया तथा संस्कृत साहित्य और दर्शन को लोकप्रिय बनाया। इधर भारतीय विश्वविद्यालयों में भी संस्कृत का आलोचनात्मक अध्ययन आरम्भ हुआ। बी. जी. भण्डारकर, राजेन्द्रलाल मिश्रा, के.टी. तेलंग, रानाडे आदि कई विद्वान् उत्पन्न हुए। यदि अंग्रेजी शिक्षा पूर्व को पश्चिम की व्याख्या कर रह थी तो ये पूर्वीय विद्वान् केवल पश्चिम को ही नहीं वरन् पूर्व को भी पूर्व की व्याख्या सुना रहे थे। इस प्रकार पाश्चात्य और प्राच्य संस्कृतियों का समन्वय प्रारम्भ हुआ।

पाश्चात्य संस्कृति की आंधी के प्रथम झोंके से कुछ अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग ऐसे प्रभावित हुए कि उन्होंने अंग्रेजी लिबास, अंग्रेजी खाना, अंग्रेजी रहन-सहन आदि सभी कुछ धारण कर लिया, जिससे भारत के प्राचीन गौरव की विशेषताएँ समाप्त होने लगीं। कुछ भारतीय तो गोमांस भक्षण भी करने लगे और मदिरा का सेवन करने लगे। उन्हें भारतीय नाम से चिढ़ हो गई और यहाँ की संस्कृति से नाक-भौं सिकोड़ने लगे। कुछ ईसाई बन गये। परन्तु जब पाश्चात्य विद्वानों ने भी भारतीय संस्कृति की प्रशंसा प्रारम्भ कर दी, तब पाश्चात्य संस्कृति की आंधी कुछ शान्त हुई। इसी वातावरण में नया भारतीय नेतृत्व उत्पन्न हुआ। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन, विवेकानन्द, महादेव गोविन्द रानाडे, दादाभाई नौरोजी, सर सैयद अहमदखां आदि इस नव जागृत भारत की उपज बने।

अंग्रेजी शिक्षा से न तो आर्थिक उन्नति हो सकी और न औद्योगिक। भारतीयों के व्यवहार, रहन-सहन, खान-पान, कपड़े आदि पहनने में पाश्चात्य ढंग आ जाने से ब्रिटिश माल की खपत के लिये भारत में बाजार तैयार हो गया, जिससे भारत का आर्थिक शोषण पहले से अधिक होने लगा। अतः पाश्चात्य शिक्षा केवल कुछ लोगों को शिक्षित अवश्य बना सकी। किन्तु इन पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त लोगों ने प्राचीन भारतीय आदर्शों को नष्ट कर दिया, जिससे भारतीय सामाजिक जीवन के मूल्य ही नष्ट हो गये।

सामाजिक सुधार

ब्रिटिश शासन स्थापित होने के समय भारतीय समाज की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। इसमें सती-प्रथा, कन्या-वध जैसी भीषण एवं बाल-विवाह जैसी घातक और अस्पृश्यता तथा जाति-भेद जैसी हानिप्रद कुरीतियाँ प्रचलित थीं जो देश के सांस्कृतिक पतन का कारण बनी हुई थीं। 19वीं शताब्दी में कुछ अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों में सामाजिक और धार्मिक सुधारों की इच्छा जागृत हुई। 1885 ई. में जब देश की राजनैतिक दशा सुधारने के लिये कांग्रेस की स्थापना हुई, उस समय भी यह अनुभव किया गया कि सामाजिक दशा सुधारने के लिये प्रयत्न करना आवश्यक है। अतः 1888 ई. से कांग्रेस की प्रतिवर्ष होने वाली बैठक के साथ 'राष्ट्रीय समाज सुधार' के अधिवेशन होने लगे। इस परिषद् के सर्वेसर्वा महादेव गोविन्द रानाडे थे। इसके प्रतिवर्ष होने वाले अधिवेशनों में स्त्री-शिक्षा के प्रसार, बाल-विवाह और पर्दा-प्रथा का विरोध, विधवाओं तथा अस्पृश्यों की स्थिति सुधारने, अन्तर्जातीय खान-पान और विवाहों को प्रोत्साहन आदि के सम्बन्ध में प्रस्ताव पास किये जाते थे। 1890 ई. में सामाजिक सुधारों का प्रबल समर्थक 'इण्डियन सोशल रिफार्मर' नामक साप्ताहिक समाचार-पत्र निकला। 1897 ई. में बम्बई तथा मद्रास में समाज सुधार के प्रान्तीय संगठन बने। 20वीं शताब्दी में समाज सुधार का कार्य पहले आर्य समाज और फिर कांग्रेस द्वारा हुआ। महात्मा गाँधी ने हरिजनोद्धार और मादक-द्रव्यनिषेध पर बहुत बल दिया। 1920 ई. के बाद से भारतीय नारियों में अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न हुई। यहाँ इन सामाजिक सुधारों का संक्षिप्त विवेचन करना समीचीन होगा।

सती-प्रथा—पति की मृत्यु पर पत्नी द्वारा उसकी चिता पर जिन्दा जल जाना सतीत्व का चिह्न समझा जाता था। धर्मशास्त्रों और स्मृतिकारों ने व्यवस्था दी कि सती होने वाली स्त्री न केवल पति के साथ अनन्त काल तक स्वर्ग के सुखों का उपभोग करती है, बल्कि वह अपने इस कार्य से पति और पितृकुल की तीन पीढ़ियों का भी उद्धार करती है। इस प्रकार की धार्मिक व्यवस्था होने के कारण स्त्रियाँ अपनी स्वेच्छा से सती होने लगीं। किन्तु कालान्तर में यह प्रथा विकृत हो गई और सामाजिक दबाव के कारण महिलाओं को पति की चिता में जिन्दा जलने को बाध्य किया जाने लगा। इसके लिये बड़े दारुण उपायों का अवलम्बन किया जाने लगा। पति की मृत्यु के बाद उसकी विधवा को अफीम आदि मादक पदार्थ खिलाकर बिल्कुल बेसुध कर दिया जाता था। स्त्री चिता की ज्वाला प्रज्ज्वलित होने पर वहाँ से उठकर भागती तो उसे बाँसों से जबरदस्ती चिता में ठेल दिया जाता। उसकी करुण चीत्कार लोगों के हृदय को विदीर्ण न कर दे, इसके लिये शंख, ढोल, खड़ताल आदि वाद्य खूब जोर-जोर से बजाये जाते थे।

भारत में इस अमानवीय प्रथा को समाप्त करने का अनेक शासकों ने प्रयत्न किया था, किन्तु उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। बंगाल में ब्रिटिश शासन स्थापित होने के बाद प्रायः

सभी गर्वनर-जनरल सती-प्रथा के विरुद्ध थे, किन्तु वे इस धार्मिक मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहते थे। धीरे-धीरे सरकार ने 1812, 1815 और 1817 ई. में कुछ ऐसे नियम बनाये जिनके अनुसार छोटी उम्र की, गर्भवती तथा बाल-बच्चों वाली विधवाओं के सती होने पर रोक लगा दी गई तथा किसी स्त्री को इसके लिए बाध्य करना और उसे अफीम आदि से बेसुध करना भी दण्डनीय अपराध बना दिया गया। राजा राममोहन राय अपनी भाभी को जबरदस्ती सती किये जाने का दारुण दृश्य देखकर इस प्रथा के घोर विरोधी हो गये। उन्होंने कहा कि शास्त्रों के अनुसार यह नारी हत्या है और इसका अन्त होना चाहिये। अन्त में लार्ड बैंटिंक ने दिसम्बर, 1829 को एक अधिनियम पारित कर सती-प्रथा को अवैध और दण्डनीय अपराध बना दिया। बंगाल के कुछ कट्टरपंथियों ने बैंटिंक के अधिनियम का विरोध किया तथा उन्होंने लन्दन में प्रीवि कौंसिल में इस अधिनियम को चुनौती दी। उन्होंने ब्रिटिश सम्राट को भी एक याचिका प्रस्तुत की। किन्तु राजा राममोहन राय और द्वारिकानाथ टैगोर ने सरकारी कार्यवाही का समर्थन करते हुए पत्र लिखे, जिससे उन कट्टरपंथियों का पक्ष कमजोर हो गया। बंगाल में सती-प्रथा पूर्णतः बन्द हो गयी। 1830 ई. में यह अधिनियम मद्रास तथा बम्बई प्रेसीडेन्सियों मे भी लागू कर दिया गया। धीरे-धीरे 1860-62 तक सम्पूर्ण भारत में सती-प्रथा को गैर-कानूनी तथा दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया।

बाल-वध—बाल-वध की बुराई दो रूपों में प्रचलित थी। बंगाल में यह बहुत प्राचीन प्रथा थी कि कोई अभीष्ट पूरा होने पर बच्चे की बलि दी जाती थी। जैसे निःसंतान स्त्रियाँ संकल्प करती थीं कि यदि उनके एक से अधिक बच्चे हुए तो वे एक बच्चा गंगा मैया को अर्पित करेंगी। दूसरी शोचनीय प्रथा कन्या-वध की थी। मध्य तथा पश्चिमी भारत में राजपूतों, जाटों, मेवों में कन्या का जन्म होते ही उसे अफीम आदि देकर अथवा अन्य किसी तरीके से मार दिया जाता था, ताकि कन्या के विवाह के समय उस परिवार को अपमानजनक स्थिति का सामना न करना पड़े। इस बुराई को समाप्त करने के लिये उचित वातावरण तो था ही, अतः लार्ड बैंटिक ने अपने दो अधिकारियों—विलकिंसन और विलोबी—की सहायता से बाल-हत्या के भयावह कृत्य को रोकने का प्रयास आरम्भ किया। फलस्वरूप कुछ ही दशकों में यह प्रथा समाप्त हो गयी।

विधवा-विवाह—सती-प्रथा बन्द हो जाने से विधवाओं की समस्या उत्पन्न हो गयी। बाल-विवाह और बेमेल विवाह के कारण हिन्दू समाज में बाल-विधवाओं की संख्या बहुत अधिक थी। प्रचलित प्रथा के अनुसार विधवाएँ पुनर्विवाह नहीं कर सकती थीं। उन्हें अत्यन्त संयम और ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना पड़ता था। अतः ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन आदि समाज सुधारकों के प्रयत्न से एक कानून बनाया गया, जिसके अनुसार विधवा विवाह और अन्तर्जातीय विवाहों को वैध ठहराया गया। इस कानून के बावजूद विधवा-विवाहों की संख्या नहीं बढ़ी क्योंकि अभी लोकमत इसके पक्ष में नहीं था। किन्तु धीरे-धीरे विधवा-विवाह के पक्ष में जनमत प्रबल होने लगा और इन विवाहों को समाज द्वारा मान्यता दी जाने लगी। देश में विधवाओं की सहायता करने व उनकी दशा सुधारने के लिये अनेक संस्थाएँ स्थापित हुई। सर्वप्रथम 1887 ई. में शशिपद बनर्जी ने कलकत्ता के पास एक संस्था स्थापित की। 1889 ई. में एक परिवर्तित ईसाई महिला रमाबाई ने पूना में हिन्दू विधवाओं के लिए शारदा सदन स्थापित किया। 1896 ई. में श्री कर्वे ने विधवा-आश्रम की स्थापना की। 1906 ई. के बाद आर्य समाज ने अनेक विधवा-आश्रम स्थापित किये। उत्तर

भारत में सबसे बड़ा प्रयास सर गंगाराम का था, जिन्होंने 1914 ई. में विधवा-विवाह सहायक सभा की स्थापना की और इसके लिये लाखों की सम्पत्ति दान की। अनेक शहरों में इसकी शाखाएँ स्थापित हुई।

बाल-विवाह—मध्य युग में बाल-विवाह की बुराई अपनी चरम सीमा पर जा पहुँची थी। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें दूध पीते तथा गर्भस्थ शिशुओं की शादी कर दी जाती थीं। ब्रह्म समाज, आर्य समाज तथा एक पारसी पत्रकार बहरामजी मलाबारी ने समाज का ध्यान इस बुराई की ओर आकर्षित किया। 1880 ई. में श्री मलाबारी ने इसके विरोध में एक पुस्तिका भी प्रकाशित की। 1890 ई. में एक बंगाली लड़की फूलमणि दासी के बलिदान से बाल-विवाह की बुराई को तीव्रता से अनुभव किया गया। ग्यारह वर्ष की आयु में पति द्वारा सहवास से फूलमणि की मृत्यु हो गयी। जब उसके पति पर हत्या का अभियोग चलाया गया तो उसने भारतीय दण्ड विधान की वह धारा पेश की जिसके अनुसार विवाहित जीवन में सहवास के लिये न्यूनतम आयु दस वर्ष थी। श्री मलाबारी आदि अनेक सुधारकों ने सहवास-आयु बढ़ाने तथा बाल-विवाह रोकने के लिए कानून बनाने के लिये सरकार पर दबाव डाला। अतः 1891 ई. में कट्टरपंथियों के प्रबल विरोध के बावजूद भारत सरकार ने सहवास आयु को दस से बारह वर्ष कर दिया। देशी रियासतों में सर्वप्रथम बड़ौ ने 1901 ई. में बाल-विवाह निषेध कानून द्वारा लड़के-लड़कियों के विवाह के लिये न्यूनतम आयु क्रमशः सोलह और बारह वर्ष रखी। ब्रिटिश-भारत में श्री हरविलास शारदा के प्रयत्न से 1929 ई. में बाल-विवाह निषेध कानून शारदा एक्ट के नाम से पारित हुआ, जिसके अनुसार 18 वर्ष से कम आयु के लड़के तथा 14 वर्ष से कम आयु की लड़की का विवाह नहीं हो सकता। बाद में इस कानून में कई संशोधन हुए। वर्तमान में 21 वर्ष से कम आयु के लड़के तथा 18 वर्ष से कम आयु की लड़की का विवाह कानूनन जुर्म है। शिक्षा के प्रसार से भी बाल-विवाह की बुराई में कमी आ रही है। शहरों में तो इस बुराई का लगभग अन्त हो ही गया है।

जाति-भेद—हिन्दू जाति लगभग तीन हजार ऐसे वर्गों में विभक्त है जिनका खान-पान और विवाह अपने ही वर्गों तक सीमित है। ब्रिटिश शासन के प्रारम्भिक काल में जाति-भेद की व्यवस्था बड़ी कठोर थी, यहाँ तक कि विदेशियों के सम्पर्क से दूषित होने के भय से विदेश या समुद्र-यात्रा भी नहीं कर सकता था। खान-पान में ब्राह्मणों के कुछ ऊँचे वर्ग शुद्धि का इतना अधिक विचार रखते थे कि एक ही उप-जाति के व्यक्ति एक-दूसरे के हाथ का बना भोजन भी नहीं खाते थे। यही बात 'नौ कनौजी तेरह चूल्हे' की कहावत में प्रतिबिम्बित हुई है। समाज सुधारक निरन्तर इस जाति-भेद का विरोध कर रहे थे। किन्तु स्वयं राजा राममोहन राय इंग्लैण्ड जाते हुए अपने साथ ब्राह्मण रसोइया लेते गये थे, ताकि अपवित्र विदेशी भोजन से वे धर्मभ्रष्ट न हों। विदेश जाने वालों को भारत वापिस आने पर बड़ी विकट समस्या का सामना करना पड़ता था। प्रायश्चित से शुद्धि न करने पर वे जाति से बहिष्कृत कर दिये जाते थे।

शिक्षित व्यक्तियों द्वारा सर्वप्रथम खान-पान और विदेश यात्रा के बन्धन तोड़े गये। कांग्रेस के अधिवेशनों के साथ होने वाली समाज सुधार परिषदों की समाप्ति अन्तर्जातीय भोजों के साथ होती थी। साधारण जनता में, रेलों ने इस विचार को शिथिल करने में सहायता दी, क्योंकि इनमें छुआछूत और शुद्धि की मर्यादा का पालन करना सम्भव नहीं था। धीरे-धीरे

उच्च शिक्षा के लिये यूरोप और अमेरिका जाने वालों की संख्या बढ़ने से यह बन्धन शिथिल होते गये। किन्तु विवाह विषयक बन्धन फिर भी कठोर था। 1971 ई. में श्री विट्ठलभाई पटेल ने अन्तर्जातीय विवाह के लिये एक बिल पेश किया किन्तु कट्टरपंथियों के विरोध के कारण वह बिल पारित न हो सका। 1922 ई. में लाहौर में जाति-भेद का विरोध करने के लिये जात-पाँत-तोड़क-मण्डल स्थापित हुआ। 1937 ई. में आर्य विवाह कानून द्वारा आर्य समाजियों ने अन्तर्जातीय विवाहों को वैध बना दिया।

जाति-भेद की शृंखलाएँ पश्चिमी शिक्षा, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, समानता पर बल देने वाली उदार विचारधारा, रेलों आदि का प्रचलन तथा नई आर्थिक परिस्थितियों से टूट रही हैं। समूचे देश में एक कानून लागू होने तथा समानता के सिद्धान्त का पालन होने से भी पुराना जातीय भेदभाव समाप्त हो रहा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यह अनुभव किया जा रहा है कि सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना के लिए जाति-भेद समाप्त करना अनिवार्य है।

हरिजनोद्धार—ब्रिटिश शासन के प्रारम्भ में निम्न जातियों के करोड़ों हिन्दू अछूत माने जाते थे तथा इनके साथ असहनीय एवं अमानवीय अत्याचार होते थे। दक्षिण भारत में तो यह प्रथा उग्रतम रूप में थी। वहाँ उच्च जातियाँ निम्न जातियों के स्पर्श से ही नहीं, बल्कि छाया तक से अपवित्र हो जाती थीं। अभागे अछूत शहरों से बाहर रहते थे, मन्दिरों में इनका प्रवेश वर्जित था, क्योंकि सब भक्तों का उद्धार करने वाले देवता भी इनके दर्शन से दूषित हो जाते थे। ये सार्वजनिक कुओं से पानी नहीं भर सकते थे, अस्पतालों व पाठशालाओं का लाभ नहीं उठा सकते थे। उच्च वर्ग द्वारा ली जाने वाली बेगार और दिये जाने वाले अत्याचारों को सहते हुए वे दुःख से नारकीय जीवन व्यतीत करते थे।

इनके उद्धार की ओर सर्वप्रथम आर्य-समाज ने ध्यान दिया। 1876-77 ई. में देश में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। देहातों में हजारों अछूत बुरी तरह से मरने लगे। इस समय ईसाइयों ने सहायता कार्य का संगठन किया। फलस्वरूप 1880 ई. से दलित जातियाँ बड़ी संख्या में धर्म परिवर्तन कर ईसाई बनने लगीं। आर्य समाज ने इस खतरे का अनुभव करते हुए उनके उद्धार के लिये प्रयत्न किये। ब्रह्मसमाज और प्रार्थना समाज ने भी इस क्षेत्र में कुछ काम किया। 1920 ई. के बाद महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने अस्पृश्यता-निवारण को अपने रचनात्मक कार्यक्रम का अंग बना लिया। इसी समय के आस-पास बाबा साहेब भीमराव अम्बेडकर का भी इस क्षेत्र में पदार्पण हुआ। गांधी और अम्बेडकर के प्रयासों से हरिजनों के मन्दिर-प्रवेश के लिये कानून बना। सवर्ण हिन्दुओं के भीषण अत्याचारों से दुःखी होकर अम्बेडकर ने, विधान मण्डलों में अछूतों को हिन्दुओं से अलग मानते हुए उनके लिये स्थान आरक्षित करने की माँग की। फलस्वरूप 1932 ई. में ब्रिटिश सरकार ने 'साम्प्रदायिक-पंचाट' की घोषणा की, जिसके अनुसार हरिजनों को हिन्दुओं से अलग मानकर विधान-मण्डलों ने उन्हें अलग प्रतिनिधित्व दिया गया। महात्मा गांधी ने इसके विरोध में पूना में अनशन किया और अन्त में गांधीजी और अम्बेडकर के बीच 'पूना पेक्ट' हुआ, जिसमें गांधीजी ने दलितों के लिए अलग प्रतिनिधित्व की बात स्वीकार करते हुए हिन्दुओं व दलितों का निर्वाचन संयुक्त रखा। इसी समय गांधीजी ने अधूतों को 'हरिजन' का नाम दिया। गांधीजी ने हरिजनों की दशा सुधारने के लिये 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की तथा 'हरिजन' नामक समाचार-पत्र निकाला, जिसमें अस्पृश्यता-निवारण व हरिजनोद्धार सम्बन्धी लेख प्रकाशित होते थे। गांधीजी ने हरिजनोद्धार के लिये देश का दौरा किया तथा हरिजनों के

प्रति सहानुभूति का वातावरण तैयार किया। 1937 ई. में प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारें स्थापित होने के बाद हरिजनों की उन्नति, शिक्षा तथा सामाजिक प्रतिबन्धों को दूर करने की ओर ध्यान दिया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद तथा विशेषत: भारत के स्वतन्त्र होने के बाद सरकार ने दलित जातियों के उत्थान के लिये पूरा प्रयत्न किया गया। 1955 ई. के एक कानून द्वारा अछूतों को ऊँची जातियों के बराबर समझते हुए सभी सामाजिक प्रतिबन्ध अवैध और दण्डनीय अपराध बना दिये गये। शिक्षा की दृष्टि से दलित वर्ग अत्यन्त पिछड़ा हुआ है, अत: उनमें शिक्षा-प्रसार के विशेष प्रयत्न किये जा रहे हैं, सरकारी नौकरियों में उनके लिये स्थान सुरक्षित किये गये तथा व्यवस्थापिका सभाओं में भी उनके स्थान सुरक्षित हैं।

स्त्रियों का उत्थान—पिछली शताब्दी में समाज में स्त्रियों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। धर्मशास्त्रों और स्मृतिकारों ने अपनी व्यवस्थाएँ देकर स्त्रियों की स्थिति को गिराया। समाज में स्त्रियों को अत्यन्त ही तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था। पुरुष प्रधान समाज उसे अपने पैरों की जूती समझता था। वह केवल भोग की वस्तु मात्र समझी जाती थी। विवाह के पूर्व माता-पिता का उस पर कठोर नियन्त्रण था, शादी के बाद पति के कठोर नियन्त्रण में उसे पर्दे में रखा जाता था। स्त्रियों के लिये शिक्षा को उचित न समझते हुए उसे शिक्षा से वंचित रखा जाता था। पुरुषों की अपेक्षा उनके दाम्पत्य एवं साम्पत्तिक अधिकार नाममात्र के ही थे। किन्तु वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में स्त्रियों में असाधारण जागृति आई और उन्होंने सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान स्थिति प्राप्त करली है।

स्त्रियों के उत्थान का श्रीगणेश स्त्री-शिक्षा से हुआ। बंगाल में ब्रह्म समाज ने तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने और अन्य प्रान्तों में आर्य समाज ने स्त्री-शिक्षा के लिये बड़ा प्रयत्न किया। 1890 के बाद इस कार्य को बड़े जोर-शोर से किया गया। स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार होने से उनमें अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न हुई और वे राजनैतिक अधिकारों की माँग करने लगीं। भारतीय स्त्रियों ने इसके लिये आन्दोलन भी किया। फलस्वरूप 1926 ई. में स्त्रियों को व्यवस्थापिकाओं में सदस्यों के निर्वाचन का अधिकार प्रदान कर दिया गया। यूरोप में जो अधिकार स्त्रियों को घोर संघर्ष के बाद प्राप्त हुआ, वह भारतीय स्त्रियों को अल्प प्रयास से और फ्रान्स आदि कई देशों की स्त्रियों से पहले मिल गया। इसी वर्ष श्रीमती मार्गरेट कज़िन्स के प्रयासों से एक अखिल भारतीय महिला परिषद् की स्थापना हुई। यह शिक्षित महिलाओं का प्रधान संगठन था। पिछली दो दशाब्दियों में भारतीय नारियों पर लगे प्रतिबन्धों और कानूनी बाधाओं को हटाने तथा समान अधिकारों की माँग करने में इस संस्था ने मुख्य रूप से भाग लिया। भारत सरकार की नीति भी नारी आन्दोलन के अनुकूल रही। 1935 ई. में केन्द्रीय व प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं में स्त्रियों के लिये स्थान सुरक्षित रखे गये। स्त्रियों के व्यवस्थापिका में पहुँचने का एक सुपरिणाम यह हुआ कि उन्होंने समाज-सुधार तथा स्त्रियों को कानूनी अधिकार दिलाने के प्रस्ताव पेश किये। बम्बई प्रान्तीय व्यवस्थापिका में पुरुषों के बहुविवाह पर प्रतिबन्ध लगाने वाले तथा विशेष परिस्थितियों में स्त्री-पुरुषों को तलाक का अधिकार दिलाने वाले कानून पास किये गये।

भारत सरकार ने स्त्रियों को ऊँचे पद देकर नारियों को उच्चतम प्रतिष्ठा देने के प्राचीन भारतीय आदर्श का पालन किया है। स्वतन्त्र भारत में न केवल अपने संविधान में स्त्री-पुरुषों के समान अधिकार माने गए हैं बल्कि 1948 ई. में केन्द्रीय सरकार ने भारतीय प्रशासनिक सेवा (आई.ए.एस.) की प्रतियोगिता परीक्षाओं में नारियों को भी बैठने का अधिकार देकर

संविधान की उक्त धारा को क्रियात्मक रूप प्रदान किया है। भारतीय संसद ने स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिये नये सामाजिक कानूनों का निर्माण किया, जिससे स्त्रियों की दशा बहुत उन्नत हो गयी है। पहले विवाहित स्त्री पूरी तरह पति की कृपा और दया पर आश्रित थी, किन्तु आज भारतीय नारी को कानून का इतना संरक्षण प्राप्त है कि उसके स्वतन्त्र विचारों में तथा उसकी गतिविधियों में पति का कोई हस्तक्षेप नहीं हो सकता। यदि पति उस पर अत्याचार करे तो उसे तलाक देकर उससे निर्वाह भत्ता प्राप्त करने का अधिकार है। उसे अपने पिता की सम्पत्ति में भी अधिकार प्राप्त हो गया है। स्त्री-पुरुषों के कानूनी अधिकारों में समानता स्थापित हो गयी है।

शिक्षा की प्रगति

सर चार्ल्स वुड की नीति के बाद 1882 ई. तक के काल में शिक्षा की अभूतपूर्व प्रगति हुई। सरकारी शिक्षा संस्थाओं की संख्या में भी वृद्धि हुई, उदाहरणार्थ 1858 ई. में सरकारी संस्थाओं की संख्या 1406 थी, यह 1882 ई. में बढ़कर 15,462 हो गयी। किन्तु प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा में कोई प्रशंसनीय उन्नति नहीं हुई। प्राविधिक शिक्षा (Technical Education) का तो सर्वथा अभाव था, हालांकि रुड़की और कलकत्ता में इंजीनियरिंग कॉलेज और बम्बई, मद्रास व कलकत्ता में मेडिकल कॉलेज स्थापित हो गये थे, फिर भी देश के विस्तार और शिक्षा की बढ़ती हुई माँग को देखते हुए यह सब नगण्य ही था।

1882 ई. में तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड रिपन ने सर चार्ल्स वुड की शिक्षा नीति की कार्यान्विति की जाँच करने तथा शिक्षा के सम्बन्ध में अन्य सुझाव देने के लिए डब्ल्यू. हण्टर की अध्यक्षता में एक शिक्षा आयोग गठित किया। इस आयोग ने सुझाव दिया कि देशी भाषाओं को प्रोत्साहन दिया जाय तथा शिक्षा के प्रसार के लिए निजी व्यवस्थाओं पर अधिक निर्भर रहा जाय। आयोग ने प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा में देने, प्राथमिक शिक्षा का प्रबन्ध स्थानीय संस्थाओं को सौंपने और प्रत्येक मण्डल में एक प्रशिक्षण विद्यालय खोलने का सुझाव दिया। आयोग ने अनुदान प्रणाली पर आधारित माध्यमिक स्कूलों की स्थापना का सुझाव दिया। प्रत्येक जिले में एक हाई स्कूल तथा इन स्कूलों में दो पाठ्यक्रम चलाने का सुझाव दिया—प्रथम तो उन छात्रों के लिए जो विश्वविद्यालय की कक्षाओं में प्रवेश पाने के इच्छुक हों और दूसरा प्रायोगिक तथा औद्योगिक विषयों (व्यावसायिक पाठ्यक्रम) से सम्बन्धित हों। उच्च शिक्षा में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी-भाषा रखने का सुझाव दिया। आयोग ने उच्च शिक्षा का प्रबन्ध निजी महाविद्यालयों को सौंपने का भी सुझाव दिया। लार्ड रिपन ने आयोग के सुझावों को स्वीकार कर उन्हें कार्यान्वित कर दिया। फलतः 1902 ई. तक छात्रों तथा शिक्षण संस्थाओं की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई। प्राविधिक महाविद्यालयों की संख्या 46 हो गयी।

भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड कर्जन (1899-1905) ने तत्कालीन शिक्षा प्रणाली में सुधार करने के लिए तथा शिक्षण व्यवस्था को सरकारी नियन्त्रण में लाने के उद्देश्य से जनवरी, 1902 ई. में सर थॉमस रेले की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया। इस आयोग की रिपोर्ट के आधार पर 1904 ई. में विश्वविद्यालय अधिनियम स्वीकृत किया। इस अधिनियम द्वारा विश्वविद्यालयों पर सरकारी नियन्त्रण दृढ़ कर दिया। कॉलेज का निरीक्षण करने तथा नये कॉलेजों को मान्यता देने का अधिकार भी सरकार ने अपने हाथ में ले लिया।

विश्वविद्यालयों में नये पाठ्यक्रम बनाये गये तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय में पढ़ाने का विभाग खोला गया। 1906 ई. के एक नवीन अधिनियम द्वारा विश्वविद्यालयों में विज्ञान की शिक्षा प्रारम्भ की गई। 1910 ई. में शिक्षा का प्रबन्ध नवनिर्मित शिक्षा विभाग को सौंप दिया गया। विश्वविद्यालयों के संविधान में संशोधन कर उन्हें अध्यापन सम्बन्धी अधिक अधिकार दिये गये तथा डॉक्टरी, इंजीनियरिंग, कृषि, पशु-चिकित्सा, कलात्मक एवं औद्योगिक शिक्षा की ओर ध्यान दिया गया।

किन्तु समय के साथ-साथ विश्वविद्यालयों की शिक्षा का स्तर गिरता गया। अतः 1917 ई. में गवर्नर-जनरल लार्ड चेम्सफोर्ड ने माइकल सेंडलर की अध्यक्षता में कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग नियुक्त किया। इस आयोग की रिपोर्ट के आधार पर शिक्षण विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। 1919 ई. के मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों ने शिक्षा को प्रांतीय विषय बना दिया तथा प्रत्येक प्रांत में शिक्षा का उत्तरदायित्व, उत्तरदायी मंत्री के पास आ गया, जिससे शिक्षा पर से सरकारी अधिकार बिल्कुल समाप्त हो गया। फलस्वरूप 1922 ई. तक विश्वविद्यालयों की संख्या पाँच से चौदह हो गई। प्रान्तों में माध्यमिक शिक्षा का भी विकास हुआ। 1927-28 ई. में भारतीय सांविधिक आयोग नियुक्त हुआ, जिसने भारत में शिक्षा की उन्नति की जाँच करने के लिये सर फिलिप हार्ट जोग की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की, किन्तु इस समिति की रिपोर्ट कार्यान्वित नहीं हुई। 1935 ई. के बाद यद्यपि अनेक नये विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और विद्यार्थियों की संख्या में भी वृद्धि हुई, किन्तु उपयोगिता की दृष्टि से विश्वविद्यालयों की शिक्षा निरर्थक ही रही। कुछ विश्वविद्यालयों को छोड़कर अनेकों में अनुसंधान और वैज्ञानिक शिक्षा का अभाव ही रहा। द्वितीय विश्व-युद्ध के काल में भारत सरकार ने 1944 ई. में सर जॉन सार्जेन्ट की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की। इसकी रिपोर्ट में पूर्व प्राथमिक शिक्षा, आधारभूत शिक्षा, हाई स्कूल शिक्षा, विश्वविद्यालय शिक्षा, औद्योगिक, व्यापारिक तथा कला शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, मूक-बधिर तथा अन्धों को शिक्षा, शिक्षा के क्षेत्र में मनोरंजन और सामाजिक प्रवृत्तियाँ, शिक्षा प्रबन्ध आदि विषयों पर अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये गये, किन्तु अर्थाभाव के कारण यह कार्यान्वित न हो सकी।

स्त्री-शिक्षा—सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक प्रगति के लिये स्त्री-शिक्षा अनिवार्य है। महलिाओं में अशिक्षा सम्पूर्ण समाज को दूषित बना देती है। इसलिए प्राचीन और मध्यकालीन भारत में स्त्री-शिक्षा का प्रचार था। किन्तु कुछ सामाजिक बुराइयों के कारण 18वीं शताब्दी में स्त्री-शिक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। 19वीं शताब्दी में पुनर्जागरण के कारण स्त्री-शिक्षा को नवीन प्रोत्साहन मिला। कतिपय ईसाई पादरियों, धर्मोपदेशकों और समाज सुधारकों ने स्त्री-शिक्षा के लिये प्रयत्न किये, किन्तु उन्हें कोई विशेष सफलता नहीं मिली। 1849 ई. में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयत्नों से उच्चवर्गीय हिन्दू कन्याओं के लिए कलकत्ता में विद्यालय स्थापित किया गया। यद्यपि चार्ल्स वुड की शिक्षा-योजना में स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहित करने तथा कन्या पाठशालाओं को अनुदान देने की बात कही गई थी, किन्तु लार्ड केनिंग के समय तथा 1867 ई. की एक घोषणा के अनुसार यह अनुदान बन्द कर दिया गया। फिर भी 1870 ई. में पंजाब, बंगाल, बम्बई तथा उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त (उत्तर प्रदेश) में कन्या पाठशालाओं को सरकार की ओर से उदारतापूर्वक अनुदान दिया गया। 1882 ई. में हण्टर आयोग ने भी स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहित करने का

सुझाव दिया था। अतः सरकार ने कन्या पाठशालाओं को अधिक अनुदान दिये तथा अनेक नई सरकारी कन्या पाठशालाएँ स्थापित हुई, जिससे स्त्री-शिक्षा की खूब प्रगति हुई।

सरकारी प्रयासों व धर्म प्रचारकों के अतिरिक्त अनेक सुधारवादी सामाजिक संस्थाओं ने भी स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहित किया। केशवचन्द्र सेन, शशिपद बनर्जी, श्रीमती जे. सी.बोस और श्रीमती पी.के. राय जैसे व्यक्तियों ने स्त्री-शिक्षा के लिए ठोस प्रयास किये। स्त्रियों में शिक्षा व संस्कृति के प्रसार के लिए 'अबला बान्धव', 'महिला', 'अन्तःपुर', 'भारती', 'भारत महिला' जैसे समाचार-पत्रों का प्रकाशन हुआ। आर्य समाज ने भी अनेक स्थानों पर कन्या-गुरुकुल स्थापित कर स्त्री-शिक्षा को पर्याप्त सहायता पहुंचाई। बड़े-बड़े नगरों में स्त्री-शिक्षा के लिए महिला विद्यापीठ, सेवा-सदन, गर्ल्स हाई स्कूल, हस्त-कला भवन आदि स्थापित किये गये। दक्षिण शिक्षा समिति ने भी इस दिशा में काफी प्रयत्न किया। कर्वे और भण्डारकर के प्रयत्नों से 1916 ई. में महिला विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। अखिल भारतीय महिला सम्मेलन में भी स्त्री-शिक्षा पर अधिक बल दिया तथा अखिल भारतीय महिला-कोष स्थापित किया। देश की सामाजिक एवं राजनैतिक जागृति ने भी स्त्री-शिक्षा को अत्यधिक प्रोत्साहित किया। फलस्वरूप स्कूलों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में लड़कियों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। आजकल भी लड़कियाँ कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में अधिकाधिक संख्या में शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। किन्तु पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण स्त्री-शिक्षा में भारतीय संस्कृति के उच्च आदर्शों का अभाव है। स्त्री-शिक्षा की यह प्रगति शहरों तक सीमित है, किन्तु देहातों में स्त्री-शिक्षा के लिए न तो पर्याप्त सुविधाएँ है और न महिलाओं में शिक्षा के प्रति जागृति ही है।

नये साहित्य का सृजन

साहित्य का क्षेत्र भी पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के प्रभाव से वंचित न रह सका। पत्रकारिता के कारण सभी भारतीय भाषाओं में गद्य साहित्य की अभिवृद्धि हुई। आरम्भ में छापाखाने का प्रारम्भ ईसाई धर्म के प्रचार के लिए हुआ था, किन्तु इससे जनमत के निर्माण तथा साहित्य के विकास में सहायता मिली। सभी भाषाओं में कविता के साथ-साथ कथा-साहित्य, उपन्यास, आख्यायिका, नाटक, चम्पू, निबन्ध आदि का विकास हुआ। पश्चिमी साहित्य के सम्पर्क के फलस्वरूप भारतीय कविता में व्यक्तिय तत्त्व का समावेश हुआ। अब तक भारतीय कविता समष्टि प्रदान होती थी, अब व्यष्टि प्रधान होने लगी। प्राचीन भारतीय साहित्य धर्मप्रधान था। पाश्चात्य प्रभाव के कारण उसकी प्रगति धर्मनिरपेक्षता की ओर बढ़ी। अंग्रेजी भाषा के आगमन से भारतीयों को पाश्चात्य देशों के विविध साहित्य के अध्ययन का अवसर मिला। यूरोपीय विद्वानों ने भी प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन किया। पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन से स्वतन्त्रता, समानता और राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ। इस प्रकार देश में नवीन विचारधारा का सूत्रपात हुआ, जिससे देशी साहित्य प्रभावित हुआ। भारतीय गद्य साहित्य की अभिवृद्धि पाश्चात्य पुस्तकों के अनुवाद से हुई। गद्य साहित्यकारों ने पाश्चात्य आदर्श कथा-शैली के आधार पर लेख लिखे। पाश्चात्य नाटकों के आधार पर नाटक लिखे। समालोचना के क्षेत्र में भी पाश्चात्य आदशों को अपनाया गया।

पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से प्रांतीय भाषाओं का भी विकास हुआ। ईसाई पादरियों ने ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिये प्रान्तीय भाषाओं में टाइप बनाये, छापाखाने स्थापित

किये तथा व्याकरण एवं शब्दकोष बनाये। किन्तु बाद में 19वीं शताब्दी के पुनर्जागरण और पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन ने प्रांतीय भाषाओं को खूब प्रोत्साहित किया। बंगला भाषा राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, माइकेल मधुसूदन दत्त, बंकिमचन्द्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा शरतचन्द्र चटर्जी की अमूल्य कृतियों से समृद्ध हुई। हिन्दी के उत्थान में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा प्रेमचन्द्र आदि लेखकों और काशी नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि संस्थाओं ने बहुत सहयोग दिया। अंग्रेजी की 'ब्लेक वर्स' का अनुकरण करके बंगाल में और हिन्दी में अतुकांत कविताएँ लिखी गई। विष्णु भावे, विश्वनाथ, काशीनाथ राजवाड़े, लोकमान्य तिलक आदि ने मराठी साहित्य के विभिन्न अंगों को समृद्ध किया। 1848 ई. में फार्व्स द्वारा 'गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी' की स्थापना द्वारा तथा तुलजाशंकर, के. एम. मुंशी, महादेव देसाई महात्मा गाँधी आदि की रचनाओं से गुजराती साहित्य की विविध शाखाओं की उन्नति हुई। तमिल में आधुनिक गद्य का प्रारम्भ वीर्यमुनि एवं अरुमुगनावलर ने किया और राजगोपालाचारी की कृतियों से तमिल साहित्य समृद्ध हुआ। तेलगू के उन्नायकों में चिन्नय सूरि तथा वरेशलिंगम उल्लेखनीय हैं। आधुनिक आसामी साहित्य 'जोनाकी' नामक मासिक पत्रिका के प्रकाशन से 1899 ई. में आरम्भ हुआ। वर्तमान उड़िया साहित्य को समृद्ध बनाने का श्रेय राधानाथ राय, फकीर मोहन, सेनापति और मधुसूदन आदि साहित्यकारों को है।

वैज्ञानिक उन्नति

वैज्ञानिक क्षेत्र में पाश्चात्य सभ्यता का भारतीय संस्कृति पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। ज्योतिष, गणित एवं आयुर्वेद के क्षेत्र में प्राचीनकाल से ही अभिवृद्धि हो चुकी थी, किन्तु ब्रिटिशकाल में पाश्चात्य ढंग की वैज्ञानिक शिक्षा, चिकित्सा-विज्ञान एवं इंजीनियरिंग आदि का प्रबन्ध किया गया। 1876 ई. में सरकार ने वैज्ञानिक अध्ययन की भारतीय परिषद् स्थापित करके वैज्ञानिक शिक्षण एवं अनुसंधान का श्रीगणेश किया। 1890 ई. में जगदीशचन्द्र बोस ने भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य आरम्भ किया। 1908 ई. में प्रफुल्लचन्द्र राय ने 'हिन्दू रसायन' का इतिहास लिखकर रसायन के क्षेत्र में प्रगति का परिचय दिया। 1902 ई. से कलकत्ता विश्वविद्यालय में विज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ हुआ तथा बी. एस-सी. व एम. एस-सी. की डिग्रियाँ दी जाने लगीं। 1911 ई. में टाटा के आर्थिक सहयोग से भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान आदि विषयों में शोध के लिए बैंगलौर में 'इण्डियन इन्सटीट्यूट ऑफ साइन्स' की स्थापना की गई। इस वैज्ञानिक प्रगति से प्रेरित होकर अनेक भारतीयों ने अपने-अपने क्षेत्र में अनुसंधान करके अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया। इन वैज्ञानिकों में गणितज्ञ श्रीनिवास रामानुजम, वनस्पति विज्ञानशास्त्री जगदीशचन्द्र बोस, भौतिक विज्ञानशास्त्री चन्द्रशेखर वेंकटरमण और मेघनाथ शाहा के नाम उल्लेखनीय है। 1919 ई. में चन्द्रशेखर वेंकटरमण ने नोबल पुरस्कार प्राप्त कर भारत को गौरव प्रदान कराया। [redacted] अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। इन अनुसंधानों के फलस्वरूप शिक्षा में विज्ञान का महत्त्व बढ़ गया। 1940 ई. में भारत सरकार ने 'वैज्ञानिक एवं औद्योगिक अनुसंधान परिषद्' की स्थापना की। भौतिक विज्ञान में श्रीकृष्णन् तथा रसायन विज्ञान में शांतिस्वरूप भटनागर ने वैज्ञानिक क्षेत्र में देश का मस्तक ऊँचा किया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए एक पृथक् विभाग की स्थापना की तथा एक वैज्ञानिक परामर्शदात्री परिषद् का भी गठन किया। अणुशक्ति की खोज के लिए एक विशिष्ट समिति बनायी। इस क्षेत्र में भाभा, विक्रम साराभाई और सेठना आदि अणु वैज्ञानिकों ने महत्त्वपूर्ण शोध कार्य करके विश्व में भारत के गौरव को बढ़ाया है। शांतिपूर्ण कार्यों के लिए परमाणु शक्ति का प्रयोग भारत का श्रेष्ठ आदर्श है।

पाश्चात्य जगत् में हुई वैज्ञानिक उन्नति का लाभ भी भारत को मिला। 1853 ई. से भारत में रेलों का निर्माण प्रारम्भ हुआ, जिसका 19वीं शताब्दी के अन्त तक पर्याप्त विस्तार हो गया। रेलों के विस्तार से सांस्कृतिक चेतना और राष्ट्रीय एकता की भावना उत्पन्न हुई। पक्की सड़कों का निर्माण हुआ, जिस पर मोटर और ट्रक आधिक्य से चलने लगे। भाप की शक्ति से चलने वाले बड़े-बड़े जहाजों का निर्माण हुआ, जिससे भारत के समुद्री व्यापार में उन्नति हुई। डाक, तार, टेलीफोन का आविष्कार पाश्चात्य देशों में ही हुआ था। अतः भारत में भी इनकी सुविधा उपलब्ध हो गयी। इसी युग में भारत में रेडियो स्टेशन स्थापित हुए। वायुयान की सुविधा ने अन्तर्राष्ट्रीय दूरी कम कर दी। आज भी भारत वैज्ञानिक उन्नति के पथ पर निरन्तर आगे बढ़ रहा है। टेलीविजन और वी.सी.आर. जैसे मनोरंजन के साधन हमें उपलब्ध हुए हैं। कम्प्यूटर प्रणाली दिनोंदिन लोकप्रिय होती जा रही है। इस वैज्ञानिक प्रगति ने हमारे सामाजिक जीवन को आमूलचूल परिवर्तित कर दिया है, जिससे हमारे सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों में भी परिवर्तन आ रहा है और एक नई भारतीय संस्कृति का निर्माण हो रहा है।

उपसंहार—पिछले सौ वर्षों में भारत में युगान्तकारी परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों का सूत्रपात तब हुआ जबकि हमने ज्ञान और प्रकाश के लिए पश्चिम की ओर देखा। पाश्चात्य शिक्षा और विचारधारा से प्रभावित भारतीयों ने देश में सर्वांगीण सुधार की ज्योति प्रज्वलित की। अन्धविश्वास और श्रद्धा का स्थान बुद्धि और तर्क ने ग्रहण कर लिया। धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों की बेड़ियों से भारत मुक्त होने लगा। सती-प्रथा, बाल-वध आदि कुरीतियों की अन्त्येष्टि हुई, जाति-भेद का दुर्ग धराशायी हुआ और अस्पृश्यता का जनाजा निकल रहा है। पश्चिम में हुए वैज्ञानिक आविष्कारों और यन्त्रों के ग्रहण से भारत के भौतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन में आमूलचूल परिवर्तन हो रहे हैं। पश्चिम की भौतिक उन्नति के कारण भारत उससे पराभूत है। राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद भी देश में पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के तत्त्वों को संरक्षण मिल रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनुकरणीय तत्त्वों को ग्रहण करना देश के लिए लाभदायक है और इससे भारतीय संस्कृति भी समृद्ध होती है। किन्तु पश्चिम का अन्धानुकरण हमारी संस्कृति की मूलभूत विशेषताओं को तो नष्ट करेगा ही, साथ ही हमारा भी सर्वनाश कर देगा। अतः पूर्व और पश्चिम का उचित समन्वय ही दोनों के लिए श्रेयस्कर सिद्ध होगा।

अभ्यास के लिए प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग पाँच पृष्ठों में दीजिए—

1. पाश्चात्य सभ्यता ने भारत के सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन को कैसे प्रभावित किया?
2. पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से भारत में हुए सामाजिक सुधारों की विवेचना कीजिए।
3. भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव और भारत में शिक्षा की प्रगति पर एक निबन्ध लिखिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए—

1. भारत में पाश्चात्य सभ्यता ने भारतीय समाज को किस प्रकार प्रभावित किया?
2. "पाश्चात्य शासन के आर्थिक प्रभावों में 'धन का निष्कासन' भारत की आर्थिक दुर्दशा का एक महत्त्वपूर्ण कारण था।" इस कथन के सन्दर्भ में धन के निष्कासन की विवेचना कीजिए।
3. पाश्चात्य शासन के अन्तर्गत बाल-विवाह को रोकने के लिए क्या प्रयास किये गये?
4. भारत में हरिजनोद्धार के लिए किये गये प्रयासों का उल्लेख कीजिए।
5. पाश्चात्य शासन के अन्तर्गत स्त्रियों के उत्थान के लिए किये गये प्रयासों का वर्णन कीजिए।
6. पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति ने भारतीय साहित्य को कैसे प्रभावित किया?
7. पाश्चात्य शासन के प्रभाव से भारत में हुई वैज्ञानिक प्रगति का उल्लेख कीजिए।

◆

अध्याय-18

धार्मिक एवं सामाजिक नव-जागरण

(ब्रह्म समाज व आर्य समाज)

मध्यकाल में मुस्लिम आक्रमण के कारण हिन्दू समाज ने अपनी रक्षा के लिए अपने चारों ओर कृत्रिम चारदीवारी खड़ी कर दी थी। अपने सामाजिक ढांचे को सुरक्षित रखने के लिए जाति-प्रथा के बन्धनों को कठोर कर दिया। स्त्रियों के बचाव के लिए पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह प्रायः आवश्यक मान्यताएँ बन गई थी। किन्तु 19वीं शताब्दी में जब पाश्चात्य संस्कृति से सम्पर्क हुआ तब भारतीय समाज को भी परिष्कृत करने तथा नया सामाजिक-धार्मिक दृष्टिकोण विकसित करने के प्रयास आरम्भ हुए। इन प्रयासों के फलस्वरूप भारतीय जीवन में नई चेतना की लहर उत्पन्न हो गयी। राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्रनाथ टैगोर, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि सुधारकों ने हिन्दू धर्म, समाज और संस्कृति में सुधार लाने हेतु जबरदस्त आन्दोलन छेड़ दिया। 19वीं शताब्दी में जो धार्मिक एवं सामाजिक नव-जागरण हुआ उनके मूल में अनेक कारण थे--

(1) भारतीय समाज और धर्म में दोष—भारतीय समाज और धर्म में अनेक अन्धविश्वास उत्पन्न हो गये थे। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ईसाई पादरियों को भारत में धर्म प्रचार करने की छूट दे दी गई। ईसाई मिशनरियों ने स्थान-स्थान पर हिन्दू धर्म की कटु आलोचना आरम्भ कर दी। बहुदेववाद, अवतारवाद और मूर्तिपूजा की भी कटु आलोचना की और समाज में प्रचलित कुरीतियों के लिए भी धर्म को ही दोषी ठहराया। अतः भारतीय समाज और धर्म में उत्पन्न दोषों का निवारण अनिवार्य था। ईसाई मिशनरियों के प्रचार ने भारतीयों को चुनौति दी। भारत में 19वीं शताब्दी में कई सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन इसलिए आरम्भ हुए कि ईसाई धर्म से हिन्दू धर्म की रक्षा किस प्रकार की जाय। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से सम्पर्क होने पर प्राचीन हिन्दू धर्म को पुनः स्थापित करने के प्रयत्न आरम्भ हुए जिससे भारतीयों में एक नया दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ, जिसमें अन्ध-विश्वास का स्थान आध्यात्मिक चिन्तन ने ले लिया।

(2) पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव—अंग्रेजी शिक्षा के कारण ही भारतीय युवकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के कारण ही यूरोपीय विधान,दर्शन और साहित्य का अध्ययन हमारे देश में आरम्भ हुआ। यूरोपीय इतिहासकारों के उत्तेजक विचारों के प्रभाव से भारतीयों को नई शिक्षा प्राप्त हुई। अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से भारतीय, यूरोप की उदारवादी विचारधारा से परिचित हुए, जिससे उनकी सदियों की मोह-निद्रा भंग हुई। अब लोग भूतकाल पर आलोचनात्मक दृष्टि से देखने लगे और भविष्य के सम्बन्ध में एक

नूतन जिज्ञासा उनके मन में उत्पन्न हुई। भारतीयों ने यूरोपीय दर्शन से जो मुख्य सिद्धान्त सीखा, वह यह था कि मानवीय सम्बन्धों का आधार परम्परागत व्यवस्था अथवा सत्ता न होकर तर्क होना चाहिये। अत: अब भारतीय, धर्म और समाज की व्यवस्थाओं के औचित्य को समझने लगे। अब विचारों की शिथिलता प्रगति में बदल गई। परम्परागत रीति-रिवाजों से अन्धानुकरण का वे विरोध करने लगे। ऐसे लोगों द्वारा सामाजिक और धार्मिक सुधारों का बीड़ा उठाना स्वाभाविक ही था।

(3) भारतीय समाचार-पत्रों का योगदान—भारतीय समाचार-पत्र, पत्रिकाओं, साहित्य आदि ने भी धर्म एवं समाज सुधार आन्दोलन में सहयोग प्रदान किया। भारतीयों द्वारा पहला अंग्रेजी भाषा में समाचार-पत्र 1780 में 'बंगाल गजट' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसमें धार्मिक विरोध पर विचार-विमर्श अधिक होता था। तत्पश्चात् बंगाली भाषा में 'दिग्दर्शन' तथा 'समाचार दर्पण' 1818 में प्रकाशित हुए। ये समाचार-पत्र भी धर्म से अधिक प्रभावित थे। 1821 में राजा राममोहन राय ने साप्ताहिक 'संवाद कौमुदी' प्रकाशित किया, जिसमें उनके धार्मिक और सामाजिक विचार प्रकाशित होते थे। राजा राममोहन राय के विचारों का विरोध करने के लिए 1822 में 'समाचार चन्द्रिका' प्रकाशित होना शुरू हुआ। इसके एक माह बाद ही अप्रेल, 1822 में राजा राममोहन राय ने फारसी भाषा में एक साप्ताहिक 'मिरातउल अखबार' तथा एक अंग्रेजी में 'ब्रह्मनिकल मैंगजीन' निकालना आरम्भ किया। इन समाचार-पत्रों के माध्यम से भारतीयों ने सामाजिक और धार्मिक समस्याओं पर विचार-विमर्श आरम्भ कर दिया था। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारतीय समाचार-पत्रों ने सामाजिक और धार्मिक विषयों तथा शिक्षा से सम्बन्धित समस्याओं पर चर्चा करके भारतीय जनमत को जागृत किया। इन समाचार-पत्रों के कारण ही लोगों ने अपने समाज व धर्म की रक्षा करने के प्रयत्न आरम्भ कर दिये।

(4) बंगाल एशियाटिक सोसायटी के कार्य—बंगाल की एशियाटिक सोसायटी ने जिसकी स्थापना 1784 में हुई थी, धर्म और समाज सुधार आन्दोलनों के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था। इस सोसायटी के तत्त्वावधान में प्राचीन भारतीय ग्रन्थों तथा यूरोप साहित्य का भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुआ। विदेशी विद्वानों ने प्राचीन भारतीय साहित्य का अध्ययन कर उनका अंग्रेजी में अनुवाद किया और बताया कि यह साहित्य विश्व-सभ्यता की अमूल्य निधियाँ हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भारत की अनेक कलाकृतियों और सभ्यता के कन्द्रों की खोज की तथा उसने प्राचीन सभ्यता की श्रेष्ठता स्थापित की। मैक्समूलर, विलियम जॉन्स, मोनियर, विल्सन आदि विद्वानों के प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला और साहित्य को विश्व के सामने रखा, जिसका तुलनात्मक अध्ययन करने से भारतीयों को अपनी प्राचीन गौरवमय सभ्यता और संस्कृति का ज्ञान हुआ। दूसरी ओर भारतीयों को पाश्चात्य देशों के ज्ञान-विज्ञान का परिचय हुआ। कुछ यूरोपीय विद्वानों ने प्राचीन भारतीय आदर्शों की भूरि-भूरि प्रशंसा की, जिससे भारतीयों की सुप्त भावनाएँ जागृत हुई और उन्होंने अनुभव किया कि हम अपने मूल धर्म और सामाजिक रीति-रिवाजों से दूर चले गये हैं, जिससे हमारा पतन हुआ है। इस भावना से भारतीयों में यह विचार उत्पन्न हुआ कि जब तक धर्म और समाज की बुराइयों को दूर नहीं किया जाता, उनका कल्याण असम्भव है।

(5) पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव—भारतीय धर्म और समाज सुधार आन्दोलन का एक कारण भारतीयों पर पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव भी था। भारत में अंग्रेजों के आने के

साथ-साथ यूरोपीय सभ्यता का आगमन हुआ। भारतीय सभ्यता का पाश्चात्य सभ्यता से ऐसे समय में सम्पर्क हुआ, जबकि यूरोप के विचारों पर बुद्धिवाद और व्यक्तिवाद आधिपत्य जमाये हुए थे। ऐसी स्थिति में पश्चिमी सभ्यता के प्रबल वेग के समक्ष भारतीय सभ्यता घुटने टेकती दिखाई देने लगी। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के लिए पाश्चात्य सभ्यता आदर्श बन गई। पश्चिमी विचार, वेशभूषा, खान-पान आदि से वे इतने अधिक प्रभावित हुए कि उनकी नकल करने में अपना गौरव समझने लगे। भारतीय धर्म और समाज से उनका विश्वास उठ गया और ऐसा प्रतीत होने लगा, मानों सम्पूर्ण भारत पाश्चात्य सभ्यता का शिकार हो जायेगा। ऐसी स्थिति में कट्टर हिन्दुओं और बौद्धिक वर्ग ने अनुभव किया कि यदि धर्म और समाज में आवश्यक सुधार नहीं किये तो भारत में धर्म और समाज का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। 19वीं शताब्दी के धर्म और समाज सुधार आन्दोलन इसी अनुभव के परिणाम थे। इसके अतिरिक्त 19वीं शताब्दी में हुई पश्चिम की वैज्ञानिक प्रगति से भारतीयों का हृदय झंकृत हो उठा। विज्ञान की प्रगति से अन्धविश्वासों एवं रूढ़िवादिता का अन्धकार हटने लगा और उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता की ओर भारतीयों की भाग-दौड़ का विरोध कर भारतीय धर्म और समाज में आस्था रखने की प्रेरणा दी।

उपर्युक्त कारणों से भारतीयों में सामाजिक और धार्मिक नवचेतना का संचार हुआ और 19वीं शताब्दी में अनेक सुधारक पैदा हुए, जिन्होंने भारतीय धर्म और समाज सुधार आन्दोलनों का नेतृत्व किया। कुछ उग्र सुधारवादी थे जो समाज में क्रान्तिकारी सुधार चाहते थे। वे पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति को आधार गानकर भारतीय धर्म और समाज में सुधार करना चाहते थे। इनमें ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज मुख्य थे। इनके नेताओं ने जब अत्यधिक मौलिक परिवर्तन करने चाहे तो इनकी प्रतिक्रिया कट्टर सुधार आन्दोलनों के रूप में प्रकट हुई। आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसायटी और रामकृष्ण मिशन ऐसे कट्टर सुधारवादी प्रयास थे।

ब्रह्म समाज

पाश्चात्य शिक्षा और ज्ञान के विकास तथा राजनीतिक परिस्थितियों ने 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बंगाल को परिवर्तन के द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया। यूरोपीय संस्कृति और ज्ञान का प्रभाव भारतीय समाज पर क्रमशः बराबर स्पष्ट होता गया। भारतीयों ने भी आग्रहपूर्वक पाश्चात्य साहित्य तथा विज्ञान में रूचि दिखलाई। इस प्रकार पश्चिमी विचारधारा ने पढ़े-लिखे भारतीय नवयुवकों को न केवल अपनी ओर आकर्षित किया वरन् उन्हें पाश्चात्य वेशभूषा, रहन-सहन की प्रणाली तथा जीवन-दर्शन को भी अपनाने की प्रेरणा दी, लेकिन भारतीयों में एक वर्ग ऐसा भी था जिसने पश्चिम के बुद्धिवाद का स्वागत तो जरूर किया, लेकिन भारतीयता के बाने को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुआ। ऐसे ही एक वर्ग के नेता राजा राममोहन राय थे, जिन्हें आधुनिक भारत का निर्माता कहा जाता है। राजा राममोहन राय ने पाश्चात्य ज्ञान के आधार पर हिन्दू धर्म तथा समाज में परिवर्तन लाने का कार्य प्रारम्भ यिा। राजा राममोहन राय ने हिन्दू धर्म के अध्ययन और विश्लेषण से वह शक्ति निकालनी चाही, जिससे हिन्दू जनता ईसाई धर्म के प्रति आकर्षित न हो। धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों के माध्यम से राजा साहब हिन्दू समाज को विघटन से बचाना चाहते थे। इस प्रकार के उद्देश्यों से प्रेरित होकर राजा साहब ने ब्रह्म समाज नामक संस्था की स्थापना की। ध्यान देने

योग्य बात तो यह है कि राजा राममोहन राय ने किसी नये सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की थी। वे तो अपनी ब्रह्म समाज संस्था द्वारा हिन्दू समाज में केवल सुधार के पक्षपाती थे।

राजा राममोहन राय का जन्म 1774 ई. में एक कट्टर सनातन-धर्मी परिवार में पश्चिमी बंगाल में बर्दवान जिले के राधानगर गांव में हुआ था। राजा साहब का परिवार धनी एवं सम्पन्न था। घर के सुसंस्कृत वातावरण में राजा साहब को प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त हुई। इन दिनों पटना, फारसी तथा अरबी शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था, जहाँ राजा राममोहन राय को बाद में पढ़ने भेजा गया था। युवावस्था में राजा साहब ने फारसी तथा अरबी का गहन अध्ययन किया। परिणामस्वरूप उन पर इस्लामी संस्कृति का विशेष प्रभाव दिखाई देता है। परवर्तीकाल में भी उन पर इसका प्रभाव बराबर बना रहा तथा वे इस्लामी वेशभूषा अपनाये रहे। पटना में इस्लाम और उसके त्रसव्वुह अंश ने राजा साहब को विशेष प्रभावित किया, जिससे उनके मन में मूर्ति-पूजा के विरुद्ध शंका उत्पन्न हो गयी। वहाँ से घर लौटने पर राजा साहब को अपने विचारों का समर्थन नहीं मिला तथा मूर्ति-पूजा के प्रश्न पर उनका अपने पिता से मनमुटाव हो गया। कहा जाता है कि 16-17 वर्ष की आयु में उन्होंने मूर्ति-पूजा के विरुद्ध एक लेख लिखा, जिससे घर वालों से उनकी अनबन हो गयी। फलस्वरूप उन्हें घर छोड़ने को बाध्य होना पड़ा। राजा साहब ने तीन-चार वर्ष घुमक्कड़ जीवन व्यतीत किया। इस अवधि में वे तिब्बत भी गये जहाँ बौद्ध लामा से उन्होंने बौद्ध-ग्रन्थों का अध्ययन किया। किन्तु राजा साहब की बौद्धिक जिज्ञासा इससे शान्त नहीं हुई। वाराणसी जाकर उन्होंने संस्कृत के धर्मग्रन्थों का सूक्ष्म अध्ययन किया। 1803 ई. में अपने पिता की मृत्यु के बाद वे मुर्शिदाबाद में रहने लगे। इसी वर्ष उन्होंने 'तुहफत-उल-मुवाहिदीन' नामक रचना फारसी भाषा में निकाली, जिसकी भूमिका अरबी भाषा में लिखी गई थी। इस ग्रन्थ में उन्होंने मूर्ति-पूजा के विरोध में अनेक तर्क दिये तथा सभी धर्मों के अन्ध-विश्वासों को न मानने का आग्रह किया। एकेश्वरवाद का समर्थन करते हुए उन्होंने सभी धर्मों की एकता का प्रतिपादन किया और इसके आधार पर विश्व-धर्म की आवश्यकता पर बल दिया।

राजा राममोहन राय 1805 ई. से 1814 ई. तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एक अधिकारी जॉन डिग्बी के सम्पर्क में रहे। कुछ समय तक उन्होंने कम्पनी की सेवा की। जॉन डिग्बी के अधीन वे रंगपुर में दीवान के पद पर नियुक्त हुए। रंगपुर में राजा राममोहन राय का सम्पर्क अनेक प्रभावशाली व्यक्तियों से हुआ। रंगपुर में इनके निवासस्थान पर आपसी विचार-विमर्श के लिए सभी धर्मावलम्बियों की बैठकें आयोजित की जाती थी, जिसमें वेदान्त, इस्लाम, जैन, ईसाई आदि धर्मों के बारे में खुलकर चर्चा होती थी। राजा साहब को धार्मिक विषयों और सिद्धान्तों पर यहीं आत्मचिन्तन करने का अच्छा अवसर मिला। तत्कालीन भारतीय धर्म का शायद ही कोई ऐसा पक्ष था, जिससे राजा साहब की जानकारी न हुई हो। उल्लेखनीय है कि, उन्होंने हरिहरानन्द तीर्थ स्वामी से तान्त्रिक ग्रन्थों का अध्ययन भी किया, तथा जैनियों के कल्पसूत्र से भी वे भलिभाँति परिचित हो गये। राजा साहब को भाषा की जानकारी की भी विशेष उपलब्धि थी। 22 वर्ष की आयु में उन्होंने जॉन डिग्बी के प्रोत्साहन से अंग्रेजी सीखनी आरम्भ की, हिब्रू तथा ग्रीक भाषाओं में भी उन्होंने शीघ्र गति प्राप्त करली। अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन ने उन्हें यूरोपीय राजनीति, विशेषकर फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति की परिस्थितियों को समझने का अवसर प्रदान किया। 1811 ई. में 40 वर्ष की आयु में राजा साहब सरकारी सेवा त्याग कर स्थायी रूप से कलकत्ता में बस गये। उस समय

कलकत्ता, कम्पनी-प्रशासन की राजधानी थी। यहाँ पर राजा साहब का सम्पर्क अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों से हुआ जो पाश्चात्य की नवीन चेतना एवं बुद्धिवाद से प्रभावित थे। राजा साहब ने इस वर्ग की मानसिकता का जायजा लिया और 1815 ई. में 'आत्मीय सभा' नामक एक संस्था की स्थापना की, जिसके तत्त्वावधान में सप्ताह में एक बार बैठक होती थी और उसमें अद्वैतवादी धार्मिक सिद्धान्तों का प्रचार किया जाता था।

राजा राममोहन राय प्रारम्भ से ही मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। उनका यह विरोध समय-समय पर लेखों, निबन्धों आदि के प्रकाशन से प्रकट होता रहा 1819 ई. में राजा साहब ने आत्मीय सभा के तत्त्वावधान में मद्रास के पंडित सुब्रह्मण्य शास्त्री के साथ मूर्ति-पूजा पर शास्त्रार्थ किया और विजयी रहे। 1825 ई. में उनके प्रयत्नों के कारण कलकत्ता में वेदान्त कॉलेज की स्थापना की गई जहाँ अद्वैतवादी सिद्धान्तों का प्रचार किया जाता था। राजा साहब उपनिषदों के अद्वैतवादी सिद्धान्तों से विशेष प्रभावित थे। इसलिए उन्हें भारतीय दर्शन की बातें अन्य धर्मों के सिद्धान्तों की अपेक्षा कहीं अधिक गरिमामय लगी। उन्होंने 'संक्षिप्त वेदान्त' नामक एक वेदान्त संग्रह प्रकाशित किया तथा केन, ईश, मुंडक, कठ आदि उपनिषदों के अनुवाद भी किये। राजा साहब ने आत्म-निवेदन में स्वयं स्वीकार किया है कि उनका विरोध बराबर मूर्ति-पूजा से रहा तथा इसके विरोध में उन्होंने अनेक लेख प्रकाशित किये थे। इस सबका परिणाम यह हुआ कि एक दो घनिष्ठ मित्रों को छोड़कर सभी ने उनका सामाजिक बहिष्कार कर दिया। ईसाई धर्म के विषय में भी उनकी दृष्टि विवेचना की थी। एक बार राजा साहब को ईसाई धर्म में दीक्षित करने का प्रयत्न कलकत्ता के विशप डॉ. मिडिलटन के द्वारा किया गया। लेकिन राजा साहब ईसाइयत की चकाचौंध से प्रभावित नहीं हो सके। 1820 ई. में राजा साहव ने एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम दी प्रीसेण्ट ऑफ जेसस, दी गाइड टू पीस एण्ड हेपीनेस—ईसा मसीह के उपदेश, शान्ति और सुख की संदर्शिका। इस रचना में उन्होंने ईसा मसीह की शिक्षाओं को उनके चमत्कार वाले अंशों से अलग स्पष्ट किया। उनकी इस व्याख्या से सीरामपुर के ईसाई पादरी नाराज हो गये तथा एक गम्भीर धार्मिक विवाद खड़ा हो गया। राजा साहब ने फिर तीन लेख 'अपील टू द् क्रिश्चियन पीपुल' नामक शीर्षक से लिखे। इन लेखों में उन्होंने यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि ईसा मसीह ईश्वर के पुत्र नहीं थे; ईश्वर का त्रयी सिद्धान्त अर्थात् फादर-सन-होली घोष्ट को ही ठीक माना जाना चाहिए। उन्होंने ईसाई धर्म के प्रचलित इन सिद्धान्तों पर भी शंका प्रकट की कि मनुष्य पश्चात्ताप करने से सारे पापों से मुक्त हो जाता है। राजा साहब की लगन उल्लेखनीय थी जबकि उन्होंने हीब्रू तथा ग्रीक मूल बाइबिल का अध्ययन कर ईसाइयत की व्याख्या प्रस्तुत की। इसका प्रभाव यह रहा कि बैपटिस्ट मिशनरी का एक ईसाई पादरी विलियम एडम अपने सम्प्रदाय को छोड़कर एकेश्वर शाखा (युनिटेरियन) में शामिल हो गया था। वस्तुतः इन्हीं धार्मिक गतिविधियों के कारण कलकत्ता में 'युनिटेरियन मिशन' की स्थापना हो सकी।

राजा राममोहन राय ने भारतीयों को पश्चिमी ज्ञान, विज्ञान में जानकारी प्राप्त कराने की दिशा में प्रयत्न किया। भारतीयों के लिए अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम स्वीकार कराने में इनका उल्लेखनीय योगदान रहा। हिन्दू समाज में प्रचलित सती-प्रथा का उन्होंने प्रखर विरोध किया। कहा जाता है कि राजा साहब की अनुपस्थिति में उनके भाई का देहान्त हो गया और उनकी भाभी सती हो गयी थी। इस परिवारिक दुर्घटना का उनके मन पर गहरा आघात लगा

और उन्होंने सती-प्रथा के विरुद्ध प्रवल आन्दोलन आरम्भ कर दिया। राजा साहव के अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप लार्ड विलियम बैंटिक ने 1829 ई. में सती-प्रथा को गैर-कानूनी घोषित कर दिया था। इससे पूर्व राजा साहब के द्वारा अद्वैतवादी सिद्धान्तों के प्रचार के लिए तथा शुद्ध एकेश्वरवाद की उपासना के लिए 20 अगस्त 1828 ई. को 'ब्रह्म समाज' नामक संस्था की स्थापना की गई। ब्रह्म समाज की स्थापना करके उन्होंने किसी नवीन सम्प्रदाय को खड़ा नहीं किया था, बल्कि सभी धर्मों की उच्च शिक्षा के तत्त्व से एक सामान्य पृष्ठभूमि तैयार की। ब्रह्म समाज 19वीं शताब्दी का प्रथम धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन था। राजा राममोहन राय पहले भारतीय थे जिन्होंने भारतीय धर्म और समाज की बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। उस समय भारतीय समाज और धर्म में पतनोन्मुख स्थिति उत्पन्न हो गई थी। धर्म का स्थान कर्मकाण्डों ने ले लिया था तथा सम्पूर्ण समाज में अन्धविश्वास व्याप्त हो गया था। समाज में अनेक बुराइयाँ आ गई थी। ऐसी स्थिति में ईसाई धर्म और पाश्चात्य संस्कृति ने हिन्दू धर्म पर प्रहार किया, जिससे ऐसा प्रतीत होने लगा मानो हिन्दू धर्म और सभ्यता नष्ट हो जायेगी। ऐसे समय में ब्रह्म समाज ने भारतीय धर्म और समाज की बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। ब्रह्म समाज ही पहला संगठन था जिसने हिन्दू धर्म की प्राचीन मान्यताओं पर आक्रमण किया। इससे अन्य सुधारकों को भी वल प्राप्त हुआ। ब्रह्म समाज की स्थापना के दो वर्षों के बाद राजा राममोहन राय विलायत गये और वहीं ब्रिस्टल में 27 सितम्वर 1833 में उनका देहान्त हो गया।

धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में योगदान

धार्मिक सुधार—ब्रह्म समाज ने वेदों और उपनिषदों को आधार मानकर बताया कि ईश्वर एक है,सभी धर्मों में सत्यता है, मूर्तिपूजा और कर्मकाण्ड निरर्थक है तथा सामाजिक कुरीतियों का धर्म से कोई सम्वन्ध नहीं है। सर्वप्रथम ब्रह्म समाज ने ही तर्क के आधार पर धर्म की व्याख्या करने का विचार भारतीय समाज को प्रदान किया। धर्म की व्याख्या करते हुए उसके ईसाई धर्म के कर्मकाण्डों तथा ईसा मसीह के ईश्वरीय अवतार होने के दावे पर प्रबल आक्रमण किया तथा ईसाई धर्म प्रचारकों से शास्त्रार्थ किया। इसका परिणाम यह हुआ कि जो हिन्दू ईसाई धर्म ग्रहण कर रहे थे, वे अपने धर्मपरिवर्तन करने से रुक गए।

ब्रह्म समाज मूलतः भारतीय था और इसका आधार उपनिषदों का अद्वैतवाद था। इस समाज की बैठकों में वेद तथा उपनिषदों के मन्त्रों का पाठ हुआ करता था। ब्रह्म समाज के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित थे—

(1) ईश्वर एक है; वह संसार का सृष्टा, पालक और रक्षक है; इसकी शक्ति, प्रेम, न्याय पवित्रता अपरिमित है।

(2) आत्मा अमर है, उसमें उन्नति करने की असीम क्षमता है और वह अपने कार्यों के लिए भगवान् के सामने उत्तरदायी है।

(3) आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रार्थना, भगवान का आश्रय और उसके अस्तित्व की अनुभूति आवश्यक है।

(4) किसी भी बनाई गई वस्तु को ईश्वर समझकर नहीं पूजना चाहिये और न किसी पुस्तक या पुरुष को मोक्ष का एकमात्र साधन मानना चाहिये।

राजा राममोहन राय ने हिन्दू, ईसाई, इस्लाम, बौद्ध आदि सभी धर्मों का गहन अध्ययन किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि सभी धर्मों में सत्य है, किन्तु सभी धर्मों

में कर्मकाण्ड सम्मिलित हो गये हैं, जिनको दूर करने की आवश्यकता है। इस धारणा को लेकर उन्होंने मुख्यतया हिन्दू धर्म में सुधार करने का प्रयत्न किया। उन्होंने लोगों का ध्यान उस निराकार, निर्विकार एक ब्रह्म की ओर आकृष्ट किया, जिसका निरूपण वेदान्त में हुआ। ब्रह्म समाज की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह सभी धर्मों के प्रति सहनशील था। जब राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज के लिए भवन का निर्माण कराया, तब उसके ट्रस्ट के दस्तावेज में यह स्पष्ट कर दिया कि, "सभी लोग बिना किसी भेदभाव के, शाश्वत सत्ता की उपासना के लिए इस भवन का प्रयोग कर सकते हैं। इसमें किसी मूर्ति की स्थापना नहीं होगी, न इसमें कोई बलिदान होगा, न किसी धर्म की निन्दा की जायेगी। इसमें केवल ऐसे ही उपदेश दिये जायेंगे, जिनसे सभी धर्मों के बीच एकता, सद्भाव की वृद्धि हो।" राजा राममोहन राय विश्व बन्धुत्वता से हिमायती थे।

ब्रह्म समाज पर प्रायः यह आरोप लगाया जाता है कि उस पर पाश्चात्य धर्म और सभ्यता का प्रभाव था। किन्तु यह सत्य नहीं है। उनकी प्रेरणा के मूल स्रोत तो प्राचीन भारतीय धर्मग्रन्थ ही थे। उन्होंने केवल पश्चिमी सभ्यता की तर्क, स्वतन्त्रता और अनुसन्धान की भावना अवश्य ग्रहण की। इसीलिए उन्होंने तात्कालिक धर्म में प्रचलित सिद्धान्तों का खण्डन किया और इन सिद्धान्तों का खण्डन करने में उनका आधार प्राचीन वेद और उपनिषद् ही थे। ब्रह्म समाज ने भारत के अन्य धर्मों में सुधार का मार्ग भी प्रशस्त किया।

सामाजिक सुधार—राजा राममोहन राय उच्च कोटि के समाज सुधारक थे। उस समय समाज में अनेक बुराइयाँ आ गई थीं। राजा राममोहन राय ने उन्हें दूर करने का निश्चय किया। अपनी विधवा भाभी को सती होते देखकर उन्होंने इस बर्बर तथा अमानुषिक प्रथा के विरुद्ध जबरदस्त आन्दोलन छेड़ दिया। परिणामस्वरूप लार्ड विलियम बैंटिक ने 1829 में कानून बनाकर सती-प्रथा को गैरकानूनी घोषित कर दिया। कुछ कट्टरपंथी हिन्दुओं ने इस कानून का विरोध करते हुए लंदन की प्रिवी कौंसिल में अपील की। लेकिन राजा राममोहन राय तथा देवेन्द्रनाथ टैगोर ने इस कानून का समर्थन करते हुए प्रिवी कौंसिल को अनेक पत्र लिखे, जिससे कट्टरपंथी हिन्दुओं का मनोबल गिर गया और अन्त में उनको विजय मिली। इसी प्रकार ब्रह्म समाज ने बाल-विवाह, बहु-विवाह, जाति-प्रथा, छुआछूत, नशा आदि सभी कुरीतियों का डटकर विरोध किया तथा समाज सुधार के लिए स्त्री शिक्षा, अन्तर्जातीय विवाह, विधवा विवाह आदि का समर्थन किया। उस समय भारतीय हिन्दू समाज में कन्या एवं वर विक्रय और कन्या वध जैसी कुप्रथायें प्रचलित थीं। ब्रह्म समाज ने इन कुरीतियों के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन छेड़ दिया। समता का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए उन्होंने लाखों हिन्दुओं को ईसाई धर्म स्वीकार करने से रोका। 1822 और 1830 में दो प्रकाशनों द्वारा राजा राममोहन राय ने स्त्रियों के सामाजिक, कानूनी और सम्पत्ति के अधिकारों पर प्रकाश डाला। इनकी दृष्टि में स्त्री और पुरुष दोनों ही समान थे।

इस प्रकार समाज सुधार के क्षेत्र में ब्रह्म समाज का योगदान अद्वितीय है। हिन्दू समाज में कोई भी ऐसी कुरीति नहीं थी, जिस पर ब्रह्म समाज ने आक्रमण न किया हो। आधुनिक काल में जिन कुरीतियों का विरोध सभी प्रबुद्ध भारतीयों ने किया है तथा जिन्हें आज भी भारत का शिक्षित वर्ग घृणा की दृष्टि से देखता है, उन कुरीतियों पर सर्वप्रथम आक्रमण ब्रह्म समाज ने ही किया था। स्वतन्त्र भारत के संविधान में जिन सामाजिक

कुरीतियों को अब अवैध घोषित किया है, उसके विरुद्ध भी संघर्ष सर्वप्रथम ब्रह्म समाज ने ही किया था।

साहित्यिक एवं शैक्षणिक सुधार—साहित्यिक एवं शैक्षणिक क्षेत्र में भी ब्रह्म समाज ने उल्लेखनीय कार्य किया। अपने विचारों को प्रचारित करने के लिये विभिन्न समाजों की स्थापना की। देवेन्द्रनाथ की "तत्त्व बोधिनी सभा" केशवचन्द्र सेन की "संगत सभा" और "भारतीय समाज सुधार" जैसी सभाएँ ब्रह्म समाज के विचारों का प्रचार करने में सहायक सिद्ध हुई। अपने विचारों को प्रचलित करने के लिए राजा राममोहन राय की अनेक पुस्तकें और अनेक धार्मिक ग्रन्थों का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद भारतीय साहित्यिक जगत् के लिए स्थायी योगदान है। उसने बंगला, उर्दू, फारसी, अरबी, संस्कृत और अंग्रेजी भाषा में पुस्तकों की रचना कर भारतीय साहित्य को समृद्ध बनाया। इसी प्रकार राजा राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन के लेखों और वक्तव्यों ने भी साहित्य को समृद्ध बनाने में योगदान दिया। राजा राममोहन राय का 'अपील टू द क्रिश्चियन पब्लिक', 'दी डेस्टीनी ऑफ ह्यमन लाइफ' जैसे लेखों ने भारतीयों में नवजागरण उत्पन्न किया। राजा राममोहन राय ने 'संवाद कौमूदी' नामक सर्वप्रथम बंगला साप्ताहिक-पत्र को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'मिरातउल' अखबार की प्रकाशित किया। केशवचन्द्र सेन ने भारतीय ब्रह्म समाज द्वारा 'तत्त्व कौमुदी', 'ब्रह्म पब्लिक ओपीनियन', 'संजीवनी' आदि पत्र भी प्रकाशित किये। इन पत्र-पत्रिकाओं ने साहित्य के विकास में भारी योगदान दिया।

राजा राममोहन राय अंग्रेजी शिक्षा के प्रबल समर्थक थे, इसलिए उन्होंने अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन किया। उन्होंने अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए पूर्ण प्रयत्न किया। उनकी मान्यता थी कि आधुनिक युग में प्रगति के लिए अंग्रेजी का ज्ञान आवश्यक है। अत: वे चाहते थे कि भारत में पाश्चात्य शिक्षा तथा ज्ञान की सभी शाखाओं की शिक्षण व्यवस्था हो। इसके लिए ब्रह्म समाज ने विभिन्न स्थानों पर स्कूल और कॉलेज खोले। स्वयं राजा राममोहन राय ने कलकत्ता में 'वेदान्त कॉलेज', 'इंगलिश स्कूल' और 'हिन्दू कॉलेज' की स्थापना की। केशवचन्द्र सेन के भारतीय ब्रह्म समाज ने 'ब्रह्म बालिका स्कूल' तथा 'सिटी कॉलेज ऑफ कलकत्ता' की नींव डाली। भारत के आधुनिकीकरण और समाज सुधार में इन शिक्षण संस्थाओं का महान् योगदान रहा। 'हिन्दू कॉलेज' ने तो भारतीय बौद्धिक जागरण में अग्रदूत का काम किया तथा 'युवा बंगाल आन्दोलन' को जन्म दिया, जिसका वर्णन आगे किया जायेगा।

राष्ट्रीय सुधार—ब्रह्म समाज ने राष्ट्रीयता की भावना के निर्माण में भी योगदान दिया। उसने प्राचीन भारतीय गौरव, सभ्यता एवं संस्कृति का ज्ञान कराया. जिससे लोगों में राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई। राजा राममोहन राय ने हिन्दू कानून में सुधार करने के लिए आवाज उठाई। स्त्रियों के सामाजिक कानून और सम्पत्ति के अधिकार पर बल दिया, भूमि-कर में कमी करने की माँग की और दमनकारी कृषि कानूनों के विरुद्ध एवं प्रार्थना-पत्र इंगलैण्ड भेजा। समाचार-पत्रों पर लगे प्रतिबन्धों का विरोध किया और इसके लिए उन्होंने सुप्रीम कोर्ट तथा किंग-इन-कौंसिल को आवेदन-पत्र भी भेजे। राजा राममोहन राय ने सर्वप्रथम विचार-स्वतन्त्रता का नारा बुलन्द किया। उन्होंने भारतीयों को शासन और सेवा में अधिक संख्या में भरती करने की माँग की। इंगलैण्ड के हाउस ऑफ कॉमन्स की एक प्रवर

समिति के समक्ष उन्होंने भारतीय शासन में सुधार हेतु सुझाव दिये थे। उन्होंने न्याय में जूरी प्रथा का समर्थन किया तथा न्यायपालिका को प्रशासन से अलग करने की माँग की। उन्होंने दीवानी तथा फौजदारी क़ानूनों का संग्रह तैयार करने को भी माँग की और न्यायालयों में फारसी के स्थान पर अंग्रेजी भाषा को न्यायालयों की भाषा बनाने पर बल दिया। राजा राममोहन राय ने किसानों से ली जाने वाली मालगुजारी निश्चित करने की माँग की। उनके आन्दोलन के फलस्वरूप 1835 में समाचार-पत्रों पर लगे प्रतिबन्धों को हटा लिया गया। राजा राममोहन राय ने अपने देशवासियों में राजनीतिक जागृति पैदा करने के प्रयास किये। यद्यपि उनके प्रयास अप्रत्यक्ष एवं सीमित थे, फिर भी उन्होंने भारत के राजनीतिक नवजागरण में महान् योगदान दिया।

राजा राममोहन राय अन्तर्राष्ट्रीयता के भी अनन्य पुजारी थे। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से निपटाने हेतु एक सुझाव प्रस्तुत किया जिसमें सम्बन्धित देशों की संसदों से एक-एक सदस्य लेकर अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस बनाने की योजना थी। इस प्रकार राजा राममोहन राय राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता दोनों के प्रबल समर्थक थे। एडम ने ठीक ही लिखा है कि, ''स्वतन्त्रता की लगन उनकी अन्तर्रात्मा की सबसे जोरदार लगन थी और यह प्रबल भावना उनके धार्मिक सामाजिक, राजनीतिक आदि सभी कार्यों में फूट-फूटकर निकल पड़ती थी।'' इसीलिए उन्हें 'नये युग का अग्रदूत' कहा गया है।

युवा बंगाल आन्दोलन—भारत के धर्म और समाज सुधार आन्दोलन के इतिहास में कलकत्ता में हिन्दू कॉलेज की स्थापना एक महत्त्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। वास्तव में सार्वजनिक जीवन तथा जनजागरण का इतिहास हिन्दू कॉलेज से ही आरम्भ होता है, कलकत्ता में हिन्दू कॉलेज की स्थापना जनवरी, 1817 में हुई थी। इससे पूर्व बंगाल में जनजीवन पर धर्म का गहरा प्रभाव था तथा राजनीति से भारतीयों का कोई संपर्क नहीं था। किन्तु हिन्दू कॉलेज की स्थापना के बाद इसमें आमूलचूल परिवर्तन आरम्भ हो गया। 1826 में हेनरी लूई विवियन देरीजियों नामक व्यक्ति की इस कॉलेज में शिक्षक के रूप में नियुक्ति हुई, जिसने हिन्दू कॉलेज को जन-साधारण का केन्द्र बना दिया। देरीजियों एक स्वतन्त्र विचारक था तथा 19वीं शताब्दी की उदारवादी विचारधारा से बड़ा प्रभावित था। अत: वह एक ऐसा वातावरण उत्पन्न करना चाहता था जिसमें भारतीयों को राजनीति में रुचि उत्पन्न हो। अत: उसने कॉलेज के मेधावी छात्रों से निकट-सम्पर्क स्थापित करके उन्हें यूरोप के राजनीतिक विचारकों की विचारधाराओं से परिचित कराया। अमृतलाल मित्र, कृष्णमोहन बनर्जी, रसिककृष्ण मल्लिक, दक्षिणारंजन मुखर्जी, रामगोपाल घोष आदि अनेक जागरूक एवं मेधावी छात्र उसके निकट-सम्पर्क में थे। देरीजियों और इन मेधावी छात्रों की विचारगोष्ठियाँ आयोजित होती थीं; जिनमें धर्म, राजनीति, नैतिकता और भारतीय इतिहास पर विचार-विमर्श होता था। अत: जो छात्र देरीजियो के सम्पर्क में आये, उन्होंने बंगाल में एक नया जागरूक वर्ग पैदा किया, जिसे 'युवा बंगाल' (Young Bengal) कहा जाता था। युवा बंगाल के सदस्य अन्धविश्वासों तथा भारतीय सामाजिक कुरीतियों के कटु आलोचक थे और सुधारों के प्रबल पक्षपाती थे। उन्होंने बंगाल में एक आन्दोलन शरू किया, जिसे 'युवा बंगाल आन्दोलन' कहा जाता है।

देरीजियों के विचारों से प्रभावित होकर युवा बंगाल के सदस्यों ने 1828 में 'एकेडेमिक एसोसिएशन' की स्थापना की तथा देरीजियों इसका अध्यक्ष बना। इस

एसोसिएशन के तत्त्वावधान में समय-समय पर सभाएँ होती थीं, जहाँ सभी विषयों पर बहस होती थी और विचारों का आदान-प्रदान होता था। इस प्रकार की विचारगोष्ठियों में केवल हिन्दु कॉलेज के छात्र ही नहीं वरन् कलकत्ता के शिक्षित और जागरूक लोग भी भाग लेने लगे। देरीजियों और उसके एसोसिएशन ने सुप्त भारतीयों को झकझोर दिया। छात्रों में आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न हुई और वे अब प्राचीन मान्यताओं की आलोचना करने लगे थे। अतः पुरातनपंथी भारतीयों ने इस एसोसिएशन के विरुद्ध आवाज उठाई। अनेक अभिभावकों ने अपने लड़कों को हिन्दू कॉलेज से वापिस बुला लिया। इस पर कॉलेज की मैनेजिंग कमेटी ने आदेश प्रसारित किया कि कॉलेज का कोई छात्र इस एसोसिएशन से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखे। मैनेजिंग कमेटी ने देरीजियों को कॉलेज से निकालने का भी निर्णय ले लिया। अतः मार्च, 1831 में देरीजियों ने स्वयं पद-त्याग कर दिया और इसके कुछ ही दिनों बाद उसकी मृत्यु हो गयी।

यद्यपि देरीजियों की मृत्यु हो गयी थी, तथापि उसकी भावना जीवित रही। उसके अनुयायी बंगाल में उसके बताये हुए मार्ग पर चलते रहे और बंगाल में जनजागरण का कार्य करते रहे। बंगाल में सार्वजनिक संगठनों की स्थापना का प्रारम्भ हम देरीजियों के 'युवा बंगाल' तथा 'एकेडेमिक एसोसिएशन' से मान सकते हैं। उसने बंगाल में और अन्ततः सम्पूर्ण भारत में सर्वप्रथम जनजागरण की बुनियाद रखी। वस्तुओं को तर्क के आधार पर परखने, अन्धविश्वासों तथा पुरानी मान्यताओं पर प्रबल आक्षेप करने की शुरुआत उसी ने की थी। उसी के प्रयत्नों के फलस्वरूप बंगाल में एक जागरूक वर्ग पैदा हुआ।

देवेन्द्रनाथ टैगोर

1833 ई. में राजा राममोहन राय के देहावसान के बाद ब्रह्म समाज की स्थिति शोचनीय हो गई। किसी प्रकार संस्था का कार्यक्रम पंडित रामचन्द्र विद्यावागीश के द्वारा चलाया जाता रहा। द्वारकानाथ टैगोर की ओर से ब्रह्म समाज को थोड़ी बहुत आर्थिक सहायता प्राप्त होती रही। यद्यपि समाज की साप्ताहिक बैठकों में उपदेश, प्रार्थना आदि के द्वारा एकेश्वरवाद तथा वेदान्त की शिक्षाओं का प्रचार किया जाता था, लेकिन संस्था के सदस्यों की संख्या बहुत ही कम हो गयी थी। द्वारकानाथ टैगोर के ज्येष्ठ पुत्र देवेन्द्रनाथ टैगोर 1838 ई. में ब्रह्म समाज के सदस्य बन गये। 1839 ई. में धार्मिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श करने के लिए 'तत्त्वबोधिनी सभा' की स्थापना की। इस सभा की बैठकों में नगर के धनीमानी व्यक्ति भाग लेते थे तथा धार्मिक विषयों पर चर्चाएँ हुआ करती थी। देवेन्द्रनाथ टैगोर को वेद, उपनिषदों पर अटल विश्वास था और वे भी हिन्दू धर्म के आडम्बर, रूढ़ियों और कुप्रथाओं के स्थान पर धर्म के वेदान्त पक्ष का समर्थन करते थे। इसी उद्देश्य के लिए ही उन्होंने तत्त्वबोधिनी सभा की स्थापना की थी। ब्रह्म समाज में शामिल हो जाने के बाद देवेन्द्रनाथ टैगोर ने समाज को गतिशील बनाने का प्रयत्न किया। उल्लेखनीय है कि अभी तक ब्रह्म समाज का एक संस्था के रूप में न कोई संगठन था, न संविधान और न सदस्यों के लिए ही कोई नियम थे। देवेन्द्रनाथ टैगोर ने इस दिशा में सक्रिय कदम उठाया तथा ब्रह्म समाज को एक संगठित एवं नियमबद्ध संस्था के रूप में बदल दिया। देवेन्द्रनाथ टैगोर ने राजा राममोहन राय के विचारों के आधार पर संस्था में दीक्षित होने तथा सदस्यों द्वारा कतिपय नियमों और आचारों की घोषणा करने का

कार्यक्रम आरम्भ किया। सभा में वेदान्त के अनुरूप उपासना का प्रारम्भ प्रतिदिन गायत्री मंत्र से किया गया।

1843 ई. में देवेन्द्रनाथ ने अपने बीस साथियों के साथ पं. रामचन्द्र विद्यावागीश से दीक्षा ली तथा समाज के नियमों का पालन करने के लिए एक प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर किये। इस प्रकार देवेन्द्रनाथ के प्रयत्नों से ब्रह्म समाज को एक संस्था के रूप में एक निश्चित दिशा प्राप्त हो सकी। वास्तव में यह प्रथम प्रयास था जबकि ब्रह्म समाज एक स्पष्ट आध्यात्मिक संगठन का रूप ले सका। समाज की सभा के आरम्भ में ब्रह्मोपासना में जो स्रोत कहे जाते थे, वे मंत्र, उपनिषदों तथा तन्त्र ग्रन्थों से लिये गये थे। तत्वबोधिनी सभा के तत्त्वावधान में एक मासिक पत्रिका भी निकाली जाती थी। इस पत्रिका का नाम 'तत्वबोधिनी' पत्रिका था। इसके संपादक अक्षय कुमार दत्त थे। इस पत्रिका में राजा राममोहन राय की कृतियों का प्रकाशन किया गया। इसके अतिरिक्त ब्रह्म समाज के प्रचारक प्रदेश के दूसरे स्थान पर भेजे गये तथा कई अन्य स्थानों पर समाज की शाखाएं स्थापित की गई। 1845 ई. में ईसाइयों से धार्मिक वाद-विवाद के सम्बन्ध में वेदों को लेकर एक विचारणीय परिस्थिति उत्पन्न हो गयी। प्रश्न यह पैदा हुआ कि वेदों को, जो ब्रह्म-समाज के सिद्धान्तों का आधार प्रस्तुत करता है, उसे अन्तिम प्रमाण के रूप में माना जाय या नहीं। ब्रह्म समाज के युवा-वर्ग के नेता अक्षयकुमार दत्त वेदों को अन्तिम प्रमाण मानने के लिए तैयार नहीं थे। अतः इस समस्या को सुलझाने के लिए चार ब्राह्मणों को वाराणसी वेदों का अध्ययन करने के लिए भेजा गया। 1848 ई. में देवेन्द्रनाथ टैगोर स्वयं वाराणसी गये और वहाँ विचार-विमर्श आरम्भ किया। अन्त में यह निश्चय पाया गया कि वेदों को अन्तिम प्रमाण के रूप में नहीं माना जा सकता और उसके उपदेश वहीं तक मान्य समझे जाय जहाँ तक स्व-विवेक से मेल खाते हों।

देवेन्द्रनाथ टैगोर एक उच्चकोटि के देशभक्त तथा राष्ट्रप्रेमी थे। उनकी दृष्टि में विदेशी-शासन भारतीयों की दुर्दशा का कारण था। देवेन्द्रनाथ ने जीवनपर्यन्त अंग्रेजी शासन से किसी प्रकार का सहयोग नहीं किया और न शासन से किसी प्रकार की सहायता ही माँगी। इस प्रकार देवेन्द्रनाथ विदेशी शासन से असहयोग करने वाले प्रथम व्यक्ति थे। वास्तव में देवेन्द्रनाथ के नेतृत्व में ब्रह्म समाज एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक आन्दोलन का स्वरूप ले सका।

केशवचन्द्र सेन

आगे चलकर ब्रह्म समाज का नेतृत्व केशवचन्द्र सेन के हाथों में आ गया। केशवचन्द्र सेन के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण ब्रह्म समाज का आन्दोलन का न केवल विकास हुआ बल्कि वह अपने समय का एक अत्यन्त प्रभावशाली समाज सुधार आन्दोलन का रूप ले सका। प्रारम्भ में केशवचन्द्र सेन,देवेन्द्रनाथ टैगोर से प्रभावित होकर ब्रह्म समाज की बैठकों में भाग लेते रहे। 1856 ई. में केशवचन्द्र सेन ब्रह्म समाज के सदस्य बने। उस समय उनकी आयु मात्र 19 वर्ष थी। केशवचन्द्र सेन बड़े तेजस्वी तथा मेधावी थे तथा वे उन अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय नवयुवकों का प्रतिनिधित्व करते थे जो पाश्चात्य प्रभाव को देश के लिए अच्छा मानते थे। इन नवयुवकों को हिन्दू धर्म की अनेक बातें रुचिकर नहीं लगती थी। वे पश्चिम के कतिपय सामाजिक आदर्शों की प्रतिष्ठा हिन्दू धर्म में भी करना चाहते थे। 1850 से 1856 ई. तक का समय ब्रह्म समाज के सदस्यों में इसी प्रकार की मानसिक उलझन में बीता। हिन्दू समाज में सुधार लाने की बात कही जाने लगी, स्त्री शिक्षा, विधवा विवाह, बहु-

विवाह का विरोध आदि अनेक बातों का समर्थन किया जाने लगा। केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज को इन सामाजिक आदर्शों की प्रतिष्ठा के लिए अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। 1861 ई. में केशवचन्द्र सेन पूरी तरह ब्रह्म समाज के कार्यकर्ता बन गये और 1862 ई. में वे समाज के आचार्य पद पर भी प्रतिष्ठित हुए। उन्होंने समाज के कार्यक्रमों के प्रचार के लिए 'संगत सभा' की स्थापना की। इन कार्यों से ब्रह्म समाज को नयी शक्ति मिली तथा समाज के तत्त्वावधान में अनेक सामाजिक कार्यों को हाथ में लिया गया। इस समय तक ब्रह्म समाज के सदस्यों की संख्या में भी पर्याप्त वृद्धि हुई। 1829 ई. में जहाँ समाज के सदस्यों की संख्या केवल 6 थी, वहीं 1849 ई. में 500 हो गयी थी।

केशवचन्द्र सेन सामाजिक क्रान्ति के प्रबल समर्थक थे तथा वे हिन्दू समाज का उद्धार पश्चिम के सामाजिक आदर्शों के अनुरूप करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह, पर्दा-प्रथा का उन्मूलन, विधवा विवाह आदि अनेक बातों को हिन्दू समाज में लाने का प्रयास किया। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि नवयुवक केशवचन्द्र सेन के सामाजिक मान्यताओं और सुधारों के कार्यक्रम को तत्कालीन पुरानी पीढ़ी ने अच्छा नहीं समझा और इस वर्ग ने सुधारकों की सदैव आलोचना की। केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्रह्म समाजियों में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगे। ब्रह्म समाज ने अपने सदस्यों को हिन्दू अनुष्ठानों से दूर रहने को कहा गया, क्योंकि हिन्दू-अनुष्ठानों में मूर्ति-पूजा के संस्कार भरे होते हैं। इसके अलावा भी जाति-प्रथा को भी मूर्ति-पूजा की भाँति त्याज्य माना गया तथा समाज के अनेक सदस्यों ने यज्ञोपवीत को भी उतार फेंका। केशवचन्द्र सेन इन परिवर्तनों से सन्तुष्ट नहीं हुए और उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह के समर्थन की घोषणा कर दी। केशवचन्द्र सेन द्वारा एक के बाद दूसरे सामाजिक रीतियों के परिवर्तन से उनके गुरु देवेन्द्रनाथ टैगोर असन्तुष्ट हो गये। अब तक देवेन्द्रनाथ, केशवचन्द्र सेन की बातों का समर्थन करते आये थे, लेकिन अब उन्हें ऐसा लगा कि केशवचन्द्र हिन्दू धर्म से अलग हट रहे हैं। वस्तुतः देवेन्द्रनाथ, राजा राममोहन राय के सिद्धान्तों के अनुसार ब्रह्म समाज को एक हिन्दू संस्था बनाये रखना चाहते थे। दूसरी ओर केशवचन्द्र सेन ईसाइयत से अधिक प्रभावित थे और वे हिन्दू धर्म को ईसाइयत के निकट ले जाना चाहते थे। इन परिस्थितियों में गुरु और शिष्य में मतभेद हो गया। केशवचन्द्र सेन ने अपने विचारों के प्रसार के लिए 'ब्रह्म प्रतिनिधि सभा' नामक संस्था का गठन किया तथा समाज सुधार कार्यों में उत्साहपूर्वक जुट गये। 1866 ई. में केशवचन्द्र अपने अनुयायियों सहित संस्था से अलग होकर 'द् ब्रह्म समाज ऑफ इण्डिया' की स्थापना कर ली, जबकि दूसरा वर्ग देवेन्द्रनाथ के नेतृत्व में बना रहा और उनका यह संगठन आदि—ब्रह्मसमाज कहलाता रहा जिसके अध्यक्ष राजनारायण बोस हुए।

चूँकि केशवचन्द्र सेन ईसाइयत से अधिक प्रभावित थे, इसलिए वे हिन्दू समाज को उसी ओर ले जाना चाहते थे। चूँकि ईसाइयत में सामाजिक तथा धार्मिक स्तर पर ऊँच-नीच का कोई स्थान नहीं था, अतः केशवचन्द्र सेन को ईसाइयत की सामाजिक मान्यताएँ अच्छी मालूम पड़ी। केशवचन्द्र सेन के अनुसार मूर्ति-पूजा की भाँति हिन्दू समाज की जाति-प्रथा भी अनावश्यक थी। वे हिन्दू समाज में ऐसा परिवर्तन लाना चाहते थे जिससे हिन्दू धर्मावलम्बियों में सामाजिक स्तर पर भेदभाव न रहे। केशवचन्द्र सेन अत्यन्त गतिशील विचारों के तथा अथक परिश्रमी थे। उनकी अद्भूत वक्तृत्व क्षमता ने तो उनके इन गुणों को द्विगुणित कर दिया था। तात्कालिक बंगाल में वे एक वास्तविक शक्ति के रूप में उभरे, जिससे धार्मिक

तथा सामाजिक क्षेत्रों में होने वाले सुधारों को नयी स्फूर्ति प्राप्त हुई। अतः यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि केशवचन्द्र सेन अखिल भारतीय सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आन्दोलन के प्रथम प्रवर्तक थे। उनका कार्यक्षेत्र केवल बंगाल तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि उन्होंने अन्य प्रान्तों मे भी ब्रह्म समाज के केन्द्र स्थापित किये। 1864 ई. में बम्बई, मद्रास तथा 1868 ई. में उत्तरी-पश्चिमी प्रान्त के केन्द्रों में समाज की शाखाओं की स्थापना की गई। बम्बई में स्थापित समाज की शाखा को 'प्रार्थना-समाज' तथा मद्रास की शाखा को 'वेद समाज' का नाम दिया गया। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि यह प्रथम अवसर था जबकि किसी भारतीय व्यक्ति के द्वारा अखिल भारतीय स्तर पर सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलन का कार्य आरम्भ किया गया।

केशवचन्द्र सेन सदैव राजनीति से दूर रहे। ब्रह्म समाज के कुछ दस्तावेजों में यदा-कदा उन्होंने ब्रिटिश शासन के प्रति वफादारी का समर्थन किया। लेकिन भारतीयों के प्रति उनका आग्रह बना रहा तथा वे भारतीयों के उत्थान के कार्यों में लगे रहे। केशवचन्द्र सेन ने अपने एक भाषण में यूरोपीय साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में कहा कि न केवल भारत वरन् समूचा एशिया आज एक घायल बन्दी की भाँति निरीह पड़ा है। यूरोप की दम्भी सभ्यता ने पूर्व की अनेक महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्थाओं को समाप्त कर उसके ऊँचे नाम को बदनाम किया है। यहाँ के धर्मग्रन्थों, महापुरुषों, साहित्य, भाषा, यहाँ तक कि संस्थाओं और उद्योगों पर भी पश्चिम ने क्रूर आघात किये हैं। केशवचन्द्र सेन को तत्कालीन सामाजिक गतिविधियों का प्रतिनिधि माना जाता था। अंग्रेज अधिकारियों के मन में उनके प्रति सम्मान का भाव था। वायसराय लार्ड लॉरेन्स ने केशवचन्द्र सेन के सामाजिक सुधारों का स्वागत किया। कलकत्ता के टाउन हाल में केशवचन्द्र सेन के भाषण को सुनने के लिए भारतीयों सहित अनेक अंग्रेज उच्चाधिकारी भी शामिल होते रहे। वस्तुतः केशवचन्द्र सेन द्वारा संचालित आन्दोलन का ही परिणाम था कि 1872 ई. में 'ब्रह्म मेरिजेज एक्ट' पारित किया गया, जिसके अनुसार अन्तर्जातीय विवाह और विधवा विवाह हो सकते हैं तथा बाल-विवाह व बहुविवाह का निषेध कर दिया गया। इस अधिनियम में यह भी कहा गया कि 14 वर्ष से कम लड़की और 18 वर्ष से कम लड़के का विवाह नहीं हो सकेगा। इस अधिनियम के अनुसार यह घोषित करना होता था कि मैं न हिन्दू, न मुसलमान और न ईसाई हूँ। ब्रह्म समाजियों के लिए यह स्थिति बड़ी विचित्र थी। इसलिए अनेक बातों को लेकर आदि—ब्रह्मसमाज वालों की ओर से विरोध किया गया तथा यह स्पष्ट किया गया कि वे लोग अपने को हिन्दू मानते हैं। फिर भी, शासन की ओर से भारतीयों के सामाजिक प्रश्नों की ओर ध्यान दिया जाना केशवचन्द्र सेन की व्यक्तिगत सफलता थी। लेकिन हिन्दू समाज में इन परिवर्तनों का विरोध कट्टर सनातनी हिन्दुओं ने किया, फिर भी प्रबुद्ध वर्ग पर इसका प्रभाव नगण्य रहा। केशवचन्द्र सेन के धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों के कार्यक्रम ने 19वीं शताब्दी के भारतीय नवजागरण की भूमिका निर्मित करने में सहायक हुई। 1870 ई. में केशवचन्द्र सेन इंग्लैण्ड से लौटे। विदेश प्रवास में उनके अनुभव और ज्ञान में पर्याप्त वृद्धि हुई और स्वदेश लौटकर उन्होंने 'इण्डियन रिफार्म एसोसिएशन' नामक संस्था की स्थापना की। इस संस्था की कई शाखाएँ थी जो स्त्रियों की स्थिति सुधारने, शिक्षा प्रचार तथा अन्य समाज सेवा के कार्यक्रमों से सम्बन्धित थी। संस्था ने एक 'शुभ समाचार' नामक एक साप्ताहिक पत्रिका के प्रकाशन का कार्य भी अपने हाथ में लिया।

केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्रह्म समाज अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया तथा समाज द्वारा प्रचारित अनेक सुधार कार्यक्रमों को कट्टर सनातनी हिन्दू परिवारों ने भी अपनाना आरम्भ कर दिया। स्त्रियों की स्थिति के सम्बन्ध में ब्रह्म समाज का आन्दोलन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहा। समय की आवश्यकता ने नयी परम्पराओं को शीघ्र ही स्वीकार कर लिया। बंगाल में सुधारवादी आन्दोलन का नेतृत्व ब्रह्म समाज करता रहा, जिसका जनता पर भी अनुकूल प्रभाव दिखाई देता रहा। किन्तु इसी बीच एक घटना ने ब्रह्म-समाज को पुनः दो भागों में विभक्त कर दिया। केशवचन्द्र सेन की बड़ी पुत्री का विवाह कूच बिहार के राजकुमार के साथ तय हो गया। वर तथा कन्या दोनों ही नाबालिग थे। यह ब्रह्म समाज के सिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लंघन था। इतना ही नहीं, यह विवाह हिन्दू संस्कारों के साथ मूर्ति-पूजा आदि से पूर्ण होना था। 1872 ई. का ब्रह्म मेरिजेज-एक्ट, ब्रह्म समाज के आन्दोलन के फलस्वरूप पारित हुआ था। किन्तु यह विवाह इस अधिनियम की भावना के भी प्रतिकूल था। ऐसी स्थिति में सभी लोगों की निगाहें संस्था के प्रधान केशवचन्द्र सेन पर लगी थी कि इस सम्बन्ध में उनका निर्णय क्या होता है। अन्त में जब केशवचन्द्र सेन ने घोषणा कर दी कि यह ईश्वर का आदेश है और यह विवाह होना ही चाहिए, तब ब्रह्म समाज में फूट उत्पन्न हो गई और ब्रह्म समाज के नवयुवकों ने संस्था से अपने सम्बन्ध तोड़ लिए। भाग्य की विडम्बना है कि केशवचन्द्र सेन जिस सांस्कारिक जकड़ता के विरुद्ध विद्रोह का नारा बुलन्द किये हुए थे, उसी पारिवारिक संस्कार से वे स्वयं पराजित हो गये। वस्तुतः बुद्धिवाद, भावना पक्ष के समक्ष असहाय हो गया। इस विवाह ने केशवचन्द्र सेन के सार्वजनिक जीवन को धूमिल कर दिया। संस्था के नवयुवकों ने शिवनाथ शास्त्री तथा आनन्दमोहन बोस के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। इन लोगों ने 15 मई 1878 ई. को एक अन्य संस्था 'साधारण ब्रह्म समाज' के नाम से संगठित कर ली।

केशवचन्द्र सेन जिन्होंने ब्रह्म समाज आन्दोलन को एक नई दिशा प्रदान की, वे ही अब जनता में आलोचना के पात्र बन गये। केशवचन्द्र सेन के समय ब्रह्म समाज, ईसाई धर्म के अधिक निकट पहुँच गया और कुछ लोग यहाँ तक कहने लग गये थे कि केशवचन्द्र सेन शीघ्र ही ईसाई धर्म स्वीकार कर लेंगे। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। आगे चलकर केशवचन्द्र सेन ने 'नव विधान सभा' नामक संगठन की स्थापना की। इसकी बैठकों में ईसाइयत की अधिकांश बातें अपना ली गई। हवन, आरती आदि कुछ बातें छोड़कर बाकी सभी संस्कार ईसाई धर्म के थे जिससे लोगों का भ्रम और पक्का हो गया कि केशवचन्द्र सेन ब्रह्म समाज को ईसाइयत की ओर ले जा रहे हैं। वास्तव में ब्रह्म समाज के जिस स्वरूप का प्रवर्तन केशवचन्द्र सेन ने लिया वह ईसाइयत का प्रतिरूप अवश्य था, लेकिन उसके पूज्य ईसा मसीह नहीं थे।

ब्रह्म समाज की उपलब्धियाँ—ब्रह्म समाज को 19वीं शताब्दी के धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलनों का अग्रज कहा जा सकता है। ब्रह्म समाज की सांस्कृतिक गतिविधियाँ आधुनिक भारत के इतिहास में विशेष महत्त्व की है। जन-जागृति और राष्ट्रीय आन्दोलन के अनेक आधार इन्हीं से परिपुष्ट हुए। राजा राममोहन राय भारतीयों के उस वर्ग के नेता थे, जिन्होंने पश्चिम के बुद्धिवाद तथा विज्ञान को देश के सन्दर्भ में ग्रहण करने की चेष्टा की। राजा साहब का उद्देश्य हिन्दू समाज में इस प्रकार का परिवर्तन लाना था जिससे

हिन्दू लोग ईसाइयत के प्रखर प्रचार में दिग्भ्रमित न हो सके। राजा साहब किसी धर्म के प्रवर्तक नहीं थे और न किसी सम्प्रदाय के उपदेशक थे। वे तो हिन्दू समाज में रहकर हिन्दू समाज तथा धर्म में सुधार लाना चाहते थे। उनका कार्यक्षेत्र धर्म की अपेक्षा समाज अधिक रहा। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि राजा साहब धर्म सुधारक कम थे जबकि समाज सुधारक अधिक थे। उन्होंने ब्रह्म समाज के माध्यम से ईसाई धर्म प्रचारकों को हिन्दू धर्म की निन्दा करने से रोका तथा हिन्दू धर्म को भी रूढ़ियों से मुक्त करने का प्रयास किया। राजा राममोहन राय सभी धर्मों की अच्छी बातों में समन्वय स्थापित करना चाहते थे। इसके साथ ही वे भारतीयों के लिए पश्चिम के सामाजिक सिद्धान्त, विज्ञान तथा राजनीतिक संगठन की जानकारी आवश्यक मानते थे। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की थी। वास्तव में हिन्दू धर्म के वेदान्त में उन्हें सभी धार्मिक जिज्ञासाओं का उत्तर मिल गया था। राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज के माध्यम से हिन्दू धर्म की अभूतपूर्व सेवा की। ब्रह्म समाज ने हिन्दू धर्म को नये रूप में प्रकट किया, जिसमें मूर्तिपूजा और अवतारवाद का कोई स्थान नहीं था। ब्रह्म समाज के आन्दोलन के फ़लस्वरूप ही निराकार और एक ब्रह्म की उपासना का पक्ष वेदान्त के सिद्धान्त में स्पष्ट हो सका था। नवीन चेतनाओं के जिज्ञासुओं ने यह स्वीकार कर लिया कि सभी धर्मों के प्रति सहानुभूति का दृष्टिकोण ही उचित है तथा विभिन्न धर्मों में आपसी विरोध व्यर्थ है। इस दृष्टि से राजा राममोहन राय विश्व मानवता के प्रथम नायक सिद्ध होते हैं। वे अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के समर्थक तथा मनुष्य जाति में समानता के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे।

19वीं शताब्दी का जनमानस पूर्णतः धर्म से अनुप्राणित था। धर्म की व्यापक मान्यताएँ समाज के सभी अंगों का स्पर्श करती थी। इसलिए धर्म को भारत की जीवन-शक्ति के रूप में माना जाता था। अतः ब्रह्म समाज के माध्यम से पाश्चात्य प्रभाव को आवश्यक मानते हुए उसे नई दिशा देने की चेष्टा की गई। इस प्रक्रिया का सर्वप्रथम प्रभाव धर्म पर पड़ा। अतः 19वीं शताब्दी में भारतीय नवजागरण की जो लहर उत्पन्न हुई उसका आधार भी धर्म ही रहा। राजा राममोहन राय तथा देवेन्द्रनाथ टैगोर ने हिन्दू धर्म को नयी चेतना के सन्दर्भ में परिष्कृत करने का प्रयास किया। हिन्दू धर्म के बारे में जो भ्रामक बातें इस्लाम तथा ईसाइयत के प्रचारकों द्वारा फैलायी जा रही थी, उसमें अन्तर आया तथा हिन्दुओं द्वारा ईसाई धर्म स्वीकार करने का सिलसिला काफी अंशों तक कम हुआ। ब्रह्म समाज के एक प्रमुख नेता शिवनाथ शास्त्री ने राजा साहब के बारे में लिखा है (हिस्ट्री ऑफ ब्रह्मसमाज) कि उनका उद्देश्य सरल था, वे देशवासियों को मूर्तिपूजा से हटाकर एकेश्वरवाद की ओर ले जाना चाहते थे। उनका कार्य इस दृष्टि से निषेधात्मक तथा सुधार का था, न कि प्रयत्न का और रचनात्मक। ब्रह्म समाज के द्वारा हिन्दू धर्म में प्रचलित रूढ़िवादी तत्त्वों का विरोध किया गया तथा पश्चिम के विज्ञान तथा राष्ट्रीयता की भावनाओं को आत्मसात् करने की प्रेरणा दी। राजा राममोहन राय व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के उद्घोषक थे तथा वे व्यक्ति के विवेक तथा अन्तर-चेतना को बाहरी आडम्बरों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते थे। यही कारण है कि विपिनचन्द्र पाल ने राजा साहब द्वारा प्रतिपादित व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावना को स्वराज आन्दोलन की आधारशिला माना था। इस भावना का हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के ऐतिहासिक विकास में प्रमुख योगदान रहा। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्म समाजियों का दृष्टिकोण देश के पिछड़ेपन को दूर करके धार्मिक कट्टरता तथा भारतीयों की मानसिक निष्क्रियता को दूर करना था।

वस्तुत: ब्रह्म समाज एक पुनर्जागरण आन्दोलन था, जिसका मुख्य लक्ष्य भारतीय धर्म तथा समाज को सुधारना था। देश की तत्कालीन स्थिति तथा पश्चात्य संस्कृति के आघात से इस संस्था के लोग अनभिज्ञ नहीं थे। यद्यपि उन्होंने प्रत्यक्ष राजनीति में तो भाग नहीं लिया, लेकिन राष्ट्रीयता की भावना जागृत करने में भी वे पीछे नहीं रहे। 19वीं शताब्दी में ब्रह्म समाज प्रथम संस्था थी जिसने देशभक्ति और राष्ट्रीयता के गाने समाज में प्रचलित किये। ब्रह्म समाज के नेता शिवनाथ शास्त्री, सत्येन्द्रनाथ टैगोर, ज्योतिन्द्रनाथ टैगोर तथा गोविन्द चन्द्र राय ने देशभक्ति से परिपूर्ण अनेक रचनाएँ की। इन रचनाओं में भारत की प्राचीन सभ्यता तथा गौरव का स्मरण दिलाया तथा वर्तमान स्थिति पर दृष्टि डालने की ओर संकेत किया। ब्रह्म समाज के प्रगतिशील विचारों ने इस आन्दोलन को बंगाल के बाहर मद्रास तथा बम्बई के सुदूर प्रदेशों तक पहुँचा दिया। यह आन्दोलन मूल रूप से ईसाई धर्म एवं पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित था। इस संस्था के अधिकांश सदस्य वे लोग थे जिन्हें अंग्रेजी का ज्ञान था तथा जो विद्या एवं धन की दृष्टि से सम्पन्न थे। जनसाधारण इस आन्दोलन की ओर आकर्षित नहीं हो सका। फिर भी ब्रह्म समाज आन्दोलन 19वीं शताब्दी का एक महान् आन्दोलन कहा जा सकता है जिसके कारण भारतीय एवं पाश्चात्य विचारों के समन्वय का प्रयास किया गया। चूँकि ब्रह्म समाज आन्दोलन केवल बुद्धिजीवी और विशेषकर अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों तक सीमित था तथा इसने इस्लाम और ईसाई धर्म को समान स्थान प्रदान करते हुए हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता स्थापित नहीं की, अत: हिन्दू धर्म और समाज को एक ऐसे आन्दोलन की आवश्यकता थी जो हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता स्थापित कर जनसाधारण में लोकप्रिय हो सके। इस आवश्यकता की पूर्ति आर्य समाज ने की। यही कारण है कि देश में ब्रह्म समाज इतना लोकप्रिय नहीं हो सका जितना आर्य समाज हुआ। फिर भी ब्रह्म समाज के योगदान को अनदेखा नहीं किया जा सकता। ब्रह्म समाज 19वीं शताब्दी के धर्म एवं समाज सुधार आन्दोलनों का अग्रदूत था तथा राजा राममोहन राय आधुनिक भारतीय नवजागरण के पिता कहे जा सकते हैं, जिन्होंने समाज में सुधारों की मशाल प्रज्ज्वलित कर दी थी।

आर्य समाज

यद्यपि ब्रह्म समाज ने धर्म और समाज सुधार के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया, किन्तु ब्रह्म समाज पाश्चात्य सभ्यता और ईसाई धर्म से प्रभावित होने के कारण ईसाई व इस्लाम धर्म को समान स्थान प्रदान करते हुए हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता स्थापित नहीं की। अत: हिन्दू धर्म और समाज को एक उग्र आन्दोलन की आवश्यकता थी तथा इस आवश्यकता की पूर्ति आर्य समाज ने की। 19वीं शताब्दी के धर्म और समाज सुधार आन्दोलन में आर्य समाज का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस आन्दोलन के प्रेरणास्रोत पाश्चात्य शिक्षा एवं साहित्य नहीं थे, फिर भी तत्कालीन हिन्दू समाज में नवोत्थान की प्रवृत्ति के कारण यह आन्दोलन अत्यन्त ही प्राणवान बन गया। 18वीं शताब्दी से ही पूर्वी देशों में ईसाई धर्म का प्रचार जोर-शोर से आरम्भ हो गया था। भारत में भी अनेक मिशनरी प्रचारक हिन्दू व ईस्लाम धर्म के विरुद्ध प्रचार कर रहे थे। बहुधा वे हिन्दू देवी-देवताओं की हंसी उड़ाते थे तथा उनकी धार्मिक मान्यताओं और परम्पराओं को व्यर्थ एवं महत्त्वहीन बताकर उनकी खिल्ली उड़ाते थे। वस्तुत: तात्कालिक हिन्दू धर्म और समाज अनेक रूढ़ियों के बोझ से दबा हुआ था। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती इन रूढ़ियों के विरुद्ध थे तथा उनका

मानना था कि हिन्दू धर्म में नवजीवन तभी आ सकता है जबकि ये रूढ़ियाँ, अन्धविश्वास और निर्मूल परम्पराएँ तोड़ दी जायें। इसलिए उन्होंने हिन्दू धर्म को वैदिक धर्म का पर्याय माना तथा वैदिक मान्यताओं के अतिरिक्त तत्कालिक हिन्दू समाज में दिखाई देने वाली परम्पराओं को खुली चुनौती दी। इस प्रकार स्वामी दयानन्द न केवल सुधारक कहे जा सकते हैं, वरन् वे उस शंखनाद के उद्घोषक भी थे जिसके कारण भारतीयों को अपने प्राचीन गौरव का ज्ञान प्राप्त हुआ और वे अपने पूर्ण आत्मविश्वास के साथ विदेशी शासन के विरुद्ध मुक्ति-संघर्ष में लग गये।

आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म 1824 ई. में गुजरात में काठियावाड़ की मोर्वी नामक रियासत में टंकारा परगने के शिवपुर ग्राम में हुआ था। उनका एक रूढ़िवादी ब्राह्मण परिवार था तथा उनके पिता रियासत के एक पदाधिकारी थे। उनका परिवार साधारणतया सम्पन्न था। उनके बचपन का नाम मूलशंकर था। दयानन्द के पिता रियासत के एक पदाधिकारी थे तथा अपने समय के प्रतिष्ठित वैदिक ब्राह्मणों में गिने जाते थे। दयानन्द को पिता के कठोर अनुशासन तथा नियमित जीवन के आदर्शों का निर्वाह करना पड़ा। इसलिए उनके चरित्र में हमें एक ओर दृढ़ इच्छाशक्ति के तत्त्व मिलते हैं तो दूसरी ओर उदारता के भी अनेक उदारहरण मिलते हैं। पांच वर्ष की आयु से उनकी शिक्षा-दीक्षा प्रारम्भ हुई और आठ वर्ष की आयु में उनका उपनयन संस्कार सम्पन्न हुआ। उन दिनों धार्मिक कार्यों के अन्तर्गत अनेक कर्मकाण्ड तथा व्रत-उपवास किये जाते थे। स्वामी दयानन्द को भी अपने अध्ययन के साथ-साथ परिवार के इन कार्यक्रमों में सम्मिलित होना पड़ता था। कालान्तर में इसी प्रकार की एक घटना ने स्वामी दयानन्द के जीवन में क्रान्ति ला दी और वे युग प्रवर्तक बन गये। घटना अत्यन्त साधारण थी। शिवरात्रि के दिन अपने पिता के निर्देशों से स्वामी दयानन्द ने परिवार के साथ दिन भर का उपवास किया और फिर पिता के साथ मन्दिर में रात्रि-जागरण के लिए गये। उपासना और पूजा विधियों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को रात्रिभर का जागरण करना था। 14 वर्ष के निष्ठावान उपासक दयानन्द मनोयोग से मन्दिर में रात्रि जागरण करते रहे। आधी रात के पश्चात् जब सभी उपासक सो गये तो भी स्वामीजी पिता के आदेश से जागते रहे। इसी समय एक चूहा शिवजी की मूर्ति पर चढ़ाये गये मिष्ठान को चढ़कर खाने लगा। यह घटना स्वामी दयानन्द के लिए अप्रत्याशित थी। उनके मन में यह शंका बलवती हो उठी कि जिस प्रतिमा को हम सर्वशक्तिमान परमेश्वर की भाँति मानते है, क्या उसका अपमान चूहे जैसा निरीह जीव भी कर सकता है ? दयानन्द ने अपनी शंका के उत्तर के लिए, पास सोये हुए अपने पिता को जगाया। लेकिन उनके पिता ने शंका-निवारण के स्थान पर उन्हें डाट दिया। बालक दयानन्द को स्वयं ही उसका उत्तर मिल गया और वे मूर्ति-पूजा को व्यर्थ समझ तुरन्त शिव-मन्दिर से उठकर चले गये तथा रात्रि में ही उपवास तोड़कर सो गये। इस घटना ने स्वामी दयानन्द की विचारधारा ही बदल दी और वे मूर्ति-पूजा के कट्टर विरोधी बन गये।

स्वामी दयानन्द के जीवन पर एक दो अन्य घटनाओं ने भी प्रभाव डाला। 19 वर्ष की आयु में उनके स्नेही चाचा का देहान्त हो गया। इस घटना ने उन्हें मृत्यु के क्रूर रहस्यों को जानने की प्रेरणा दी। वे प्रायः ध्यानवस्थित होकर जीवन-मृत्यु की पहेली पर विचार करने लगे। उनके मन में यह विचार आने लगा कि इन रहस्यों का पता लगाने के लिए उन्हें घर से बाहर जाकर योगाभ्यास करना चाहिये। दयानन्द के परिवार वाले उनके इस मानसिक

परिवर्तन को देखकर वड़े चिन्तित हुए और निश्चय किया कि उनका शीघ्र विवाह कर दिया जाय। लेकिन परिवार वालों को इसमें सफलता नहीं मिली। मूलशंकर सत्य की खोज में घर छोड़कर निकल पड़े और संन्यासी की वेशभूषा धारण करली। वे 1845 ई. से 1860 ई. तक भारत के सुदूर प्रदेशों का भ्रमण करते रहे। इस अवधि में उनका सम्पर्क अनेक साधुओं, विद्वानों तथा ज्ञानियों से हुआ और उन्होंने अनेकों के निकट बैठकर वैदिक वाङ्मय के सम्बन्ध में ज्ञानार्जन किया। अन्त में उन्होंने स्वामी विरजानन्द सरस्वती से दीक्षा ली और गुरु-दक्षिणा के एवज में प्रतिज्ञा की कि वे हिन्दू धर्म से अन्धविश्वास और आडम्बर दूर करके देश में पुनः वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा करेंगे।

इस दीक्षा के बाद स्वामी दयानन्द का सार्वजनिक जीवन आरम्भ हुआ और फिर उनका शेष जीवन धर्म प्रचार के कार्य में बीता। स्वामी दयानन्द अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ थे तथा पाश्चात्य सभ्यता व ईसाई धर्म से भी अप्रभावित थे। उनका उद्देश्य हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करना था तथा हिन्दू धर्म की बुराइयों को निकालना था। स्वामीजी ने उत्तर भारत के अनेक भागों का दौरा किया तथा अपने आकर्षक एवं दृढ़ व्यक्तित्व व नयी वैदिक वाङ्मय की व्याख्या से जनता को प्रभावित किया। हजारों की संख्या में व्यवसायी तथा जमींदार एवं समाज के अन्य लोग उनके अनुयायी बन गये। उन्होंने अनेक स्थानों पर रूढ़िवादी और परम्परागत विचारों वाले हिन्दू धर्म के महंतों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। वे वैदिक धर्म की नयी चेतना के प्रतीक बनकर जनता को हमारे प्राचीन गौरव का निर्देशन कराने लगे। उन दिनों काशी हिन्दू धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था। यही पर काशी नरेश की अध्यक्षता में स्वामी दयानन्द का काशी के पंडितों के साथ प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ। स्वामीजी ने हिन्दू धर्म के लगभग 300 प्रसिद्ध पंडितों के समक्ष वैदिक धर्म को ही वास्तविक हिन्दू धर्म घोषित किया तथा मूर्तिपूजा, अवतारवाद, जाति-प्रथा आदि का खण्डन किया। हिन्दू धर्म में पौराणिक विश्वासों को उन्होंने चुनौती दी तथा स्पष्ट किया कि ये बातें अवैदिक है, अतः इन पर विश्वास नहीं किया जाना चाहिए। उनके विचार से वास्तविक हिन्दू धर्म वही है जो वेदों में वर्णित है। काशी के शास्त्रार्थ से स्वामीजी को अटूट विश्वास तथा जनता का समर्थन मिला। एक तत्कालीन अंग्रेजी पत्र ने इस शास्त्रार्थ का विवरण दिया है जिससे पता चलता है कि स्वामी दयानन्द ने किस प्रकार वैदिक धर्म की व्याख्या कर काशी के पंडितों को चुनौती दी थी। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों और अंग्रेजों पर भी स्वामी के नये विचारों का प्रभाव पड़ा। इस सम्बन्ध में इलाहाबाद से प्रकाशित 'पॉयनियर' पत्र में इस सभा के समाचार बराबर छपते रहे तथा प्रवुद्ध वर्ग की रुचि इस ओर आकर्षित हुई।

काशी से स्वामी दयानन्द कलकत्ता पहुँचे, जहाँ उनका सम्पर्क ब्रह्म समाज के नेताओं से हुआ। स्वामीजी ने ब्रह्म समाज के नेताओं से अपने आन्दोलन के लिए सहयोग मांगा, लेकिन स्वामीजी को वेदों तथा आत्मा के आवागमन के सिद्धान्तों में अटूट विश्वास था, अतः उन्हें ब्रह्म समाज की बातें आकर्षक नहीं लगी। फिर भी स्वामीजी का कलकत्ता प्रवास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा। वहाँ स्वामीजी की भेंट अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीय समुदाय के लोगों से हुई और वे हिन्दुओं के इस नये वर्ग की बौद्धिक जिज्ञासा के बारे में जानकारी ले सके। ब्रह्म समाज के नेता केशवचन्द्र सेन ने स्वामीजी को परामर्श दिया कि वे अपने विचार संस्कृत भाषा में न रख कर साधारण बोलचाल की भाषा हिन्दी में रखें। इसी समय कलकत्ता में ही उन्होंने देवेन्द्रनाथ टैगोर से भेंट की और उन्हें अपनी वैदिक व्याख्या से परिचित कराया।

तत्पश्चात् स्वामीजी बम्बई पहुँचे जहाँ 10 अप्रेल, 1875 ई. को विधिवत् रूप से आर्य समाज की स्थापना की। उसके बाद स्वामीजी दिल्ली गये, जहाँ ईसाई मुसलमान और हिन्दू पंडितों की एक सभा बुलाई, किन्तु दो दिन के विचार-विमर्श के बाद भी कोई निष्कर्ष नहीं निकला। दिल्ली से स्वामीजी पंजाब गये, जहाँ उनके प्रति बड़ा उत्साह जागृत हुआ। जून, 1877 ई. में लाहौर में आर्य समाज की एक शाखा खोली गई और कालान्तर में इस आन्दोलन का प्रमुख कार्यालय लाहौर ही बन गया। इसके पश्चात् भारत के विभिन्न प्रान्तों में वे अपने विचारों का प्रचार करते रहे तथा आर्य समाज की शाखाएँ स्थापित करते रहे।

अपने विचारों का प्रचार करने के लिए स्वामीजी ने तीन ग्रन्थ लिखे थे। 'ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका' में उन्होंने वेदों के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया। दूसरे ग्रन्थ 'वेदभाष्य' में उन्होंने यजुर्वेद और ऋग्वेद की टीका लिखी। उनका सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' है। इसमें स्वामीजी ने सभी धर्मों का आलोचनात्मक विश्लेषण करते हुए यह प्रमाणित किया कि वैदिक धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। उन्होंने इस ग्रन्थ में पौराणिक हिन्दू धर्म की कुरीतियों का खण्डन जिस निर्भयता से किया है, उसी ढंग से इस्लाम तथा ईसाइयत के ढोंग, आडम्बर तथा अन्धविश्वासों की भी तीव्र आलोचना की है। इससे हिन्दू जनता को यह जानकर सन्तोष हुआ कि पौराणिकता के मामले में ईसाइयत और इस्लाम भी हिन्दुत्व से अच्छे नहीं हैं। दूसरा यह कि हिन्दुओं का ध्यान अपने धर्म के मूल रूप की ओर आकृष्ट हुआ और वे अपनी प्राचीन परम्परा के लिए गौरव का अनुभव करने लगे। ईसाइयत की श्रेष्ठता की भावना जो बल पकड़ रही थी, स्वामीजी ने उस पर रोक लगा दी। स्वामीजी ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में अवतारवाद, तीर्थ-यात्रा, श्राद्ध, व्रत-अनुष्ठान आदि पौराणिक बातों का बड़े ही युक्तिपूर्वक ढंग से खण्डन किया। उन्होंने प्रतिदिन वेद में निर्दिष्ट यज्ञ तथा संध्या करना प्रत्येक आर्य के लिए आवश्यक बताया। स्वामीजी ने छुआछूत के विचारों को अवैदिक बताया और उनके समाज ने सहस्त्रों अन्त्यजों को यज्ञोपवीत देकर उन्हें हिन्दुत्व के भीतर आदर का स्थान दिया। स्वामीजी ने बाल-विवाह, बहु-विवाह तथा पर्दा-प्रथा का खण्डन किया। उन्होंने स्त्री-शिक्षा पर जोर दिया तथा अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया।

स्वामी दयानन्द के अन्तिम दिन राजस्थान में व्यतीत हुए, जहाँ अनेक राजा तथा जागीरदार उनके शिष्य बने। उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह ने उनसे मनुस्मृति, राजनीति तथा राजधर्म की शिक्षा ग्रहण की। 1881 में उदयपुर के ही एक जागीदार बनेड़ा के राजा गोविन्दसिंह का निमन्त्रण प्राप्त कर वे बनेड़ा गये। बनेड़ा में स्वामी सोलह दिन रहे और इस दौरान स्वामीजी ने राजा गोविन्दसिंह के दोनों पुत्रों अक्षयसिंह और रामसिंह को सस्वर वेद पाठ करना सिखाया। स्वामीजी ने दोनों राजकुमारों को 'वर्णोच्चारण शिक्षा' नामक पुस्तक उपहार में दी। तत्पश्चात् वे चित्तौड़गढ़ चले गये। अक्टूबर, 1883 में वे जोधपुर आये, जहाँ किसी के द्वारा स्वामीजी को विष दे दिया गया। धर्म के ऐसे महान् आचार्य की 30 अक्टूबर, 1883 को दीपमालिका के दिन अजमेर में जीवन-लीला समाप्त हो गई। स्वामीजी की मृत्यु पर मैडम ब्लेवटास्की (रूसी) ने लिखा था, "यह बिल्कुल सही बात है कि शंकराचार्य के बाद भारत में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जो स्वामीजी से बड़ा संस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे अधिक तेजस्वी व्यक्ति तथा कुरीतियों पर टूट पड़ने में उनसे अधिक निर्भीक रहा हो।" स्वामीजी की मृत्यु के बाद थियोसाफिस्ट अखबार ने उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा था, "उन्होंने जर्जर हिन्दुत्व के गतिहीन जनसमूह पर भारी प्रहार

किया और अपने भाषणों में लोगों के हृदय में ऋषियों और वेदों के लिए अपरिमित उत्साह की आग जला दी। सारे भारतवर्ष में उनके समान हिन्दी और संस्कृत का वक्ता दूसरा कोई और नहीं था।''

आर्य समाज के सिद्धान्त—आर्य समाज के सिद्धान्तों की रूपरेखा बम्बई में ही तैयार करली गई थी, लेकिन उसे दो वर्षों के पश्चात् लाहौर में अन्तिम रूप दिया जा सका। इनमें से कुछ इस प्रकार है—

(1) आर्य समाज वेदों को ही एकमात्र अधिकारिक ज्ञान का स्रोत स्वीकार करता है।

(2) प्रत्येक प्रान्त में समाज का मुख्य केन्द्र होगा तथा जिसकी शाखाएँ अन्य स्थानों में स्थापित की जायेगी। समाज की यह शाखाएँ एक-दूसरे से सम्बद्ध होगी।

(3) समाज के मुख्य केन्द्र में संस्कृत तथा आर्य भाषा (हिन्दी) में वैदिक वाङ्मय पर ग्रन्थ उपलब्ध होंगे। वास्तविक धर्म के प्रचार के लिए एक साप्ताहिक पत्र 'आर्य प्रकाश' का प्रकाशन होगा।

(4) समाज के सदस्य सत्य, सिद्धान्त तथा चरित्र की बातों में आस्था रखने वाले होंगे।

(5) सदस्यगण अपने बचे हुए समय को समाज की सेवा में अर्पित करेंगे। जो संदस्य परिवार के उत्तरदायित्व से मुक्त है, उन्हें पूरे समय समाज के कल्याण के लिए कार्य करना होगा।

(6) हर आठवें दिन समाज के अध्यक्ष, सचिव तथा अन्य सदस्यों को आर्य समाज मन्दिर में उपस्थित होना होगा, जहाँ वे सुस्थिर एवं शान्त मन से धार्मिक विषयों पर विचार-विमर्श करेंगे तथा जहाँ पर धर्म की वास्तविक व्याख्या प्रस्तुत की जायेगी। इसके पश्चात् वैदिक मन्त्र, पाठ तथा भाषण आयोजित किये जावेंगे।

(7) समाज स्तुति, प्रार्थना और उपासना के माध्यम से ऐकेश्वर परमात्मा का स्मरण करने को प्रोत्साहित करेगा। वह ईश्वर सर्वशक्तिमान, सार्वभौमिक, अनश्वर, अनादि है।

(8) समाज के सदस्य वैदिक संस्कारों को अपनायेंगे तथा वैदिक विधानों के अनुसार ही उन्हें पूरा करेंगे। वेदों का अध्ययन एवं पठन समाज के सभी सदस्यों द्वारा किया जायेगा।

(9) सत्य, ज्ञान, धर्म आदि की व्याख्या के लिए संगठन विद्वान् और चरित्रवान सदस्यों को धर्म-प्रचार के लिए दूसरे स्थानों पर भेजेगा।

(10) समाज के सिद्धान्तों एवं नियमों में यदि कभी परिवर्तन अथवा संशोधन किया जाय तो वह समाज के सभी सभासदों द्वारा अच्छी तरह विचार करने के पश्चात् ही होना चाहिए।

आज भी आर्य समाज की शाखाएं प्रायः इन्ही सिद्धान्तों के अन्तर्गत संचालित होती है।

स्वामी दयानन्द ने वेदों को अपौरुषेय स्वीकार किया तथा उसे ही ज्ञान और सत्य की अनुभूति के लिए एकमात्र आधार घोषित किया। उन्होंने वेदों के विषय में प्रचलित भाष्य एवं व्याख्या को मान्यता नहीं दी। दयानन्द ने वेदों की स्वयं व्याख्या की। अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में स्वामीजी ने वैदिक सन्दर्भों का भाष्य भी लिखा। आर्य-समाज के अनुयायी इसी

भाष्य को प्रामाणिक मानते हैं। वस्तुतः स्वामीजी की अभूतपूर्व देन यह रही कि उन्होंने वेदों की व्याख्या को एक मतवाद के रूप में प्रतिष्ठित किया और यह भूमिका तैयार करदी कि इसमें आस्था रखने वाला हिन्दू, गैर-हिन्दू कोई भी आर्य समाज में शामिल हो सकता है। हिन्दू सम्प्रदाय में शामिल होने में शताब्दियों से जो दीवार ब्राह्मणों ने खड़ी करदी थी उसे स्वामीजी ने अपनी इस वैदिक व्याख्या से तोड़ दिया। स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' में धर्म सम्बन्धी अनेक बातों की व्याख्या की है। 19वीं शताब्दी में ईसाई मिशनरी अपने धर्म-प्रचार में हिन्दू धर्म की निन्दा किया करते थे। स्वामीजी ने उनका समुचित तर्क देते हुए उत्तर दिया। लेकिन स्वामीजी का द्वेष किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय से नहीं था। उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' की भूमिका में स्वयं लिखा है, "मैं पुराण, जैनियों के ग्रन्थ, बाइबिल और कुरान को प्रथम ही बुरी दृष्टि से न देखकर उनमें से गुणों को ग्रहण और दोषों का त्याग तथा मनुष्य जाति की उन्नति के लिए प्रयत्न करता हूँ, वैसा सबको करना योग्य है।" आगे चलकर उन्होंने स्पष्ट किया कि किसी प्रकार पक्षपात न करके सत्यार्थ का प्रकाश करना मेरा तथा सब महाशयों का मुख्य कर्त्तव्य है।

आर्य समाज के नियम—स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज के सिद्धान्तों को व्यवहारिक दृष्टिकोण से बोझिल बनाने का प्रयत्न नहीं किया। उनकी दृष्टि मूल रूप से हिन्दू धर्म के विरुद्ध सक्रिय रूप से चलने वाले इस्लाम तथा ईसाई धर्म प्रचार के आन्दोलनों को प्रभावहीन करने की ओर रही। इसीलिए आर्य समाज में दीक्षित होने के लिए ऐसे साधारण कार्यक्रम अपनाये गये जो साधारण जनता को रुचिकर लग सके। आर्य समाज ने हिन्दू धर्म के पूर्व के मतवाद, कार्यक्रम तथा धार्मिक क्रियाओं के स्थान पर एक सरल एवं सुबोध धर्म का स्वरूप प्रस्तुत किया। यह हिन्दू धर्म का स्वरूप न केवल 19वीं शताब्दी के हिन्दू समाज के पुनरुत्थान का प्रतीक था, वरन् ईसाई धर्म प्रचारकों को, जो हिन्दू धर्म का उपहास उड़ाते थे, उन्हें भी चुनौती दे सकता था। आर्य समाज के साधारण नियम इस प्रकार बनाये गये हैं—

(1) सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।
(2) ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, सर्वव्यापक, अजर, अमर, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करने योग्य है।
(3) वेद सभी विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना, पढ़ाना और सुनना-सुनाना सभी आर्यों का परम धर्म है।
(4) सत्य ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।
(5) सभी कार्य धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य का विचार करके करने चाहिए।
(6) संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।
(7) सभी से धर्मानुसार प्रीतिपूर्वक यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये।
(8) अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।
(9) प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए, सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

(10) सभी मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालन में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सभी स्वतन्त्र है अर्थात् सामाजिक भलाई से सम्बन्धित विषयों में सब मतभेदों को भुला देना चाहिए।

आर्य समाज के नियम तत्कालीन हिन्दू समाज के लिए आकर्षक और महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुए। इन नियमों में परम्परागत भारतीय उदारता की भावना के साथ बौद्धिक चेतना को भी प्रमुखता प्राप्त हुई। 19वीं शताब्दी के भारतीय समाज में पाश्चात्य ज्ञान एवं शिक्षा के कारण बौद्धिक प्रखरता दृष्टिगोचर होने लगी थी। समाज की इस बौद्धिक हलचल को स्वमी दयानन्द ने आर्य समाज के माध्यम से एक ठोस आधार दिया। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण तथा पाश्चात्य के अनुकरण के स्थान पर उन्होंने हिन्दू धर्म के पुराने सिद्धान्तों की व्याख्या द्वारा इस मानसिक दासता की प्रक्रिया को रोका तथा भारतीयों को अपने गौरव पर विचार करने के लिए प्रोत्साहित किया। स्वामी दयानन्द की यही सबसे बड़ी उपलब्धि थी कि उन्होंने पाश्चात्य ज्ञान, संस्कृति की चकाचौंध से मोहित भारतीय जन मानस को जगाने का शंखनाद किया।

आर्य समाज ने हिन्दू धर्म एवं समाज सुधार हेतु महत्त्वपूर्ण कार्य किये। स्वामी दयानन्द ने अपना सम्पूर्ण जीवन मूर्तिपूजा तथा हिन्दू धर्म के अन्धविश्वासों तथा कुरीतियों के खण्डन और वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार में लगाया। उन्होंने वेदों में वर्णित यज्ञों और अन्य संस्कारों की नई व्याख्या की। यज्ञ या हवन का मुख्य उद्देश्य वायुमण्डल अर्थात् पर्यावरण को शुद्ध करना था। उन्होंने बताया कि हिन्दू धर्म सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक दृष्टिकोण से उदार रहा है। स्वयं वेद भी अपनी श्रेष्ठता का दावा नहीं करते। इसीलिए हिन्दू धर्म ने इसी धर्मों के प्रति सहिष्णुता का व्यवहार किया, जबकि इस्लाम और ईसाई धर्म क्रमशः कुरान और ब्राइविल को ही एक मात्र सत्य मानते है और उसी धर्म का पालन करना स्वर्ग जाने का मार्ग बताते है। इसी कारण हिन्दू धर्म की उदारता उसकी निर्बलता सिद्ध हुई और इसीलिए हिन्दू धर्म कट्टर इस्लाम और ईसाई धर्म का मुकाबला करने में असमर्थ रहा। अतः स्वामीजी ने हिन्दू धर्म को कट्टरता प्रदान की। इसीलिए आर्य समाज 'सैनिक हिन्दुत्व' कहलाया।

आर्य समाज ने वेदों के आधार पर हिन्दू धर्म को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया, इसीलिए इसे पुनरुत्थानवादी आन्दोलन कहा जाता है। आर्य समाज आन्दोलन किसी बाहरी तत्त्वों से प्रेरित न होकर अपने ही मूल सिद्धान्तों से प्रेरित था। पहले वेदों का अध्ययन केवल ब्राह्मणों का ही एकाधिकार था। स्वामी दयानन्द ने सभी वर्णों के लोगों को वेदों के अध्ययन तथा उनकी व्याख्या करने का अधिकार दे दिया। इस प्रकार समानता और धार्मिक कट्टरता की भावना को लेकर आर्य समाज ने भारत में धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक और राजनैतिक क्षेत्र में जो कार्य किया उसकी तुलना किसी भी धर्मसुधार आन्दोलन से नहीं की जा सकती।

सामाजिक सुधार—भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था शताब्दियों से प्रचलित रही है। इस जाति-प्रथा ने यदि एक ओर हिन्दू धर्म की रक्षा की तो दूसरी ओर हिन्दुओं के राजनीतिक एवं सामाजिक पतन के लिए भी उत्तरदायी रही। प्राचीन वर्ण व्यवस्था जन्म पर आधारित न होकर व्यक्ति के कार्यों पर आधारित थी, जबकि मौजूदा जाति व्यवस्था जन्म पर आधारित थी, जिसकी स्वामी दयानन्द ने कटु आलोचना की। उनके अनुसार समाज में किसी व्यक्ति को जन्म के आधार पर उच्च स्थान पर पहुँचने से वंचित नहीं किया जाना चाहिये।

उन्होंने छुआछूत तथा समुद्र यात्रा निषेध के विरुद्ध आवाज बुलन्द की तथा प्राचीन वर्ण व्यवस्था को उचित ठहराते हुए जाति-प्रथा का खण्डन किया।

वैदिक काल के सामाजिक ढाँचे के आधार पर आर्य समाज ने स्त्रियों को समाज में उच्च स्थान दिलाने का प्रयत्न किया। वैदिक काल में स्त्रियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने तथा सामाजिक जीवन में भाग लेने का पूरा अधिकार था। अतः आर्य समाज ने स्त्री शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। समाज में स्त्रियों की दशा अत्यन्त ही शोचनीय थी। इसका कारण बहु-विवाह प्रथा तथा बाल-विवाह प्रथा था। वैदिक काल में ये प्रथाएँ प्रचलित नहीं थीं, अतः समाज में स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा था। इसलिए आर्य समाज ने बाल-विवाह, बहु-विवाह तथा पर्दा-प्रथा का घोर विरोध किया तथा विधवा विवाह एवं स्त्री शिक्षा पर बल दिया। उन्होंने 16 वर्ष से कम आयु की लड़कियों के विवाह बन्द करने की बात कही। आर्य समाज ने सती-प्रथा को पाप तथा क्रूरता बतलाया और समाज में स्त्रियों की समानता पर बल दिया। स्वामी दयानन्द ने तो यहाँ तक कहा कि वेदों के अध्ययन का अधिकार स्त्रियों को उतना ही है, जितना पुरुषों को। प्रचलित हिन्दू मान्यता के अनुसार यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार स्त्रियों को भी है।

आर्य समाज ने शुद्धि आन्दोलन को जन्म दिया। शुद्धि से अभिप्राय उस संस्कार से है, जिसमें गैर-हिन्दुओं, अछूतों, दलित वर्गों तथा ईसाई व मुसलमान बनाये हुए हिन्दुओं को पुनः हिन्दू धर्म में स्वीकार कर लिया जाता था। आर्य समाज के प्रयत्नों का ही परिणाम है कि आज तक लाखों हिन्दुओं को जो मुसलमान और ईसाई बन गये थे, शुद्ध करके उन्हें पुनः हिन्दू धर्म में वापिस बुला लिया गया है तथा वे पूर्ण रूप से समाज में सम्मान का उपभोग कर रहे हैं। आर्य समाज के शुद्धि आन्दोलन का विवेचन यथा-स्थान पर आगे किया जायेगा। आर्य समाज ने हिन्दू समाज में संगठन का बीजारोपण किया, जिससे हिन्दू समाज में आत्मविश्वास एवं आत्म-सम्मान की भावना जागृत हुई।

धार्मिक सुधार—आर्य समाज ने मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड, बलि-प्रथा, स्वर्ग और नरक की कल्पना तथा भाग्य में विश्वास का विरोध किया। उसने वेदों की श्रेष्ठता का दावा किया तथा वेदों के आधार पर ही हवन, यज्ञ, मन्त्रोच्चारण, कर्म आदि पर बल दिया। उनका मानना था कि ईश्वर निराकार है, अतः मूर्तिपूजा निरर्थक है। उसने अनेकेश्वरवाद और अवतारवाद का विरोध किया। स्वामी दयानन्द ने अपने भाषणों में पौराणिक रूढ़ियों एवं मान्यताओं की निन्दा की। उन्होंने हिन्दुओं के मोक्ष का समर्थन किया तथा बताया कि ईश्वर की उपासना, अच्छे कर्म और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। वेदों की व्याख्या उसने इस प्रकार की जिससे कि वेद वैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सिद्धान्तों के स्रोत माने जा सकते हैं। आर्य समाज का यह दृढ़विश्वास था कि कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है, जो हम वेदों से प्राप्त नहीं कर सकते। अतः हमें इस्लाम या ईसाई धर्म या पाश्चात्य सभ्यता की ओर देखने की आवश्यकता नहीं है। वेदों की श्रेष्ठता के आधार पर आर्य समाज ने हिन्दू धर्म को इस्लाम और ईसाई धर्म के आक्रमणों से बचाने में सफलता प्राप्त की। आर्य समाज ने न केवल हिन्दु धर्म की रक्षा की बल्कि ईसाई धर्म के ढोंग और पाखण्डों पर भी भीषण प्रहार किया तथा हिन्दू धर्म की कुरीतियों का जनाजा निकाला। उसने मृतकों के श्राद्ध का विरोध किया और कहा कि भोजन कराके अथवा दान देकर परलोक में मृतक व्यक्तियों को सब-कुछ पहुँचाने की कल्पना मूर्खतापूर्ण है। स्वामी दयानन्द किसी धर्म

से घृणा नहीं करते थे, किन्तु जहाँ पाखण्ड, ढोंग, असत्य, दम्भ और आडम्बर देखते तो उनकी धज्जियाँ उड़ाये विना चैन नहीं मिलता था। उन्होंने हिन्दुओं को अपने प्राचीन धर्म, गौरवपूर्ण सत्यता और आदर्श का स्मरण करा कर उन्हें स्वावलम्बी बनाने की चेष्टा की।

स्वामी दयानन्द ने देश में एक व्यापक धार्मिक क्रान्ति का सूत्रपात किया, जिसने कालान्तर में हमारे जीवन के अन्य अंगों को भी हिला दिया। श्री अरविन्द के शब्दों में, "राजा राममोहन राय उपनिषदों पर ही ठहर गये, किन्तु दयानन्द ने उपनिषदों से भी आगे देखा और यह जान लिया कि हमारी संस्कृति का वास्तविक मूल वेद ही है।" 19वीं शताब्दी तक हिन्दू धर्म में अनेक अनावश्यक परम्पराएँ एवं तत्त्व सम्मिलित हो गये थे, उन्हें हिन्दू धर्म से अलग कर उसके असली रूप को प्रस्तुत करने के लिए इससे अच्छा कोई अन्य प्रयत्न नहीं हो सकता था। यूरोप में भी प्रोटेस्टैन्ट धर्मसुधार आन्दोलन बाइबिल के पुनः अध्ययन के आधार पर अधिक प्रभावशाली बना था, ठीक इसी प्रकार आर्य समाज का हिन्दू धर्मसुधार आन्दोलन वेदों के पुनः अध्ययन के आधार पर प्रभावशाली बन गया।

स्वामी दयानन्द ने अपने उपदेश केवल वेदों तक ही सीमित रखे तथा उपनिषदों एवं गीता के प्रमाणों को स्वीकार नहीं किया। इसलिए कहा जा सकता है कि उन्होंने उपनिषदों तथा गीता के महत्त्व का उचित मूल्यांकन नहीं किया।

साहित्यिक एवं शैक्षणिक सुधार—स्वामी दयानन्द ने तथा उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज ने साहित्यिक एवं शैक्षणिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किये। स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ हिन्दी में लिखकर राष्ट्र-भाषा के विकास में योगदान दिया। स्वामी दयानन्द ने संस्कृत के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए उसके अध्ययन और अध्यापन हेतु बल दिया। आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य अज्ञानता को दूर कर ज्ञान का प्रसार करना था, अतः उसने प्राचीन आश्रम व्यवस्था को पुनः स्थापित करने की आवश्यकता पर बल दिया। उसने शिक्षा की प्राचीन गुरुकुल प्रणाली को प्रचलित किया, जहाँ विद्यार्थी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए गुरु के आश्रम में विद्या अध्ययन कर सकें। आर्य समाज ने ही मैकाले की माया से मुग्ध भारतीयों की मोह-निन्द्रा को भंग किया। उस समय हिन्दुओं में नारी शिक्षा के विरुद्ध वातावरण व्याप्त था तथा स्त्रियों को पढ़ाना समाज में अनुचित माना जाता था और वेदों का पढ़ना-पढ़ाना स्त्रियों के लिए वर्जित था। स्त्रियों का घर की चारदीवारी में रहकर गृहस्थ जीवन व्यतीत करना अच्छी गृहणी के गुण माने जाते थे। कठोर पर्दा-प्रथा भी स्त्रियों की शिक्षा में बाधक थी। अतः स्वामी दयानन्द ने इस प्रकार के विचार के विरुद्ध आवाज बुलन्द की और नारी शिक्षा का प्रबल समर्थन किया।

स्वामी दयानन्द की मृत्यु के बाद आर्य समाजियों में कुछ विषयों पर मतभेद हो जाने के कारण 1892 में इसमें दो दल बन गये। यह मतभेद इस मौलिक सिद्धान्त को लेकर आरम्भ हुआ कि क्या एक आर्य समाजी के लिए केवल दस नियमों का पालन करना ही आवश्यक है ? आर्य समाज के इन दो दलों में एक दल के नेता लाला हंसराज थे। जो पाश्चात्य शिक्षा के समर्थक थे। उनके प्रयत्नों से स्थान-स्थान पर स्कूल व कॉलेज स्थापित किये जो आज भी डी.ए.वी. कॉलेज के नाम से चल रहे हैं। ये शिक्षा संस्थाएँ सरकारी पद्धति से सम्बन्धित थीं। दूसरे दल के नेता महात्मा मुन्शीराम थे, जो भारत की प्राचीन शिक्षा पद्धति को पुनः प्रचलित करना चाहते थे। अतः दूसरे दल ने गुरुकुल संस्थाएँ स्थापित कीं। ये शिक्षण संस्थाएँ न केवल हिन्दू धर्म और संस्कृति तथा आर्य समाज के सिद्धान्तों के प्रचार में

ही सहायक सिद्ध हुई, बल्कि ज्ञान के विस्तार में इनका बहुत बड़ा योगदान है। आर्य समाज के शैक्षणिक क्षेत्र में कार्य का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि अंग्रेज सरकार के अतिरिक्त पंजाब व यू.पी.में अन्य किसी भी संस्था ने छात्रों और छात्राओं की शिक्षा के लिए इसके समान प्रयत्न नहीं किये।

राष्ट्रीय सुधार—भारतवासियों में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने में भी आर्य समाज का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है आर्य समाज द्वारा किये गये सामाजिक और धार्मिक सुधारों का परिणाम यह हुआ कि भारतीयों में परोक्ष रूप से आत्मविश्वास और स्वाभिमान का विकास हुआ। भारतीयों में आत्मविश्वास और स्वावलम्बन का विकास अंग्रेज प्रशासकों को कैसे पसन्द आ सकता था ? अतः कुछ अंग्रेज लेखकों, अधिकारियों एवं ईसाई धर्म-प्रचारकों ने आर्य समाज के सम्बन्ध में उल्टे-सीधे प्रचार किये। वेलेण्टाइन शिरोल ने बताया कि आर्य समाज का उद्देश्य सुधार की अपेक्षा हिन्दू धर्म को विदेशी प्रभाव से मुक्त करना था। शिरोल के इन आरोपों का प्रत्युत्तर लाला लाजपतराय ने अपनी पुस्तक ''हिस्ट्री ऑफ द आर्य समाज'' में बड़े प्रभावशाली ढंग से दिया है।

वस्तुतः आर्य समाज ने भारत के प्राचीन गौरव की चर्चा करते हुए स्वावलम्बन के विकास को प्रोत्साहन दिया। इससे राष्ट्रीयता और स्वराष्ट्र प्रेम की भावना को बल मिला। स्वामी दयानन्द के एक जीवनी लेखक ने लिखा है कि, ''दयानन्द का एक मुख्य लक्ष्य राजनीतिक स्वतन्त्रता था। वास्तव में वह प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया। वह प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना तथा स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग करना सिखाया। वह प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने हिन्दी को राष्ट्र-भाषा स्वीकार किया।'' स्वयं दयानन्द ने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा है कि अच्छे से अच्छा विदेशी राज्य स्वदेश की तुलना नहीं कर सकता। दयानन्द ने वेदकालीन भारत को इसलिए गौरवमय बताया कि उस समय भारत में स्वराज्य था। बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय, गोपालकृष्ण गोखले आदि जिन्होंने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया, आर्य समाज से प्रभावित थे। कांग्रेस में उग्रवाद की भावना का विकास होने का कारण हिन्दू धर्म की भावना थी तथा आर्य समाज ने इस भावना के निर्माण में योगदान दिया था। डॉ. आर.सी. मजूमदार ने लिखा है, ''आर्य समाज प्रारम्भ से ही उग्रवादी सम्प्रदाय था।'' आर्य समाज ने प्राचीन भारत के बारे में एक निश्चित विचारधारा भारतीयों के समक्ष प्रस्तुत की। आर्य समाज ने ही परस्पर अभिवादन करने हेतु विख्यात ''नमस्ते'' शब्द का प्रचलन किया, जो आज न केवल भारत में बल्कि विदेशों में भी लोकप्रिय है। आर्य समाज ने हिन्दी भाषा और साहित्य को प्रोत्साहित करके अंग्रेजी भाषा पर निर्भरता कम करने का प्रयास किया।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि आर्य समाज मात्र हिन्दू धर्म के पुनःस्थापन तक सीमित था, अतः इसने राष्ट्रीयता का विकास नहीं किया, बल्कि साम्प्रदायिक भावना को पुष्ट किया। किन्तु आर्य समाज को साम्प्रदायिकता की संज्ञा देना गलत होगा, क्योंकि एक राष्ट्र में पृथक्-पृथक् वर्ग होते हैं और उन वर्गों के प्रेरणास्रोत भी भिन्न हो सकते हैं। राष्ट्रीयता का अर्थ उस राष्ट्र के प्रत्येक वर्ग के प्रेरणास्रोत को समाप्त करना नहीं है, बल्कि प्रत्येक वर्ग अपने-अपने प्रेरणास्रोत से राष्ट्रप्रेम और देशभक्ति में योगदान दे सकता है। आर्य एवं हिन्दुओं का प्रेरणा स्रोत वेद थे और वेदों से प्रेरणा प्राप्त करना भारत के किसी अन्य वर्ग के विरुद्ध नहीं था। अतः आर्य समाज को साम्प्रदायिक आन्दोलन की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

संगठन में मतभेद—आर्य समाज की स्थापना के कुछ वर्षों बाद कई प्रश्नों को लेकर आर्य समाज के सदस्यों में मतभेद उत्पन्न हो गये और 1893 ई. में आर्य समाजियों के दो दल हो गये। इस प्रकार के मतभेदों के कारणों में प्रमुख रूप से मांसाहार तथा लाहौर के दयानन्द एंग्लो-वैदिक कॉलेज के संचालन सम्बन्धी बाते थी। संगठन का जो वर्ग मांसाहार के विरुद्ध था उसका मंतव्य था कि स्वामी दयानन्द ने जो विचार प्रकट किये है वे समाज के सदस्यों के लिए सर्वमान्य है और उनकी टीका-टिप्पणी नहीं की जा सकती। दूसरे वर्ग का मंतव्य यह रहा कि समाज के सदस्यों को केवल 10 नियमों पर आस्था रखनी चाहिए तथा इस दायरे के बाहर प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता होनी चाहिए। लाहौर के दयानन्द एंग्लो-वैदिक कॉलेज में देशी भाषा, आध्यात्मिक तथा नैतिक विकास के लिए संस्कृत भाषा का अध्ययन साथ में अंग्रेजी तथा विज्ञान की शिक्षा का प्रावधान रखा गया था। इस कॉलेज की परम्परा और इतिहास के निर्माण में लाला हंसराज का योगदान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण था जिन्होंने अपने अथक परिश्रम और सुयोग्य निर्देशन से इसे उत्तर भारत की सबसे प्रसिद्ध शिक्षा-संस्था के रूप में परिणित कर दिया। कॉलेज की गतिविधियों से अनेक समाजसेवी सम्बद्ध रहे, इनमें लाल मुंशीराम तथा रायबहादुर लाला लालचन्द की सेवाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय रही। फिर भी, जालन्धर के ख्याति प्राप्त वकील श्री मुंशीराम के नेतृत्व में आर्य समाजियों का एक वर्ग अंग्रेजी तरीके के स्कूल कॉलेजों की कार्यप्रणाली तथा पाठ्यक्रमों से सन्तुष्ट नहीं था। श्री मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) ने यह विचार रखा कि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर वैदिक प्रणाली के अनुरूप शिक्षण संस्थाएं खोली जानी चाहिए। इसके विपरीत लाला हंसराज के नेतृत्त्व में आर्य समाजियों का एक वर्ग वैदिक सिद्धान्तों के साथ पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार पर जोर दिया, जैसा कि लाहौर के एंग्लो-वैदिक कॉलेज में हो रहा था। अतः श्री मुंशीराम के प्रयत्नों से हरिद्वार में 1902 ई. में गुरुकुल की स्थापना की गई। पंजाब आर्य समाज ने इस नई योजना को स्वीकार कर समुचित धन की व्यवस्था कर दी। श्री मुंशीराम ने भी इस कार्य के लिए अपनी सारी सम्पत्ति, जिसका मूल्य उन दिनों लगभग चालीस हजार रुपये था, संस्था को समर्पित कर दी। गुरुकुल में प्राचीन परिपाटी के अनुकूल छात्रों को ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्याध्ययन करना होता था। प्रातःकालीन व्यायाम के पश्चात् संध्या और अग्निहोत्र में छात्रों का उपस्थित होना अनिवार्य था। उन्हें धार्मिक तथा नैतिक विषयों पर आचार्यों द्वारा प्रवचन दिया जाता था। वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन को प्राथमिकता दी जाती थी। गुरुकुल की स्थापना का उद्देश्य छात्रों को पीछे की ओर नहीं ले जाना था वरन् यहाँ भी अंग्रेजी, उच्च पाश्चात्य साहित्य तथा आधुनिक विज्ञान के अध्ययन का प्रावधान कर प्राचीन तथा अर्वाचीन विषयों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया गया था। यह देश का पहला विश्वविद्यालय बना, जहाँ राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम द्वारा उच्च शिक्षा सफलतापूर्वक दी गई। इसके विपरीत लाला हंसराज के नेतृत्व में आर्य समाजियों का दूसरा वर्ग लाहौर के दयानन्द आर्य वैदिक कालेज की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए, ऐसे ही कॉलेजों की स्थापना दूसरे स्थानों पर भी की गई, जो आज भी डी.ए.वी. कॉलेज के नाम से चल रहे हैं। ये शिक्षा संस्थाएं सरकारी पद्धति से सम्बन्धित थी। यद्यपि 1893 ई. में आर्य समाजियों के दो दल हो गये थे, किन्तु प्रत्येक दल ने अपनी पद्धति एवं विचारधारा के आधार पर आर्य समाज आन्दोलन को शक्तिशाली बनाया।

शुद्धि-आन्दोलन—आर्य समाज द्वारा शुद्धि-आन्दोलन, आर्य समाज संगठन की आक्रामक नीति का स्वाभाविक परिणाम था। मिशनरी तथा इस्लामी संस्थाओं द्वारा हिन्दुओं का धर्मपरिवर्तन कर ईसाई तथा मुसलमान बनाया जाता था। अंग्रेजी शासन के अन्तर्गत मिशनरी गतिविधियाँ बड़ी तेजी से चल रही थी। अंग्रेजी सभ्यता के प्रभाव तथा व्यक्तिगत लाभ के उद्देश्य से हिन्दू लोग ईसाई धर्म स्वीकार कर लेते थे। मिशनरी लोगों द्वारा स्थापित नये स्कूल और कॉलेजों में पढ़ाई के साथ-साथ हिन्दू-धर्म की निन्दा तथा ईसाई धर्म का प्रचार किया जाता था और इस बात का प्रयास किया जाता था कि अधिक से अधिक विद्यार्थी प्रभु ईसा की शरण में आ जायें। लेकिन आर्य समाज ने शुद्धि-आन्दोलन को अपना कर ईसाई धर्मप्रचारकों को उचित उत्तर दिया। आर्य समाज द्वारा 'शुद्धि' के अन्तर्गत तीन बातें बताई गई—

(1) दूसरे धर्मावलम्बियों का हिन्दू धर्म में शामिल किया जाना।
(2) पहले अथवा अभी हाल ही में जिन हिन्दुओं ने किसी विदेशी धर्म को स्वीकार कर लिया हो उन्हें पुनः हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ले आना।
(3) दलित वर्ग का सामाजिक स्तर उठाना तथा उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा का पात्र बनाना।

आर्य समाज द्वारा 'शुद्धि सभाओं' का गठन किया गया जिसके द्वारा मुसलमान तथा ईसाई बने हिन्दुओं को पुनः 'शुद्धि' के माध्यम से हिन्दू बनाया जाता था। शुद्धि संस्कार सरल तथा आकर्षक ढंग से किया जाता था। हिन्दू धर्म में दीक्षा लेने वाले व्यक्ति को व्रत रखना पड़ता था। और जन-सभा के सामने आर्य समाज के दस नियमों का पालन करने की घोषणा करनी पड़ती थी। फिर जनसमुदाय के साथ बैठकर होम-यज्ञ का कार्यक्रम होता था। वैदिक मन्त्रों के पाठ के साथ कार्यक्रम की समाप्ति होती थी। फिर दीक्षित व्यक्ति के द्वारा सभी में मिष्ठान वितरण करके उसे खान-पान का सामाजिक स्तर प्रदान कर दिया जाता था। व्यक्ति का नाम हिन्दू धर्म से मेल खाते रख दिया जाता था। इस शुद्धि आन्दोलन का परिणाम ईसाई धर्म प्रचारकों द्वारा हिन्दुओं के धर्मपरिवर्तन पर पड़ा और बहुत कुछ अंशों में आर्य समाज को इस दिशा में सफलता भी मिली। संयुक्त प्रान्त, आगरा व अवध, जनगणना विवरण के अनुसार सन् 1907-10 ई. के बीच 1052 मुसलमान राजपूतों को पुनः हिन्दू धर्म में वापिस ले लिया गया तथा उन्हें हिन्दुओं में सामाजिक स्तर प्रदान किया गया।

आर्य समाज के 'शुद्धि आन्दोलन' का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष दलित वर्ग के प्रति नीति एवं भावना रही। हिन्दू समाज द्वारा उपेक्षित दलित वर्ग की स्थिति बड़ी शोचनीय थी। हिन्दू धर्म के पंडितों ने इस वर्ग को घोर दासता की बेड़ियों में जकड़ दिया था। अशिक्षा तथा भाग्यवादी होने के कारण यह वर्ग हिन्दुओं के उच्च वर्ग के विरुद्ध सामाजिक अधिकार तथा न्याय के लिए विद्रोह नहीं कर सका। लेकिन ज्यों ही अंग्रेजी शिक्षा-संस्थाओं के माध्यम से यूरोपीय सामाजिक संस्थाओं के विषय में जानकारी मिलने लगी, और ईसाई धर्म प्रचारकों द्वारा हिन्दू धर्म की आलोचना की जाने लगी त्यों ही दलित वर्ग नये ईसाई धर्म की ओर आकर्षित होने लगा और इस वर्ग के अनेक लोगों ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया। वस्तुतः यह नया धर्म इस वर्ग के लिए आकर्षक भी था, क्योंकि जिस सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए वे हिन्दू धर्म में कल्पना नहीं कर सकते थे यह उन्हें सहज ही ईसाई धर्म में दीक्षित होने पर मिलने लगी थी। आर्य समाज ने 'शुद्धि आन्दोलन, के द्वारा दलित वर्ग को सम्मानजनक

स्थान दिलाने में पहल की तथा हिन्दू धर्म में विघटन की गम्भीर प्रक्रिया को रोका। इस वर्ग के स्थान के लिए आर्य समाज द्वारा कई कार्यक्रम अपनाये गये। उन्हें यज्ञोपवीत पहनाकर 'द्विजों' की श्रेणी में ला दिया गया तथा सबके साथ उन्हें भी वेद के पठन-पाठन का अधिकार दिया गया। इस वर्ग के साथ खान-पान में भी कोई अलगाव नहीं रहा।

इस प्रकार आर्य समाज ने हिन्दू समाज को एक गम्भीर विघटन की परिस्थिति से बचाया। आगे चलकर राष्ट्रीय आन्दोलन में महात्मा गांधी ने भी हरिजनोद्धार का कार्यक्रम अपनाया। वस्तुत: आर्य समाज की दूरदर्शिता के परिणामस्वरूप हिन्दू समाज का एक बड़ा भाग—हरिजनों का समुदाय, समाज की मुख्यधारा से अलग नहीं हो पाया। दलित वर्ग के उत्थान के लिए इस संस्था द्वारा अनेक कार्यक्रम अपनाये गये। जम्मू तथा कश्मीर रियासत में दस हजार दलित वर्ग के लोगों को आर्य समाज में शामिल कर लिया गया। इसी प्रकार अविभक्त पंजाब के सियालकोट जिले में 36 हजार लोगों को आर्य समाज में लाया गया। गुरुदासपुर, होशियारपुर, लाहौर आदि जिलों में विशेषकर चमार तथा मेहतर वर्ग के लोगों में आर्य समाज के लोगों में आर्य समाज के कार्यकर्ताओं को विशेष सफलता प्राप्त हुई। सन् 1908 ई. तक दलितोद्वार आन्दोलन का स्वागत भी किया जाने लगा था। अनेक कट्टरपंथी हिन्दुओं की संस्थाओं ने भी इसका समर्थन किया। पंजाब, आधुनिक उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में आर्य समाज के इस समाज-उत्थान आन्दोलन को विशेष सफलता मिली तथा ईसाई धर्म में दलित वर्ग के लोगों के जाने से रोक लग गई।

आर्य समाज के अन्य कार्य—आर्य समाज संगठन केवल सामाजिक एवं धार्मिक संगठन के रूप में ही नहीं रहा, बल्कि उसने देश की तत्कालिक स्थिति के प्रति भी यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मिशनरी संस्थाओं की भाँति आर्य समाज ने भी विभिन्न कार्यों को हाथ में लिया। शिक्षा,स्त्री-समस्या, अनाथ बच्चों के पोषण, अकाल में राहत आदि कार्य आर्य समाजियों ने नि:स्वार्थ और लगन से प्रारम्भ किया। देश में आर्य समाज पहली संस्था थी जिसने अनाथालय तथा विधवा आश्रमों की स्थापना की। पहला अनाथ-आश्रम स्वामी दयानन्द के जीवनकाल में ही फिरोजपुर में स्थापित किया गया। बाद में सारे उत्तर भारत में आर्य समाज द्वारा संचालित अनेक अनाथालयों की स्थापना की गई। 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में देश अकाल की गम्भीर छाया से प्रभावित हुआ तथा इसका प्रभाव कई वर्षों तक बना रहा। सन् 1877 ई. से 1910 ई. तक समूचा उत्तर भारत तथा दक्षिण का पश्चिमी इलाका अकाल से प्रभावित रहा। आर्य समाज ने गैर-सरकारी संस्था की हैसियत से अकाल पीड़ितों के लिए राहत कार्य के लिए प्रयत्न किया। अकाल प्रभावित क्षेत्रों में अनाथ बच्चों को सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने तथा उनकी देखभाल का कार्य आर्य समाज के द्वारा फरवरी, 1897 ई. से प्रारम्भ किया गया और लगभग 250 अनाथ बच्चों को पंजाब के अनाथालय में भेजा गया। संगठन द्वारा मध्य प्रान्त, बम्बई, काठियावाड़ तथा पंजाब के प्रभावित क्षेत्रों में कार्यकर्ताओं द्वारा जनता को सहायता पहुँचाई गयी। राजपूताना में आर्य समाज के कार्यकर्ता लाला दीवानचन्द्र चड्ढा के प्रयत्नों से अकाला पीड़ितों की बहुमूल्य सहायता की गई। आर्य समाजियों द्वारा किये जाने वाले इस कार्य में न तो सरकारी सहायता प्राप्त थी और न शासन के अधिकारियों की सहानुभूति। अनेक बाधाओं और कठिनाइयों के बावजूद आर्य समाज ने काठियावाड़, मध्य प्रान्त तथा बम्बई प्रान्त से लगभग 700 बच्चों को अनाथालय में सुरक्षित पहुँचाया। आर्य समाज ने समय-समय पर अन्य राहत

कार्यों को भी हाथ में लिया। 1904 ई. में कांगड़ा घाटी में भूकम्प से हुई गम्भीर स्थिति में भी आर्य समाज ने सेवा कार्य किया। वास्तव में उन दिनों आर्य समाज ने अपनी जिस मानवतावादी, नि:स्वार्थ सेवा तथा अथक परिश्रम से कार्य किया वह आज भी हमारी प्रेरणा का स्रोत बना हुआ है।

आर्य समाज की उपलब्धियाँ—19वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में आर्य समाज आन्दोलन का निर्विवाद रूप से प्रभाव पड़ा। इस समय हिन्दू समाज की स्थिति बड़ी ही निराशाजनक थी। उसके ऊपर इस्लाम और ईसाइयत के आघात पड़ रहे थे। स्वामी दयानन्द का सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान यह रहा कि हिन्दू समाज अब अपने विरोधियों के आघातों का सामना कर सकता था। स्वामी दयानन्द ने निराश हिन्दू जनता को नवजीवन का सन्देश दिया तथा शारीरिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक पक्षों के विकास के जीवन-दर्शन का प्रतिपादन भी किया। कर्म की प्रतिष्ठा कर समाज तथा परिवार के प्रति उन्होंने रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाने का समर्थन किया। सामाजिक न्याय की मांग, स्त्रियों का उत्थान, जाति-प्रथा का कर्मानुसार निर्णय आदि बातें हिन्दू समाज में क्रान्ति की द्योतक थी। वस्तुतः 19वीं शताब्दी का हिन्दू समाज रूढ़ियों तथा पौराणिक कथाओं व कल्पनाओं के आडम्बर में डूबा हुआ था। स्वामी दयानन्द के अनुसार सच्चा धर्म वैदिक धर्म ही हो सकता था। इस्लाम तथा ईसाई धर्म में भी उन्होंने हिन्दुओं के समान अनेक असंगतियों का उल्लेख कर यह स्पष्ट कर दिया कि केवल हिन्दुओं के ही धर्म की आलोचना नहीं की जा सकती। इस प्रकार हिन्दुओं में अपने धर्म के मूल स्वरूप को जानने की जिज्ञासा जागृत हुई और उनमें आत्मविश्वास उत्पन्न हुआ। स्वामीजी ने मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, तीर्थों और विभिन्न पौराणिक अनुष्ठानों का समर्थन नहीं किया। आर्य समाज ने वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा करके हिंन्दुओं में आत्मगौरव तथा आत्म-सम्मान की भावना उत्पन्न की। आर्य समाज की स्थापना के समय हिन्दू समाज, अपमानित और निराशा के घने कोहरे में पड़ा हुआ था, किन्तु आर्य समाज ने हिन्दू समाज को वह संजीवनी दी जिससे हिन्दू समाज न केवल जागृत हुआ, वल्कि अपने विरोधियों को चुनौती भी देने लगा।

स्वामी दयानन्द के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने आक्रामक नीति का अवलम्बन किया, इसीलिए आर्य समाज 'सैनिक हिन्दुत्व' कहलाने लगा था। वास्तव में स्वामीजी को दो मोर्चों पर संघर्ष करना पड़ा—एक ओर तो उन्होंने हिन्दू धर्म में प्रचलित असंगतियों को दूर करने का कार्यक्रम अपनाया तो दूसरी ओर हिन्दू धर्म के बाहर आलोचकों से निपटने का आधार भी प्रस्तुत किया। स्वामीजी सैद्धान्तिक और रचनात्मक दोनों क्षेत्रों के प्रति सचेत रहे। सामाजिक जड़ता के उन्मूलन तथा अस्तित्व की रक्षा के लिए प्रखर आन्दोलन की आवश्यकता होती है। इसीलिए लोगों को आर्य-समाज की नीतियों में आक्रामकता दिखाई पड़ती है। लेकिन इस तथ्य को भी ध्यान में रखना होगा कि यदि स्वामीजी ने इस्लाम तथा ईसाई धर्म की आलोचना की तो हिन्दू धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय भी उनकी आलोचना से नहीं बच सके। सत्यार्थ प्रकाश में उन्होंने विश्व-मानवता का संदेश विश्व के सभी मनुष्यों के लिए दिया है जो धर्म का मर्म तथा सत्य की प्रतिष्ठा करना चाहते है। स्वामीजी की दूरदर्शिता का प्रत्यक्ष उदाहरण आर्य समाज द्वारा अपनाये गये विभिन्न कार्यक्रम थे। 'वेदों की ओर लौटने' का शंखनाद भारतीयों में अपने प्राचीन गौरव का स्मरण कराना था। पाश्चात्य बुद्धिवाद के प्रभाव के कारण पढ़-लिखे भारतीयों के मन में विदेशी मान्यताओं के प्रति

समाज में आकर्षण दिखाई दे रहा था। इसके लिए स्वामीजी ने प्राचीन ग्रन्थों से ऐसे उदाहरण दिये जिनसे पहली वार शिक्षित भारतीय यह अनुभव कर सके कि अपने उत्थान के लिए विदेश के सामने हाथ फैलाने की आवश्यकता नहीं है। सामाजिक चेतना को स्वीकार कर स्वामीजी ने हिन्दू धर्म का बुद्धि-सम्मत रूप प्रस्तुत किया तथा बुद्धिवाद को ही आधारभूत भावना के रूप में स्वीकार किया। वस्तुतः आर्य समाज के दस नियमों के द्वारा व्यक्ति जीवन के प्रति असमंजस और विरक्ति के भाव का निराकरण कर सकता है।

आर्य समाज ने हिन्दू समाज को विघटन से बचाया। उसके द्वारा अपनाये गये कार्यक्रम प्रतिकूल परिस्थितियों एवं प्रशासकीय असहयोग के बावजूद सफल रहे। शैक्षणिक क्षेत्र में डी.ए.वी. स्कूल व कॉलेजों की स्थापना कर आर्य समाज ने तत्कालीन जनता को शिक्षा की सुविधाएँ प्रदान की तथा प्रबुद्ध देशप्रेमी भारतीय नवयुवकों को ज्ञान, उदारता और देशभक्ति में प्रशिक्षित किया, जो देश-सेवा में अग्रसर रहे। उन दिनों ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा यह प्रश्न उठाया गया कि क्या आर्य समाज अंग्रेज विरोधी आन्दोलन है ? क्या यह एक राजनीतिक संस्था है ? आर्य समाज की स्थापना से लेकर उसके कार्यों का यदि विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्य समाज ने तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियों में भाग नहीं लिया। लेकिन आर्य समाज ने, जिस प्राचीन गौरव, देश के उत्थान, चरित्र निर्माण तथा आत्मविश्वास की भावना भारतीयों में भरने का आन्दोलन अवश्य चलाया था, जिससे निश्चित रूप से देश के राष्ट्रीय आन्दोलन को बल मिला। आर्य समाज के प्रमुख नेता लाला लाजपतराय उग्र-राष्ट्रीय आन्दोलन के अग्रणी नेता थे। अतः ब्रिटिश नौकरशाही को इस संस्था को एक राजनीतिक संस्थान मान लेने का भ्रम उत्पन्न हो गया हो तो कोई आश्चर्य की वात नहीं। 'लंदन टाइम्स' के संवाददाता सर वेलेन्टाइन शिरोल ने 1907-10 ई. में भारत का दौरा किया तथा भारतीय असन्तोष के बारे में लंदन के समाचार पत्र 'टाइम्स' में अनेक लेख लिखे। इन लेखों में शिरोल ने आर्य समाज को एक राजनीतिक संस्था के रूप में रखने का प्रयत्न किया। लाला लाजपतराय ने शिरोल के आरोपों का उचित उत्तर दिया। वास्तव में आर्य समाज द्वारा प्राचीन भारतीय गौरव के पुनरुत्थान के कार्यक्रम को शिरोल ने ब्रिटिश विरोधी मान लिया। यदि आर्य समाज ने हिन्दू समाज में राष्ट्रीयता, आत्म-सम्मान, आत्मनिर्भरता आदि की प्रसुप्त भावनाएँ जाग्रत करने का कार्य किया तो इस संस्था को ब्रिटिश विरोधी नहीं कहा जा सकता। आर्य समाज का मुख्य क्षेत्र धार्मिक एवं सामाजिक था। इस तथ्य को संस्था के कटु आलोचक शिरोल ने भी स्वीकार किया है। वस्तुतः उन दिनों भारतीयों द्वारा संगठित होकर कोई भी कार्य करना शासन द्वारा शंका की दृष्टि से देखा जाता था। आज भी अनेक स्थानों पर आर्य समाज संगठन के अन्तर्गत सैकड़ों शैक्षणिक संस्थाएँ कार्यरत हैं। संगठन तथा शुद्धि आन्दोलन के द्वारा एक नया प्रयोग हिन्दु समाज में किया गया। अन्य धर्मावलम्बी भी हिन्दू हो सकते थे, अन्त्यजों को यज्ञोपवीत देकर उन्हें सामाजिक सम्मान का पात्र घोषित किया गया, छुआछूत अवैदिक माना गया, नारियों की मर्यादा स्वीकार की गई तथा वर्णाश्रम धर्म का आधार जन्म न होकर गुणकर्म स्वीकार किया गया। इस प्रकार आर्य समाज ने हिन्दू समाज को वह दृढ़ता प्रदान की जिसके कारण अब उसे विरोधियों के आघातों की चिन्ता नहीं रही। आर्य समाज ने आगे भी अपना कार्यक्रम जारी रखा। 1921 ई. में मलाबार में मोपला मुसलमानों के द्वारा हजारों हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बना लिया गया था। आर्य समाज के कार्यकर्ताओं द्वारा लगभग ढाई हजार परिवार पुनः हिन्दू बना लिए गये। इसी तरह

संस्था ने राजस्थान में मलकाना राजपूतों की शुद्धि का कार्यक्रम अपनाया। आर्य समाज का सबसे महत्त्वपूर्ण आन्दोलन 1937 ई. में दक्षिण हैदराबाद रियासत में प्रारम्भ हुआ, जहाँ निजाम सरकार द्वारा रियासत में आर्य समाज के प्रचार पर रोक लगा दी गई थी। इस सत्याग्रह में लगभग 12 हजार आर्य समाजी जेलों में ठूँस दिये गये थे।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का काल धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों का काल कहा जाता है। इस काल में धार्मिक सुधारों का सिलसिला ब्रह्म समाज आन्दोलन से प्रारम्भ हुआ था। स्वामी दयानन्द आर्य समाज की स्थापना के पूर्व ब्रह्म समाज के नेताओं से विचार-विमर्श करने कलकत्ता गये थे। परन्तु वे वेदों के प्रति अपने दृष्टिकोण को संशोधित करने को तैयार नहीं हुए। फिर भी ब्रह्म समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों का उन्हें आदर मिलता रहा। ब्रह्म समाज के प्रतिष्ठित नेता केशवचन्द्र सेन ने स्वामीजी को अपने विचारों का प्रचार हिन्दी में करने की प्रेरणा दी। फलस्वरूप स्वामीजी ने सत्यार्थ प्रकाश की रचना हिन्दी में की। ब्रह्म समाजियों का स्वामीजी से मौलिक मतभेद था। सत्यार्थ प्रकाश में स्वामीजी ने स्वयं इसका उल्लेख किया है। वे लिखते हैं, "जो कुछ ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाजियों ने ईसाई मत से मिलने से थोड़े मनुष्यों को बचाया और कुछ-कुछ पाषाणादि मूर्तिपूजा को हटाया, अन्य जाल ग्रन्थों के फंदों से भी बचाया इत्यादि अच्छी बाते हैं। परन्तु इन लोगों में स्वदेश भक्ति बहुत न्यून है, ईसाइयों से बहुत से आचरण लिये हैं। खान-पान, विवाहादि के नियम भी बदल दिये हैं। अपने देश की प्रशंसा और पूर्वजों की बड़ाई करना तो दूर रहा, उनके बदले पेट-भर निन्दा करते हैं। व्याख्यानों में ईसाई आदि अंग्रेजी की प्रशंसा भर-पेट करते है। ब्रह्मादि महर्षियों का नाम भी नहीं लेते। प्रत्युत, ऐसा करते है कि बिना अंग्रेजी के सृष्टि में आजपर्यन्त कोई विद्वान् नहीं हुआ। आर्यावर्ती लोग सदा से मूर्ख चले आये हैं। वैदादिकों की प्रतिष्ठा तो दूर रही, परन्तु निन्दा करने से भी पृथक् नहीं रहते। ब्रह्म समाज के उद्देश्य की पुस्तक में साधुओं की संख्या में ईसा, मूसा, मुहम्मद, नानक, चैतन्य लिखे हैं। किसी ऋषि-महर्षि का नाम भी नहीं लिखा।" वस्तुतः ब्रह्म समाज के नेताओं द्वारा धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों के कार्यक्रम लाये गये लेकिन यह सुधार विदेशी प्रेरणा लिये हुए थे। ये लोग विदेशियों के ज्ञान की श्रेष्ठता से प्रभावित थे तथा बहुत कुछ अंशों तक ईसाइयत के प्रभाव के अनुरूप भारतीय समाज में परिवर्तन लाने के पक्षपाती थे। किन्तु स्वामी दयानन्द को विदेशी प्रेरणा से चिढ़ थी, वे वेदों को सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का स्रोत मानते थे तथा अपने प्राचीन ग्रन्थों से प्रेरणा लेने की बात कहते थे। राजा राममोहन राय का दृष्टिकोण हिन्दू समाज के विषय में रक्षात्मक था, किन्तु स्वामी दयानन्द का हुंकार रक्षात्मक तथा आक्रामक दोनों था। उन्होंने न केवल हिन्दुओं को सही दृष्टि देकर अन्य धर्मों में जाने से रोका, बल्कि दूसरे धर्मावलम्बियों अर्थात् गैर-हिन्दुओं को भी हिन्दू धर्म में दीक्षित होने का रास्ता खोल दिया। वास्तव में स्वामी दयानन्द से बढ़कर हिन्दुओं का कोई निर्भीक नेता नहीं हुआ।

आर्य समाज की प्रगति भी उल्लेखनीय रही। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रचार एवं प्रभाव की दृष्टि से आर्य समाज सबसे बड़ा धार्मिक आन्दोलन था। अंग्रेज लेखक हरबर्ट रिजले ने आर्य समाज को अपने समय का सबसे स्पष्ट आन्दोलन कहा है। इस संस्था के सदस्यों की संख्या में क्रमशः वृद्धि होती गई। 1883 ई. में आर्य समाज के सदस्यों की संख्या बीस हजार थी, और यही संख्या 1891 ई. में बढ़कर चालीस हजार के लगभग हो गयी। 1891 ई. में पंजाब के एक अंग्रेज अधिकारी सर एडवर्ड मैक्लैगन ने आर्य समाज को

आधुनिक सम्प्रदायों में सबसे महत्त्वपूर्ण बतलाया है। इसी प्रकार हेनरी कॉटन ने इस संस्था के सिद्धान्तों को आधुनिक हिन्दू विचारों में एक महत्त्वपूर्ण तथा रुचिकर अध्याय घोषित किया। स्वामी दयानन्द ने हिन्दू समाज को ईसाइयत के प्रभाव से रोकने का प्रयत्न किया। उनका विशेष लक्ष्य उन हिन्दुओं को पुनः धर्म में वापिस लाना था, जिन्होंने परिस्थितियों के कारण इस्लाम तथा ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था। वास्तव में आर्य समाज धार्मिक क्षेत्र में एक चुनौती के रूप में संगठित किया गया। आर्य समाजी प्रायः अन्य धर्मावलम्बियों को इस्लाम तथा ईसाई धर्म प्रचारकों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारते रहे तथा अनेक स्थानों पर उन्हें पराजित करने में भी सफल हुए। आर्य समाज की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि यह ब्रह्म समाज की भाँति समाज की मुख्यधारा से अलग नहीं हुआ। यही कारण है कि आर्य समाज द्वारा हिन्दू धर्म की सरल व्याख्या जनसाधारण को प्रभावित कर सकी तथा उनमें देश के प्राचीन गौरव के प्रति सम्मान की भावना जागृत हुई। राष्ट्रीय आन्दोलन में उग्र-राष्ट्रीयता के जनक विपिनचन्द्र पाल ने आर्य समाज के योगदान के बारे में लिखा है कि आर्य समाज के सिद्धान्तों के प्रसार से भारतवासियों के लिए आवश्यक नहीं रहा कि वे धर्म अथवा सामाजिक व्यवस्था के लिए यूरोप की ओर देखें। यह सभी बातें हमें अपने देश के प्राचीन ग्रन्थों से मिल सकती है। वस्तुतः यही धार्मिक तथा सामाजिक नव-जागरण था जिससे हमारी वर्तमान राष्ट्रीय चेतना का जन्म हुआ।

अभ्यास के लिए प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग पाँच पृष्ठों में दीजिए—

1. 19वीं शताब्दी के धार्मिक एवं सामाजिक नवजागरण के क्या कारण थे?
2. ब्रह्म समाज के धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में योगदान की चर्चा कीजिए।
3. केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्रह्म समाज की प्रगति की विवेचना कीजिए।
4. ब्रह्म समाज की प्रमुख उपलब्धियों की संक्षेप में चर्चा कीजिए।
5. "आर्य समाज आन्दोलन सैनिक हिन्दुत्व का स्वरूप लिए हुए था" विवेचना कीजिए।
6. धर्म और समाज सुधार आन्दोलन में आर्य समाज के योगदान की विवेचना कीजिए।
7. आर्य समाज के राष्ट्रीय चेतना में योगदान का मूल्यांकन कीजिए।
8. आर्य समाज आन्दोलन की उपलब्धियों का वर्णन कीजिए।

लघूत्तरात्मक प्रश्न—

निम्न प्रश्नों का उत्तर लगभग 100 शब्दों में दीजिए—

1. राजा राममोहन राय का संक्षिप्त जीवन-परिचय दीजिए।
2. युवा बंगाल आन्दोलन क्या था?
3. "देवेन्द्रनाथ टैगोर के नेतृत्व में ब्रह्म समाज एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक आन्दोलन का स्वरूप ले सका" इस कथन के सन्दर्भ में देवेन्द्रनाथ टैगोर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की विवेचना कीजिए।
4. केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्रह्म समाज का विघटन क्यों हुआ?
5. स्वामी दयानन्द सरस्वती का संक्षिप्त जीवन-परिचय दीजिए।
6. आर्य समाज के सिद्धान्तों की विवेचना कीजिए।
7. आर्य समाज संगठन में मतभेद क्यों उत्पन्न हुए ? इसके क्या परिणाम निकले?
8. आर्य समाज के शुद्धि आन्दोलन के बारे में आप क्या जानते हैं?